दादूपंथ

एवम्

उसके साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन

केशव प्रसाद सिंह

एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशक :

काशी विद्यापीठ, वाराणसी–२

प्रथम संस्करण, संवत् २०२८

मुद्रक : शिवमूरत पाठक व्यवस्थापक, काशी विद्यापीठ मुद्रणालय, वाराणसी–२

भूमिका

परमार्थ से पृथक्त्वबोध की तीव्र वेदना और उससे सम्पर्क स्थापित करने की उत्कट उत्कंठा यही मानव की आध्यात्मिक चेतना के वियोग-संयोग, विरह-मिलन की करुण कहानी है। मिलन और जिस कला के द्वारा यह मिलन संभव है, दोनों की सामान्य संज्ञा 'योग' है। यों तो सभी देशों में साधक हुए हैं, किन्तु संयोग के जितने विविध पथ (पन्थ) इस देश के साधकों ने ढूँढ़ निकाले हैं, उतने कदाचित् ही और किसी देश की साधना में मिल सकेंगे। यद्यपि व्यक्ति का अपनी परिसीमित चेतना से ऊपर उठकर विशाल चेतना से सम्पर्क स्थापित करना समान रूप से सभी साधनाओं का लक्ष्य कहा जा सकता है, तथापि सूक्ष्मरूप से लक्ष्यों में और उनकी प्राप्ति की सरणि में पर्याप्त भेद भी परिलक्षित होता है। इसी कारण भिन्न-भिन्न पंथों का प्रादुर्भाव होता है।

हमारे देश में जो योग ग्रंथ हैं, वे विद्वानों द्वारा संस्कृत में लिखे गए हैं। उनकी रचना प्रायः दार्शनिक वादों के परिप्रेक्ष्य में हुई है। वे साहित्य की वस्तु नहीं हैं। वे केवल दर्शन के तर्क और योग की प्राविधिक क्रियाओं की जटिलता से आक्रान्त हैं। वे जनमानस का स्पर्श नहीं कर सकते।

किन्तु सन्तों के परिदान की कई विशेषताएँ हैं। एक तो उन्होंने जो कुछ कहा है वह किसी ग्रन्थ के आधार पर नहीं, केवल अपनी अनुभूति के आधार पर कहा है। दूसरे उन्होंने जनसाधारण की भाषा में अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त किया है। तीसरे उनकी रचना शुष्क, तार्किक, वैज्ञानिक, प्राविधिक प्रबन्ध नहीं है। वह हृदय से निकला हुआ गीत है। उनकी वाणी उनकी अनुभूति का पारदर्शी परिधान है। यही कारण है कि सन्तों की वाणी ने जनमानस को प्रभावित किया है।

दादू एक महान् सन्त हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वह कबीर की परम्परा के हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में दादू-पन्थ के सभी सन्तों के साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन प्रत्युपस्थापित किया गया है। इस पन्थ के दार्शनिक विचार, उसकी साधनात्मक पृष्ठभूमि, सामाजिक एवं आचारगत विचार और भाषा का बहुत विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। अन्त में भक्ति साहित्य में दादूपन्थी साहित्य के योगदान पर उद्बोधक विचार किया गया है।

विद्वान् लेखक ने अध्ययन कक्ष में बैठे-बैठे शोध नहीं किया है। वह इस पन्थ के इहकालिक साधकों और विद्वानों से मिले हैं। उन्होंने उसके वाङ्मय का बड़े परिश्रम से संग्रह किया है और उसके मूलभूत सिद्धान्तों की बड़ी मतिसूक्ष्मता से छान-बीन की है।

यह ग्रन्थ पूर्ववर्ती वाङ्मय की पुनरावृत्ति नहीं है। यह लेखक के स्वकीय अनुसन्धान और निष्कर्ष से परिपूर्ण है। मुझे आशा है कि इसका हिन्दी-जगत् में यथोचित समादर होगा।

—जयदेव सिंह

प्राक्कथन

भारतीय चिंतनधारा के विकास-क्रम में मध्यकालीन पंथों के काव्यात्मक प्रयासों का मूल्यांकन करते समय विशिष्ट के सामान्यीकरण और शास्त्र के लोकीकरण की प्रवृत्तियाँ विभिन्न क्षेत्रों के विद्वानों द्वारा बारम्बार संकेतित हुई हैं। धर्म, दर्शन, संस्कृति, साहित्य आदि क्षेत्रों के अध्येताओं ने यह भी अवगत कराया है कि अनेक सम्पर्कों, परिवर्तनों, व्यवधानों और प्रभावों के बावजूद परवर्ती सम्प्रदायगत व्यवस्था के तन्तु प्राचीन परम्परागत अध्यात्म-चिंतन के तत्वों से ही निर्मित हुए हैं। वस्तुतः भारतीय शास्त्रवाद तथा तत्वचिंतन-प्रणालियों के संदर्भ में विकसित परवर्ती लोकधर्मी सम्प्रदाय-चेतना, अनेक नवीन सस्कारों के साथ प्राचीन पुराकथाशास्त्रीय परम्पराओं के मध्यकालीनीकरण का सहज परिणाम थी। इस सामान्य निष्कर्ष को ध्यान में रखते हुए 'दादूपन्थ और उसके साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन' को प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय बनाया गया है।

प्रारम्भ में प्रस्तुत विषय के चयन और शोध-निर्धारण के समय मुझे इस अनुष्ठान के गंभीरतर उत्तरदायित्व का सामान्य बोध तो था ही, साथ ही, इस कार्य की पूर्णता के लिये बाधक गुरुतर कठिनाइयों का भी वास्तविक अनुमान हो चला था। विषय के प्रति अपनी रुचि के विस्तार के साथ मैं इस तथ्य से पूर्णरूपेण अवगत हो चुका था कि इस पथ से सम्बन्धित सामग्री इतनी विशाल और बिखरी हुई है कि उसका सम्यक् आलोडन और मन्थन करना यदि असम्भव नहीं तो प्रयत्न साध्य अवश्य है तथापि एक निर्दिष्ट आन्तरिक प्रेरणा लक्ष्य की ओर निरंतर अग्रसर करती गई और अनेकानेक व्यावहारिक कठिनाइयों एवं समस्याओं के प्रतिरोध तथा निराकरण के पश्चात् मुझे इस कार्य की यत्किंचित् सफलता पर संतोष है।

यह शोध प्रबन्ध सात अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय का शीर्षक 'वैदिक धर्म का पुनर्नवीकरण और संत मत के प्रादुर्भाव के विविध कारण' है। इस अध्याय के अन्तर्गत सर्वप्रथम वैदिक धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। तत्पश्चात् उसके ह्रास के कारणों पर यथेष्ट प्रकाश डालने के साथ ही इस धर्म के पुनर्नवीकरण तथा सन्त मत से इसके अभिन्न सम्बन्ध का विवेचन किया गया है। इसी सन्दर्भ में निर्गुण मत के प्रादुर्भाव के अन्यान्य कारणों का निरूपण भी हुआ है। वेद, उपनिषद्, तथा निरीश्वरवादी सम्प्रदायों की इस पृष्ठभूमि में दादूपन्थी सन्तों की विचारधारा कुछ अधिक स्पष्टता के साथ प्रस्तुत की जा सकी है।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक 'दादू और उनका पन्थ' है। वस्तुतः आज तक इस विषय सम्बन्धी सामग्री को सुव्यवस्थित ढंग से रखने का प्रयत्न नहीं हुआ है। 'दादू', 'रज्जब', सुन्दरदास', 'गरीबदास' और 'वषना' तो प्रकाश में आ चुके हैं, पर अन्य अनेक सन्तों द्वारा विरचित सामग्री या तो (राजस्थान के) संग्रहालयों को सुशोभित कर रही है या उसका आजतक कोई पता नहीं चल पाया है। जो सन्त प्रकाश में आये भी हैं उनके विषय में निर्विवाद रूप से कुछ कह पाना असम्भव है। गम्भीरता पूर्वक विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस पन्थ में ७० से अधिक सन्त हुए हैं जो साहित्य, वेदान्त, दर्शन और साधना की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। स्वयं उन्होंने अपनी पुस्तकों मे अपने विषय में कुछ लिखा नही है। उनके विषय में कुछ जानने का मात्र साधन जनश्रुति, उनके जीवन से सम्बन्धित चमत्कारिक कथायें या शिष्यों के द्वारा गुरु के विषय में कहे गये वचन हैं। कुछ सन्तों ने सम्प्रदाय तथा इससे सम्बन्धित सन्तों के जीवन का उल्लेख किया है, परन्तु उसकी प्रामाणिकता पर प्रश्नवाची चिह्न लग सकता है। संग्रहालयों में सुरक्षित हस्तलिखित ग्रन्थों की भाषा में भी भिन्नता है। उनको देखने से यह ज्ञात होता है कि वे उसी समय के नहीं हैं, बाद में किसी श्रद्धालु भक्त द्वारा लिखवाये गये हैं। शिष्यों द्वारा किए गये निरूपण से गुरु के सम्बन्ध में तथ्यपूर्ण सामग्री प्राप्त कर सकना सरल नहीं है। इन विषमताओं में पन्थ का निरूपण और सन्तों के जीवन सम्बन्धी सामग्री का उल्लेख एक विषम समस्या बन गई है। वस्तुतः उनकी जीवनियाँ मिथकीय तथा दंतकथात्मक हैं। दैवी आरोपों और चमत्कारपूर्ण घटनाओं में दिव्य चरित्रों की प्ररूढ़ियों का उपयोग हुआ है। अतिरंजित होने के कारण उन पर पूरी तरह विश्वास नहीं किया जा सकता। दादूद्वारों और राजस्थान के प्रमुख संग्रहालयों में तथ्यात्मक सामग्री के देखने के उपरान्त अनेक दादूपन्थी सन्तों एवं महात्माओं से सम्पर्क स्थापित करना पड़ा है। इन सब प्रयत्नों के परिणामस्वरूप जो उपलब्ध हो सका है, वही इस अध्याय का सार है। इसमें आरंभ में महत्वपूर्ण सन्तों का जीवन परिचय दिया गया है। उसके पश्चात् ५२ प्रमुख सन्तों १५२ सन्तों तथा १७ महंतों से सम्बन्धित सामग्री को आँकड़ों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इससे इनकी प्रकाशित और अप्रकाशित कृतियों पर भी प्रकाश पड़ता है। परब्रह्म सम्प्रदाय के साथ ही खालसा, नागा, उत्तराढ़ी, विरक्त और खाकी उपसम्प्रदायों का सामान्य विवेचन भी किया गया है। अपने इस स्वरूप में यह अध्याय सन्तों के जीवन और उनकी कृतियों के निराकरण के साथ ही पन्थ की प्रगति का परिचायक बन गया है।

तृतीय अध्याय में दादूपंथ में निहित दार्शनिक विचारों का उल्लेख किया गया है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम दर्शन और साहित्य के सम्बन्ध पर विचार किया गया है। इसके पश्चात् दार्शनिक अनुभूति, ब्रह्मविषयक धारणा, एकेश्वरवाद, परमतत्व सम्बन्धी विचार, ब्रह्मजीव और माया, सृष्टि, रहस्यवादी प्रवृत्ति, सूफी प्रभाव, दाम्पत्यभाव, प्रेम, विरह और मिलन आदि पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। लेखक की मान्यता है कि प्रचलित अर्थ में ये दादूपंथी संत दार्शनिक नहीं थे, फिर भी यथास्थान दर्शन के सिद्धान्त और

इनसे सम्बन्धित अन्य सामग्री का इस ग्रंथ में उपयोग किया गया है। अतएव उनका यह विचार उनके चिन्तन की एक अपरिहार्य कड़ी है।

चतुर्थ अध्याय का सम्बन्ध दादूपंथ की साधना से है। आरम्भ में भारतीय साधना से सम्बन्धित विचारों को लिया गया है। इस सन्दर्भ में पूर्ववर्ती साधना-प्रवृत्ति, योगवासिष्ठ, योग-दर्शन, हठयोग और नाथ-योग की परम्परा का विशद विवेचन किया गया है। दादूपंथी साधना के परिवेश में सर्वप्रथम उनकी योग की क्रियाओं की चर्चा की गई है। इसके पश्चात् इस सम्प्रदाय के भक्तियोग, लययोग, मन्त्रयोग, चर्चायोग, हठयोग, राजयोग, लक्ष्ययोग, अष्टांग योग, ज्ञानयोग, सांख्य योग, ब्रह्मयोग और अद्वैत योग आदि से सम्बन्धित विचारों का सुव्यवस्थित उल्लेख किया गया है। इसी स्थल पर यौगिक शब्दावली और उसके विकास-क्रम को भी प्रस्तुत किया गया है। अपनी सम्पूर्णता में यह अध्याय एक ओर योगपद्धति पर प्रकाश डालता है तो दूसरी ओर इस पंथ की साधनात्मक रूपरेखा भी इसके माध्यम से पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाती है। यहाँ इस बात पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है कि दादूपंथ में योग साधना का अविभाज्य अंग बनकर प्रस्तुत हुआ है। सुन्दरदास ने जहाँ इसके निरूपण को अपना प्रमुख ध्येय बनाया है, वहीं अन्य सन्तों ने इसे कायाशोधन और परमतत्व की प्राप्ति का प्रमुख साधन मानकर इसे प्रश्रय दिया है।

इस प्रबन्ध के पंचम अध्याय में सामाजिक और आचारगत विचारों का दिग्दर्शन कराया गया है। इस दृष्टि से जातिवाद, अवतारवाद और बाह्याडम्बर के खण्डन, जगत को मायिक समझ कर इसके मिथ्यात्व का निरूपण, नश्वरता, मन और इच्छा की प्रबलता, अहं-विगलन, गुरुमहिमा, लघुता और दीनता, चेतना का उद्बोध, अहिंसा और समत्वभाव, स्त्रीनिंदा, गार्हस्थ्य जीवन, समन्वयवादी दृष्टिकोण आदि का विशद विवेचन किया गया है। यह अध्याय इन सन्तों के सामाजिक विचारों पर पर्याप्त प्रकाश डालता है और पंथ की लोकप्रियता एवं व्यापकता के रहस्य को उद्घाटित करता है।

षष्ठ अध्याय में इन सन्तों की भाषा, अलंकार, रस, छन्द, उलटवांसी और प्रतीकों का विवेचन है। कुछ सन्तों के पदों एवं उनके रागों की तालिका भी दे दी गई है। कतिपय अन्य भाषाओं के शब्दों को यथास्थान प्रस्तुत कर दिया गया है। इस स्वरूप में यह अध्याय दादूपंथ की कलात्मक उपलब्धि के साथ ही उसकी भावात्मक उदात्तता का अनुपम प्रतिमान बन गया है। लेखक ने अपने विवेचन द्वारा इस तथ्य को उपस्थित किया है कि इस पंथ में कुछ तो ऐसे व्यक्ति थे जो कला के मर्मज्ञ और पिंगल शास्त्र के ज्ञाता थे। परिणाम स्वरूप उनकी कृतियों में इसका उत्कर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। पर इसके साथ ही अधिकांश ऐसे सन्त थे जो 'मसि कागद तो छुयौ नहीं' की कहावत चरितार्थ करते थे, फिर भी अनुभूति की तीव्रता के कारण उनमें भी अलंकारों का प्रचुर प्रयोग हुआ है।

सातवें अध्याय में भक्तिसाहित्य के विकास में दादूपंथी साहित्य के योगदान पर विचार किया गया है और साथ ही भारतीय चिन्तन-परम्परा के क्रम में सन्तदर्शन तथा सन्तमत की भूमिका में दादूपंथी साहित्य को रखकर उसकी रचनात्मक तथा साधनात्मक

एकता का दिग्दर्शन कराया गया है। इस प्रकार यह विवेचन-मूल्यांकन सम्पूर्ण भक्ति आंदोलन की पीठिका पर भारतीय चिन्तनधारा के क्रम में दादूपंथी कृतियों की साहित्यिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियों को स्पष्ट करने के लिये आवश्यक था। कबीर के बाद सन्तमत का परवर्ती स्वरूप साधना और साहित्य की दृष्टि से क्रमशः ह्रासोन्मुख रहा है। कुछ ही सन्त कवि अपनी कृतियों में चिन्तन और साहित्य की गरिमा बनाये रखने में सफल हुए हैं और अधिकांश कवि परम्परा के अनुमोदन तथा पिष्टपेषण में ही लगे रहे। इसके विपरीत दादूपंथी साहित्य-प्रणेताओं में कुछ उच्चकोटि के साहित्यिक तथा दार्शनिक थे। उन्होंने सन्तसाहित्य के इस उथलेपन को दर्शन तथा साहित्य की गम्भीरता से दूर किया और उसे अशिक्षितों की साधनात्मक कृति से ऊपर उठाकर विद्वान् कवियों की चिंतनप्रधान कृति बनाने का प्रयास किया। सन्तमत की भक्ति उपासना एव प्रपत्ति की चिंतन-परम्परा के अन्तर्गत बद्ध-चित्त से मुक्त चित्त होने के प्रयास को मुक्त साधनात्मक निष्पत्ति स्वीकार कर आलोच्य पंथ की साहित्यिक देन को प्रेमाभक्ति के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण माना गया है। 'भक्ति', 'भक्ति के भेद-प्रभेद' और 'भक्ति का विकास शीर्षकों' के अन्तर्गत भारतीय धर्मसाधना में भक्तिआन्दोलन के महत्व का मूल्यांकन करते हुए शैव, बौद्ध और जैनधर्म का जो योगदान भारतीय संस्कृति की मूल चेतना में भावात्मक धरातल पर बहुजन हिताय और स्वांतः सुखाय बनकर निसृत हुआ है उसकी समीक्षा की गयी है। मुस्लिम धर्मसाधना और सूफी प्रेमसाधना के प्रभावों की चर्चा करते हुए दादूपंथ की भक्ति परक मान्यताओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा इस तथ्य तथा निष्कर्ष पर सुगमतापूर्वक पहुँचा जा सकता है कि भारतीय जीवन के अन्तराल में जिस आध्यात्मिक साधना का संचरण होता रहा है, दादूपंथी सन्त उसी के एकनिष्ठ साधक थे। भारतीय चिन्तनधारा की यह विशेषता है कि वह प्रत्यक्ष में छिपी हुई परोक्ष सत्ता की खोज में निरन्तर संलग्न रही है। इसीलिये प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो उपकूलों के बीच इसका अविच्छिन्न अनाविल प्रवाह यहाँ की मनीषा को अनुप्राणित और स्पंदित करने में समर्थ रहा है। इसीलिये यहाँ के विचारकों ने परमानन्द की ही नहीं अपितु ब्रह्मानन्द की चर्चा को भी सहर्ष स्वीकार किया है। बाह्य दृष्टि से इसके मनन एवं मंथन में वैविध्य की चकाचौंध दीख पड़ती है, पर आन्तरिक दृष्टि से इसमें सामंजस्य की अजस्र-निर्झरिणी प्रवाहित होती है। भक्ति इसी प्रवाह का एक अनुपम उच्छलन है। रामानुज से आरम्भ होकर जो भक्ति की धारा चली है उसी ने यहाँ के अनेकानेक सगुण और निर्गुण सन्तों को जन्म दिया है। उन्हीं सन्तों की वाणी से जिस प्रकार के समृद्ध, भावपूर्ण चमत्कारपूर्ण और सौष्ठवयुक्त साहित्य का जन्म हुआ, वह भविष्य में भारतीय साहित्य की स्पृहणीय विशेषता के रूप में चरितार्थ हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध का विवेच्य 'दादूपंथ' भारतीय संतसाधना के पूर्ववर्ती निर्गुण साहित्य के साधकों की एक ऐसी कड़ी है, जो प्रत्यक्ष में छिपी हुई परोक्ष सत्ता की गवेषणा के उद्देश्य से अवतरित हुई है। इस सम्प्रदाय की यह विशेषता रही है कि इसके अधिकांश सन्तों ने साहित्यिक और आध्यात्मिक रचनायें की हैं। अतएव साहित्यिक दृष्टि से पंथ ने

संत साहित्य को ही नहीं अपितु सम्पूर्ण वाङ्मय को समृद्ध बनाने का भगीरथ प्रयत्न किया है और इसमें उसे अद्भुत सफलता भी मिली है। इस पथ के साहित्य की निजी विशेषता है। यह वस्तुतः निर्वेदजन्य शान्त रस का ही प्रतीक नहीं, वरन् आध्यात्मिक अनुभूतियों को काव्य-रस में निमज्जित कर साहित्यिक अभिव्यंजना के योगदान में भी पूर्णतया समर्थ है। इस पंथ में भारतीय औपनिषदिक परम्परा की मान्यताओं का, इस्लाम एवं सूफी उपासना पद्धतियों का तथा प्रेम सम्बन्धी उपपत्तियों और विप्रतिपत्तियों का अद्भुत सम्मिश्रण है। परमात्म-चिन्तन के रागात्मक एवं साधनात्मक सभी पक्ष इसमें निहित हैं। इस दृष्टि से तरह-तरह की सप्राण एवं जीवन्त अनुभूतियों को ग्रहण करने के कारण इस पथ की एक विशिष्ट आध्यात्मिक परम्परा है। दादूपंथ की अव्याहत वाग्धारा का वेगपूर्ण प्रवाह, यथार्थ में सन्तों के अन्तर्दृष्टि-प्रवण परमतत्व के साक्षात्कार से संबंधित चित्रोपम स्वरूप की अन्तःसाक्ष्य अभिव्यक्ति है। इसीलिये यह साहित्य जन-चिन्तन को एक नई दिशा देने में समर्थ है।

प्रस्तुत प्रबन्ध की कुछ सीमायें हैं। सर्व प्रथम यह कि इस छोटे से आकार में सभी सन्तों के मान्य स्वरूप की व्याख्या करना सम्भव नहीं है। अतएव लेखक ने 'दादू', 'सुन्दरदास छोटे', 'रज्जब', 'गरीबदास' आदि प्रमुख संतो पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है। इसके अतिरिक्त यथास्थान अन्य सन्तों का उल्लेख भी कर दिया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के निर्देशन में स्व० गुरुवर पद्मनारायण जी आचार्य ने मेरी बड़ी सहायता की है। इस स्थल पर उनको याद करना तो समीचीन है ही, पर उनके ऋण से उऋण होने की भावना मन में लाना एक विडम्बना है। उनके अतिरिक्त डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पं० परशुराम चतुर्वेदी, स्वामी मंगलदास जी जयपुर, वर्तमान महन्त दादू मन्दिर नराणा, भिषगाचार्य जी जयपुर की महत्वपूर्ण कृपा के अभाव में यह कार्य इतनी सरलता से संपादित न हो पाता। श्री शिवमूरत पाठक जी ने जिस श्रम और लगन के साथ मुद्रण का कार्य संपादित किया, इसके लिये वे बधाई के पात्र हैं।

केशव प्रसाद सिंह

विषय-विन्यास

: १ : वैदिक धर्म का पुनर्नवीकरण

"भारतीय संस्कृति के विकास मे प्राचीनता के व्यापक प्रभाव के कारण वैदिक धारा का निर्विवाद रूप से अत्यधिक महत्व है। अपने सुग्रथित, सुरक्षित और विस्तृत वाङ्मय की अति प्राचीन परम्परा तथा अपनी भाषा और वाङ्मय के अत्यन्त व्यापक प्रभाव के कारण ही नहीं अपितु भारत के धार्मिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक जीवन में अपने शाश्वत प्रभाव के कारण भी भारतीय संस्कृति में वैदिक धारा सदा से अत्यधिक गौरवपूर्ण रही है और निरंतर रहेगी।"[1] इसके नैरंतर्य का प्रमुख कारण यह है कि यह वस्तुतः तत्कालीन युग द्रष्टाओं की सर्वकालीन, सर्वदेशीय शाश्वत भावना का अनुपम उद्रेक है। इसके अन्तर्गत भूत, वर्त्तमान एवं भविष्य के विविध ज्ञान-विज्ञान के सार संगुम्फित हैं। मानव-चिन्तन की व्यावहारिक एवं सैद्धातिक अन्तर्दृष्टि के मणिकाचन संयोग के कारण यह भारतीय मनीषा का एक अविभाज्य अग है।

वेद

व्युत्पत्ति की दृष्टि से वेद शब्द 'विद्ज्ञाने' धातु से बना है जिसका अर्थ ज्ञान होता है। "आरम्भ में वेद शब्द वास्तव मे सामान्य ज्ञान या विद्या के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। कालान्तर में अनेक कारणों से यह प्राचीन परम्परा से प्राप्त मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वैदिक साहित्य के लिए ही प्रयुक्त होने लगा। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि मन्त्र भाग और ब्राह्मण भाग मे परस्पर भिन्नता है और ब्राह्मण भाग मंत्र भाग के पीछे चलता है। अतएव सुविधा की दृष्टि से हम भी वेद शब्द का प्रयोग मंत्र भाग के लिए ही करना उचित समझते हैं।"[2]

आज भी वेदों के ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद नामक चतुर्विभाग हमारे सम्मुख प्रस्तुत हैं। ऋग्वेद पद्यात्मक एवं छन्दोबद्ध ऋचाओं का अभूतपूर्व संग्रह है। इन ऋचाओं के माध्यम से पृथ्वी स्थानीय, अंतरिक्ष स्थानीय एवं द्यु-स्थानीय देवताओ की अर्चना की गई है। स्तुति के अतिरिक्त इन पद्यो में यथास्थान दार्शनिक दृष्टिकोण का समावेश भी मिलता है। सुतरां वैदिक दृष्टिकोण को समग्रता में समझने और समझाने की दृष्टि से वेद अभूतपूर्व सामग्री प्रस्तुत करता है।

१—डॉ० मंगलदेव शास्त्री—भारतीय सस्कृति का विकास, प्रथम संस्करण, १९५६, पृ० ५३–५४।

२—डॉ० मंगलदेव शास्त्री—भारतीय संस्कृति का विकास, प्रथम सस्करण, १९५६, पृ० ५४।

'यजुर्वेद,' (चालीसवें अध्याय को छोड़कर जिसका सम्बन्ध ज्ञान से है) में विशेष रूप से कर्मकाण्ड की विधि एवं उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। 'सामवेद' में ऋग्वेद से ली गयी ऋचाओं का संग्रह है। यह संग्रह सोम-याग के अवसर पर सामगान को दृष्टि-पथ में रखकर, संग्रहीत किया गया है। इसकी प्रमुख विशेषता इसकी गेयता मानी जा सकती है। 'अथर्ववेद संहिता में जीवन-मरण के साथ ही दाम्पत्य जीवन एवं परिणय संबंधी सूत्रो का संगुम्फन है। इस प्रकार देवस्तुति, कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, संगीत एवं गुह्य कर्मकाण्डो के साथ ही दर्शन के कतिपय स्वरूपों का भी वेदों में समावेश हुआ है। वेद वस्तुतः मंत्रद्रष्टा ऋषियों के बौद्धिक, रागात्मक, चिन्तनात्मक एवं कलात्मक मंथन के अनुपम पत्रक हैं।

धर्म

धर्म शब्द के अन्तर्गत भारतीय मनीषा के लौकिक एवं पारलौकिक अथवा भौतिक एवं आध्यात्मिक चेतना का सुसंबद्ध एवं सुनियोजित इतिहास निहित है। आर्य-चिन्तन का आरम्भ 'ब्रह्मजिज्ञासा' से हुआ है और धर्म-जिज्ञासा ही इसका मेरुदण्ड है। प्रथम से लेकर द्वितीय के क्रमिक विकास के प्रसार का झिलमिल ताना-बाना जिस समष्टि भावना से बुना गया है उसके मूल में 'स्वधर्मे निधनम् श्रेयः परधर्मोभयावहः' की उक्ति चरितार्थ होती है। कालान्तर में दृष्टिकोण वैभिन्य के कारण धार्मिक दृष्टिकोण में भी परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर हुए। इसके परिणाम स्वरूप ऐसे धर्म की आवश्यकता की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ जिसके अन्तर्गत अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के भावपूर्ण स्वरूप के साथ ही आत्मा की चिरंतन जिज्ञासा के लिए भी पर्याप्त स्थान था। इस परिवेश में धर्म आत्मा का आभ्यन्तरिक अभिव्यक्तीकरण होने के साथ ही सामाजिक संघटन मे निहित पूतभावना का परिचायक बन गया। उसे मानव के सर्जनात्मक अन्तर्दर्शन का प्रतिरूप तथा जीवन की सहजवृत्तियों का अनुनायक सिद्ध किया गया।

वैदिक परम्परा में ऋग्वेद[1] के सर्वप्राचीन ग्रन्थ से ही इस शब्द का प्रयोग आरम्भ हो जाता है। इस ग्रन्थ में धर्मन् के रूप में इस शब्द का अनेकानेक बार प्रयोग हुआ है।

आज भी यह स्पष्ट नहीं हो पाया है कि वैदिक भाषा में यह शब्द किस अर्थ का परिचायक था। बाद में यह निश्चित अर्थ सन्दर्भ ग्रहण करने लगा। इसीलिये परवर्ती विचारको ने इस शब्द की व्युत्पत्ति 'धृ' धातु से मानी थी जिसका अर्थ धारण करना, आलम्बन देना या पालन करना है।[2] इसके पश्चात् विचारकों ने इसे जीवन की आदर्शमय विशिष्टता से आबद्ध करने का प्रयत्न किया। इस स्वरूप में धर्म शब्द धार्मिक क्रिया-संस्कारो, प्राचीन विधियो, निश्चित नियमों, आचरण सम्बन्धी व्यवस्थाओं, धार्मिक क्रिया के

१—त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य.। अतो धर्माणि धारयन्। देखिए—ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के २२वें सूक्त का १८वां मन्त्र।

२—काणे-धर्मशास्त्र का इतिहास।

संपादन से अर्जित गुणों, वर्णाश्रम धर्म सम्बन्धी कर्तव्यो के साथ ही[1] प्रभाव, स्वभाव, गुण, वृत्ति या विशेषता, सदाचार, पुण्य कर्तव्य, पुण्यात्मक कर्तव्यों की समष्टि, नीति या न्याय आश्रम विशेष के कर्तव्य, कर्मकाण्ड के विहित अनुष्ठान, अभ्युदय एवं निःश्रेयस[2] के हेतु आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उपर्युक्त अर्थों को दृष्टि में रखकर इस बात को सरलता से प्रतिपादित किया जा सकता है कि आदिकाल से लेकर अद्यतन काल तक इस शब्द के प्रयोग के अन्तर्गत उन्हीं विधि एवं निषेधों को प्रश्रय मिला है जो मानव के लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युत्थान के आवश्यक सोपान रहे हैं। संभवतः इन्हीं अर्थों की वैविध्यपूर्ण चकाचौंध में पूर्व मीमांसाका 'जैमिनी' ने धर्म को वेद विहित प्रेरक लक्षणों के रूप में स्वीकार करते हुए वैदिक अनुशासन के अनुगमन और तज्जनित संस्कारों से उत्पन्न आनन्द को धर्म की प्रमुख विशेषता के रूप में प्रस्तुत किया है।[3] वैशेषिक[4] सूत्रकार ने धर्म को अभ्युदय और निःश्रेयस का मूल हेतु माना है। यज्ञ, दान आदि को भी अभ्युदय मूलक माना गया है और अष्टांग योग को निःश्रेयस हेतुक। अभ्युदय हेतुक धर्म का प्रमुख सम्बन्ध चित्तशोधक स्वरूपों से है। शुद्ध चित्त-व्यक्ति ही निःश्रेयस की उपलब्धि कर सकता है। वैशेषिक सूत्रकार ने इस प्रकार अभ्युदय हेतुक (चित्त शुद्धि से सम्बन्धित) और निःश्रेयस हेतुक (वैराग्य से सम्बन्धित) स्वरूप के अन्तर्गत धर्म के उन मूलभूत तत्वों को सगुम्फित किया है जो भारतीय धर्म-चिन्तन के मूलाधार रहे हैं।

परवर्त्ती धार्मिक चिन्तकों के दृष्टिकोण में हमें 'धर्मलक्षण' के कतिपय सूत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इस लक्षण पर दृष्टिपात करते समय अधिकांश विचारकों ने धर्माधर्म या कर्त्तव्याकर्त्तव्य को ही विवेच्य बनाया है। महाभारत के अंतिम श्लोकों में एक स्थल पर अधोलिखित बात प्रस्तुत की गयी है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्,
धर्म्यं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखेत्वनित्ये,
जीवो नित्यः हेतुरस्याप्यनित्यः॥

उपर्युक्त श्लोक में लेखक ने जीव धर्म की व्याख्या की है। मनुस्मृतिकार ने भी धर्म की कसौटी के रूप में श्रुति, स्मृति, सदाचार और आत्मसतोष[5] आदि का उल्लेख किया है।

१—काणे-धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ३–४।

२—डॉ० उदयमान सिंह-मानसदर्शन, धर्मविधि, पृ० १९३-९४।

३—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (पूर्वमीमासा सूत्र)।

४—(अ) अथातो धर्मव्याख्यास्यामः। यतोऽभ्युदयनि.श्रेयससिद्धि. स धर्म.।

(ब) धर्म. अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः। तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजनितो धर्मो.ऽभ्युदय हेतुः। अष्टागयोगानुष्ठानजनितश्च निःश्रेयसहेतुः। साख्यकारिका २३ पर वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी।

५—वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ –मनुस्मृति २। १२।

'याज्ञवल्क्य' ने स्मार्तधर्म को श्रुति सम्मत सनातनधर्म के समतुल्य ठहराते हुए साधारण धर्म, वर्ण धर्म, वर्णाश्रम धर्म, आश्रम धर्म, गुण धर्म और निमित्त धर्म आदि की चर्चा की है। इस विभाजन में हमें साधारण धर्म और वर्णाश्रम धर्म की प्रमुखता के दर्शन होते हैं। साधारण धर्म के अन्तर्गत द्विजातियो के वे सभी कर्त्तव्य निहित हैं जिनका जाति, वय और लिंग आदि के भेद भाव के बिना पालन किया जा सकता है। 'मनु' और 'याज्ञवल्क्य' ने साधारण धर्मों का निरूपण करते हुए लिखा है—'अहिंसा, क्षमा, धृति, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध, दया, दान और ह्री'[1] ही मानव के साधारण धर्म हैं। विशिष्ट धर्मों का अधिष्ठान वर्णाश्रम धर्म है। इसके सन्दर्भ में वर्ण के कर्त्तव्यों के साथ ही आश्रम धर्म की प्राण-प्रतिष्ठा की गयी है। इस प्रकार वेदों से लेकर शास्त्रों तक चलने वाले धर्म के इस विवेचन में हमें व्यक्ति की आर्थिक इकाई के साथ ही उसके पारमार्थिक तत्वचिन्तन के विविध साधन मिलते हैं। भारतीय जीवन और विकास का रहस्य है आचार-व्यवहारों की किसी सीमा तक सुव्यवस्था, विश्वास तथा जीवन के चार उद्देश्यों-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के संतुलित उद्यम की जातीय विशेषता। कुल मिलाकर भारतीय सभ्यता की अनन्य देन है प्रत्येक व्यक्ति, जातिवर्ण और व्यवसाय के लिए धर्म की भावना; प्रत्येक को जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार कुछ कर्त्तव्यों का पालन और उनके समापन द्वारा उनसे परे पहुँच जाना। यही धर्म है। महाभारत में कृष्ण ने धर्म को रक्षक अथवा पालक कहा है—

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।
एतद्धनञ्जयो वाच्यो नित्यो मुक्तो वृकोदरः॥

—महाभारत-उद्योगपर्व-१३७।९७

धर्म ही सामाजिक जीवन के कार्यों एवं व्यक्ति के उद्देश्यों का निर्धारण एवं नियन्त्रण करता है। इसे सामाजिक सम्बन्धों का अपरिचित प्रसाद तथा अन्योन्याश्रय और ऐक्यभाव से व्युत्पन्न स्वातंत्र्य माना गया है। व्यक्ति का लक्ष्य है प्रवीणता की प्राप्ति और समाज का लक्ष्य है संस्कृति की उपलब्धि। दोनों लक्ष्य एक ही हैं। यह लक्ष्य है विश्वजनीन आत्म और विश्वजनीन समाज की सिद्धि। भारत में इन्हें परमात्मन् और नारायण मानकर पूजा गया है और दोनों को अभिन्न समझा जाता है[2]।

१—(क) धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्मलक्षणम्। —मनु० ६। ९२।

(ख) अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्। —याज्ञ० १। १२२

(ग) सत्यमस्तेयमक्रोधो, ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः।
संयतेन्द्रियता विद्या, धर्मः सर्व उदाहृतः। याज्ञ० ३। ६६॥

२—राधाकमल मुकर्जी—भारतीय संस्कृति और कला, पृ० १७।

संस्कृति

प्रत्येक साहित्य में कुछ ऐसे शब्द हैं जिनकी परिभाषा कर सकना कठिन है। ऐसे शब्द प्रायः गूंगे के गुड़ की तरह अभिव्यक्ति के लिए एक चुनौती सिद्ध होते हैं। संस्कृति भी इसी प्रकार का शब्द है। परिभाषा की दृष्टि से इसके लिए 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' की कहावत चरितार्थ होती है। कुछ लोगो के अनुसार[1] संसार की सर्वोत्तम बातों से अपने को अभिज्ञ करना ही संस्कृति है। यह वस्तुतः इसकी भौतिक और मानसिक शक्तियों की शिक्षा तथा इसके सुनियोजन एवं सुसम्बद्ध विकास की स्पष्ट प्रादुर्भूति है। जब मानव मन के आचार और व्यवहार परिष्कृत और शुद्ध रूप में चिन्तन के विषय बनते हैं तो उसी की समष्टिगत अभिव्यक्ति को इस संज्ञा से अभिहित किया जाता है। कुछ अन्य विचारक[2] समाज के नाना-विधि क्रिया-कलापों अथवा सामाजिक संबंधों में निहित उन मानवता के कल्याणप्रद आदर्शों एवं उत्प्रेरक स्वरूपों को संस्कृति का नाम देते हैं जो सभी दृष्टियों से विभिन्न सभ्यताओं के उत्कर्ष या अपकर्ष के प्रतिमान होते हैं। इससे भिन्न रूप में यह मान्यता भी प्रचलित है कि संस्कृति अंग्रेजी 'कल्चर' शब्द का हिन्दी अनुवाद है पर यह धारणा सर्वथा असमीचीन है। वस्तुतः यह संस्कृत भाषा का शब्द है और लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदय के उपयुक्त देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि की सम्यक् चेष्टाओं और हलचलों[3] को इसी नाम से विभूषित किया जाता है। इसीलिये प्रमुख मनीषी स्वामी करपात्रीजी ने संस्कृति का संबंध संस्कार से स्थापित किया है। उनके अनुसार संस्कार आत्मा को शुद्ध करने के प्रमुख साधन हैं। अतएव सम्यक् संस्कार को ही संस्कृति का निर्माणक तत्व माना जा सकता है। उनके शब्दों में "जैसे खान से निकले हुए हीरक या मणि आदि में संस्कार द्वारा चमक या शोभा बढ़ायी जाती है, वैसे ही अविद्या तत्कार्यात्मक प्रपंच-मग्न स्वभाव-शुद्ध अन्तरात्मा की शोभा संस्कारों द्वारा व्यक्त की जाती है तथा आत्मा को प्राकृत निम्नस्तरों से मुक्त करके क्रमेण ऊपरी स्तरों से संबंधित करने या प्रकृति के सभी स्तरो से मुक्त करके उसे स्वाभाविक अनन्त-आनन्द-साम्राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ करने मे आत्मा का संस्कार है। ऐसे संस्कारो से उपयुक्त कृतियां ही संस्कृति शब्द के अन्तर्गत आती हैं[4]।

संस्कृति के साथ ही सभ्यता शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। अधिकांश लोग इन दोनों को समानार्थी भी समझते हैं। पर सत्य इससे सर्वथा भिन्न है। वस्तुतः संस्कृति आभ्यन्तर और सभ्यता वाह्य वस्तु है। संस्कृति अपनाने में देर लगती है, पर सभ्यता की

१—दे० संस्कृति के चार अध्याय—ले० रामधारी सिंह दिनकर—प्रस्तावना, ले० पं० जवाहरलाल नेहरू, पृ० ५।

२—कस्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्न जीवन व्यापारेषु सामाजिक संबंधेषु वा मानवीयत्व दृष्ट्या प्रेरणाप्रदाना तत्तदादर्शानां समष्टिरेव संस्कृतिः।...तयैव तुलया विभिन्नसभ्यतानामुत्कर्षापकर्षौ मीयेते।
—प्रबन्ध-प्रकाश, भाग २, पृ० ३।

३—देखिए—कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक—गीता प्रेस, गोरखपुर पृ० ३६।

४—कल्याण—हिन्दू संस्कृति विशेषांक—संस्कृति विमर्श—स्वामी करपात्री जी, पृ० ३५।

सदा नकल की जा सकती है।[1] सभ्यता के अन्तर्गत मनुष्य के वे सामाजिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक एवं आर्थिक स्वरूप आते हैं जिनके माध्यम से उसकी लौकिक प्रगति में सरलता होती है। संस्कृति मानव के परम्परागत चिन्तन और कलात्मक अनुभूति का वह समुच्चय है जिसका मानव जीवन के लिए प्रत्यक्ष महत्त्व नहीं भी हो सकता, पर उसकी प्रगति एवं समृद्धि का मूलमंत्र इसी में निहित होता है। धर्म और संस्कृति में भी अन्योन्याश्रय-संबंध है क्योंकि प्रथम यदि आत्म और अनात्म की विधायक वृत्ति है[2] तो द्वितीय उसका क्रियात्मक रूप। इस दृष्टि से अंग्रेजी की वह कहावत चरितार्थ होती है कि "सभ्यता वह चीज है जो हमारे पास है और संस्कृति वह गुण है जो हममें व्याप्त है।"

वस्तुतः संस्कृति और सभ्यता पर प्राचीन पौरस्त्य विचारको के साथ ही अधुनातन पाश्चात्य विचारको ने भी अपनी तर्क सम्मत व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। इस दृष्टि से समाज-शास्त्रीय, मानवशास्त्रीय, मार्क्सवादी और वर्गमूलक विचारकों के चिन्तन का विशेष महत्व है। इसके साथ ही स्वतंत्र चिन्तको ने भी अपने विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनकी परिभाषाओं में कतिपय भारतीय मतों की भी प्रतिच्छाया दृष्टिगोचर होती है। इन सभी दृष्टिकोणों को अपना विवेच्य बनाने के पश्चात् डा० देवराज[3] ने कला-कौशल के उन तंत्र अथवा तरीकों को जिनके द्वारा मनुष्य अपनी मूल क्षुधाओं तथा ज़रूरतों को सरलता पूर्वक पूरा करता है सभ्यता के नाम से[4], तथा उन समस्त क्रियाओं को जिनके द्वारा मनुष्य अपने को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विश्व की निरुपयोगी किन्तु अर्थवती छवियो से संबंधित करता है, संस्कृति के नाम से अभिहित किया है। वस्तुतः दोनों ही मानव की सर्जनात्मक प्रतिभा की उपज हैं और इनमें वही सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है जो साधन और साध्य में है। प्रकारान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि सभ्यता रूपी साधन ही संस्कृति रूप साध्य का प्रमुख निमित्त है।

संस्कृति किसी देश या काल विशेष की मौलिक प्रादुर्भूति नहीं होती। निसर्ग से संघर्ष करते हुए आदिकाल से लेकर अद्यतन काल तक मनुष्य ने सामाजिक स्वरूपों के घात-प्रतिघात एवं परिवर्त्तन के नैरंतर्य के विलक्षण प्रवाह के आवर्त्त से जिन प्रेरक आदर्शों की रक्षा की है, उन्हीं के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष समुच्चय को संस्कृति की संज्ञा दी जाती है। मानव अभ्युत्थान के संदर्भ में व्यक्ति और समाज के आत्म-निरीक्षण, मूल्यांकन एवं आत्म-विश्लेषण के साथ ही भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति में इसका अनुपम सहयोग रहा है। इस प्रकार भूत, वर्त्तमान और भविष्य की क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का प्रति-फलन होने के साथ ही यह वर्त्तमान का मार्गदर्शक और भविष्य के पथ का उन्नायक सिद्ध होती है।

१—कल्याण—हिन्दू संस्कृति विशेषांक-संस्कृति विमर्श, स्वामी करपात्री जी।

२—रामदास गौड़-हिन्दुत्व, पृ० ११।

३—डा० देवराज—संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ० १६०।

४—वही, पृ० १६६।

वैदिक धर्म और संस्कृति

कुछ लोगों के अनुसार 'वेदों को अपौरुषेय माना गया है अर्थात् किसी पुरुष द्वारा इनकी रचना नहीं हुई है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि इनकी रचना स्वयं ईश्वर द्वारा की गयी है, ईश्वर भी पुरुष है, इसलिए वेद पौरुषेय है। किन्तु प्राचीन मान्यता के अनुसार वेदों का निर्माण ईश्वर द्वारा भी नहीं हुआ है। प्रत्येक कला के प्रारम्भ मे ईश्वर द्वारा इनका प्रकाशन मात्र होता है। वेद नित्य है जैसे ईश्वर नित्य है वैसे ही ईश्वरीय ज्ञान भी नित्य है, ईश्वरीय ज्ञान ही वेद हैं। अतः वेद नित्य, अपौरुषेय तथा सर्वदोष-विवर्जित हैं। लौकिक विषयों में प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाण हैं किन्तु पारलौकिक विषय धर्मज्ञान, आत्मा, ब्रह्म आदि मे एक मात्र वेद ही प्रमाण हैं।[1]" आधुनिक युग मे जबकि ईश्वर पर ही प्रश्नवाची चिह्न लग गया है तो वेद और इसके ईश्वर रचित होने के साथ ही इसकी अपौरुषेयता का भी विवादग्रस्त हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है। हमारा मन्तव्य इन गुत्थियों को सुलझाना नहीं है। हम सर्वप्रथम वेद द्वारा निरूपित विविध ज्ञान-विज्ञानो को अपना विवेच्य बनाकर इसके धार्मिक चिन्तन और सांस्कृतिक उपलब्धि को मूल्यांकित करने का प्रयत्न करेंगे।

आध्यात्मिक परम्परा और वेद

यह सर्वथा निर्विवाद सत्य है कि वेद हिन्दू सभ्यता, संस्कृति, धर्म और आध्यात्मिक चिन्तन के सर्वोत्कृष्ट आकर हैं। इनके अन्तर्गत मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की जीवन-अनुभूति और विश्वजनीन सत्यों के अद्भुत स्वरूपो का आकलन एवं आनयन हुआ है। इस दृष्टि से इनमें मानव के मानसिक और आधिभौतिक अभ्युत्थान के अनुपम प्रतिमान निहित हैं। इन्हीं कतिपय वैदिक सत्यों पर दृष्टिपात करते हुए अक्षयकुमार बनर्जी ने निम्नांकित तथ्यों का उल्लेख किया है।[2]

(१) वेदों ने इस सत्य का रहस्योद्घाटन किया है कि इस संस्कृति का, जो अनादि और अनन्त है और जिसकी बौद्धिक व्याख्या नहीं की जा सकती है और जिसे केवल भौतिक और यान्त्रिक क्रिया के आधार पर समझा नहीं जा सकता है सूत्रधार सर्वशक्तिमान अनन्त ब्रह्म है। संस्कृति उसी की आत्माभिव्यक्ति और आत्म-प्रसार का प्रतिफलन है। वही इसके उद्भव, स्थिति और संहार का मूल कारण है।

(२) इस संस्कृति का नियमन एक सुनिश्चित शक्ति द्वारा होता है। बाह्य दृष्टि से इसके क्रिया-कलाप में असामंजस्य दिखाई पड़ता है, पर आन्तरिक दृष्टि से इन सबकी पृष्ठभूमि में सामंजस्य और सह-नियोजन का सिद्धान्त क्रियाशील रहता है। न्याय, सदाशयता और करुणा इसके प्रमुख उपजीव्य हैं। मानव के उत्कृष्ट गुणों का परिणाम

१—वैद्यनाथ अग्निहोत्री—ब्रह्मतत्व, उपोद्घात।

2—Akshai Kumar Benerjee—Philosophy of Gorakh Nath—pp. 252-256.

शुभ और अमानवीय दुर्गुणों का परिणाम अशुभ होता है। व्यक्ति को संसार का रहस्य समझने के लिये आधिदैविक और आध्यात्मिक गुणों के प्रश्रय की अपेक्षा होती है।

(३) वेदों ने इस तथ्य को भी प्रतिपादित किया है कि संसृति के इस सम्पूर्ण आयाम में मानव ही सर्वोत्कृष्ट जीव है। उसी को ऐसे साधन उपलब्ध हैं जिनके माध्यम से वह आध्यात्मिक अभ्युत्थान को उपलब्ध करके पूर्णता की ओर उन्मुख हो सकता है। वह अपनी बौद्धिक चेतना के आधार पर जगत के स्थूल भौतिक उपकरणों के अन्तराल में छिपे अंतिम सत्य का दर्शन करने में सक्षम है। वेद इस तथ्य को स्पष्टता से अभिव्यक्त करते हैं कि मात्र भौतिक अथवा आध्यात्मिक चिन्तन के आधार पर जीवन के रहस्य को हृदयंगम कर सकना दुष्कर कार्य है। इसे समझने के लिए वाह्य भौतिकता को दृष्टिपथ में रखने के साथ ही आध्यात्मिक चिन्तन को भी प्रश्रय देना पड़ता है।

उपर्युक्त तथ्य वेद की सर्वकालीन एवं सर्वदेशीय महत्ता के साथ ही उसकी निर्भ्रान्त लोकप्रियता को प्रतिस्थापित करने में पूर्ण समर्थ हैं। इस स्थल पर इस बात की चर्चा कर लेना सर्वथा समीचीन ज्ञात होता है कि इन तथ्यों की उपलब्धि के पूर्व वैदिक धारा को किन अवस्थाओं के बीच होकर विकासोन्मुख होना पड़ा। निरुक्त[1] में इस आशय का एक श्लोक उपलब्ध होता है कि आरम्भ में ऐसे ऋषियों का आधिपत्य अवश्य रहा होगा जिन्होंने धर्म के मूल रहस्यों का साक्षात्कार किया था किन्तु परवर्त्ती काल में इन धर्मद्रष्टाओं का अभाव हो गया, परिणामस्वरूप मात्र मंत्रोपदेश की स्थिति अपनाई गयी। इसके पश्चात् ऐसे लोगो का अविर्भाव हुआ जिन्होंने मंत्रों को समझने और समझाने के लिए वेद और वेदांगों का प्रणयन किया। इस प्रकार आरंभिककाल मंत्रद्रष्टाओं के आत्म-साक्षात्कार का काल था। इसके पश्चात् इन्हीं मंत्रों के प्रवचन एवं तत्पश्चात् वाङ्मयीकरण की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। ग्रन्थो के साथ सम्बद्ध 'संहिता' शब्द इस तथ्य का परिचायक है कि इन ग्रन्थों मे विविध स्रोतों से प्राप्त[2] सामग्री संग्रहित की गई है। इस प्रकार मंत्र-द्रष्टा ऋषियों के मंत्रों में निहित रहस्यों का निर्वचन एवं संहिता रूप संग्रहण परवर्ती विकासक्रम को सूचित करने का प्रमुख सोपान है।

इस विवेचन के पश्चात् वेदो द्वारा प्रतिपादित कतिपय प्रमुख स्वरूपो, जीवन-आदर्शों, आध्यात्मिक मान्यताओ एवं उत्प्रेरक जीवन-दृष्टियों पर भी सूक्ष्मता से विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा। इस दृष्टि से हम सर्वप्रथम वेदों मे वर्णित देवतावादी परिकल्पना पर दृष्टिपात करेंगे।

वेदों में वर्णित देवतावाद

वेद वस्तुतः तत्कालीन आर्य जाति की आध्यात्मिक जिज्ञासा और समष्टिगत दृष्टिकोण की व्यापकता के निर्वचन को ही महत्व प्रदान करते हैं। वाह्य दृष्टि से इनके

१—साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु.। वेदं च वेदाङ्गानि च।' निरुक्त (१।२०)

२—डॉ० मंगलदेव शास्त्री—भारतीय संस्कृति का विकास, भाग १, पृ० ८९।

अध्ययन के पश्चात् हमारे समक्ष देवताओं की इतनी विशद तालिका[1] प्रस्तुत हो जाती है और इससे यह भ्रम सरलता से उत्पन्न हो सकता है कि वैदिक ऋषि बहुदेवतावादी थे। इसका मूल कारण यह है कि इनके अन्तर्गत विभिन्न देवताओं की स्तुतियों के साथ ही कतिपय त्राणप्रद मंत्रों का जमघट दृष्टिगोचर होता है। इसमें वैदिक देवताओं की संख्या, वेश-भूषा, आकार-प्रकार आदि का उल्लेख भी उनके बहुदेवतावादी होने की परिकल्पना को ही पुष्ट करता ज्ञात होता है। पर सत्य यह है कि ये ऋषि यथार्थ में बहुदेवतावादी न थे। इन स्तुतियों की पृष्ठभूमि मे इन समस्त देवताओं पर दृष्टिपात करके इन्हे परस्पर पूरक स्वरूप में प्रस्तुत किया गया है। 'ऋग्वेद' में स्पष्ट रूप से इस सत्य को प्रतिपादित किया गया है कि तत्वदर्शी लोगो की दृष्टि में वेदों में प्रयुक्त समस्त देवनाम सर्वतोभावेन[2] एक ही सत्ता के परिचायक हैं। इनके माध्यम से मंत्र द्रष्टाओं ने एक ही परम सत्ता के विविध स्फुलिंगों को उनके सपूर्ण वैशिष्ट्य के साथ चित्रित किया है। जिस प्रकार सम्पूर्ण प्राकृतिक और अप्राकृतिक आधार के मूल मे हम संसृति की विशिष्टता के दर्शन करते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण देव परिकल्पना के अन्तर्गत भी हमे आध्यात्मिक चिन्तन की अखण्डता का ही परिचय मिलता है। 'ऋग्वेद' के नारदीय सूक्त मे जिसमें प्रकृति के विकास के साथ ही सृष्टि रचना संबंधी बातों का उल्लेख है यह संकेत है कि सृष्टि के उद्भव के पूर्व सर्वशक्तिमान परमेश्वर और इसके निर्माण के प्रमुख उपादान कारणों का अस्तित्व था। देवताओं की उत्पत्ति सृष्टि-रचना के पश्चात् हुई। सृष्टि का विकासक्रम अद्भुत रहस्य से पूर्णतया निष्णात है। इसके विषय में 'नेति नेति' की भावना चारितार्थ होती है। यह सूक्त स्पष्ट रूप से इस बात का सकेत करता है कि देव-रचना के मूल मे उस परमब्रह्म परमेश्वर का सहयोग है। इसीलिए ऋग्वैदिक ऋचाओं[3] ने देवताओ के स्थान पर अविभाज्य सर्वव्यापी ब्रह्म (परब्रह्म) के चिन्तन पर जोर दिया है। गायत्री मत्र इस सत्य को प्रतिपादित करता है कि "मैं उस सर्व सम्पन्न की आराधना करता हूँ जिसने तीनों लोको का निर्माण किया है। वही मेरे सारे विचारो, क्रियाओं और इच्छाओ का निर्माण करे[4]।"

उपर्युक्त तथ्यों पर दृष्टिपात करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वेदों मे मूलतः देवतावाद एक प्रकार से मनुष्य के आदर्शवाद का ही नामान्तर या रूपान्तर है। बलवती प्राकृतिक शक्तियो और घटनाओं के सामने अपने को दुर्बल और विवश पाकर क्षणभंगुर जीवन वाला मानव अपने सामने ऐसे आदर्शों को खड़ा करता है, जिनसे वह समय-समय पर अपने जीवन में सान्त्वना, प्रेरणा तथा शान्ति प्राप्त कर सके। वैदिक साहित्य के

१—इनकी विशद तालिका के लिए देखिए रामदास गौड के 'हिन्दुत्व' में प्रस्तुत किया गया वेदों का विवेचन।

२—इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋग्वेद, १।१६४।४६।

३—राधाकमल मुखर्जी—भारत की सस्कृति और कला, पृ० ५१।

४—वही, पृ० ५१।

प्रमुख ग्रन्थ 'निरुक्त' मे मनुष्य की कामना के आधार पर देवता की जो परिभाषा दी गई है उससे भी यह ध्वनि निकलती है[1]।"

उदात्त आध्यात्मिक परिकल्पना

वेदों में देवतावाद की एक सुनिश्चित भूमिका है, फिर भी इसका ढांचा निश्चित आध्यात्मिक परिकल्पना एवं अनंत, अखंड ईश्वरवादी भावना से निर्मित है। इस भावना के रहस्यमय स्वरूप का निर्वचन प्रमुख रूप से 'ऋग्वेद' के 'पुरुष सूक्त' में हुआ है। इस सूक्त के आरम्भ में ही निम्नांकित मंत्र प्रस्तुत किया गया है—

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम्[2]॥'

इस श्लोक में प्रयुक्त पुरुष शब्द को लेकर पर्याप्त विवाद हुआ है। वस्तुतः पुरुष वह है जिससे सम्पूर्ण सृष्टि अनुप्राणित है तथा जो जीव और जगत में समान एवं एकरस भाव से विद्यमान है। वह अखण्ड, अनन्त और चिन्मय है। वह सभी में रमते हुए भी निराकार होने के साथ ही अचिन्त्य और इन्द्रियातीत है। वही भूत, वर्त्तमान एवं भविष्य की संसृति का विधायक है, फिर भी वह स्वयं अजन्मा है। अतएव उसके निर्विकल्प रूप के सविकल्प आनयन के लिए हमें उसी के द्वारा विरचित विराट् विश्व के विविध स्वरूपों का उस पर आरोप करना पड़ता है। वह सच्चिदानन्द स्वरूप है। उसकी सामर्थ्य ज्ञान-स्वरूप एवं तेज-स्वरूप है। ज्ञान स्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है और तेज-स्वरूप सामर्थ्य से सूर्य। उसी के उपयुक्त ज्ञान से व्यक्ति ज्ञानी बन जाता है। अतएव जीव का यह परम पुनीत कर्त्तव्य है कि वह अपने स्वच्छ हृदयाकाश में उस विराट् को प्रतिष्ठित करके उसे ही अपना आराध्य बनाये और अपने मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करे। इसी से निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है।

वैदिक एवं वेदेतर ग्रथों में जीवन और ब्रह्म के सम्बन्धों के साथ ही जीवन और जगत के सम्बन्धों का निरूपण भी मिलता है। इस संसार को वे कर्मफल भोगने का उपयुक्त स्थान मानते हैं। व्यक्ति-अदृश्य भक्ति द्वारा इसी उद्देश्य से इसमें डाला जाता है और इसके आवर्त्त में फँसकर नाना प्रकार के बंधनो में बँध जाता है। इस बंधन को विच्छिन्न करके निर्बन्ध रूप से विकास की ओर उन्मुख होना ही जीवन का प्रमुख कर्त्तव्य है। 'ब्रह्म' शब्द 'वृहिवृद्धौ' धातु से व्युत्पन्न है। इसका अर्थ व्यापक या विराट् होता है। विवेचन के संदर्भ में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि जीवन कर्म-फलों के आवर्त्त से आबद्ध होने के कारण संकीर्णता में फँस जाता है। संकीर्णता के इस संकुचित दायरे से मुक्त होकर विराटता की प्रशस्त पृष्ठभूमि पर अपने को

२—डा० मंगलदेव शास्त्री—भारतीय संस्कृति का विकास, पृ० ७१।

३—देखिए ऋग्वेद पुरुष सूक्त...।

प्रतिष्ठित करके परम तत्व को हृदयंगम करना और जीवन को उत्तरोतर विकासोन्मुख बनाना ही मानव का पुनीत कर्त्तव्य है। यही बात यजुर्वेद[1] और ऋग्वेद[2] के कतिपय मंत्रों द्वारा प्रतिपादित की गई है। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद आदि की ही परम्परा का विकास उपनिषदो में भी मिलता है। 'छान्दग्योपनिषद्' 'ब्रह्मसूत्र[3]' तथा 'तैत्तरीय उपनिषद्[4]' आदि में प्रायः वही बातें दुहरायी गई हैं। इनमें जगत की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के कारणों के जनक को ब्रह्म मानकर उसी को परम ज्ञेय की संज्ञा दी गई है। ब्रह्म के दो लक्षणों की कल्पना की गई है जो जगत् की उत्पत्ति के कारण स्वरूप हैं, पर ये किसी काल विशेष में पाये जाते हैं और किसी काल में इनका कोई महत्व नहीं होता। स्वरूप-लक्षण का ब्रह्म से अभिन्न सम्बन्ध रहता है। इसके अन्तर्गत ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द के साथ ही उसकी विराटता और अनन्तता का परिज्ञान निहित है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उसके तटस्थ लक्षण के अन्तर्गत जगत की उत्पत्ति के बाह्य कार्य-कारण तथा उसके स्वरूप-लक्षण के अन्तर्गत उसका सूक्ष्म वैशिष्ट्य निरूपित किया गया है।

वेदों में जगत के निमित्त के रूप में ब्रह्म को स्वीकृति मिली है, पर उपनिषदों में इसका व्यापक वर्णन मिलता है। वेद-वर्णित ब्रह्म, निराकार निर्विकार, शान्त और सभी उपाधियों से रहित है। ऐसी अवस्था मे इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि निराकार ब्रह्म से साकार सृष्टि का अवतरण कैसे होता है ? इसके उत्तर स्वरूप ब्रह्म के साथ ही शक्ति अथवा माया की परिकल्पना की गई है। इसकी विशेषता का उल्लेख करते हुए इस सत्य का निर्देश किया गया है कि[5] "माया या शक्ति को ब्रह्म से न तो पृथक कहा जाता है और न अपृथक। वह शक्ति स्वाभाविकी है और स्वभाव का कारण कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आकाश में शून्यशक्ति, वायु में स्पन्दन-शक्ति, अग्नि में दाहशक्ति, जल में द्रवशक्ति, उपल में दार्ढ्यशक्ति, आदित्य में प्रकाशशक्ति एवं विनाशी पदार्थों में विनाशशक्ति होती है। इसी प्रकार ब्रह्म मे भी ज्ञान, क्रिया आदि अनेक प्रकार की स्वाभाविकी शक्तियाँ हैं। इस शक्ति द्वारा जगत का पालन, सर्जन एवं संकोचन होता है।"

१—सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्, नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठ, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ यजुर्वेद (३४।६)

२—अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्।
अप नः शोशुचदघम् ।१।
स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये।
अप नः शोशुचदघम्। ऋग्वेद (१।९७।१।८)

३—जन्माद्यस्य यतः (ब्रह्मसूत्र १।१।२)।

४—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।

—तैत्तिरीयोपनिषद ३।१।

५—वैद्यनाथ अग्निहोत्री—'ब्रह्मतत्व', पृ० ६९।

जीव और ब्रह्म सम्बन्धी परिकल्पना

श्रुतियों[1] में जीवन के विषय में विशद विवेचन मिलता है। उनमें आत्मा को अजन्मा, नित्य, शाश्वत, पुराण, अमर तथा ब्रह्म के स्फुल्लिंग के रूप में चित्रित किया गया है। वृहदारण्यक[2] में स्पष्ट रूप से इस सत्य का उल्लेख किया गया है कि जिस प्रकार अग्नि-पिण्ड से उसके स्फुल्लिंगों का जन्म होता है वैसे ही परमात्मा से आत्मा की उत्पत्ति होती है। यह आत्मा परमात्मा का स्वरूप होने के कारण चैतन्य, अजर और अमर रहता है। पर उसी ब्रह्म का अंश—अविनाशी, चेतन, अमल, और सहज ही सुख की राशि—होने के बावजूद यह जीवन कर्तृत्व, भोक्तृत्व, जन्म-मरण और माया-मोह के आवर्त्त में फँसकर अपने सहज स्वरूप का अभिज्ञान भूल जाता है। परिणामस्वरूप यह नाना दुःखो को झेलता है इसी लिए यथा स्थान जीवन और ब्रह्म के भेद की बातें भी दृष्टिगोचर होती हैं। मुण्डकोपनिषद' में इस आशय के कई श्लोक आये हैं जिनका तात्पर्य यह है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हुए हैं। ये सदा साथ रहते हैं और एक ही नीड़ में निवास भी करते हैं। इनमे से एक तो उस वृक्ष के फलों का उपभोग करता है, पर दूसरा इस भोग से निर्लिप्त रहता है। भोगो में लिप्त प्रथम पक्षी जब तक दूसरे पक्षी को पहचान नही पाता या उसके रहस्य से अवगत नही होता तबतक वह नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त करता रहता है। पर जब वह उसके रहस्य से अभिज्ञ हो जाता है तब कर्मबन्धन से मुक्त होकर[3] उसी का अनुगामी बन जाता है और समत्व बुद्धि को प्राप्त करता है।[4] वस्तुतः शरीर रूपी वृक्ष पर बैठे हुए ये दोनों पक्षी जीव और ईश्वर हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर जीव और ब्रह्म सम्बन्धी दो विचार धाराएँ हमारे समक्ष आती हैं। एक के अनुसार आत्मा और परमात्मा मे भेद नहीं है, पर दूसरी के अनुसार

१—(अ, स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म। बृ० ४।४।२५
(ब) न जायते म्रियते वा विपश्चित (कठो० १।२।१८)
(स) तत्वमसि (वह तू है)—छान्दोग्य—६।८।७
(द) अहं ब्रह्मास्मि—(बृ० १।४।१०) मै ब्रह्म हूँ।
(य) सर्वं खल्विदं ब्रह्म.........।

२—यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुल्लिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः। बृ. २।१।२०

३—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य. पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्यो अभिचाकशीति॥ १॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ २॥
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति॥ ३॥
—तृतीय मुण्डक प्र० खण्ड

४—ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणै. क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, १।११।

आत्मा (जीव) और परमात्मा भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त 'मायोपाधिक ब्रह्म'[1] की बात भी सामने आती है। इसके अनुसार भगवान् की माया विद्या और अविद्या रूपी है। यही माया उनकी शक्ति है। इस माया के प्रसार स्वरूप नाना प्रपंचात्मक जगत का जो भी स्वरूप है वह प्रलय के समय उन्हीं में विलीन हो जाता है और सृष्टि के समय उन्हीं से उद्भूत होता है। इस प्रकार वह किसी न किसी रूप में परमेश्वर की माया शक्ति को स्वीकार तो करता है, और इसी स्वीकृति के कारण उसे 'मायोपाधिक ब्रह्म' की संज्ञा दी जाती है, पर द्रष्टव्य यह है कि ब्रह्म इसके अधीन नहीं रहता, बल्कि माया ब्रह्म की अनुगामिनी और दासी रहती है। सारांश यह कि इस 'मायोपाधिक ब्रह्म' का भी जीव से सम्बन्ध होता है। जब जीव के अज्ञान का निरसन हो जाता है और वह अपने चैतन्य स्वरूप को पहचान लेता है तो वह ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

श्रुतियों में जीव के कर्म, योग और जन्म-मरण सम्बन्धी विषयों पर भी विचार किया गया है। हिन्दू दर्शन के अनुसार मनुष्य को अपने कर्म के शुभाशुभ फल के अनुसार विविध योनियों में भटकना पड़ता है। ऐसा माना जाता है कि पूर्वजन्म के शुभ-कर्मों का फल इस जन्म में विविध सुखोपभोग का कारण बनता है और उसका अशुभ कर्म जीवन में विविध प्रकार से कष्ट का साधन सिद्ध होता है। अतएव श्रुति जीवन को उपदेश देती है कि जन्म-मरण के बन्धन से छूटने और अशुभ कर्म की प्रतारणा से मुक्त होने के लिए व्यक्ति को शुभ कर्म करना चाहिए।

उपासना-भक्ति

ऋग्वेद के 'श्रद्धासूक्त' में मानव की रागात्मिका वृत्ति की चर्चा की गई है। उस सूक्त[2] में मानव की इसी वृत्ति को अग्निहोत्र की अग्नि को दीप्त करने, अभिमत फल प्रदान करने, याज्ञिकों को इष्ट फल देने, आराधना के केन्द्र-बिन्दु होने और जीवन सर्वस्व मानने के भाव के दर्शन होते हैं। इनके अतिरिक्त इन वेदों में विभिन्न देव-स्तुतियों के

१—छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूत भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्य निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्—४।६-११।

२—श्रद्धयाग्निः समिध्यते, श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।
श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यं दिनं परि।
श्रद्धा सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह न'। ऋग्वेद-श्रद्धासूक्त, १०।१५१।

दर्शन भी मिलते हैं। 'अथर्ववेद' के निम्नांकित उपासनापरक स्थल विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं[1]।

(अ) हे प्रभो ! हम तेरे भक्त हों।

(ब) वह ईश्वर एक और सचमुच एक ही है।

(स) एक परमेश्वर ही पूजा के योग्य और प्रजाओं में स्तुत्य है।

(द) वह ईश्वर हमें पाप से मुक्त करे।

पूर्व पृष्ठों पर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि प्राकृतिक शक्तियों के समक्ष अपने को अवश, निरुपाय और निस्सहाय पाकर व्यक्ति ने प्रत्यक्ष अथवा दृश्य जगत के स्थान पर परोक्ष अथवा अदृश्य विश्व के रहस्यावृत्त स्वरूप को जानने की जिज्ञासा प्रदर्शित की। प्रकृति के प्रांगण में उषा की स्वर्णिम आंखमिचौनी, अंशुमाली के प्रकाश, निशा के रहस्यमय वैभव, शून्य के व्यापक विस्तार, नक्षत्रलोको के रहस्यमय क्रियाकलाप, मेघाच्छन्न आकाश के गर्जन-तर्जन एवं तड़ित-विलास, अनन्त सागर के अनवगाहनीय विस्तार तथा शस्यश्यामला वसुन्धरा के अतुल वैभव ने उसकी इस जिज्ञासा वृत्ति को और भी उद्दीप्त करके उसे सुनिश्चित एवं सबल स्वरूप प्रदान किया। परिणामस्वरूप आदि मानव में आस्तिक बुद्धि का प्रादुर्भाव हुआ। वैदिक ऋषि के आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् यह सर्वथा निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो गया कि ब्रह्म, ज्ञान, स्वरूप और आनन्द का धाम है। इसीलिए वैदिक पद्धति मानव-चेतना के उद्बोधन द्वारा ब्रह्माण्ड व्यापी एवं इसको भी अतिक्रमित करने वाले विराट स्वरूप को समक्ष रखने में सफल रही[2]। इस विचारधारा में ज्ञान, भक्ति और कर्म के त्रिपुर में सामरस्य की कल्पना की गई और जीव-पिण्ड-शरीरस्थ अनुपम शक्ति से परिचित होकर ऊर्ध्वगमन के लिए तत्पर हुआ। इसके प्रवाह में प्रवृत्ति मार्ग के सन्दर्भ में निवृत्ति मार्ग का भी निर्वचन किया गया। इस चिन्तन में समष्टिगत चेतना की अवहेलना नहीं की गई और इसी व्यापक भूमिका में व्यष्टि के सर्वांगीण और सर्वतोमुखी विकास[3] को विशेष महत्व प्रदान किया गया। इस प्रकार जगत-ज्ञान, आत्म-ज्ञान और परमात्म-ज्ञान के जितने भी सम्मत सोपान हैं, इनका वैदिक ग्रन्थों में महत्वपूर्ण निरूपण हुआ।

१—(अ) तस्य ते भक्तिवांसः स्याम। ६।७६।३

(ब) स एष एक एक वृदेकएव। १३।५।७

(स) एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।२।२।१

(द) स नो मुञ्चत्वं हसः। ४।२३।१

२—Man had developed into a consciously spiritual being, begining to look not at the things which are seen, but the things which are not seen and eternal. Arthur W. Hopkins Mysticism old and New-p.13

३—The most important and ultimate problem of Education is to get people to see that there is a private level beyond the public level and to learn how to live with this realisation or to learn to live with their freedom. P. w. Brigman–Reflection of Physisist–p.77

'ब्राह्मण' वेदो के पूरक ग्रन्थ हैं और 'उपनिषद्' आध्यात्मिक चर्चा के प्रमुख श्रोत। इसीलिए ब्राह्मण ग्रन्थो में यज्ञ सम्बन्धी नियम निर्धारित किये गये हैं और उपनिषदों मे ज्ञानाश्रित आध्यात्मिक चिन्तन को प्रश्रय दिया गया है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यज्ञ और ज्ञान दोनों का भक्ति से अटूट सम्बन्ध स्थापित होता है। इन ग्रन्थों में लौकिक भावनाओं के साथ ही पारलौकिक चिन्तन को भी महत्व प्रदान किया गया है। पर द्रष्टव्य यह है कि "वैदिक ऋषियो ने आन्तरिक एवं वाह्य, आध्यात्मिक तथा लौकिक जीवन में जो संतुलन स्थापित किया था वह उपनिषद् युग तक आते-आते अस्तव्यस्त हो चुका था। परवर्ती काल की स्थिति तो उससे भी विकृत थी। मुण्डक उपनिषद् में इस प्रकार की परिस्थिति का स्पष्ट आभास प्राप्त होता है, जहां वेदों को परा *विद्या से हटाकर अपरा विद्या के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। इस प्रवृत्ति ने वैदिक* कर्मकाण्ड को ही नहीं अपितु मूल वेद की उपयोगिता को भी धक्का पहुँचाया है।[1]

भागवत धर्म इसी प्रकार की परिस्थिति की उपज था। इस काल तक आते-आते वैदिक धर्म के वाह्य स्वरूप अवशिष्ट रह गये पर उसकी आत्मा उससे विच्छिन्न होकर इधर-उधर भटकने लगी। इसी अनिश्चित स्थिति के कारण भागवत धर्म मे एक ओर अगर वैदिक उपासना पद्धति के विरुद्ध प्रतिक्रिया का भाव दृष्टिगोचर हुआ तो दूसरी ओर उसके समर्थन की ओर भी लोगों का ध्यान गया। इस काल मे संप्रदायवादी प्रवृत्ति को भी प्रश्रय मिला। इसके परिणामस्वरूप विविध त्रितण्डावादी प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन मिलने लगा। 'पाचरात्र' और 'वैखानस' साहित्य के आधार पर मूर्तिपूजा को वल मिलने लगा। इस प्रकार वैदिक साहित्य के परम सबल स्वरूपों के स्थान पर एकांगी भक्ति और इसके विविध विधि-विधानों की स्थापना को महत्व दिया गया। ज्ञान, कर्म और उपासना के विविध सोपानों मे अब केवल भक्ति की ही महिमा प्रतिपादित की गई और भागवत धर्म पर आधारित भक्ति निम्नांकित प्रमुख मान्यताओं के आश्रय में प्रस्फुटित होने लगी।[2]

(१) भगवान भक्ति द्वारा ही प्राप्त होते हैं।

(२) योग, ज्ञान, स्वाध्याय, तप अर्थात् वानप्रस्थ और त्याग अर्थात् सन्यास प्रभु प्राप्ति के वैसे साधन नहीं हैं।

(३) भक्ति मे एक निष्ठा होनी चाहिए।

(४) भक्ति से चित्त द्रवित हो जाता है और वाणी गद्गद् हो उठती है।

(५) भक्त कभी प्रभु के वियोग मे रोता है, कभी हँसता है और कभी अति मिलन भावना मे लज्जा छोड़ कर गाता और नाचता है।

(६) भक्ति से भक्त में पवित्रता आती है जो उसके संसर्ग में आने वाले व्यक्तियों को पवित्र करती है।

(७) भक्ति से कर्म विपाक नष्ट होता है और उसके नष्ट होने पर भगवान प्राप्त होते हैं।

१—डा० मुंशीराम शर्मा—भक्ति का विकास, पृ० २३७-३८।

२—वही, पृ० ३०३-३०४।

(८) भक्ति में भगवान के चरित्रों का श्रवण और ध्यान करना आवश्यक माना जाता है। इससे आत्मा शुद्ध होता है।

(९) शुद्ध हुआ आत्मा ईश्वर जैसी सूक्ष्म वस्तु के दर्शन करता है।

कर्मकाण्ड और यज्ञ

इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि वेदों के साथ ही उनके पूरक ब्राह्मण ग्रन्थो में कर्मकाण्ड और यज्ञ को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। वेदों के रूप में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद उल्लेख्य हैं एव उनके पूरक ग्रन्थों के रूप में एतरेय ब्राह्मण, शांखायन, तैत्तिरीय उपनिषद्, वाजसनेयी-सहिता, छान्दोग्योपनिषद्, केनोपनिषद् तथा गोपथ ब्राह्मण को महत्त्व दिया जाता था। वेदों में विश्वात्मा[1] की कल्पना की गई थी और स्वर्ग को इनका सिर, सूर्य को चक्षु, वायु को श्वांस, शून्य को धड़, पृथ्वी को पद और जल को वाह्यावरण के रूप मे स्वीकार किया गया। ऐसा ज्ञात होता है कि इस विराट् के अभिज्ञान और उसी की प्रशस्ति को मानव का प्रमुख कर्त्तव्य माना गया था[2]। इस अभिज्ञान और प्रशस्ति के दो प्रमुख साधन थे। प्रथम को हम विषयगत (आब्जेक्टिव) और द्वितीय को हम विषयिगत (सब्जेक्टिव) साधन मानते हैं। विषयगत अभिज्ञान बाह्य संसृति के चाकचिक्य से संबंधित है और विषयिगत अभिज्ञान मानव आत्मा के रहस्यों से। आरम्भ में व्यक्ति प्रकृति के नाना-विध क्रिया-कलापों से प्रभावित और अपने दैनिक जीवन में उनके सहयोग का आकांक्षी भी होता है, परन्तु जब उसे अन्तरात्मा की अनन्त अक्षय निधि का ज्ञान हो जाता है तो वह वाह्य स्थूलता का परित्याग करके अन्तराभिमुख हो जाता है। आरम्भ में कर्मकाण्डों एवं यज्ञों का सूत्रपात तो विषयगत चाक-चिक्य की आत्माभिव्यक्ति और उससे उपलब्ध आत्मतोष की भावना के प्रतिफलन स्वरूप हुआ पर बाद में इसका सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा के साथ भी स्थापित किया गया। सर्वप्रथम इसीलिए 'यज्ञस्यधामप्रथमंमनन्त का दर्शन और इसी के परिणामस्वरूप पुनः याज्ञिक अनुष्ठानों का आविर्भाव दृष्टिगोचर हुआ। आरम्भ में यज्ञों का स्वरूप भौतिक रहा, पर बाद में इन्हें आध्यात्मिक परिवेश प्रदान किया गया। वस्तुतः "यज्ञ स्वयं सृष्टि के सत्य नियमों का साकार एवं मूर्त रूप है। हमारे पूर्वजो ने प्रत्येक वस्तु के अन्तराल तक पहुँचने और उसे पहचानने का अभूतपूर्व प्रयास किया है। जहाँ उन्होंने किसी मूर्त सत्ता के अंतस में विद्यमान निराकार तथा

१—Heaven is the head, the sun the eye, the air the breath, the ether the trunk, the water the bladder and the earth the feet of the central reality, which is pictured as world soul. S. Radha Krishnan-Indian Philosophy. P. 145.

२—Man was created to praise, revere, and serve God. A. W. Hopkinson-Mysticism old and New. P. 53

अमूर्त तत्व के दर्शन किये हैं वहाँ उन्होंने अमूर्त को मूर्त रूप में परिणमित किया है, तथा नाना शाखाओं में फूटते हुए उसके विशाल रूप को भी देखा है[1]।'

यज्ञ और कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति तत्कालीन जीवनक्रम की परिचायिका भी है। वैदिक जीवन सामान्य जीवन आदर्शों से असामान्य जीवन आदर्शों तक जाने का प्रमुख साधन है। इसके माध्यम से सतत विकासशील आत्मोन्नति, आत्मविस्तार और आत्म-साक्षात्कार की उपलब्धि हो सकती है। मानव की यह भावना एवं उसकी जीवन क्रिया यज्ञ द्वारा पवित्र होकर महत्तम उपलब्धियो की ओर उन्मुख होती है[2]। यज्ञ के माध्यम से व्यक्ति अपनी निम्न अमानवीय इच्छाओं का परित्याग करके अत्युच्च नैतिक एवं भौतिक उपलब्धियों की ओर अग्रसर होता है। उसी के द्वारा वह अपने अन्दर त्याग और तपस्या का सस्कार डालता है। उसके संस्कार ज्यो-ज्यों दृढ़ होते जाते हैं त्यों-त्यों वह जीवन की संकीर्णताओं से मुक्त होता जाता है। अन्ततोगत्वा वह सांसारिक प्रलोभनों का परित्याग करके आध्यात्मिक जिज्ञासाओं और चिन्तनों में रत हो जाता है।

अन्य आदर्श

सर्वप्रथम हम ऋत और सत्य की भावना को लेते हैं। प्रायः ऐसा माना जाता है कि संसृति के सभी क्रिया-कलाप विविध प्राकृतिक नियमों के मुखापेक्षी हैं। ये नियम एक दूसरे के विरोधी नहीं होते। इनमें सामंजस्य, एकता और एकरूपता पायी जाती है। प्राकृतिक नियमों के अन्दर पाये जाने वाले इसी सामंजस्य को ऋत की संज्ञा दी गई है। सत्य का भी विशेष महत्त्व है और यही वस्तुतः सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और नैतिक आदर्शों का मेरुदण्ड है। ऋत और सत्य की इस भावना का वैदिक साहित्य में विशेष स्थान है। सत्य का वर्णन करते हुए वैदिक ऋषियों ने इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि ब्रह्म ने सत्य का निरूपण करते हुए सत्य और असत्य में भेद किया है। प्रथम को उन्होंने श्रद्धा का पात्र माना है और द्वितीय को अश्रद्धा का[3]। इसीलिए वे यज्ञ द्वारा बार-बार सत्य और श्रद्धा को प्राप्त करना चाहते हैं[4]। परवर्त्ती धर्मग्रन्थो में भी सत्य का विविध रूप से प्रतिपादन हुआ है। इसे ईश्वर स्वरूप माना गया है और धर्म, दान, यज्ञ, होत्र, तपस्या और वेदादि को इसी की उपस्थिति

१—डा० मुंशीराम शर्मा - भक्ति का विकास, पृ० २६७।

२—Akshai Kumar Banerjee-Philosophy of Gorakh Nath, PP.-258-259.

३—दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापति.।
अश्रद्धामनृते अदधाच्छ्रद्धा, सत्ये प्रजापति.॥

—यजुर्वेद, १६।७७।

४—सत्य च मे श्रद्धा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

—वही, १८।५।

के कारण विशेष महत्व दिया गया है[1]। ऋत की भावना पर ऋग्वेद में कई सूत्र मिलते हैं।

ऋत और सत्य के साथ ही वेदों का आशावादी और उद्बोधक स्वर भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। निसर्ग से युद्ध करने और प्राकृतिक शक्तियो में निरंतर विचरण करने के साथ ही जीवन के महनीय और औदात्यपूर्ण आदर्श को आशावादिता के साथ ग्रहण करने में वे अद्वितीय हैं। उनका यह आशावादी स्वर उनकी स्तुतियों में विशेष रूप से मुखरित हुआ है। आज प्रायः प्रत्येक हिन्दू की जिह्वा पर 'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि'[2], 'जीवेम शरदः शतम्'[3] अथवा 'असतो मा सद्गमय' ... ... आदि सूत्र विद्यमान रहते हैं तथा वह इन्हीं से प्रेरणा एवं स्फूर्ति प्राप्त करता रहता है। इसी आशावादिता के कारण वैदिक मंत्रद्रष्टा के स्वर में दृढ़ता, आत्म-विश्वास और निष्पक्ष चिन्तन का प्रादुर्भाव हुआ था। वे तो स्पष्ट रूप से इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि द्यौ, पृथ्वी वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, चन्द्रमा, दिन, रात्रि, धेनु, वृषभ, मित्र, वरुण, इन्द्र, इन्द्रियां, वीर, वीर्य, प्राण, अपान, सत्य, अनृत, भूत और भविष्यत् न तो डरते हैं और न क्षीण होते हैं[4]। अतएव इन्हीं की तरह जीव को भी डरने और क्षीण होने की कोई आवश्यकता नहीं।

कतिपय वेदों में उद्बोधन गीतों के साथ ही राष्ट्रीय भावना को भी विशेष महत्व प्रदान किया गया है। अथर्ववेद के बारहवें काण्ड के प्रथम सूक्त को पृथ्वी सूक्त के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके ६३ मंत्रों में पृथ्वी के आधिदैविक और आधिभौतिक स्वरूप का स्तवन किया गया है। इन सूत्रो में द्रष्टा ने पृथ्वी को मातृरूप में ग्रहण करके उसे जो महत्व प्रदान किया है वह भौगोलिक सौन्दर्य के साथ ही पौराणिक और नैसर्गिक लालित्य से निष्णात है। "यजुर्वेद में एक ऐसा स्थल भी आता है जिसे सर्वतोभावेन वैदिक-राष्ट्रगीत की संज्ञा दी जा सकती है। इस मंत्र[5] में सम्पूर्ण राष्ट्र को विविधि रूप से समुन्नत

१—सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाऽऽश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात् सत्यपरो भवेत्॥
—वाल्मीकि-रामायण—अयो० का० १०६।१३-१४

२—यजुर्वेद, १९।९।

३—अथर्ववेद, १९।६७।२-८।

४—यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मारिषः।
यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभे. एवा मे प्राण मारिषः। —अथर्ववेद, २।१५।

५—आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽति व्याधी महारथो जायताम्।
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा।
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु, फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्।
योगक्षेमो नः कल्पताम्—यजुर्वेद संहिता, २२।२२

देखने की अभिलाषा व्यक्त की गई है। इसके अतिरिक्त पवित्रता, नैतिकता, आदर्श-स्थापन, सृष्टि के उद्भव और विकास संबंधी निर्देशों से सम्पूर्ण ग्रन्थ पूर्णतया निष्णात है। व्यष्टि उत्थान के साथ ही समष्टि उत्थान ही उनका प्रमुख दृष्टिकोण है। मानवतावाद का अजस्र प्रवाह उनके चिन्तन में निरंतर प्रस्तुत रहता है। विश्व शान्ति और विश्व बन्धुत्व की भावना से उनकी विचार-सरणि निरंतर ओत-प्रोत रहती है[1]। समानता के आदर्श का निर्वाह करना वे अपना धर्म मानते हैं[2]। धर्म की भावना को वे विशेष महत्व प्रदान करते हैं। आत्म-रक्षा और आत्म-सम्मान का भाव उन्हें निरन्तर स्पंदित और प्रेरित करता रहता है।

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था और चातुराश्रम्य :—

वर्ण-व्यवस्था का सम्बन्ध भी वेदों से स्थापित किया जाता है और इसके प्रमाण-स्वरूप ऋग्वेद का निम्नांकित मंत्र भी उद्धृत किया जाता है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत[3] ॥

यद्यपि इस मंत्र की व्याख्या विभिन्न दृष्टियों से की गई है पर संप्रति प्रस्तुत संदर्भ में इसमें हम भिन्न-भिन्न वर्णों के उद्भव का कारण पाते हैं। वस्तुतः इसको वैदिक मंत्र माना जाय या न माना जाय इस बात को लेकर पर्याप्त विवाद है। यदि हम इस विवेचन में न भी पड़ें तो इतना अवश्य कह सकते हैं कि सामाजिक अन्योन्याश्रयिता की दृष्टि से वर्णों के द्वारा प्रतिपादित मत का विशेष महत्व है। वस्तुतः समाज में ज्ञानप्रधान, कर्म प्रधान और इच्छा प्रधान वृत्तियों का पाया जाना स्वाभाविक है। ये वृत्तियाँ अपने मूल परिवेश में समाज के सर्वांगीण विकास की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। यह सर्वथा सत्य है कि व्यक्ति विशेष के लिए रुचि के आधार पर कार्य करना स्वाभाविक है। सामाजिक व्यवस्था के तत्कालीन उन्नायकों ने इस तथ्य को सर्वतोभावेन समझा था। अतएव जन्म अथवा कर्म के स्थान पर इच्छा-वृत्ति के आधार पर वर्णों का विभाजन वैज्ञानिक दृष्टि का परिपोषक सिद्ध होता है। 'वर्ण' शब्द के अन्तर्गत निहित 'वृ'[4] धातु

१—ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्त सधुराश्चरन्त.।
अन्योन्यस्मैवल्गुवदन्तो यात समग्रास्थ सध्रीचीनाम्—अथर्ववेद, पैप्पलादि शाखा—५।१९

२—समानी प्रभा सहवोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सहवो युनज्मि,
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।
सध्रीचीनान् वः समनसः कृणोम्ये कश्नुष्टीन् संवननेन सहृद।
देवा इवेद मृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सुसमितिर्वो अस्तु।
—वही, ५।१९

३—ऋग्वेद (१०।९०।१२)

४—ऐसा माना जाता है कि वर्ण शब्द 'वृ' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है स्वेच्छया अथवा रुचि के आधार पर कर्मों का बँटवारा।

भी इस भावना का व्यंजक है। इससे यह प्रकट होता है कि वैदिक वर्ण-व्यवस्था नमनीय, वैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुकूल थी।

वैदिक वर्णव्यवस्था में अगर समाज के सर्वांगीण विकास की भावना पर बल दिया गया था तो चातुराश्रम्य के अन्तर्गत समाज के व्यक्ति, वैयक्तिक इच्छाओं, अभिलाषाओं और आध्यात्मिक जिज्ञासाओं को पूर्ण संवर्द्धित और परिवर्द्धित होने का अवसर प्रदान किया गया था। अथर्ववेद में ब्रह्माण्ड को सहारा देने वाली सत्य, ब्रह्म और धर्म की धारणाओं में यज्ञ और, तप को भी जोड़ दिया गया था। 'वैदिक युग में माया के सिद्धान्त का निरूपण हुआ। माया वह अज्ञेय सर्जनात्मक शक्ति मानी गई जो मनुष्य के मस्तिष्क और इन्द्रियों को भुलावे में डाल देती है। इसे केवल परमज्ञान द्वारा ही पराजित किया जा सकता है। इसीलिये उपनिषदों में परमज्ञान को मुक्ति का साधन बतलाया गया है। दूसरी ओर यज्ञ विधियों के नियामक 'श्रौत' और 'गुह्य' सूत्रों में मानव के चतुर्विध उद्देश्य का निरूपण है। ये उद्देश्य हैं, धर्म अथवा परस्पर व्यवस्था की अनुरूपता, अर्थ अथवा व्यवसाय या जीविका, काम अर्थात् इच्छापूर्ति और मोक्ष अर्थात् बन्धन-मुक्ति। भारतीय जीवन-प्रणाली के यही चार सुव्यवस्थित उद्देश्य हैं जिन्होने भारतीय सभ्यता को सुगठित और सन्तुलित बनाए रखा है'[1]। इसके अलावा पितृऋण, ऋषिऋण और देवऋण की भी चर्चा की गई है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विधायक प्रमुख स्रोतो के रुप मे भी भारतीय मनीषियों ने चातुर्वर्ण्यव्यवस्था के साथ ही चातुराश्रम्य की परिकल्पना की थी। इस प्रकार इनके अन्तर्गत ब्रह्माण्ड में 'समरस' रूप से परिव्याप्त ऋत, सत्य, ब्रह्म और धर्म' को प्रश्रय मिला था और प्रकारान्तर से यही इसके प्रमुख प्रतिपाद्य भी थे।

वैदिक दृष्टिकोण : व्यापकता, विश्वजनीनता एवं सर्वांगीणता

उपर्युक्त विवेचन पर दृष्टिपात करने के पश्चात्, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धर्म और संस्कृति, तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक आर्थिक और वैज्ञानिक परिवेश की क्रियात्मक अनुभूति के प्रतिफलन हैं। वैदिक दृष्टिकोण तत्कालीन जीवन-स्पन्दन, ज्ञानात्मक जिज्ञासा एवं क्रियात्मक समष्टिगत भावना के प्रातिभ, आशु, सहज स्फूर्त एवं भावात्मक दृष्टान्त से उपलब्ध वह मानवीय दृष्टिकोण था जिसमें तत्कालीन व्यक्ति के ज्ञान, क्रिया और राग के अनुपम प्रतिमान संगुंफित थे। इसमें समाज एवं समाजेतर स्तर की प्रायः सभी जिज्ञासाएँ अपने प्रकृत स्वरूप में विद्यमान थीं। इसीलिए इसमें व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक चिन्तन के जिस आशावादी स्वर, दर्शन की महनीयता के जिस गुरु-गाम्भीर्य, आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक जिज्ञासा के जिस विराट एवं व्यापक सत्य की अभिव्यंजना हुई है वह अन्यत्र दुर्लभ थी। इसके विराट प्रसार में व्यक्ति के दैनंदिन जीवन के साथ ही उसके लोक-परलोक की भावनाओं के विकास के लिए एक प्रशस्त और सबल पृष्ठभूमि विद्यमान थी। इसी बहुविध आयाम को समन्वित

१—राधाकमल मुकर्जी—भारत की संस्कृति और कला—पृ० ५३।

दृष्टिकोण में प्रस्तुत करके तथा इस मानव जीवन को सरल एवं सहज मार्ग पर चिरन्तन आशा और नूतन सन्देश के साथ प्रवाहित करने के कारण वेद आज भी सारे विश्व के प्रशस्ति-भाजन एवं पथ-प्रदर्शक हैं।

सारांश यह कि जीवन में सुखद, स्वस्थ, भव्य और स्वर्गिक भावना के माधुर्य-मण्डित-दार्शनिक दृष्टिकोण, उदात्त-नैतिक-आदर्श-मानव-जीवन के विषय में कर्त्तव्याकर्त्तव्य की समीचीन व्याख्या एवं भारतीय संस्कृति और धर्म के विकास में अप्रतिम सहयोग के कारण इस धारा का सार्वकालिक और सार्वदेशिक महत्व है।

वैदिक जीवनदृष्टि के ह्रास तथा उसके कारण :—

अंग्रेजी कवि 'टेनीसन' ने कहा है कि "प्राचीन परम्परायें परिवर्तित होकर नवीन परम्पराओं के लिए स्थान रिक्त करती रहती हैं। भगवान् अपनी इच्छाओं को विविध रूप में पूरा करता रहता है। अगर ऐसा न हो तो एक अच्छी व्यवस्था भी मानवता के अधःपतन का कारण बन जाती है[1]।" 'नीत्शे' ने भी कहा है—'प्राचीन संगीत मनुष्य को अत्यधिक कर्णकटु लगते हैं[2]।' वस्तुतः अपने उद्भवकाल में हर चिन्तन अथवा विचारधारा क्रान्तिकारी हुआ करती है। उसके इस ओजस्वी स्वरूप से प्रायः मनीषी और सामाजिक अपनी क्षमता के अनुसार आकृष्ट हुआ करते हैं। पर समय की गति के अनुसार इस परम्परा के सार्वभौम और शाश्वत तत्व तिरोहित होने लगते हैं। परिणामस्वरूप वही सामाजिक व्यवस्था जो किसी देश अथवा काल के लिए उपयुक्त और समीचीन समझी जाती थी, अन्धविश्वास से ग्रस्त होकर नवीन आकांक्षाओं और जीवन-स्पन्दनों की विरोधिनी सिद्ध होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उसकी नमनीयता और पाचन-शक्ति का ह्रास होने लगता है और उसके स्थान पर एक विशिष्ट प्रकार के अन्धविश्वास-जनित-निर्मम-परम्परा का जन्म होता है जो अपनी निरंकुशता मे सार्वभौम सत्यो एवं गतिशील तथ्यों को भी तिरस्कृत करने में नहीं हिचकती। हम अपने आगे के विवेचन मे इस सत्य पर दृष्टिपात करेंगे कि रूढ़िग्रस्तता एवं परिवर्तन निरपेक्षता के कारण वैदिक जीवन दृष्टि पर विशेष रूप से कुठाराघात किया गया और इसे परिवर्तित करने की ओर लोगों का ध्यान गया।

यह समाजशास्त्रीय सिद्धान्त है कि समाज सतत् परिवर्तनशील निकाय है। इसके सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक अथवा धार्मिक स्वरूपों के निर्माण के समय विचारक इसकी भूत, वर्त्तमान और भविष्य की गतिविधि के समुचित विकास को दृष्टि में रखता है किन्तु कभी-कभी सामाजिक विकास इतनी वक्र गति में होता है कि मनीषियों की भविष्य

---

१ – Old order changeth yielding place to new
And God fulfils himself in many ways,
lest one good system should corrupt the world.

२—Mankind has very bad ear for old music.
—Nietzsche.

संबंधी परिकल्पना निस्सार नहीं तो निरर्थक अवश्य सिद्ध होने लगती है। परंपरित दृष्टिकोण के प्रति आस्था रखने वाले व्यक्ति समाज के इस तीव्र परिवर्तन की आवश्यकता को समझ नहीं पाते। ऐसी स्थिति में सामाजिक आवश्यकता और परंपरित दृष्टिकोण में एक गहरी खाई बन जाती है और इन दोनो में तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह तनाव भी अप्रत्याशित परिवर्तन का जनक बन जाता है। इन्हीं तथ्यों को दृष्टि में रखकर हम वैदिक जीवन आदर्शों के ह्रास की वृत्ति का निरूपण करेंगे।

(अ) ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थ और दृष्टिकोण वैभिन्य :—

इस बात का आरम्भ में ही उल्लेख किया जा चुका है कि ब्राह्मण और उपनिषद् वैदिक मंत्रों के बाद की रचनाएँ और एक प्रकार से उस विकास-क्रम की अनन्य शृंखला हैं। ब्राह्मण काल में वैदिक दृष्टिकोण में परिवर्तन आरम्भ हो गया और उसका स्वरूप उपनिषद् काल तक चलता रहा। वस्तुतः 'यजुर्वेद' और 'सामवेद' के साथ कर्मकाण्ड संबंधी जिस कृत्रिमता का प्रादुर्भाव हुआ था उसकी ब्राह्मणकाल में विशेष वृद्धि हुई। ब्राह्मण ग्रन्थों की अवतारणा के पूर्व अथर्ववेद में आर्य और अनार्य संस्कृतियो के सम्मिलन के परिणाम-स्वरूप पूर्ववर्त्ती दृष्टिकोण से स्पष्ट भिन्नता के चिह्न परिलक्षित होने लगे थे।[1] ऋग्वेद की देवस्तुतियों में समादरपूर्ण आश्चर्य के साथ ही एक आशावादी आत्म-विश्वास था पर अथर्ववेद की प्रार्थनाओं में भय-निवृत्ति के लिए देव स्तुति का विधान हुआ और उपासनापरक प्रार्थनाओं में जादू-टोने का बाहुल्य हो गया। इस काल में ऐसा विश्वास किया जाने लगा कि[2] जादू-टोने की रहस्यमयी शक्ति के आधार पर ही व्यक्ति परम तत्व को प्राप्त कर सकता है। इस विचारधारा के परिणाम स्वरूप जिस कृत्रिमता का आविर्भाव हुआ वह परवर्त्ती काल में वैदिक विचारधारा के अधः-पतन का जनक बनी। इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि 'ब्राह्मण' की रचना के समय तक कर्म सिद्धान्त और वर्णाश्रम व्यवस्था में भी रूढिवादिता और अन्धविश्वास का समावेश हो चला था। यज्ञवृत्ति व्यापारिक परिवेश ग्रहण करने लगी थी। इसके परिणाम स्वरूप वेदों के[3] सरल, सहज, एवं स्वाभाविक

---

१. The religion of Atharvaveda is an amalgam of Aryan and non-Aryan ideals. The distinction between the Rigveda and that of Atharvaveda is thus described by whitney—"In Rigveda the gods are approached with reverential awe, indeed, but with love and confidence also .. the divinities of Atharvaveda are regarded with a kind of a ringing fear, as powers where wrath is to be deprecated and whose favour curried.

Dr. S. Radha Krishnan—Indian Philosophy p. 120.

२. Man can participate in divine power by the hidden force of Magic. Ibid p. 125.

३. A rigid soul deadening commercialist creed based on contractual motives took the place of simple devout religion of Vedas. Ibid—p. 125.

भक्ति के स्थान पर एक ऐसी कृत्रिम एवं हानिप्रद व्यवस्था का जन्म हुआ ,जिसकी परिणति पुरोहितवाद[1] के रूप मे हुई।

ब्राह्मण ग्रन्थों के पश्चात् उपनिषद्-चिन्तनधारा भी एक निश्चित दिशा की ओर प्रवाहित हुई। इनकी विशेषता यह है कि ये कर्म पर नहीं ज्ञान पर, जीवन-संग्राम पर नहीं जीवन संबंधी चिन्तन पर जोर देते हैं। ऋग्वेद के आर्य ऐहिक ऐश्वर्य की खोज करते थे, वे विजय चाहते थे। ब्राह्मण युग के यज्ञकर्ता स्वर्ग के अभिलाषी थे। उपनिषद्-काल के साधक दोनों के प्रति उदासीन हैं, उनका लक्ष्य मुक्ति है। वे सब प्रकार के बन्धनो एवं सब प्रकार की सीमाओ से मुक्त होकर अनन्त में लीन हो जाना चाहते थे। भारतवर्ष मे 'ब्राह्मणयुग' के बाद उपनिषदो का युग आया, यह इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य केवल सतत् गतिशील प्राकृतिक तत्वो से ही सम्बद्ध नही है अपितु उसका विश्व के किसी स्थिर तत्त्व से भी सम्बन्ध था। इस विचारधारा के कारण प्रयोग मूलक वैदिक स्वर के स्थान पर उपनिषद् के श्रेयमूलक स्वर की अवतारणा हुई। व्यक्ति ने जीवन और जगत पर अधिक सक्रियता से सोचना आरम्भ किया, जिसके कारण विविध दार्शनिक निकायो का जन्म हुआ। इन निकायों ने वैदिक धर्म को अपनी दृष्टि से निरूपित करना आरम्भ किया। उपनिषदों के परवर्त्ती साहित्य मे चिन्तन वैविध्य की प्रमुखता रही। 'महाकाव्यो' तथा 'गीता' के काल तक आते-आते निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा हुई। इस काल की प्रमुख विशेषता के रूप में हम सगुण और निर्गुण अथवा आस्तिक और नास्तिक सबंधी विवाद का उल्लेख कर सकते हैं।

(ब) जैन और बौद्ध धर्म एवं वैदिक आदर्शों का ह्रास :—

जैन और बौद्ध धर्म को अधिकांश विचारक 'नास्तिक' विचारधारा के नाम से अभिहित करते हैं, पर नास्तिकता के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह बात निर्विवाद रूप से सत्य सिद्ध हो जाती है कि इन धर्मो के आविर्भाव के पूर्व भी नास्तिकों का अस्तित्व था और निश्चित प्रकार के भौतिकतावादी दर्शन को मान्यता मिल चुकी थी। वस्तुतः नास्तिक उस व्यक्ति को कहा जाता है जो वेद को प्रमाण नहीं मानता और ईश्वर के अस्तित्व में अविश्वास करता है। हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि वैदिक मन्त्रों की उपस्थिति के बावजूद उपनिषदों की जिज्ञासा-वृत्ति इस का ज्वलंत प्रमाण है कि तत्कालीन विचारकों ने वेद को ही सब कुछ नहीं माना बल्कि इसके अतिरिक्त भी अपने चिन्तन को नयी दिशा प्रदान करने का प्रयत्न किया। उपनिषद् के पूर्व के कर्मकाण्ड को भोग एवं आधिपत्य की निश्चित व्यवस्था में बदल जाने और वर्णव्यवस्था के अति कठोर रूप धारण करने की प्रतिक्रिया के चिह्न उसी काल के साहित्य में परिलक्षित होने लगे थे। 'लोकायत संप्रदाय' के नेता 'बृहस्पति' (चार्वाक) इनमें अग्रगण्य समझे जाते थे। 'छान्दोग्योपनिषद्' में भी पुरोहितों की भर्त्सना के कतिपय स्थल दृष्टिगोचर हुए थे।

---

१ In the nature of things a professional priest hood is always demoralising. Dr. S. Radha krishanan Indian Philosophy p. 127.

'लोकायत संप्रदाय' का दृष्टिकोण भौतिकवादी था। उसके अनुसार क्षिति, जल, पावक और समीर ही प्रमुख तत्व थे। मनुष्य का कर्त्तव्य अर्थोपभोग और आनन्दोपलब्धि था। द्रव्य का अस्तित्व ही प्रमुख था। भौतिक विश्व के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व न था। जो वस्तु मानव के[1] भावबोध की सीमा में आ सकती थी, वही सत्य थी। भौतिक पदार्थ यथार्थ माने जा सकते थे। धर्म मानव की मूर्खतापूर्ण बुद्धि की उपज था। इसे मानसिक व्याधि की संज्ञा दी गई थी। आनन्द और कष्ट ही जीवन के प्रमुख स्वरूप थे। मृत्यु से बचना असम्भव था अतएव यथाशक्ति जीवन का उपभोग करना ही इसका प्रमुख साध्य था।

जैन और बौद्ध धर्म के आविर्भाव के पूर्व इस प्रकार के भौतिकतावादी और नास्तिक दर्शन का अस्तित्व विशेष रूप से विचारणीय है। 'तीर्थंकर' और 'बुद्धदेव' ने अपनी दृष्टि से इनमें परिवर्त्तन किया और अपने धर्मों को प्रस्थापित किया। उनका धर्म तत्कालीन मान्यताओं के विरुद्ध असन्तोष व्यक्त करने के कारण सुधारात्मक प्रवृत्ति से ओत-प्रोत था। इन्होंने 'अहिंसा परमोधर्मः' का जयघोष किया और कर्मकाण्ड के विस्तृत स्वरूप का विरोध किया। तत्कालीन ब्राह्मण धर्म की दूषित प्रवृत्ति बहुदेवोपासना के साथ ही क्षत्रियों की उद्दण्डता के विरुद्ध भी विद्रोह का जयघोष हुआ। इनका दृष्टिकोण अनीश्वरवादी था और ये चातुर्वर्ण्य व्यवस्था और चातुराश्रम्य के भी घोर विरोधी थे। इनका दर्शन प्रमुख रूप से निराशावादी था। इन सम्प्रदायों में दीक्षित सन्तों के विरोध का स्वर तीखा और इनका प्रहार मार्मिक था।[2] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है—'छठीं-सातवीं शताब्दी के बाद यह वेद विरोधी स्वर अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। बौद्धों और जैनों में भी वेद—विरोधी स्वर पाया जाता है और वह काफी पुराना है[3]।'

(स) वाममार्गी तांत्रिक और योगी :—

वाममार्गी तांत्रिक और योगी भी उलटी और व्यंगात्मक (धक्कामार) भाषा के प्रयोग के अभ्यस्त हो गये थे। विरोधाभास यह है कि ऐसा कहने से उनकी प्रतिष्ठा घटती नहीं थी। ये लोग सीधी बात को भी जटिल, आक्रामक और धक्कामार बनाकर कहते गये। कहने का ढंग कुछ विचित्र था। गोमांस-भक्षण पाप है, यह सर्वविदित

१: See S. Radha Krishnan–Indian Philosophy Materialism pp. 278–80.

२—(अ) ब्राह्मणो हि न जानन्त हि भेउ, एवइ पढ़िअइ एच्च उवेउ-सरहपा।

(ब) बह्मा विहणु-महेसुर देवा, बोधिसत्व मा करिह सेवा।
देव न पूजेहु तित्थ ण जावा, देव पुजा ही मोक्खेन न पावा।- तिलोपा

(स) महि पाणि कुस लई पढन्त, घरहीं वइसी अग्गि हुणन्त।
कज्जे विरहइ हुवअवह होमें, अक्खि डहाविएय कडुते धूमें।
दे०—रामधारी सिंह दिनकर-संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १९८-९९।

३—दे०-डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी-मध्यकालीन धर्मसाधना।

बात है, वारुणी पीना बुरा है—यह भी सभी जानते हैं किन्तु हठयोगी यही कहेगा कि गोमांस का भक्षण करना चाहिए और अमर वारुणी का पान करना चाहिए। यहाँ उनका अभिप्राय मदिरा या गोमांस से नहीं बल्कि योग की क्रिया-विशेष से है।[1]

बाह्य आक्रमण और वैदिक आदर्शों का ह्रास

देश के अन्तराल में चलने वाले बौद्धिक आन्दोलनों से तो वैदिक आदर्श प्रभावित हुए ही पर बाह्य आक्रमण और सांस्कृतिक आदान-प्रदान का भी इन पर विशेष प्रभाव पड़ा। इसी अध्याय में आर्य और अनार्य जातियों के सम्मिलन से दृष्टिकोण-परिवर्त्तन के तथ्य का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः भारत एक ऐसा देश रहा है जिस पर धन-प्राप्ति की इच्छा से बाह्य आक्रमण भी हुए हैं। आक्रमणकारियों से जहाँ एक ओर धन-जन को विशेष हानि पहुँची है वहाँ सांस्कृतिक चेतना एवं बौद्धिक जिज्ञासा को भी नयी दिशा मिली है। अनार्यों, हूणों, मुसलमानों और यूरोपीय जातियों से विजित होने के बाद हमने अगर कुछ खोया है तो उसके बदले उनकी अच्छाइयों को ग्रहण भी किया है। 'रवीन्द्रनाथ' के शब्दों में "यह देश मानवता का पारावार होने के कारण श्रद्धा का विषय है। यह अपनी सहिष्णुता के असीम प्रसार में आर्य, अनार्य, द्रविड़, चीनी, शक, हूण, पठान और मुग़ल जैसी अनेक जातियों की विशिष्टताओं को समाहित किए हुए है। इनकी विशिष्टतायें अब हमारे धर्म और संस्कृति की मेरुदण्ड हैं। इसके स्नायु में उन सबका रक्त प्रवाहित हो रहा है[2]।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि इस देश की संश्लिष्ट और समासप्रधान जीवन्त चेतना ने अन्य धर्मों एवं संस्कृतियों के उत्कृष्टतम स्वरूपों को भी ग्रहण किया है। उनसे अपनी मेधाविता और उर्जस्विता में नित नये अध्यायों को जोड़कर उन्हें चिरनूतन बनाये रखा है। इस दृष्टिकोण के कारण उनके पुरातन एवं परंपरित दृष्टिकोणों में महान् परिवर्त्तन हुआ है। वैदिक परम्परा के विकासावरुद्ध स्वरूप में इस जीवन्त ग्राहकता के कारण भी महान् परिवर्त्तन हुआ है।

(य) अन्य विविध दार्शनिक निकायों के कारण दृष्टिकोण में परिवर्त्तन

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य कारण भी हैं जिनका इस स्थल पर उल्लेख करना विशेष समीचीन है। इस देश के वर्ग विशेष की बुद्धि ने एक ओर जहाँ कतिपय पूर्ववर्त्ती चिन्तन पद्धतियों को अपना सर्वस्व मानकर अन्धश्रद्धाग्रस्त होने का उदाहरण

१—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्मसाधना।

२—ए मोर चित्त पुण्य तीर्थे जागो रे धीरे।
एई भारतेर महामानवेर सागर तीरे।
तारा मोर माझे सबाई विराजे केहो नहे-नहे दूर।
आमार शोणिते रमेछे ध्वनित तारि विचित्र सूर।—रवीन्द्रनाथ
—भारतीय संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ २ से उद्धृत।

प्रस्तुत किया है वहीं दूसरे अन्य वर्ग ने शंकर की तरह अपने ज्ञान रूप त्रिनेत्र को सतत खुला रखने का प्रयत्न किया है और नवोन्मेषशालिनी तथा तत्वग्राहिणी प्रतिभा के आधार पर निरंतर नवीन आदर्शों की उद्भावना की है। जिस प्रकार झंझावात के समय अपार जलनिधि तरंगायित होकर मचल उठता है और इसके अनावश्यक विस्तार के कारण क्षति होने के साथ ही कुछ मणि-रत्नों की उपलब्धि भी होती है, उसी प्रकार यहाँ की सतत झंकृत मनीषा से एक ओर जहाँ विद्रोह का मन्द स्वर स्फुरित हुआ है, वहीं दूसरी ओर नव-निर्माण का शंखनाद भी गूँजा है। इसी मानसिक उद्वेलन के परिणाम स्वरूप भारतवर्ष में धर्म और दर्शन के विविध संप्रदायों का उद्भव हुआ है। ज्ञान-स्फीत एवं जिज्ञासासंकुल मस्तिष्क की प्रमुख विशेषता होती है परंपरित मानव मूल्यों के स्थान पर नवीन जीवन-मूल्यों की अवतारणा। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और दार्शनिक विचारधाराओं के गतिशील स्वरूप के कारण भी वैदिक धर्म के परंपरित और रूढ़िवादी स्वरूप को आघात पहुँचा है और वह प्रभावित हुआ है।

वेदान्त का पुनर्नवीकरण और निर्गुण मत के प्रादुर्भाव के कारण

विगत पृष्ठों में वैदिक धर्म के अभ्युदय और ह्रास के विविध कारणों का विवेचन किया गया है। भक्तिकाल में पुनः इसके पुनरुत्थान के चिन्ह परिलक्षित होने लगते हैं। यह एक ज्वलन्त सत्य है कि इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। जिस समय जन-जीवन उद्बुद्ध और चैतन्य होकर अपनी पूर्ववर्ती परम्परा पर दृष्टिपात करता है तो परंपरित अंधविश्वासों से मुक्त कतिपय ज्ञान-स्रोत उसको स्वयमेव उपलब्ध हो जाते हैं। वह काल-क्रम के अखण्ड प्रवाह से अनाविल इन तत्वों को संवर्द्धित और परिवर्द्धित रूप में ग्रहण करता और इन्हें अपने चिन्तन का मेरुदण्ड बनाता है। इसके अतिरिक्त प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि 'समय की गति उस अजंस्र निर्झरिणी-सी प्रवाहित होती है जिसके पूर्ण प्रसार में वैविध्य ही दृष्टिगोचर होता है। पर इस वैविध्य में भी कतिपय ऐसे स्वरूपों एवं स्थलों के दर्शन होते हैं जो अपनी आशा, आकांक्षा और चलन में प्रायः समान हुआ करते हैं। वैदिककाल से लेकर भक्तिकाल के आविर्भाव तक वैदिक धर्म के साथ कतिपय ज्ञान के अन्य चिन्तन की आध्यात्मिक विशिष्टताएँ निरंतर गतिशील रही हैं। इस परिप्रेक्ष्य में हमारी यह निर्भ्रान्त धारणा है कि निर्गुण सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रायः उन सभी बातों का सुन्दर समावेश हुआ जो भारतीय आध्यात्मिक विचारों में विशेष रूप से मननीय और ग्रहणीय थी। इसका स्वभाव सारग्राही था। इसी कारण इसमें सभी जीवन-दर्शनों के सार तत्व का अद्भुत समन्वय हुआ। इस प्रकार अपने तात्विक स्वरूप में निर्गुण सम्प्रदाय अपनी विगत विशिष्टताओं का संकलित कुबेरालय बन गया। वस्तुतः उपनिषद्-काल और निर्गुण मत के आविर्भाव-काल की तात्विक गवेषणा में भी कुछ हद तक साम्य दृष्टिगोचर होता है। उपनिषदों ने इस बात की स्पष्ट घोषणा की थी कि बाह्य के स्थान पर आभ्यन्तर और स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म की ओर अग्रसर होना ही जीवन का प्रमुख धर्म है। आत्मा ही परमात्मा है, जीव ही ब्रह्म रूप है अतएव 'मैं वही हूँ,' 'वह तू है' अथवा संपूर्ण विश्व ही ब्रह्म रूप है। सन्तों की बानियों में भी यही

मान्यता कुछ परिवर्त्तन के साथ दृष्टिगोचर होती है। वे भी ब्रह्म को अनन्त, अखण्ड, निर्गुण और निर्विकार की संज्ञा से अभिहित करते हैं। जिस प्रकार उपनिषद् में[1] 'आत्मा वारे द्रष्टव्य' से आरम्भ करके ऋषि ने 'अयमात्माब्रह्म', अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्वमसि' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की अनुभूति की है उसी प्रकार सन्त कवियों ने भी क्रमशः इन्हीं चिन्तन सरणियों के विकास को मान्यता दी है। सन्त 'कबीर' और 'गुलाल[2]' तो स्पष्ट रूप से वेदान्त और उपनिषद् की चर्चा करते हैं। ईश्वर की पारलौकिकता और व्यापकता को लेकर ये सन्त त्रिविध प्रकार की रचनायें करते हैं।[3] वेदों की तरह कहीं वे ब्रह्म को सहस्राक्ष, सहस्रशीर्ष और सहस्रपात् बतलाते हैं[4]। कहीं 'पूरे से परचा भया'[5] कहकर 'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते, पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' की स्मृति दिलाते हैं। वेदान्त की तरह ये भी आत्मा के महत्व को प्रतिपादित करते हुए पंचकोषों के स्वरूप का निर्धारण करते हैं और इसी के आधार पर जीवन के प्रत्यावर्त्तन का स्वरूप निरूपण करते हैं। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' के 'ब्रह्मानन्द वल्ली' के द्वितीय अनुवाक् में अन्न की, तृतीय में प्राण की, चतुर्थ में मन की, पंचम में विज्ञान की और षष्ठम में आनन्द की महत्ता प्रतिपादित की गई है। सन्तों ने भी अपनी बानियों में इन्हें महत्व दिया है[6]। सन्तों ने (सुन्दर दास आदि) संसार विटप[7] का चित्रण किया

१—देखिए डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल—हिन्दी कविता में निर्गुण संप्रदाय—पृ० २०८-२०६।

२—तत्वमसी इनके उपदेसा। ई उपनीषद कहैं सनेसा।
ई निसचय इनके बड़ भारी। वाहिक वरण करैं अधिकारी।
परमतत्त का निज परमाना। सनकादिक नारद सुप माना।

—कबीर बीजक, रमैनी, पृ० ८।

३— (अ) एक अनेक वियापक पूरक जत देखौं तत सोई। नामदेव-परशुराम चतुर्वेदी—संतकाव्य, पृ० १२४
(ब) अस्थावर जंगम कीट पतंग में घटि-घटि राम समाना रे। नामदेव—वही, पृ० १२५।
(स) बाहिर भीतरि एक-सा सब घट रह्या समाई। —दादू, वही पृ० २५३।

४—गगनु में थालु रविचन्दु दीपक बने, तारिका मण्डल जनक मोती।
धूपु मल आनलों पवणुचँवरो करैं, सगल बनराइ फूलन्त जोती।
कैसी आरती होइ भव खण्डना तेरी आरती
अनहता सबद बाजन्त भेरी।

तुलना कीजिए
{ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा त्यतिष्ठद्दशांगुलम्।—ऋग्वेद।

{ सहस तव नैन नन नैन है तोहिकउ सहस मूरति नन् एक तोही।
सहस पद विमल, नन एक पद गन्ध बिनु सहस तव गन्ध इव चलत मोही।

—सन्तकाव्य,

५—वही, पृ० २५३।

६—अन्नमय कोष सो तो पिण्ड है प्रकट यह, प्राणमय कोष पंचवायु बखानिये।
मनोमय कोष पंच कर्म इन्द्री है प्रसिद्ध, पंच ज्ञान इन्द्रिय विज्ञानमय जानिये।
जाग्रत सुपनविषै कहिए चत्वार कोष, सुषुप्ति माँहिं कोष आनन्द मय आनिये।—सुन्दर विलास।

७—दृश्यते वृक्ष एक अति चित्रं, ऊर्ध्वमूलमधो सुख शाखा जंगम द्रुम शृणुमित्र।
चतुर्विंश तत्वविनिर्मितं वाचः यस्य दलानि, अन्योऽन्य वासनोद्भव तस्य तरोः कुसुमानि।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

है । इसके प्रेरणा स्वरूप हम कतिपय उपनिषद एवं गीता[1] के श्लोकों को उद्धृत कर सकते हैं । स्पष्ट है कि सन्त 'सुन्दरदास' की रचना में 'उर्ध्वमूल अधः शाखा' (गीता) के साथ ही 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया……' का भाव भी निहित है । सन्त कवि ने जिस भाव को "सुख दुःखानि फलानि अनेकं' आदि के द्वारा प्रकट किया है वही भाव उपनिषद में "अनीशया शोचति मुह्यमानः' के माध्यम से प्रकट हुआ है । सन्तों ने चौबीस तत्वों (पंचविषय, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, पंचमहाभूत, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, शरीर में

सुखदुःखानि फलानि अनेकं नानास्वादनपूतं, तमात्मा विहंगम तिष्ठति सुन्दर साक्षी भूतं ।
—सुन्दर ग्रन्थावली, संपादक-हरिनारायण शर्मा-बी० ए०-पृ० ६३६ ।

तुलना कीजिए—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्चमूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥
—गीता, पन्द्रहवाँ अध्याय ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ २ ॥

१—(अ) 'सर्वमोंकार एव' । 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' । 'अयमात्मा ब्रह्म' । 'सोऽयमात्मा चतुष्पात्' । 'जागरित स्थानो बहिः प्रज्ञः' 'स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः' । 'सुषुप्त स्थानः एकीभूतः प्रज्ञानघनः । 'नान्तःप्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं न प्रज्ञान घनं ।' —माण्डूक्योपनिषद् ।

(ब) प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गुणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ।
—सांख्यकारिका-२२ ।

तुलना कीजिए—

ब्रह्म ते पुरुष अरु प्रकृति प्रकट भई ।
प्रकृति में महत्तत्व पुनि अहंकार है ।
अहंकार हू ते तीन गुन सत्व, रज, तम,
तम हू ते महाभूत विषय प्रसार है ।
रजहूँ ते इन्द्री दश पृथका पृथक भई
सत्व हूँ ते मन आदि देवता पसार है ।
—सुन्दर ग्रंथावली, पृ० ५९० ।

अथवा—

पहली कीया आप थें उत्पत्ती ओंकार ।
ओंकार थें ऊपजे पंच तत्त आकार ।
पंच तत्त से घट गया बहुविधि सब विस्तार ।
दादू घट तैं ऊपजे मैं तैं वरण विचार ॥
—सन्तवाणी संग्रह भाग १, पृ० ७७ ।

मेरुदण्ड की चौबीस केसरुकाये) से निर्मित बताकर इस वृक्ष का प्रकारान्तर से संसार के साथ संबंध भी स्थापित किया है। वेदों और उपनिषदों में संसार के उद्भव और संहार पर विशेष रूप से विचार किया गया है। कुछ लोग 'एकोहं वहुस्याम्' का उद्धरण देते हैं तो कुछ लोग उपनिषदों में वर्णित ॐ शब्द पर दृष्टिपात करके शब्द ब्रह्म की भावना को मान्यता देते हैं। उनके अनुसार इसी 'ॐ' शब्द में पुरुष प्रकृति और उसकी माया शक्ति विद्यमान है। यही पुरुष और प्रकृति का संयोग महत्त्वपूर्ण है। सन्तों ने औपनिषदिक विचारधारा के तीन गुण, पाँच तत्व, पंच तन्मात्रा और पंच ज्ञानेन्द्रियों का भी वर्णन किया है। साथ ही 'ॐ' शब्द का भी महत्व प्रतिपादित किया है। कबीर[1] ओंकार को जग की उत्पत्ति और विकार को जग के विनाश का कारण मानते हैं। नानक[2] इसी को सत्यनाम एवं कर्त्ता पुरुष के निर्माण का उपादान मानते हैं। यारी[3] साहब इनसे भी आगे बढ़कर ओंकार की सीमा के परे पड़े हुए सत्य का ध्यान करने की बात करते हैं। मुण्डकोपनिषद्[4] में स्पष्ट रूप से जिस अक्षय, अविनाशी एवं शब्द ब्रह्म की कल्पना की गई है, उत्पत्ति और विनाश की क्रियाओं का संकेत किया गया है, उसी ब्रह्म की विशिष्टताओं से संयुक्त स्वरूप को यथास्थान सन्तों ने भी मान्यता दी है। सन्त साहित्य में आत्मानुभव और आत्मसाक्षात्कार के आधार पर मायातीत स्वरूप की ओर उन्मुख होने के भाव को प्रतिपादित किया गया है। इसीलिए वे 'जोई प्यण्डे सोई ब्रह्मण्डे' की कल्पना को मान्यता देते हैं। माया ब्रह्म और जीव संबंधी औपनिषदिक मान्यता ही उनका उपजीव्य है। उपनिषद के ऋषि ने माया के प्रपंच का विशद विवेचन किया है। 'ईशोपनिषद्' में इसे दो प्रकार का माना गया है। प्रथम को हम विद्या-माया के नाम से अभिहित करते हैं और द्वितीय को अविद्या[5] माया के नाम से। त्रिगुणात्मिका होने के कारण इसे ऋषियों

१—ओंकारे जग ऊपजै, विकारे जग जाइ।—कबीर ग्रन्थावली, पद १२१।

२—ओंकार सति नामु करता पुरुष निरमयउ।—नानक सन्त सुधासार, पृ० १२६।

३—ओंकार के पार भजु तजि अभिमान कलेस।—यारी साहब की बानी, पृ० ७।

४—यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि, तथाक्षराद संभवतीह विश्वम्।

—मुण्डकोपनिषद, प्रथम खण्ड ७

तुलना कीजिए—

सुन्दर कहत ब्रह्म साची रूप एक रस, वाही मैं उपजिके वाही मैं मरत है।

\+ \+ \+ \+

तैसे ही सुन्दर यह ब्रह्म में जगत सब, ब्रह्म को न लागै कछु जगत विकार है।

\+ \+ \+ \+

तैसे ही सुन्दर यह सृष्टि एक ब्रह्म माँहि, ब्रह्म निहकलंक सदा जानत महन्त है।

—सुन्दर ग्रन्थावली, द्वि० खण्ड, सम्पादक—पुरोहित श्री हरिनारायण शर्मा,

—पृ० ६१४-१५

५—विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।—ईशोपनिषद्—११।

ने ज्ञान को आवृत्त करने का प्रमुख साधन माना है। सन्तों ने भी वेदान्त के इसी स्वरूप को मान्यता दी है और ब्रह्म साक्षात्कार में इसे सहायक न मानकर बाधक सिद्ध किया है[1]। वे उपनिषदो की तरह इससे मुक्ति के लिए ज्ञान का आश्रय लेते हैं[2]।

वेदान्त में मन के चंचल, अस्थिर और मायाग्रस्त स्वरूप का भी विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। यजुर्वेद[3] में ऋषि ने इसका निरूपण करते हुए लिखा है कि जाग्रत और स्वप्न की अवस्था में मन गतिशील रहता है पर सुषुप्ति अवस्था में वह अपने में ही लीन रहता है। यह चंचल और वेगवान है। गीता में 'चंचलंहि मनः कृष्ण:' के माध्यम से इसके दुर्निवार, दुर्निग्रह और वेगवान स्वरूप की विशेषता दिखायी गई है। योगदर्शन के व्यास भाष्य में इसके पाप और पुण्यमय स्वरूपों की चर्चा की गई है। इन सभी ग्रन्थों में इसके निरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य[4] को महत्वपूर्ण बतलाया गया है। सन्त साहित्य में भी मन के इस स्वरूप को विशेष मान्यता मिली है। गुरु रामदास[5], दादू[6], कबीर[7], सुन्दरदास[8] आदि ने अपने अमृतोपम उपदेशों में

१—माया तजूं तजी नहिं जाइ, फिरि फिरि माया मोहिं लपटाइ।
माया आदर माया मान माया नहीं तहाँ ब्रह्म गियान।
माया रस माया कर जान, माया कारन तजै परान।

+ + +

माया मारि करै व्योहार, कह कबीर मेरे राम अधार।
—सतकाव्य, पृ० १४१—संपादक, परशुराम चतुर्वेदी।

२—सन्तों आई ज्ञान की आधी, भ्रम की टाटी सबै उड़ाई माया रहै न बांधी।
—वही, पृ० १५५।

३—यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूर गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु—यजुर्वेद, अ० ३४, मंत्र १।

४—(अ) असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्, अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते
—श्री मद्भगवद् गीता ६।३५

(ब) अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।—पातंजलि दर्शन, द्वादश सूत्र।

५—काइआ नगरि इकु बालक बसिया, खिनु पल थिर न रहाई।
अनिक उपाय जतन करि राखे बारंबार भरमाई।—संतकाव्य, पृ० २४४, परशुराम चतुर्वेदी।

६—(अ) यह मन कागद की गुडी, उड़ि चढी अकास। दादू की बानी (भाग १) पृ० १०८।
(ब) दादू पंचौ ये परमोधि ले, इनही को उपदेस।
यह मन अपणा हाथि कर, तौ चेला सब देस।
दादू चम्बक देखि करि लोहा, लागै आइ।
यौं मन इन्द्री एक सौं दादू लीजै लाइ।
मन का आसण जो जिव जाणैं, तौ ठौर ठौर सब सूझै।
पंचौ आणि एक धरि राखै, तवै अगम निगम सब बूझै।
सन्तकाव्य, पृ० २५७।

७—(अ) जब लगि मनहिं विकारा, तब लगि नहिं छूटे संसारा।
जब मन निरमल करि जाना, तब निरमल मांहि समाना—वही, पृ० १६८।

इसकी विशिष्टता का उल्लेख करके इस पर अंकुश लगाने की चर्चा की है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदान्त की अनेकानेक मान्यताओं को निर्गुणधारा में स्थान मिला था। संहिताओं के एकेश्वरी अद्वैतवाद, रहस्यभावना, विराट ब्रह्मवर्णन तथा सृष्टि की उत्पत्ति संबंधी अन्यान्य विशिष्टताओं के साथ ही उपनिषदों के आत्मवादी दर्शन और लक्ष्ययोग से ये सन्त कवि विशेष प्रभावित थे। उन्होंने आत्मसाधन और अध्यात्मचिन्तन को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाया था। लक्ष्यसाम्य होने के कारण सन्तों की विचारधारा पर उपनिषदों के गुरु-शिष्य की परिकल्पना, ज्ञान वैराग्य की स्वीकृति, आध्यात्मिक अद्वैतवाद, ब्रह्मनिरूपण, आत्मनिरूपण, मुक्तिधारणा, साधना-पद्धति, सदाचार प्रवणता, पिण्ड में आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व की कल्पना, प्रणववाद, जन्मान्तरवाद, कर्म सिद्धान्त, रहस्य भावना आदि विविध बातों का प्रभाव दिखाई देता है।[1]···उपनिषदों की साधना-पद्धति का प्रभाव भी सन्तों पर ढूँढ़ा जा सकता है। उपनिषदों में ज्ञान, भक्ति और योग तीनों साधनाओं का उल्लेख मिलता है। सन्तों ने तीनों को महत्त्व दिया है। उपनिषदों का महत्वपूर्ण सिद्धान्त पिण्डस्थ जीवन-तत्व और ब्रह्म-तत्व का निरूपण है। कठोपनिषद् में छाया और आत्मा के ब्याज से तथा मुण्डक और श्वेताश्वतर में दो पक्षियों के रूपकों से इन्हीं का वर्णन किया गया है। सन्त लोग इस सिद्धान्त से भी पूर्णतया प्रभावित हुए हैं। उनकी सुरति और निरति संबंधी धारणा इसी सिद्धान्त पर आधारित है[2]।

(ब) डगमग छाँडि दे मन बौरा।
अब तो जरे बरे बनि आवे, लीन्हों हाथ सिंधौरा।—वही, पृ० १६६।

(स) संतौं मन पवनै सुख बनिआ, कछु जोग परापत गनिआ।
गुरु दिखलाई मोरी, जित मिरग पड़त हैं चोरी।
मूँद लिए दरवाजे, बाजे अलि अनहद बाजे।
कुंभ कमलु जल भरिआ, जलु मेटिया ऊभाकरिया।
कहु कबीर जन जानिया, जउजानिया तउमनमानिया।—वही, पृ० २१।

(द) भगति दुवारा साकरा, राई दसुएँ भाइ।
मन तौ मैंगल होइ रहा, क्यूँ करि सकै समाइ।
काया कजरी बन अहै, मन कुंजर मैमंत।

× × ×

पवना वेगि उतावला, सो दोसत कबिरा कीन्ह।—कबीर ग्रन्थावली,
संपादक—पारसनाथ तिवारी, पृ० २२८।

८—हटकि-हटकि मन राखत जु छिन-छिन, सटकि-सटकि चहुँ ओर अब जात है।
लटकि-लटकि ललचाइ लोल बार-बार, गटकि-गटकि कर विष फल खात है।

— — —

मन की प्रतीति कोउ करै सो दिवानो है।
—सुन्दर ग्रन्थावली, सं० श्री हरिनारायण शर्मा (द्वि०) पृ० ४४२।

१—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत—हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० १११।

२—वही, पृ० ११२-११४।

इस सन्दर्भ में गंभीरतापूर्वक विचार करते हुए इस बात का प्रतिपादन किया जा सकता है कि सन्तों ने श्रौतदर्शन और उपनिषद की मूलभूत बातों के पुनर्नवीकरण की ओर विशेष ध्यान दिया था और उन्हें अपनी दृष्टि से ग्रहण करने का प्रयत्न भी किया था। वेदान्त के अतिरिक्त निर्गुण मत के आविर्भाव में अन्य प्राचीन धर्म और दर्शन पद्धतियों का विशेष सहयोग रहा। इस दृष्टि से 'योगवाशिष्ठ' 'पातंजलि योगदर्शन', गौड़पाद की निर्गुण काव्यधारा, शंकराचार्य के मायावाद तथा शैवदर्शन की अन्यान्य पद्धतियों का उल्लेख किया जा सकता है। इन सबका समुचित विवेचन इसी प्रबन्ध के 'दादू के दार्शनिक विचार' शीर्षक के अन्तर्गत किया जायगा।

इसी अध्याय में हमने वैदिक धर्म की व्यापकता, विश्वजनीनता और सर्वांगीणता पर दृष्टिपात किया है। इसके अन्तर्गत कतिपय अन्य लौकिक-पारलौकिक, भौतिकतावादी-आध्यात्मिक, एवं सत्य-ऋत सम्बन्धी आदर्शों का उल्लेख किया गया है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर हम इस तथ्य से भी अवगत होते हैं कि आचार और व्यवहार के मानवतावादी सिद्धान्तों के साथ ही ऋत और धर्म सम्बन्धी अन्यान्य समष्टिगत स्वरूपों का भी सन्त साहित्य में पुनरानयन हुआ है।

निर्गुण मत के प्रादुर्भाव के अन्य कारण

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के बावजूद निर्गुण मत के प्रादुर्भाव के अन्य कारण भी थे। विगत पृष्ठों में हमने वैदिक धर्म के ह्रास के कारणों पर दृष्टिपात किया है और उसी सन्दर्भ में बुद्ध और जैन धर्म का भी उल्लेख किया है।

बौद्धधर्म और निर्गुण मत

सन्तकाव्य में बौद्ध धर्म का उल्लेख[1] मिलता है। यह इस सत्य का स्पष्ट प्रमाण है कि सन्तों की दृष्टि इस धर्म की ओर भी थी। वस्तुतः निर्गुण सम्प्रदाय में आत्मानुभूति, आत्मज्ञान एवं तत्व विश्लेषण के साथ ही खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति के कारण बुद्धिवाद को प्रश्रय मिला था। इस बुद्धिवाद का सूत्रपात बौद्धधर्म के आविर्भाव के साथ हो गया था। विगत पृष्ठों में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि बौद्ध धर्म वस्तुतः तत्कालीन मान्यताओं के विरुद्ध असन्तोष की भावना की अभिव्यक्ति के साथ अवतीर्ण हुआ था। इसका दृष्टिकोण सुधारात्मक था। ये अनीश्वरवादी एवं निराशावादी प्रवृत्ति प्रधान होने के साथ ही बाह्याडम्बर के विशेष रूप से विरोधी थे। इनका प्रहार तीखा और व्यंग मार्मिक होता था। सन्तों में भी बाह्याडम्बर के खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति विद्यमान थी और ये किसी भी बात को 'धक्कामार भाषा' में अभिव्यक्त करने में रंचमात्र भी हिचकते न थे। बौद्धों की तरह सन्तों का दृष्टिकोण भी रूढ़िवाद का सर्वथा विरोधी था।

१—बौद्ध के नाम तब जब मन को निरोध होय।
बौद्ध के विचार सोध आतम को करिये। —सुन्दर विलास, पृ० १०७।

डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने महायान सम्प्रदाय की निम्नांकित सात विशेपताओं का उल्लेख किया है[1] :—

(१) सर्वभूहितवाद में विश्वास रखना और समस्त जगत के प्राणियों के कल्याणार्थ प्रयत्न करना, स्वयं कष्ट सहकर भी अन्य जीवों के उद्धारार्थ प्रयत्न करना।

(२) बोधिसत्वों में विश्वास रखना और यह भी विश्वास करना कि मनुष्य अपने सत्कर्मों और भक्ति के द्वारा बोधिसत्व प्राप्त कर सकता है।

(३) बुद्धों के लोकोत्तर तत्व में विश्वास। यह भी विश्वास करना कि बुद्धगण काल और देश की सीमा मे व्याप्त हैं।

(४) जगत को सार-शून्य और नश्वर मानना।

(५) कर्मकाण्ड की बहुलता और तंत्र-मंत्र में विश्वास।

(६) संस्कृत के ग्रन्थों मे विश्वास, पाली में नहीं।

(७) बुद्ध और विशेष करके अमिताभ बुद्ध में विश्वास तथा उसके नाम-जप से निर्वाण-प्राप्ति में विश्वास।

डॉ॰ देवराज और डॉ॰ राधाकृष्णनन् ने बुद्ध धर्म को उपनिषदो के व्यावहारिक संकेतों का विकसित रूप[2] मानने के साथ ही हिन्दू धर्म की ही एक शाखा[3] माना है। उपर्युक्त निष्कर्प में कतिपय ऐसी मान्यताओं का समावेश है जिसके सूत्र उपनिषदो में भी विद्यमान हैं। वस्तुतः विश्व-बन्धुत्व, सत्कर्म, जन्म-जन्मान्तरवाद, कर्मवाद और नश्वरता में विश्वास करने के कारण सन्त भी बुद्ध धर्मावलम्बी विचारकों के तुल्य ठहरते हैं।

बौद्धधर्म में चार आर्य सत्यों के साथ ही 'आर्य अष्टांगिकी मार्ग' को मान्यता दी गई है। प्रथम के अन्तर्गत दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध तथा दुःख निरोध प्रतिपद आते हैं। दूसरे के अन्तर्गत सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् उद्योग, सम्यक् चित्तवृत्ति तथा सम्यक् समाधि आते हैं। इनमें एक ओर अत्यधिक विलासमय जीवन और दूसरी ओर व्यर्थ कष्ट पहुँचाने वाली तपश्चर्या का विरोध किया गया है और इसे मध्यम मार्ग की सज्ञा दी गई है। सन्तों ने आर्य सत्यों के साथ ही आर्य अष्टांगिकी योग को भी मान्यता दी है। आर्य सत्यो के अनुसार जीवन दुःखमय[4] है, इसका प्रमुख कारण

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका—पृ० ८—९। डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी।

२—डॉ॰ देवराज—दर्शन शास्त्र का इतिहास, पृ० १५८।

३—डॉ॰ राधाकृष्णनन्—इण्डियन फिलॉसोफी—१, पृ० ३६१।

४—इन्द खो, पन भिक्खवे दुक्खं अरिय सच्चं। जातिपि दुक्ख- जरापि दुक्खो व्याधिपि दुक्खो मरणंपि दुक्खो अपियेमि सपयोगी दुक्खो पियेमिविप्पयोगो दुक्खो यं पिच्छतं न लभन्ति तंपि दुक्ख सखित्तेन पंचोपादानक्खनधोपि दुक्खं।

—दुर्गाशंकर मिश्र—भक्तिकाव्य के मूल स्रोत, पृ० २९ से उद्धृत।

आनन्द की अभिलाषा है। यह अभिलाषा, तृष्णा और महत्वाकांक्षा से उत्पन्न होती है। इनका परित्याग करके सरल, सहज और शुद्ध जीवन व्यतीत करने से ही दुःख की निवृत्ति हो सकती है। कबीर ने[१] स्पष्ट रूप से लिखा है कि विषय-सुख आज भी साथ नहीं छोड़ता। व्यक्ति इसके माध्यम से सुख चाहता है, पर अन्ततोगत्वा उसे दुःख ही मिलता है। जब वह अपनी चंचल मति का परित्याग करके परमात्म-चिन्तन की ओर उन्मुख होता है तो सुख के रहस्य से अवगत हो जाता है। माया ग्रस्त जीवन[२] विविध योनियों के आवर्त्त में घूमता रहता है और अनन्त वेदना का भाजन बनता है। सन्त 'दादू' भी कामना को ही सभी दुःखों का कारण मानकर उसे अपने वश में रखने की राय देते हैं।[३] कर्मवाद, जन्मान्तर की भावना, वासना, अज्ञान और दुःख के अन्य विविध कारणों के रूप में वैराग्य आदि का वर्णन सन्त कवियों में उपलब्ध होता है। सन्तों ने आचार के रूप में अष्टांगिक योग अथवा मध्यम प्रतिपद् को भी विशेष महत्व दिया है।[४] उन्होंने इस भावना को समन्वयवाद का रूप दिया है। इसके आधार पर वे सामाजिक, आर्थिक, भौतिक, आध्यात्मिक और लौकिक-पारलौकिक सम्बन्धों के बीच समन्वय स्थापित करते हैं। वे अपने परमात्मा को मुखरता और मौन की मध्यवर्त्तिनी भूमि में प्रतिष्ठित करते हैं।[५] वे उसे न तो भारी बताते हैं और न हलका। वे तो उसे

१—बिषिया अजहुँ सुरति सुख आसा।
हूण न देइ हरि के चरण निवासा।
निसि बासुरिविषै तना उपगार, बिषई नरक न जाता बार।
कहै कबीर चंचल मति त्यागी, तब केवल राम नाम ल्यौ लागी।
सन्तकाव्य संग्रह, सं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १६१।

२—धावत जोनि जनम भ्रमि थक्यो अब दुःख करि हम हार्यो रे।
कबीर ग्रन्थावली, पृ० २११।

३—अवधू कामधेनु गहि राषी, बस कीन्हीं तब अमृत सखै आगै चारि न नाषी।
पोषन्ता पहिले उठि गरजै, पीछे हाथि न आवै।
भूखी भलैं दूध नित दूणों, यूँ या धेनु दुहावै।
ज्यूँ सीड परै त्यु दूधै मुकता मेला मारैं, घाटा रोकि घेरि धरि-धरि बाधी कारज सारै।
सहजै बाँधी कदै न छूटै, कर्म बन्धन छुटि जाई।
काटै कर्म सहज सो बांधै, सहजैं रहै समाई।
छिन-छिन माहि मनोरथ पूरै, दिन-दिन होइ अनन्दा, दादू सोई देषतां पावै कलि अजरावर कन्दा।
सं० परशुराम चतुर्वेदी—सन्तकाव्य संग्रह, पृ० २५३

४—अलह राम छूटा भ्रम मोरा।
हिन्दू तुरक को भेद कछु नाहीं, देषौं दरसन तोरा।
सोई प्राण प्यण्ड पुनि सोई, सोई लोही मासा। —वही, पृ० २५४

५—जहाँ बोल तहँ आखर आवा, जहाँ अबोल तहँ मन न रहावा।
बोल अबोल मध्य है सोई, जो है सो कुछ लखै न कोई। कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२

आदि-अन्त, दृश्य-अदृश्य, एक-अनेक, मौन-मुखर, बाह्य-अभ्यंतर, सब कुछ मानते हैं।[1] सन्तों में समन्वय का यह नियोजन प्रकारान्तर से उनकी महती उपलब्धि है।

इसी सन्दर्भ में सिद्धों की परम्परा पर भी दृष्टिपात कर लेना समीचीन होगा। 'सरहपा' के दृष्टिकोण को डॉ० रामकुमार वर्मा ने निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया है।[2]
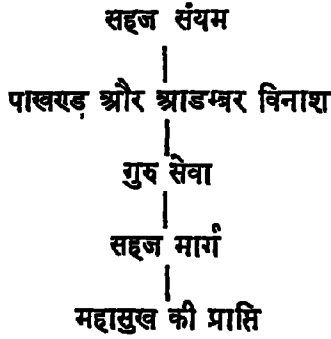
सन्तों ने भी इन तथ्यों को महत्व प्रदान किया है। बौद्ध धर्म में 'निर्वाण' और शून्यवादी परिकल्पना का विशेष रूप से प्रतिपादन हुआ है। 'निर्वाण' शब्द बौद्धधर्म में विवाद का विषय है। पुसिन, फर्कुहर, हक्सले, विल्डुराण्ट आदि ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि बुद्ध अनात्मवादी थे। अतएव उनके शब्दों में निर्वाण का अर्थ व्यक्ति की सत्ता का पूर्ण नाश या शून्य में विलीन हो जाना है। पर उनकी यह मान्यता त्रुटिपूर्ण है। वस्तुतः निर्वाण न तो विनाश का पर्याय है और न[3] मृत्यु की अवस्था का। यह तो नैतिक आचरण एवं पवित्र जीवन की साधना से प्राप्त वह अवस्था है जो वासना मुक्त होने के कारण अनन्त शान्ति का आगार है। बुद्ध ने स्वयं निर्वाण की तुलना बुझते हुए दीपक से की है। बुझते हुए दीपक का प्रकाश न तो इधर जाता है और न उधर, न तो पृथ्वी पर आता है और न आकाश में, वह किसी दिशा विशेष में भी नहीं जाता। वास्तव में तेल के समाप्त हो जाने से वह शान्त होकर ठण्डा पड़ जाता है। निर्वाण की स्थिति प्रायः दीपक की इसी स्थिति के समान है। जब मनुष्य की वासना और मनोविकार का निरसन हो जाता है तो वह अनन्त शान्ति को प्राप्त होता है। इसी

१—आदिहु रामहि अन्तहु रामहि, मध्यहु रामै पुंस न वामै।
देवहु राम अदेवहु रामहिं, लेवहु राम अलेवहु राम,
एकहु राम अनेकहु रामहिं, शेषहु राम अशेषहु तामै।

सुन्दर ग्रन्थावली, द्वि०, पृ० ५०१

२—दुर्गाशंकर मिश्र —भक्ति काव्य के मूल स्रोत—पृ० ४१ से उद्धृत

३—Blowing out suggests extinction cooling suggests not complete annihilation, but only dying out of hot passion . ...At any rate Nirvana according to Buddhism is not the blessed fellowship with God, for that is only a perpetuation of desire for life. That Buddha means only the extinction of false desires.. .. Nirvana is only the destruction of the fires of lust, hatred and ignorance.

Sir Radha Krishnan-Indian Philosophy-Vol. I. P. 447.

शान्ति की चिन्तन अवस्था को निर्वाण कहा जाता है। बुद्ध के निर्वाण की यह कल्पना औपनिषदिक मोक्ष की कल्पना से भी मिलती-जुलती है। इसी भावना को सन्तों ने भी ग्रहण किया है। बौद्धो की निर्वाण-अवस्था अनन्त आनन्द की अवस्था भी है। कबीर ने लिखा है[1] कि जब से मैंने आत्मतत्त्व का विचार किया है तब से मैं पूर्णरूपेण निर्वैर हो गया हूँ। मन का भ्रम[2] समाप्त हो गया है। मेरे-तेरे की भावना खतम हो गई है। ब्रह्म का साक्षात्कार होने से पूर्ण शान्ति और स्थिरता आ गई है। शरीर का ज्ञान भूल गया है और मन आत्मा से मिलकर अखण्ड ब्रह्मानन्द में लीन है। सन्त नामदेव[3] ने इसी को ज्ञानोदय की अवस्था माना है और इसका रहस्यमय वर्णन किया है। दादू[4] ने भी इस अनुभव और तन्मयता का मनोमोहक चित्रण किया है। वे तो शरीर के[5] गुण को त्याग कर जाग्रत अवस्था में ही ऐसी सुषुप्ति का आह्वान करते हैं जिसमें सांसारिक

१—जब थे आतम तत्त विचारा
तब निर्वैर भया सबहिन थै, काम-क्रोध गहिजारा। सन्तकाव्य—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १५२।

२—मन का भ्रम मन ही थैं भागा। सहज रूप हरि खेलण लागा।
मैं तैं तैं मैं ए है नाहीं। आपै सकल-सकल घट माही।
जब थैं इन मन उनमन जाना। तब रूप न रेष तहां लै बाना।
तन मन मन तन एक समाना। इन अनभै माहैं मनमाना।
आतमलीन अखण्डित रामा। कहै कबीर हरि मांहिं समाना।

—वही, पृ० १५१।

३—अण मण्डिआ मन्दलु बाजै, बिणु सावन घन हरु बाजै।
बादल बिनु बरषा होई। जउ तत्त विचारै कोई।

सन्तकाव्य पृ० १२०, परशुराम चतुर्वेदी।

४—ज्ञान लहर जहाँ थैं उठै, वाणी का परकास।
अनभै जहाँ थैं ऊपजै, सबदैं किया निवास।
दादू आपा जब लगै, तब लग दूजा होइ।
जब यह आपा मिटि गया, तब दूजा नाहिं कोइ।
दादू है को भै घणा, नाहीं को कुछु नाहि।
दादू नाही होइ रहु, अपणे साहिब माहिं।
सुन्न सरोवर मीन मन, नीर निरंजन देव।
दादू यह रस विलसिये, ऐसा अलख अभेव।
चर्म दृष्टी देखै बहुत, आतम दृष्टी एक।
ब्रह्म दृष्टी परचै भया, तब दादू बैठा देख।

—वही, पृष्ठ २६०।

५—सब तजि गुण आकार के, निहचल मन ल्यो लाइ।
आतम चेतन प्रेम रस, दादू रहे समाइ।
यों मन तजे शरीर को, ज्यों जागत सो जाइ।
दादू बिसरै देखता, सहज सदा ल्यो लाइ।

क्रिया-कलाप समाप्त हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में[1] आदि और अन्त के मध्य प्रेम की शृङ्खला और अद्वैत की स्थिति बनी रहती है। इस स्थिति में व्यक्ति आँख के बिना देखता है, अङ्ग के बिना सक्रिय रहता है, जिह्वा के बिना बोलता है, श्रवण के बिना सुनता है, चरण के बिना चलता है और चित्र के बिना ही चिन्तन करता है। इससे भी आगे बढ़कर सन्तों ने मोक्ष की उस अवस्था की कल्पना की है जब कर्मफाँस जल जाता है और जीव आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

शून्य की परिकल्पना सिद्ध साहित्य की प्रमुख मान्यता है। वेदो और उपनिषदों में इसकी झलक मिलती है, फिर भी इसके प्रमुख प्रतिपादक नागार्जुन माने जाते हैं। उन्होंने माध्यमिक कारिका में इसका प्रतिपादन करते हुए लिखा है –"वह न तो सत् है और न असत्, न सत् असत् दोनों है और न दोनो से भिन्न ही है। इन सबसे अलग वह एक विलक्षण तत्व है[2]।" इससे प्रकट होता है कि सिद्ध साहित्य में शून्य अद्वय तत्व के रूप में गृहीत हुआ है। तात्विक दृष्टि से इसे ऐसी भक्ति की संज्ञा भी दी गई है जो इस व्यापक ब्रह्माण्ड के अणु-अणु मे परिव्याप्त है। इस प्रकार अपने इस रूप में यह परमतत्व का पर्याय बन गया है। हठयोगियों ने इसकी स्थिति शरीर के ही अन्तर्गत त्रिकुटी में मानी है। इस स्थिति मे यह शब्द समस्त राग-द्वेषों से रहित केवल स्थिति का परिचायक है। दादू और कबीर ने इस 'सहज शून्य' अवस्था का विविध स्वरूपो में वर्णन किया है[3]। इस प्रकार निष्कर्ष निकलता है कि बौद्धधर्म की कतिपय बातें सन्त-साहित्य में ग्रहण की गई थीं अतः यह सन्त साहित्य का प्रेरणास्रोत रहा।

जैनधर्म और निर्गुणमत

जैनधर्म बौद्धधर्म से प्राचीन है। कुछ व्यक्तियों के अनुसार यह वैदिक धर्म का समकालीन माना जा सकता है। पूर्ववर्ती पृष्ठों के विवेचन में इस बात का विशेष उल्लेख किया गया है कि कर्मकाण्ड और यज्ञों में हिंसा का प्राबल्य हो चुका था। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप एक अहिंसक मान्यता को पनपने का सुअवसर मिला। जैन

१—आदि अन्त मधि एक रस, टूटै नहिं धागा।
दादू एकै रहि गया, तब जाणी जागा।
दादू नैन बिन देषिबा, अङ्ग बिनु पेषिबा,
रसन बिनु बोलिबा, ब्रह्म सेती।
श्रवण बिनु सुनिबा, चरण बिनु चलिबा,
चित्र बिनु चित्यबा, सहज एती।

—वही, पृ० २६१

२—न सन नासन न सद सत, न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्वं माध्यमिका विदुः॥ —माध्यमिक कारिका—७।

३—(अ) हद छांडि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनिजन महल न पावई, जहाँ किया विश्राम। —कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५१३
(ब) मन पवना कर आतम खेला, सहज सुन्न घर मेला।—दादू बानी, भाग २, पृ० ११३।

धर्म ने अहिंसा और तप को बड़ी मान्यता दी है। जैनियों का विश्वास है कि सृष्टि अनादि है और वह जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामक छः तत्वों से निर्मित हुई है। इन तत्वों में पुद्गल मूर्त्त द्रव्य है और अन्य पाँच अमूर्त हैं "जीव और पुद्गल के मिलन से ही जीवन की उत्पत्ति हुई है। इनको (जीव और पुद्गल को) धर्म गतिशील बनाता है। इनकी मान्यता है कि स्थूल शरीर के अन्तर्गत एक सूक्ष्म कर्म शरीर होता है। मृत्योपरान्त व्यक्ति स्थूल शरीर से मुक्त हो जाता है पर कर्म शरीर उसके साथ संलग्न रहता है और यही उसे अन्य शरीर धारण करने के लिए बाध्य करता है। इस कर्म शरीर से मुक्त होने के लिए व्यक्ति को वासना, तृष्णा, और मनोविकारों से ऊपर उठना पड़ता है। 'आस्रव' के सिद्धान्त द्वारा ये इस तथ्य को प्रतिपादित करते हैं कि मानव के कर्म के संस्कार निरंतर प्रवाहित होकर जीवन को प्रभावित करते रहते हैं। इनसे बचने के लिए मनुष्य को चित्तवृत्तियों का निरोध करना पड़ता है। इस निरोध की क्षमता तभी प्राप्त होती है जब वह तपःपूत जीवन व्यतीत करे। इस जीवन को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को इन्द्रिय-सुखों को छोड़कर कष्ट-साध्य जीवन बिताना पड़ता है। ये त्रिरत्न (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र) को महत्वपूर्ण मानते हैं और अहं के निम्नांकित अष्ट प्रकारों का त्याग करना आवश्यक समझते हैं; (१) बुद्धि का अहंकार (२) धार्मिकता का अहंकार (३) वंश का अहंकार (४) जाति का अहकार (५) शरीर या मनोबल का अहंकार (६) चमत्कृत करने वाली शक्तियों का अहंकार (७) योग और तप का अहंकार (८) रूप और सौन्दर्य का अहंकार। अहिंसा, तप, अहंकार एवं चित्तवृत्ति निरोध तथा त्रिरत्न को सन्त-साहित्य में भी मान्यता मिली है।

नाथ संप्रदाय और सन्त साहित्य

पूर्ववर्त्ती संस्कृत की योग-परम्परा और सिद्ध साहित्य की पृष्ठभूमि में नाथ-साहित्य पर दृष्टिपात करने से एक महत्वपूर्ण तथ्य की उपलब्धि होती है। सूक्ष्मतापूर्वक दृष्टिपात करने पर यह सरलता से ज्ञात हो जाता है कि 'नाथ योग' कुछ हद तक 'पातंजल योग' से प्रभावित है फिर भी दोनों में ऐक्य नहीं है। नाथ योगियों का कथन है कि आत्मा का चरम लक्ष्य है अद्वयभाव की प्राप्ति। इस मत के अनुसार सद्गुरु की कृपा से चित्त को सबसे पहले विश्रान्ति लाभ करना चाहिए, क्योंकि बिना उसके सामरस्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।...चित्त-विश्रान्ति से स्वभावतः भगवदानन्द और अनन्त ज्योतियों का आविर्भाव होता है...। इसके पश्चात् चित्त-शक्ति का प्रकाश होता है।...इसका फल है देह-सिद्धि या पिण्ड-सिद्धि। इसका नामान्तर है देह का अमरत्व।...इसे नामान्तर से सिद्ध अवस्था कह सकते हैं[१]। इस सिद्ध अवस्था के सन्दर्भ में पिण्ड और ज्योतिर्मय स्वरूप के एकत्व द्वारा स्थायी सामरस्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। क्षणिक सामरस्य से प्राप्त अवस्था को नाथयोगी 'व्युत्थान' की अवस्था के नाम से अभिहित

१—डॉ० नगेन्द्रनाथ उपाध्याय,—नाथ और सन्त साहित्य, प्राक्कथन, श्री गोपीनाथ कविराज, पृ० ५।

करते हैं किन्तु स्थायी सामरस्य के पश्चात् निरुत्थान दशा की उपलब्धि होती है[1]। इसे और भी स्पष्टता के साथ निरूपित करते हुए कहा जा सकता है कि "सामरस्य और निरुत्थान दोनों के अन्तराल में कुछ अवस्थाओं का पता चलता है। पहले विश्वातीत सत्ता का विश्व में स्फुरण होता है। उसके बाद निराकार और साकार का भेद समाप्त हो जाता है साथ ही आत्मा को विश्व-दर्शन होने लगता है। उसके बाद आत्मा के शक्ति-पुंज को आत्मा में ही केन्द्रित रखने के लिए ध्यान की क्रिया को दृष्टि-पथ में रखना आवश्यक है। अन्त में पूर्ण स्वातंत्र्य समन्वित आत्मा का स्फुरण होता है। अतएव नाथ-योगियों का लक्ष्य यह है कि पहले पिण्डसिद्धि के द्वारा जीवन-मुक्ति की प्राप्ति हो। उस समय काल के प्रभाव से योगी मुक्त हो जाता है। इसके पश्चात् समरसीकरण के द्वारा परामुक्ति की सिद्धि होती है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि पिण्डसिद्धि अथवा जीवमुक्ति के अनंतर ओंकार साधना के द्वारा परामुक्ति का आविर्भाव होता है[2]। उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर विद्वान लेखक श्री कविराज जी ने लिखा है—"रहस्य-दृष्टि से नाथ-साधना का आलोचना करने से यह पता चलता है कि यह व्यापक तांत्रिक दृष्टि का एक प्रकाश मात्र है[3]।"

नाथ-संप्रदाय के सन्दर्भ में सिद्ध साहित्य का नामोल्लेख किया गया है और विगत पृष्ठों में इसके स्वरूप पर दृष्टिपात भी किया गया है। यहाँ एक तथ्य पर विशेष रूप से विचार किया जाना आवश्यक है। द्रष्टव्य यह है कि सिद्धों की मान्यता के अन्तगत निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म की उपासना के साथ ही साधन-मार्ग के खण्डन-मण्डन और पण्डितों के परिहार को प्रमुखता प्राप्त थी। इन्होंने भी घट के भीतर ही ईश्वर तत्व को प्राप्त करने की सलाह दी थी। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, कुंडलिनी, चक्रभेदन, दुःखनिरोध, आत्मनिग्रह आदि से सम्बन्धित रहस्य भी किसी न किसी रूप में प्रतिपादित किये गये थे। इड़ा और पिंगला को सूर्य और चन्द्र नाम से अभिहित किया गया था[4]। चराचर, व्यापी, एकरस, अखण्ड और अनिर्वाच्य[5] अद्वैत तत्व की महत्ता[6] को प्रतिपादित किया गया था। ये रहस्यवादी थे और महासुख की प्राप्ति के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील थे। निराकार की साधना के साथ ही रहस्यमय स्वरूपों के निर्वचन के कारण इनकी वाणी में

१—डॉ० नगेन्द्र नाथ उपाध्यायकृत—नाथ और संत साहित्य, प्राक्कथन, श्री गोपी नाथ कविराज, पृ० ६।

२—वही पृ० ६।

३—वही पृ० ६।

४—चन्द सज्ज घसि घालइ, धोहइ सो अणुत्तर एत्थ पअट्टइ—दोहाकोष, पृ० ३५।

५—जहिमण पवण न संचरइ, रवि ससि नाहिं पवेस।
तेहि वढ चित्त विसामकरु सरहे कहिआ उप स।—वही, पृ० ४६।

६—अग्गे पच्छें दस दिसें, जँ जँ जो अमि सोवि।
ऐव्वे तु दीडन्त डो, याह ण पुच्छमि कोवि॥ वही, पृ० ५२।

अटपटापन, प्रतीक और उलटवाँसी के कतिपय स्वरूप उपस्थित थे[१]। इस प्रकार इनकी कृतियों में सन्ध्या भाषा की प्रमुख विशेषताएँ भी पाई जाती थीं। सिद्धों की ये सम्पूर्ण मान्यताएँ नाथ साहित्य में पुनः अवतरित हुई थीं। इन नाथों से ही सन्त साहित्य के कतिपय शब्द भी प्रभावित हुए थे और उसी प्रकार की मान्यताओं को अपना उपजीव्य भी बनाया था। इनकी मान्यताओं मे सर्वथा सादृश्य का अभाव था, फिर भी कुछ बातें दोनों साहित्य में ज्यों की त्यों ग्रहण की गई थीं। सारांश यह कि "नाथपंथी योगियों ने यद्यपि सिद्धों के वीभत्स वामाचार का परिहार करके जनता में शुद्ध और पवित्र वृत्तियों का ही प्रसार किया, परन्तु उनके यहाँ प्रचारित ईश्वरोन्मुख मार्ग मे जनता को हृदय रमाने की बात नहीं दिखलाई देती थी।...फिर भी समाज की नीची श्रेणियों में इनका पर्याप्त आदर हुआ[२]।"

सूफीवाद और निर्गुण मत

अन्य मतों की तरह सूफी मत आत्मा, परमात्मा और जगत के संबंधों पर दृष्टिपात करता है। इसका विश्वास है कि सत्ता (जात) और गुण (सिफ़त) में परमात्मा अद्वितीय है और वह सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है[३]। वह निर्गुण और समस्त क्रियाओं का संचालक है[४]। इसके दो संप्रदाय हैं—(१) वुजूदिया और (२) शुहूदिया। प्रथम सिद्धांत 'सब कुछ वही है' में विश्वास करता है पर दूसरा परमात्मा और जीव की भिन्न सत्ता का हिमायती है। सूफी जीली का अभिमत है कि "उसकी अभिव्यक्ति सम्पूर्ण सत्ताओं में अन्तर्निहित है, और वह सृष्टि के प्रत्येक अणु-परमाणु में अपनी पूर्णता को अभिव्यक्त करता है। वह खण्डों में विभक्त नहीं है, सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थ उसकी पूर्णता के कारण हैं, उसके दिये हुए नाम से ही नामवाले हैं। सृष्टि बरफ़ के समान है और तेज स्वरूप परमात्मा जल के समान है। उस जमी हुई वस्तु का नामकरण बरफ़

१—बेग संसार बाढ हित जाअ, दुहिल दूध कि बेटे समाअ।
बलद बियायेल गविया बाम्हे। पिटा दुहिले एतिना साम्हे।
जो सो बुज्झी सो धनि बुधी, जो सो चोर सोइ साधी।
निते निते पियाला पिहे अम जूझअ। ठंढ पाए गीत विरले बूझअ॥ बौ० गा० दू०

२—डॉ० विश्वनाथ गौड़—आधुनिक हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद।

३—(अ) परगट गुपुत सो सर्व बियापी।-जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३।
(ब) हुत पहले अरु अब है सोई। पुनि सो रहै, रहै नहिं कोई। —वही,
(स) ना ओहि ठाऊँ न ओहि बिनु ठाऊँ। रूप रेख बिनु निर्मल नाऊँ।
ना वह मिला न बेहरा, ऐसा रहा भर पूरि।
दीठि वंत कहँ नियरे, अन्ध मुरुखहिं दूर। —वही,

४—जीव नाहि पै जियै गुसाईं। कर नांहीं पर करै सवाईं।
जीभ नाहिं पर सब कुछ बोला। तन नाहीं सब ठाहर डोला।
स्रवन नाहिं पर सब किछु सुना। हिया नाहिं पै सब कुछ गुना।
नयन नाहिं पै सब कुछ देखा। कौन भाँति अस जाइ बिसेखा।-जायसी ग्रंथावली, पृ० ३।

हुआ है पर जल ही उसका असली नाम है[1]।" सूफी इस बात को मानते हैं कि परमात्मा को अपने को अभिव्यक्त करने के परिणामस्वरूप सृष्टि का आविर्भाव होता है। वे दार्शनिक दृष्टि से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के सिद्धान्त मे विश्वास करते हैं। उनके अनुसार सृष्टि का प्रसार असत् है, इस असत्रूपी दर्पण में परमात्मा की परम सत्ता का प्रतिबिम्ब होने के कारण ही वह सत् ज्ञात होता है।[2] "इस प्रकार सूफी सृष्टि को असत् दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाली परम सत्ता की प्रतिच्छबि तथा मनुष्य को उस प्रतिच्छबि की आँख मानते हैं। आँख की पुतली मे भी सम्पूर्ण प्रतिच्छबि उतर सकती है। अतएव उस मनुष्यरूपी आँख मे भी परमात्मा की प्रतिच्छबि प्रतिबिम्बित होती है। इस प्रकार एक ओर तो मनुष्य सृष्टि का अंग है दूसरी ओर परमात्मा को भी ग्रहण किये हुये है। इसमें सत् और असत् दोनों विद्यमान हैं। मनुष्य में जो कुछ भी सत्य है, वह मंगलमय है, वह परमात्मा का है और इसके विपरीत जो कुछ भी असत् है, वह क्षणभंगुर है तथा मंगल का नकारात्मक रूप है। ""·····असत् तत्व मिथ्या है और भ्रम मे डालने वाला है साथ ही अहं में सत्य की प्रतीति कराने वाला भी है। अहं ही सब दुःखों के मूल में है अतएव सूफी साधक की सबसे बड़ी साधना यह होती है कि वह अपने इस अहं पर विजय प्राप्त करे[3]। भारतीय सूफी साधना की चार मंजिलों और चार अवस्थाओं का का उल्लेख करते हैं। चार मजिलों के नाम नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूत तथा चार अवस्थाओं के नाम शरीयत, तरीकत, मारिफत और हकीकत है। इसके अतिरिक्त वे सात मुकामात की कल्पना भी करते है जिन्हे अबूदिया, इश्क, जहद, मवारिफ, वज्द, हकीकी और वस्ल के नाम से पुकारा जाता है। साधारण धार्मिक मुसलमान प्रथमावस्था में शरीयत का पालन करते हुए नासूत (नरलोक) का सेवन करता है द्वितीयावस्था में मुरीद तरीकत पर विचरण करता हुआ मलकूत (देवलोक) का निवासी होता है। तत्पश्चात् सात्विक तुरीयावस्था में (मारिफत) जबरूत (ऐश्वर्यलोक) में विहार करता है और अन्त में आरिफ हकीकत अवस्था मे लाहूत (सत्यलोक किंवा माधुर्यलोक) में विचरण करता है[4]। इन अवस्थाओं के अतिरिक्त सूफी सम्प्रदाय में गुरु-शिष्य[5] और साधना के अन्यान्य स्वरूपों[6] को भी प्रश्रय मिला है। इन सूफियों का सामाजिक

१—हिन्दी साहित्य कोष, पृ० ९३८।
२—वही, पृ० ५६०।
३—हिन्दी साहित्य कोष, पृ० ५६०।
४—डॉ० जयदेव—महाकवि जायसी।
५—जब लगि गुरु हौं अहा न चीन्हा। कोटि अंतर पट बीचहिं दीन्हा।
जब चीन्हा तब और न कोई। तनमन जिउ जोबन सब सोई।
—जायसी ग्रन्थावली, पृ० १०५।
६—(अ) गढतस बांक जैस तोरि काया। पुरुष देख ओही कै छाया।
पाइय नाहिं जूझि हठकीन्हें। जेइ पावा तेइ आपुहिं चीन्हें।
नव पौरी तेहि गढ मझियारा। औ तह फिरहिं पाँच कोतवारा।
(ब) नवो खण्ड नव पौरी औ तह वज्र केवार।
चारि बसेरे सो चढै, सत सौं उतरै पार।
—जायसी ग्रन्थावली, पृ० ९३।

दृष्टिकोण भी पर्याप्त समन्वयवादी, लचीला और मानवतावादी था। इसका मूल कारण यह था कि हिन्दुओं के जीवन को उन्होने विजेता की ऊँचाई से नहीं बल्कि सहृदयता की निकटता से देखा। उनकी विपत्ति के लिए उनके हृदय में सहानुभूति का स्रोत उमड़ पड़ा। अपने सहधर्मियों की उठी हुई तलवार को उन्होंने अपने ढंग से रोकने का प्रयत्न किया।

'सन्त साहित्य' कई दृष्टियों से सूफ़ी विचारधारा से प्रभावित था। गुरु-शिष्य-संबंध, मानवतावादी समन्वयात्मक दृष्टिकोण, और हठयोग की कतिपय मान्यताएँ दोनों साहित्यों में पायी जाती हैं। दोनो साहित्यों की रहस्यवादी परिकल्पना एक दूसरी के अत्यन्त निकट है। प्रेम, विरह, मिलन, ब्रह्म-जिज्ञासा, साधना की अवस्था, ब्रह्मानुभूति की अनिर्वचनीय अनुभूति एवं ब्रह्म साक्षात्कार आदि दृष्टियो से ये दोनों विचारधाराएँ एक दूसरी के सर्वथा निकट हैं। सन्तो की दांपत्य भावना भी कुछ हद तक सूफ़ी साहित्य से प्रभावित है। इस सन्दर्भ में विचारणीय है कि सूफ़ी अपने को 'इश्क हकीकी' अथवा ईश्वरीय प्रेम की संज्ञा देते थे। वे भी संतों की ही भाँति अपने उद्गारो के आश्रयार्थ अपने प्रेमपात्र को किसी प्रकार का व्यक्तित्व प्रदान करना आवश्यक समझते थे किन्तु इस प्रतीक की भावना का स्वरूप उनके लिए सन्तो से कुछ भिन्न प्रकार का था। सन्तों ने अपने प्रियतम की भावना पुरुष रूप में की। वे अपने को उसकी पत्नी के रूप में मानकर उससे हिलमिल जाना आवश्यक समझते थे किन्तु सूफियों ने इसके विपरीत उसे अपनी प्रियतमा बना दिया और उसकी उपलब्धि के प्रयत्न में निरत रहना अपना परम कर्त्तव्य समझा। इसके अतिरिक्त सन्तों ने जहाँ उस प्रतीक का प्रयोग केवल व्यक्तिगत रूप में अथवा उसे साधारण परिस्थितियों के बीच लाकर ही किया वहाँ सूफियों ने उनके लिए प्रेम गाथाओं की सृष्टि की। उन्होने प्रेम एवं विरह के विविध रूपों के प्रदर्शन के लिए एक विस्तृत क्षेत्र भी तैयार किया। इस प्रकार सन्तों के इस प्रेम में जहाँ पातिव्रत की भावना बनी रही और उसकी अनुभूति की तीव्रता को तीव्रतर करने मे एकान्त निष्ठा की सहायता मिली वहां सूफियों के पुरुष प्रेमी के लिए केवल अपनी इच्छा शक्ति की दृढ़ता सहायक हुई।[1]

अन्यान्य कारण : सन्तमत एवं तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति

कोई भी आन्दोलन अपने काल की विविध परिस्थितियों का परिणाम होता है। निर्गुण मत इस दृष्टि से अपवाद नही कहा जा सकता। सम्यक् रूप से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि तत्कालीन समाज के शासित और शासक दोनों वर्गों में सामाजिक दुर्बलता घर कर गई थी। वह उसे अन्दर ही अन्दर काटकर जर्जर बना रही थी। दोनों ही वर्ग आपसी विद्वेष की ज्वाला से जल रहे थे और एक दूसरे को हेय दृष्टि से देखते थे। इस प्रकार आपसी घृणा बढ़ रही थी। हिन्दुओं में तो वर्गभेद और जातिभेद अपनी चरम सीमा पर था, पर मुसलमानों को भी सर्वथा इससे मुक्त नहीं कहा जा सकता। मुसलमानो में दासता की प्रथा, बहु-स्त्री प्रथा, और अत्याचार का बोलाबाला

१—संत काव्य-संपादक, परशुराम चतुर्वेदी—भूमिका, पृ०४६।

था। प्रायः यह देखा जाता है कि जब मानवता के सामने उसके अस्तित्व अथवा अनस्तित्व का प्रश्न आ जाता है तो तत्कालीन समाज से ही कतिपय ऐसे युग-द्रष्टाओं का आविर्भाव होता है जो उसका समाधान करते हैं। मानवता की विद्वेष-लीला से ऊबकर कतिपय सन्तों ने समन्वयवादी-आध्यात्मिक-दर्शन की अवतारणा की और उसी का प्रतिफलित रूप निर्गुण मत के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

राजनीतिक स्वरूप और निर्गुण मत

'हॉब्स' ने बहुत पहले कहा था 'मनुष्य गर्हित और अश्लील प्रवृत्तियों से ग्रस्त होने के कारण पशु तुल्य एवं सकीर्ण दृष्टि-प्रधान जीव होता है। वही वस्तुतः मानवता का सबसे बड़ा शत्रु है।'[1] उसकी यह भावना उस काल में जितनी सत्य थी उससे किसी भी प्रकार कम सत्य आज नहीं है। यह इतिहास प्रसिद्ध बात है कि प्राचीनकाल में भारतवर्ष 'सोने की चिड़िया' के नाम से प्रसिद्ध था। अर्थलोलुप पिशाचों की दृष्टि से उसका यह वैभव छिप न सका; परिणामस्वरूप देश पर निरन्तर बाह्य आक्रमण होते रहे। मध्यकाल में इस देश को दुर्भाग्य के भयंकर स्वरूप का सामना करना पड़ा था। आपसी कलह, द्वेष और ईर्ष्या की मनोवृत्ति के कारण यहाँ की आन्तरिक शक्ति क्षीण हो चुकी थी। आरम्भ में मुस्लिम आक्रमणकारी आये और उन्होंने यहाँ के अतुल वैभव को लूटा। वे मन्दिरों और पवित्र स्थानों को विध्वस्त करके लौट गये। पर यह स्थिति बहुत दिनों तक न चल सकी। परवर्त्ती आक्रमणकारियों ने देश को जीतकर पददलित ही नहीं किया अपितु इस शस्यश्यामला भूमि पर अपने साम्राज्य की स्थापना भी की। सातवीं शताब्दी से आक्रमण का जो क्रम चला, वह परिस्थिति के साथ साम्राज्य स्थापन में परिणत हो गया। महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी, कुतुबुद्दीन ऐबक, चंगेज खाँ, अलाउद्दीन खिलजी, फीरोज तुग़लक और तैमूरलंग के कारनामो का रक्त रंजित इतिहास आज भी उनकी बर्बरता, नृशसता, और अत्याचार का स्पष्ट प्रमाण है। स्त्रियो पर अत्याचार, मंदिरों एवं मूर्तियों का सर्वनाश, विधर्मियो को काफिर समझ कर उन्हें दण्ड देने के विधान और आवश्यक रूप से व्यभिचार आदि को प्रश्रय देने के कारण, समाज के जीवन में निराशा और उदासीनता का प्रसार हुआ और बहुदेववादी उपासना के साथ ही मूर्त्तिपूजा एवं आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्ड के विरुद्ध घोर प्रतिक्रिया हुई। इन सब बातों से निर्गुण संप्रदाय के दृष्टिकोण-निर्माण में विशेष सहायता मिली।

धार्मिक परिस्थिति एवं निर्गुण मत

हमने विगत पृष्ठों में इस तथ्य पर दृष्टिपात किया है कि वैदिक धर्म के अति कठोर, निरंकुश एवं अनमनीय हो जाने के कारण उसका ह्रास आरम्भ हुआ। यही बात प्रायः सभी धार्मिक सम्प्रदायों के विषय में कही जा सकती है। निर्गुण मत के आविर्भाव के समय देश की धार्मिक स्थिति में स्थूलता और निरंकुशता का बोलबाला था। वर्ण-

1—Man is nasty, brutish and short. Man is enemy to man. —Hobbes.

व्यवस्था पतनोन्मुख हो रही थी। चातुराश्रम्य पथ-भ्रष्ट हो चुका था। तात्विक चिन्तन के लिए समाज में विशेष स्थान न रह गया था। हिन्दू और मुसलमानों में विजेता और विजित के भाव विद्यमान थे।[1] धार्मिक कटुता में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। धर्म के नाम से हिन्दुओं पर अत्याचार किया जाता था। उनके मठ-मन्दिर तोड़े जाते थे और इनमें स्थापित मूर्त्तियों को खण्डित किया जाता था। उस समय देश आन्तरिक कलह एवं अत्याचार से पीडित था। इस द्विविध विग्रह से "हिन्दू धर्म अव्यवस्था, रूढ़ियों और अविश्वासों के कारण ह्रासोन्मुख हो गया था। धर्म के एक पार्श्व में नग्न शृंगार अपने विलास नूपुरों की मधुर झंकार कर रहा था, और दूसरे पार्श्व में विवश करुणा चीत्कार कर रही थी।[2]" इन सभी स्थितियों का देश की सामाजिक और आध्यात्मिक परम्परा पर एक प्रभाव पड़ा, निर्गुण मत इसी प्रभाव का सुनिश्चित परिणाम था। वस्तुतः इसका दृष्टिकोण तत्वग्राही और समन्वयवादी था। इसीलिए यह समाज के अनाचार और अत्याचार रूपी पंक का भेदन करके कमलनालकी भाँति निर्गुण मत रूपी-कमल को उत्पन्न करने में समर्थ हुआ।

निष्कर्ष

इस अध्याय का प्रमुख विवेच्य वैदिक धर्म का पुनर्नवीकरण और निर्गुण मत का प्रादुर्भाव है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर वैदिक धर्म की मूल बातों के स्पष्टीकरण के साथ ही उनके विविध स्रोतों पर दृष्टिपात किया गया है। इस प्रकार इस अध्याय में वैदिक काल से चली आती हुई निर्गुण परम्परा के साथ ही मध्यकालीन धर्म साधना में परिपुष्ट होने वाली निर्गुण भावना के पूर्ण विकास-पथ को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। इसके अन्तःस्वरूप के साथ ही इस बहिःस्वरूप का भी अन्वीक्षण और परीक्षण किया गया है। इस विवेचन से यह तथ्य सर्वथा निर्विवाद रूप से प्रतिपादित होता है कि निर्गुण सम्प्रदाय मूलतः मध्यकालीन, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक चेतना का प्रतिफलन था। इसका दृष्टिकोण प्रशस्त और व्यापक था। इसीलिए इसमें एक ओर अगर वितण्डावादी और आडम्बरपूर्ण प्रवृत्तियों का विरोध हुआ तो दूसरी ओर निष्कलुष एव पवित्र भावना को प्रश्रय भी दिया गया। अपने इसी सारग्राही स्वरूप के कारण इसका दृष्टिकोण पर्याप्त सुचिन्तित और समाजोपयोगी स्वरूप ग्रहण कर सका। इसी लिए अपने सम्पूर्ण आकलित परिवेश में यह वैदिक काल से लेकर मध्यकालीन धर्म-साधना तक निरन्तर अप्रतिहत गति से प्रवहमान युग-चेतना का अनुपम नवनीत सिद्ध हुआ।

१—My object in the invasion of Hinduism is to lead an expedition against the infidels that according to the law of Mohammad, we may convert to the true faith the people of that country and purify the land itself from filth of infidelity and polytheism, and that we may overthrow their temples and idols and become Gazis and Mujahidas before God. Din-I-Ilahi P. 6.

२—डॉ० ब्रजपाल वर्मा-सन्तकवि रज्जब, सम्प्रदाय और साहित्य—पृ० ३२।

: २ : दादू और उनका पंथ

कबीर की ही तरह दादू का भी सन्त साहित्य में विशिष्ट स्थान है। इस पंथ के शिष्यों और प्रशिष्यों की संख्या इतनी बड़ी और उनका साहित्य इतना विविध तथा विशाल है कि उसे देखकर आश्चर्य चकित रह जाना पड़ता है। इस पंथ से संबंधित सामग्री का अभी पूर्ण आलोड़न और मंथन नहीं हुआ है, इसके परिणाम स्वरूप शोधकर्ता के समक्ष अनन्त कठिनाइयाँ हैं। हमने इस अध्याय में 'दादू' और 'दादूपंथ' पर विचार करते हुए, उसके विवादो को सुलझाने का प्रयत्न किया है।

दादू : जीवन परिचय

अन्य सन्तों के समान ही 'दादू' के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक आधार न होने के कारण अनेकानेक भ्रान्तियों का सामना करना पड़ता है। दादूपंथ में ऐसा कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है जिसे आधार बनाकर विवेचन प्रस्तुत किया जाय। दादू के जीवन एवं पंथ पर कुछ स्वदेशी और विदेशी विद्वानों ने अपनी सम्मति अवश्य दी है पर उसमें साम्य का सर्वथा अभाव है। इनके जीवन से सम्बन्धित सामग्री को हम निम्नांकित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं :—

(१) 'एनसाइक्लापीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स' में 'दादू' के सम्बन्ध में सामान्य परिचय दिया गया है। इसके लेखक के अनुसार 'दादू' का जन्म अहमदाबाद के लोदीराम नामक ब्राह्मण के परिवार में हुआ था। भारतवर्ष में उस समय हिन्दू धर्म विषयक सुधारात्मक प्रवृत्ति का प्राबल्य था। सम्पूर्ण उत्तरी भारत में कतिपय ऐसे सन्तों का अवतरण हो चुका था जो हिन्दू धर्म के परम्परावादी एवं अन्ध-विश्वासपूर्ण स्वरूप पर कुठाराघात कर रहे थे। इस क्रान्तिकारी प्रवृत्ति से 'दादू' का प्रभावित होना स्वाभाविक था। 'साभर' तथा 'अजमेर' में अपना प्रारम्भिक जीवन व्यतीत करने के पश्चात् 'दादू' दिल्ली तक गये और वहाँ उनकी भेंट अकबर से हुई। इनका अन्तिम समय 'नराणा' में व्यतीत हुआ और १३०३ ई० में वहीं पर वे परलोक-वासी भी हुए।[१]

(२) 'रिलीजस क्वेस्ट ऑव इण्डिया' के लेखक ने भी दादू का जन्म अहमदाबाद में माना है। इसके अनुसार वे १५४४ ई० में एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे।[२]

१—Encyclopaedia of Religion & Ethics—Vol. IV—pp. 385—86.

२—Ferquhar—Religious quest of India—pp. 342—43.

(३) उपर्युक्त विचारकों के अतिरिक्त दादू पंथ पर 'डब्ल्यू डब्ल्यू हण्टर'[१], 'डब्ल्यू क्रुक'[२], 'एस डब्ल्यू हापकिन्स'[३], 'जे० सी० ओमैन'[४], 'ए० डी० बैनरमैन'[५], 'डॉ० विल्सन'[६], 'प्यासी'[७], 'डॉ० ग्रियर्सन'[८], 'लेफ्टिनेन्ट जी० आर० सिएडस' तथा अन्य लेखकों[१०] ने भी विचार किया है।

भारतीय लेखकों में सर्वप्रथम दादूपंथ के अनुयायी महात्मा 'जनगोपाल' जी ने 'दादू जन्मलीला परची' और सन्त 'राघवदास' ने 'भक्तमाल' में इस विषय से सम्बन्धित सामग्री प्रस्तुत करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। 'राघवदास' के टीकाकार 'चतुरदास' ने इसे और भी स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है।

ऐसी जनश्रुति है कि महात्मा जनगोपाल 'दादू' के अत्यन्त प्रिय शिष्य थे। जिस समय सन्त दादू ने शरीर त्याग किया उस समय अन्य शिष्यों के साथ ये भी विद्यमान थे। ये ही 'पालकां जी' के प्रथम पुजारी नियुक्त किए गये थे।[११] इनके द्वारा विरचित 'जन्मलीला परची' में ये चौपाइयाँ उपलब्ध होती हैं।

संवत सोला सै ईकोतर।
सन्त एक उपज्यौ पुहुमी पर।
पच्छिम दिसा अहमदाबादू।
तीठां साध परगटै दादू।[१२]

इसी ग्रन्थ में यह भी उल्लेख है—

सबद बँधानै साह के, तांथै दादू आये।
दुनिया जीवी बापुड़ी, सुख दरसन पाये।[१३]

इस ग्रन्थ में दादू के जन्म की कथा निम्नलिखित रूप में वर्णित है। अहमदाबाद नगर में अत्यन्त उदार प्रवृत्ति का एक सौदागर रहता था। उसे पुत्र की उत्कट अभिलाषा थी। अतः वह अत्यन्त मनोयोगपूर्वक सन्तों की सेवा करता था। एक सन्त ने उसकी सेवा

१—W. W. Hunter—G I. London (1885—87) VI 344 and VII 53 and astt. amber Naraina
२—W Crooke Tribes & castes of North West Provinces and Audh—pp. 236–39
३—E. W. Hopkins—Religions of India. London 1896—p. 513 f.
४—J. C. Oman—Mystics, Ascetics & Saints of India—(London—1903) pp. 133, 189.
५—A. D. Bannerman—Rajputana Census Reports—Lucknow. 1902. p. 47.
६—देखिए दादू जन्मलीला परची—सं० सुखदयाल दादू एडवोकेट—प्राक्कथन।
७—वही।
८—वही।
९—वही।
१०—वही।
११—देखिए दादू जन्म लीला परची—सं० सुखदयाल दादू एडवोकेट—प्राक्कथन।
१२—वही।
१३—दादू जन्मलीला परची—पृ० ३।

प्रसन्न होकर यह वरदान दिया कि तुम्हें साबरमती के तट पर पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी। इस वरदान के कारण लोदी और उनकी पत्नी नानीदेवी को एक तख्ते पर बहते शिशु की प्राप्ति हुई।[1]

'दादू' से सम्बन्धित दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'सन्तराघवदास' का भक्तमाल है। इस ग्रन्थ के 'दादूदयाल कौ पंथ वर्णन्' मे तत्सम्बन्धी सामग्री का विशद विवेचन किया गया है।[2] राघवदास दादूपंथी विचारधारा के सन्त थे। इन्होंने अपने उक्त ग्रन्थ में लिखा है—

'दादू दीन दयाल के जन राघो हरि कारिज करे।
दल भये सांभरि सात, सबनि के भोजन पायौ।
अकवर्या सूँ मिले, तेजमय तखत दिखायौ।
काजी कौ करगल्यौ, रूई की, रासि जराई।
चीरी पलटे अंक, समद में भयाज तिराई।

चतुरदास ने इसकी टीका करते हुए लिखा है—

'सागर में टापू तामैं तीन सिध ध्यान करै।
येक कूँ जू आग्या भई जीव निसतारिये।
नभ वांनी भयें ऐक सिध सो गुपत भये।
पीछै दोइ रहे उन प्रभु उर धारिये।
धरा गुजरात तहाँ नदी बही जात येक,
ब्राह्मण सुन्हात सौंज पूजा की सॅवारिये।
पुत्र की चाहि अति वैठौ साभवती जिति,
पींजरा आयौ तिरत याकौ तौ सॅभारिये।
देख्यौ खोलि ताहि खेलै लरिका सो माहि उन,
लयो गरिवाहि यह प्रभु मोहिं दयो है।
भई नभवांनी केइ उधरैगे प्रानी या सौं,
सति सुनि जानीं मन अचम्भा जु भयो है।
लोदी राम नाम नागर ब्राह्मण जांम,
लछि जाकै धाम बहु लैकै घर गयो है।
बाँटत बधाई पुत्र हौ ज नहीं भाई मेरे,
माया यौं लुटाई धूरि जांनि कै रुपैयो है।[3]'

उपर्युक्त दोनों वर्णनों में साम्य है।

आचार्य 'क्षितिमोहन सेन' ने अपनी महत्वपूर्ण कृति 'दादू' में इनके जीवन पर प्रकाश डाला है। उनका मत है कि अधिकाश लोगों ने इस बात को घोषित किया है

१—दादू जन्मलीला परची—उत्पत्ति वर्णन, पृ० ४—५।
२—राघवदास—भक्तमाल, पृ० १७६।
३—राघवदास भक्तमाल—पृ० १८०, टीका छन्द ५४७—५४८।

कि दादू का जन्म अहमदाबाद में हुआ था, पर वहाँ इसका कोई चिह्न नहीं मिलता। 'सेन' जी के साथ 'हरिप्रसाद पीताम्बर दास मेहता', 'पं० करुणाशंकर कुबेर जी भट्ट', 'डॉ० हरिप्रसाद, ब्रजराय देसाई' प्रभृति विद्वान ने भी दादू' के सम्बन्ध में खोज की थी। इन लोगों ने न केवल विद्वत्समाज से पूछताछ की अपितु म्युनिसिपल आफिस तथा थानों से भी सम्पर्क स्थापित किया, पर उन्हें अखाड़े, मठ या पंथ सम्बन्धी कोई सूचना उपलब्ध न हुई। इन लोगों ने ऐसे व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित किया जो अहमदाबाद के घर-घर से परिचित थे, पर उन्हें कोई ऐसा सूत्र न मिल सका जिसके आधार पर 'दादू' के अहमदाबाद में उत्पन्न होने अथवा वहाँ के निवासी होने का प्रमाण मिलता।

जन्म के सन्दर्भ में आचार्य 'सेन' ने सर्वश्री 'विलसन', 'सान्द्रिन्स', तथा 'प्यासी' के मत को उद्धृत किया है और 'हिस्टोरिक द ला लिटरेचर हिन्दोनिक ऐट हिन्दोस्तानिक ('वोल्यूम १, पृ० ४०३) 'एशियाटिक रिसर्चेज' (वाल्यूम १७, पृ० ३०२) और 'रिलीजस सेक्ट्स ऑव हिन्दूज' (पृ० १०३) के आधार पर (इन्होंने) इस बात को सिद्ध किया है कि रामानन्द के पश्चात् छठवें गुरु सन्त बुड्ढन के शिष्य दादू हुए। इन छहों गुरुओं का क्रम निम्नांकित है—

(१) रामानन्द, (२) कबीर, (३) कमाल, (४) जमाल, (५) बिमल, (६) बुड्ढन, (७) दादू।

'हिस्टोरिक डीला' ग्रन्थ के मत का उल्लेख करते हुए उन्होने यह सिद्ध किया है कि 'दादू' १६०० ई० में विद्यमान थे और अकबर तथा जहाँगीर के राजत्वकाल में जीवित थे। 'सेन' ने 'क्रुक', 'सुधाकर द्विवेदी', 'सूरत बेगमपुर' के महन्त 'रामप्रसाद' जी, 'चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी' तथा बेगमपुर के दूसरे महन्त 'मोतीराम' के मत का भी उल्लेख किया है। उन्होंने इस सन्दर्भ में बंगला में बाउलों की एक प्रणति की चर्चा भी की है जो निम्नांकित है—

"श्री गुरु दाउद बन्दि दादू जारनाम।"

इस प्रणति के साथ ही उन्होंने 'डा० तारादत्त गैरोला' तथा 'पुरोहित हरिनारायण' प्रभृति विद्वानों का उल्लेख किया है। इस विवेचन के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'दादू' 'कमाल' के ही शिष्य थे। वे जाति के मुसलमान थे। उनका मुसलिम नाम 'दाऊद' था। यही बाद में 'दादू' में परिणत हो गया। उनके इस निष्कर्ष में उनके राजपूताना के परिभ्रमण का उल्लेख भी किया था। ये वस्तुतः जाति के धुनियाँ थे। हो सकता है पहले ये हिन्दू धुनियाँ रहे हों और कालान्तर में मुसलमान हो गये हों। इनकी शिक्षा-दीक्षा सामान्य स्तर की थी।

इस स्थल पर उन्होंने पंजाब के पिंजारा की चर्चा भी की है। उनका कहना है कि ये अधिकांश दादू पंथी थे। ये पिंजारे धुनियाँ का ही काम नहीं करते अपितु चर्मकारी भी करते हैं। संभवतः इसीलिए 'पं० सुधाकर द्विवेदी' ने इन्हें मोची मान लिया है। आचार्य 'सेन' ने रज्जब की 'सरबंगी' के निम्नांकित पद को भी उद्धृत किया है—

'धुनी प्रभो समुत्पन्नो दादू योगेन्द्रो महामुनिः,
उत्तम योग धारणम् तस्मात् क्व जातिकारणम् ।

उपर्युक्त पद के साथ ही निम्नांकित पद भी प्रस्तुत किया गया है—

मुसलमान मोड़े भाय जाति कूल को खोये,
हरि के आगे है खड़े कबीर 'दादू' द्वै ।
धुन्ययां घुंजू प्रकटै, शुनियां शेस महेश,
दुनियां में 'दादू' कहे मुनियां मन परवेश ।

इन सभी उद्धरणों के माध्यम से इन्होंने 'दादू' को मुसलमान धुनिया घोषित किया है ।

'सेन' के अतिरिक्त 'पं० सुधाकर द्विवेदी' ने भी यह सिद्ध किया है कि 'दादू दयाल' मोट बनानेवाली मोची जाति मे उत्पन्न हुए थे और इनका जन्म जौनपुर मे हुआ था । इनका नाम महाबली था।[1] स्त्री के मर जाने से घर छोड़ कर साधु हो गये । काशी में आने पर कबीर के चेले कमाल के अनुग्रह से पूरे योगाभ्यासी हुए । द्विवेदी जी ने यह भी लिखा है कि ये छोटे बड़े सबको 'दादा' कहकर पुकारते थे । इसीलिए कमाल ने इनका नाम 'दादू' रखा । जिस प्रकार नर्मदा के किनारे भडौंच मे कबीर जिस बट वृक्ष के नीचे रहते थे उस वृक्ष को आज भी कबीर-बट के नाम से अभिहित किया जाता है उसी प्रकार 'दादू' जिन स्थानों पर रहे वे स्थान आज भी उनके नाम से प्रसिद्ध हैं ।[2]

'सेन' और 'द्विवेदी' के अतिरिक्त 'चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी' ने 'दादूदयाल' का जन्म स्थान अहमदाबाद माना है और उनके पिता का नाम लोदी ब्राह्मण बतलाया है । 'बेलवेडियर प्रेस' द्वारा प्रकाशित दादू दयाल की बानी[3] में एक अद्भुत कथा मिलती है । इसमें 'दयाल' के प्राकट्य के विषय में लिखा है कि एक टापू मे कुछ योगी भगवद्भजन करते थे । इनमें एक योगी को आकाशवाणी के द्वारा यह निर्देश प्राप्त हुआ कि तुम भारतवर्ष में जाकर जीवन व्यतीत करो । योगी महोदय ने ऐसा ही किया । वे अहमदाबाद में पहुँचे जहाँ उनको भेंट लोदीराम से हुई । लोदीराम को पुत्र प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा थी । योगिराज ने इन्हे पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद दिया तथा स्वयं शिशु रूप में बहते हुए साबरमती नदी में उन्हें मिले । निम्नांकित दोहा इसी प्रसंग का परिचायक है—

सबद बँधाना साह के तार्थे दादू आया ।
दुनिया जीवी बापुड़ी, सुख दरसन पाया ।[4]

'दादू' के धुनियाँ होने के प्रसंग में एक अद्भुत बात कही गयी है । इनका कहना है कि 'दादू' रूई का व्यापार करते थे । वे सुन्दरदास तथा निश्चलदास से रुपया

१—साचा समरथ गुरु मिल्या तिन तत दिया बताइ ।
दादू मोट महाबली घट घृत मथि करि खाइ ।

२—सुधाकर द्विवेदी—दादूदयाल का सबद—भूमिका (१–२)

३—वही—पृ० २–३ ।

४—दादूदयाल की बानी—पृ० २–३ ।

लेकर अपना व्यापार चलाते थे। एक दिन इन दोनों ने अपने पावने का तकाजा किया। इस पर 'दादू' ने कहा कि आपके रुपयों के द्वारा खरीदी गयी रूई ज्यों-की-त्यों है। इस पर क्रुद्ध होकर इन महाजनों ने कहा कि रूई मे आग लगा दो। आज्ञा का पालन किया गया और रूई जलकर खाक हो गई। पर जिस कमरे में रूई रखी गयी थी वहाँ सोने का एक पासा दिखाई पड़ा। इसका मूल्य उन दोनों महाजनो के पैसे से अधिक था। यह देखकर महाजन दादू के चरणों पर गिर पड़े और उनके शिष्य हो गये।

प्रमुख साहित्यकार और दादू पंथ के आचार्य पं० परशुराम 'चतुर्वेदी' ने इनका जन्म सं० १६०१ तथा मृत्यु सं० १६६० में निर्धारित किया है। इन्होंने इस प्रसंग में उनके प्रसिद्ध शिष्य 'सन्त रज्जबदास' तथा महात्मा 'सन्त छोटेदास' के उस मत का उल्लेख किया है जिसमें इन्हें धुनियाँ अथवा पिंजारा जाति का बतलाया गया है। 'देबिस्ताने मज़ाहिब' ग्रन्थ के 'नद्दाफ' (रूई धुनने वाला) शब्द के आधार पर 'चतुर्वेदी' जी ने दादू को धुनियाँ घोषित किया है। परन्तु उन्होंने केवल यह लिखा है—'दादूदयाल का जाति से धुनी, पिंजारा, व नद्दाफ़ होना वस्तुतः बुरा नहीं है'। इस प्रसंग में उन्होंने आर्य-समाज के संस्थापक अथवा प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द का भी उल्लेख किया है जिसके आधार पर इन्हें तेली कहा गया है।[1] पंडित जी ने यही पर इस सत्य को भी प्रकट किया है कि ईसाई मिशनरी 'डॉ० ऑर' के अनुसार पिंजारा शब्द पिनारा या पिणारा का पर्याय है जिसका अर्थ तेल पेरने वाला होता है।

उपरोक्त मतों के आधार पर कतिपय निम्नांकित तथ्यों का उद्‌घाटन होता है—

१—इनका जन्म लोदीराम नामक ब्राह्मण कुल में हुआ था अथवा उनके द्वारा ये साबरमती नदी में बहते हुए पाये गये थे और इनका पालन-पोषण ब्राह्मण कुल में हुआ था।

२—इनका जन्म धुनियाँ या पिंजारा कुल मे हुआ जो मुसलमान थे।

३—इनका जन्म रूई धुनने वाले या रूई के व्यवसायी कुल में हुआ था जो हिन्दू था।

४—ये मोची कुलोत्पन्न थे और जौनपुर के मूल निवासी थे।

५—इनका जन्म स्थान अहमदाबाद था।

उपरोक्त तथ्य पर्याप्त उलझे हुए एवं अस्पष्ट हैं। दन्तकथा पर आधारित एवं जनश्रुतियों के क्रोड़-क्रीड़ा मे पलने वाले इन निष्कर्षों से सत्य तक पहुँच पाना असंभव है। विचारणीय यह है कि प्रमुख सन्त कवियों ने अपनी कलम से अपने लिये कुछ नहीं लिखा है। इन पर लिखने वाले इनके शिष्य-प्रशिष्य अथवा कुछ स्वतन्त्र विचारक हैं। जहाँ तक सम्प्रदाय के लोगो के विवेचन का प्रश्न है, वह अतिरंजित एवं अतिशयोक्तिपूर्ण है। कुछ विचारक तथ्यान्वेषी दृष्टि से गवेषणोन्मुख अवश्य हुए हैं, पर जनश्रुतियों एवं प्रचलित विवादों से वे मुक्त नहीं हो पाए हैं।

१—महर्षि दयानन्द—सत्यार्थ प्रकाश—समुल्लास-११।

द्रष्टव्य यह है कि दादूदयाल यदि साबरमती में बहते हुए पाए गए तो इनकी जाति का निर्णय कैसे हो सकता है ? यथार्थ में इन उलझे हुए प्रश्नों को सुलझाना सरल नहीं है। यह पूछा जा सकता है कि किसी ने अपनी प्यारी सन्तान को नदी में क्यों बहा दिया और बहाने वाला कौन था ? अगर इन प्रश्नो का जवाब नहीं दिया जा सकता तो उनकी जाति का निर्णय जनश्रुति के आधार पर कैसे किया जा सकता है ? योगी के आशीर्वाद के प्रसंग से जुड़ा हुआ सन्दर्भ अतिशयोक्ति पूर्ण और अतिरंजित है। यह सत्य है कि लोदीराम के अतिरिक्त इनके पिता का नाम नहीं आया है। 'दादू' को पिंजारा जाति का घोषित करने वाले व्यक्ति भी इनके माता-पिता के नाम के प्रश्न पर सर्वथा चुप हैं।

बाउल सम्प्रदाय के सन्दर्भ में 'दाऊद' से 'दादू' बनने की बात विशेष तर्क संगत नहीं है। इतना अवश्य मिलता है कि पिंजारा एक मुसलमान जाति थी जो मारवाड़ में रहती थी। इस जाति के विषय में चारण 'ब्रह्मदास' द्वारा विरचित भगतमाल के पृष्ठ ३१ पर 'दरिया' नामक पिंजारे का उल्लेख मिलता है जो 'पेमदास' का शिष्य था और अपना मजहब बदलकर 'रामसनेही पंथ' स्वीकार कर चुका था। यह वर्णन निम्न प्रकार है—

'मारवाड के गाँव रैण का पिंजारा दरिया था। वह हिन्दू साधु रामसनेही हो गया। इनके गुरु का नाम पेमदास था जो जाति के जाट थे। मुसलमानो ने बखेड़ा किया कि मुसलमान को हिन्दू क्यों बनाया गया। दरिया को भी विविध प्रकार की यातनाएँ दी गईं। इससे ऊबकर उन्होंने कहा कि मेडते मस्जिद में चलो। वहाँ अल्लाह से तुम और हम अर्ज करेंगे। वे जो फैसला कर देंगे सबको मानना पड़ेगा। निदान वैसा ही किया गया—बहुत से मुसलमान व हिन्दू मस्जिद में इकट्ठे हुए। मुसलमानो ने मिलकर फैसले के लिये प्रार्थना की तो कोई आज्ञा नहीं हुई। फिर दरिया ने प्रार्थना को कि मैं हिन्दू हुआ हूँ, मुझे मुसलमान परेशान करते हैं। आप न्याय करें कि मैं सच्चा हूँ या मुसलमान ? तब आकाश-वाणी हुई, दरिया सच्चा है, हमारा भक्त है। इस पर बखेड़ा मिट गया और दरिया का छुटकारा हुआ।[1]

स्पष्ट है कि जिन पिंजारों पर सन्तों का प्रभाव पड़ा है वे मुसलमान अवश्य थे। पर दादू पिंजारा जाति के थे, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं होता। 'रज्जबदास' ने केवल अपने एक पद में अपने गुरु का 'धुनि ग्रभो उत्पन्नो' कहा है। शिष्य का वचन होने

१—देखिये ब्रह्मदास विरचित भगतमाल—पृ० ३१।

धिन-धिन जिन दरिया, जग अवतरिया।
जस विसतरिया अघ हरिया।
मुल्ला बरबरिया भेखज करिय,
क्यूं भ्रम फिरिया परहरिया।
अल्ला ऊचरिया, वाण अंतरिया,
साचो दरिया निज संतू।
धिन हो दुख वारण, काज सुधारण,
भगत उधारण भगवन तू।
जिय भगतां तारण भगवन तू।

के कारण इसे प्रमाण माना जाता, पर इसमें भी एक व्यावहारिक कठिनाई है। 'रज्जब' जी दादू के सम्पर्क में उस समय आये जब दादू की आधी आयु समाप्त हो चुकी थी। ऐसा समझना उपयुक्त है कि 'दादू' और 'रज्जब' का भेंट 'आमेर' में सं० १६३६ से १६४८ के बीच हुई होगी। जनश्रुति के अनुसार यह प्रचलित है कि 'रज्जब' साहिब विवाह के लिये दूल्हे के रूप में आमेर' आये हुए थे। विवाह की आयु १५ से २० वर्ष के बीच मानना ठीक है। दूल्हे के वेश में 'रज्जब' और 'दादू' की भेंट 'माउटे' के पास हुई। इस घटना का उल्लेख संत 'चरणदास' तथा स्वामी 'राघवदास' के 'भक्तमाल' में मिलता है। अतएव इस तथ्य से यह स्पष्ट है कि 'रज्जब' जी को उपर्युक्त निष्कर्ष देने के लिये जनश्रुतियों का सहारा लेना पड़ा होगा। अतएव उनकी यह 'धुनि ग्रभो उत्पन्नो' की उक्ति साधिकार प्रतिपादित नहीं मानी जा सकती।

संभव है दादूदयाल के पिता रूई के व्यवसायी रहे हों और पुत्र ने भी परम्परया इस व्यवसाय को ग्रहण किया हो। स्यात् इस व्यवसाय में रहने के कारण उनका धुनियों से सम्पर्क रहा हो।

'दादू मोट महाबली' के आधार पर 'मोट' का अर्थ मोची या मोट सीने वाला मानना उपयुक्त नहीं। द्रष्टव्य यह है कि 'मोट' शब्द का प्रयोग 'दादू' ने अपनी वाणी में एकाधिक स्थानों पर किया है। 'मोट' शब्द 'मोटा' का ग्रामीण रूप है। इसका अर्थ, पुष्ट, सशक्त या स्फीतकाय हो सकता है। इसके लिये दादू की ही निम्नांकित साखियां द्रष्टव्य हैं—

('दादू') मम सिर मोटे भाग, साधौ का दरसन किया।
कहा करै जम काल राम रसायन भर पिया।[1]

अथवा— मति मोटी उस साध की द्वै पष रहत समान।
दादू आपा मेटि करि, सेवा करै सुजान।[2]

इन उद्धरणों से सिद्ध है कि मोट का अर्थ पुष्ट या सौभाग्यशाली है। अतएव मोट महाबली वाली साखी का अर्थ यह हुआ कि गुरु के उपदेश रूपी घृत को खाकर वे पुष्ट तथा शक्तिशाली हो गये। इस प्रसंग में इससे पूर्व की साखियों का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। 'दादू' कहते हैं—

'काम धेनु घट घीव है दिन-दिन दुर्बल होइ।
गोरू ज्ञान न ऊपजै, मथि नहिं खाया सोइ।
शबद दूध घृत राम रस, मथि करि काढ़ै होइ।
दादू गुरु गोविंद बिन घट-घट समझि न होइ।[3]
घीव दूध में रमि रह्या व्यापक सबही ठौर।
दादू बकता बहुत हैं मथि काढ़ै ते और।[4]

१—दादूदयाल की बानी—(१) पृ० १५६।
२—वही, पृ० १६१।
३—दादूदयाल की बानी—(१) पृ० ३-४
४—वही, पृ० ४

सांभर नगर में मुसलमानी शासन के समय 'बिलन्दखान खोजा' ने इन्हें कारावास का दण्ड दिया था। इसका उल्लेख 'चारण ब्रह्मदास' के 'भगतमाल' में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त सांभर नगर में असुर बसते थे और ये हिन्दुओं को त्रस्त करते थे। 'दादूदयाल' ने इसका विरोध किया। फलतः उनको हाथी के सामने छोड़ा गया। यह भी चर्चा मिलती है कि 'सांभर' नगर के काजी ने इन्हें कोड़े लगवाये थे। इन घटनाओं का वर्णन निम्नलिखित है—

'दिलां अपणाय भली विधि दादू,
केतिय बार सहाय करी।
प्रतका पलटाय अनै ब्रद पैठौ,
रूप सिरीख बणाय हरी।
इनमी गज धाय चलार आयौ,
पाय लगाय' र कीध परै।
बहियाँ ब्रिद लाज उबारण अयक,
काज इसा महाराज करै।
जिय काज इसा महाराज करै।'[1]

इसके अतिरिक्त निम्नांकित पद भी द्रष्टव्य है—

सँभर मतमंदे उसर वसंदे,
दोस करदे ना डरंदे।
गुरु दादू बंदे तिस पुरहंदे,
छोड गयंदे छकियंदे।
कालै पग बंदे रहे तकदे,
मुगलां हंदे मुरझंनू।
धिन हो दुख बारण,
काज सुधारण,
भगत उधारण भगवन् तू,
जिय भगतां तारण भगवन् तू।[2]

सन्त दादू ब्रह्म आदू महा निरपख चाल।
दुष्टासूं वैर कीनौ, मुवौ हुय वेहाल।
तौ हरिलाल जी हरिलाल, है नित भक्ति पख हरिलाल[3]।

जनगोपाल कृत जन्मलीला परची में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। यह बात इस सत्य को प्रमाणित करती है कि मुसलमानों ने इनका विरोध किया था।

१—चारण ब्रह्मदास-भगतमाल—पृ० ६।
२—वही, पृ० २३।
३—चरणब्रह्मदास-भगतमाल, पृ० ४७।

यह निर्विवाद है कि 'दादू' कुछ काल तक रूई का व्यवसाय करते रहे। इस व्यवसाय से उनके धुनियां, जुलाहा आदि होने का अनुमान कर लिये जाने की संभावना हो सकती है। श्री जनगोपाल जी कृत दादू जन्मलीला परची में रूई के व्यवसाय का विस्तृत वर्णन मिलता है।[1]

दादू ग्रन्थावली में भी कुछ पद मिलते हैं जिनका जाति-निर्णय की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक महत्व है। निम्नांकित पद द्रष्टव्य है—

(१) ('दादू') ना हम हिन्दू होहिंगे ना हम मूसलमान।
षटदरसन में हम नही, हम राते रहिमान।[2]

(२) दादू हिन्दू तुरक का द्वै पष पंथ निवारि।
संगति साचे साध की, साईं कौ संभारि।[3]

(३) दादू हिन्दू मारग कहै हमारा, तुरुक कहै रहमेरी।
कहाँ पन्थ है कहो अलह का, तुम तौ ऐसी हेरी।[4]

उपरोक्त साखियों में 'दादू' जातिप्रथा का विरोध करते दृष्टिगोचर होते हैं। दादू वाणी में एक स्थल पर निम्नांकित प्रसंग आया है—

गुलाम तुम्हारा मुल्ला जादा, लौंडा घरका जाया।
राजिक रिजक जीव तैं दीया, हुकम तुम्हारे आया।[5]

इस पद मे 'दादू' ने अपने को मुल्लाजादा कहा है। मुल्लाजादा का अर्थ है मौलवीपुत्र। अन्य व्याख्याकारों ने मुल्ला का अर्थ महापण्डित भी किया है। पर द्रष्टव्य है कि यह पद भावनात्मक है, तथ्यात्मक नही। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे पद मिलते हैं जिनमें मुस्लिम संस्कारों तथा धार्मिक क्रिया-कलापों का उल्लेख है। ये पद इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं इन्हे इन धार्मिक संस्कारों का पर्याप्त ज्ञान था। ग्रन्थावली मे सूफी-सिद्धान्त की मान्यताओं का भी उल्लेख है, पर उपर्युक्त इन आधारो पर जाति निर्णय करना असंभव है। उनकी अन्त्येष्टि क्रिया भी इस रूप में संपादित की गई है कि उससे जाति निर्णय कर पाना संभव नहीं है।

दादू के गुरु

दादू का गुरु सम्बन्धी विवाद पर्याप्त उलझा हुआ है। इसके साथ अनेक दन्तकथायें जुड़ी हुई हैं। ऐसी जनश्रुति है कि जिस समय 'दादू' ग्यारह वर्ष के थे और कांकरिया तालाब पर खेल रहे थे, उसी समय उन्हें एक वृद्ध साधु के दर्शन हुए। इन्हें

१—श्री दादू जन्मलीला परची [स्वामी जनगोपाल कृत] पृ० ३५, ३६।
२—दादू दयाल की बानी-सन्तमत की महिमा, मधि कौ अंग, ४६।
३—वही, पृ० ५१।
४—वही, सांच कौ अंग-पृ० ४६।
५—वही, भाग दो-पृ० ३५, पद ८६।

देखते ही अन्य बालक भाग गये, पर दादू वहीं खड़े रहे। दादू ऋषि के पास गये और उन्हें प्रणाम करके उन्होने अपना सब पैसा उन्हें समर्पित किया। ऋषि ने 'दादू' को पैसा वापस करके यह निर्देश दिया कि जाओ और सर्वप्रथम जो वस्तु मिले उसे ले आओ। 'दादू' आज्ञापालन के लिये आगे बढ़े और उन्हे सर्वप्रथम पान की दूकान मिली। वे उसे ले आये और उन्होने उसे ऋषि को श्रद्धा पूर्वक समर्पित किया। उनके इस कृत्य से ऋषि परम प्रसन्न हुए और उन्होंने दादू को प्रसाद ही नही दिया अपितु वरदान के साथ ही अभयदान भी दिया। दादू की निम्नांकित साखी से उक्त घटना का स्पष्ट आभास मिलता है।

'दादू गैब मांहि गुरुदेव मिल्या, पाया हम परसाद।
मस्तक मेरे कर धर्‌या, दष्या अगम अगाध।

यह भी कहा जाता है कि यह साखी उसी समय दादू के मुख से मुखरित हुई थी। इसके अनन्तर वे वृद्ध ऋषि अन्तर्ध्यान हो गये। इस घटना के पश्चात् दादू को पुनः ईश्वर के दर्शन हुए। इस अवसर पर उन्होंने दादू को आज्ञा दी कि निर्गुण मत का प्रचार और प्रसार करो।[1]

उपर्युक्त कथा को दूसरे रूप मे भी प्रस्तुत किया गया है। ऐसा माना जाता है कि ग्यारह वर्ष की अवस्था में दादू को ऋषि रूप ईश्वर का दर्शन हुआ। ईश्वर ने उन्हें पान का बीड़ा देकर परमार्थ तत्व का उपदेश दिया। पर बाल बुद्धि के कारण यह बात 'दादू' की समझ में न आई। सात वर्ष के पश्चात् वही वृद्ध साधु दादू के समक्ष पुनः प्रगट हुए। उन्होने दादू की बहिर्मुखी प्रवृत्तियो को अन्तर्मुखी कर दिया और उन्हें परमार्थ तत्व की दीक्षा दी। इसी समय से दादू भगवद्भजन में तल्लीन रहने लगे।

इस जनश्रुति का विविध अर्थ किया गया है। कुछ लोग स्पष्ट रूप से साक्षात ईश्वर को 'दादू' का गुरु मानते हैं। कुछ अन्य लोगो (क्षितिमोहन सेन आदि) ने इस कथा को अपनी तरह से विवेचित करके 'वृद्ध भगवान' को कबीर का शिष्य तथा दादू का गुरु बुड्ढन माना है। पर केवल ध्वनि के आंशिक साम्य के आधार पर इस प्रकार नाम के एकरूपता सम्बन्धी निष्कर्ष पर पहुँच जाना विशेष तर्क सगत नही कहा जा सकता।

पंडित सुधाकर द्विवेदी ने कमाल को 'दादू' का गुरु बतलाया है। पर इसका प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। सम्भवतः उनका आधार 'दादू' और कबीर की 'साखियो' के कुछ अंश का सादृश्य है। पर यह प्रतिपत्ति भी विशेष तर्कसंगत नही प्रतीत होती।

'वस्तुतः' 'गैब माहि गुरुदेव मिला' वाली साखी मे गैब' शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय है। गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर ऐसा ज्ञात होता है कि इसका अर्थ परोक्ष आवरण, कल्पना या अनुभूति करना ही अधिक तर्कसंगत है। 'दादू' शुद्ध स्वभाव के व्यक्ति थे। परम्परा से इस तरह के लोगो को एक प्रकार के दैवी आभास से अद्भुत उपदेश का मिलना अतार्किक नहीं माना जा सकता। सांसारिकता के निरसन और आध्यात्मिकता के उद्बोधन-अर्थात् मरजीवा-की स्थिति में इस प्रकार की अनुभूति का

१—श्री दादू वाणी-श्री दादू गिरार्थ प्रकाशिका टीका सहित-[भूमिका] पृ० २०-२१।

आधार व्यक्ति का स्वयं प्रकाशज्ञान होता है। ऐसा ज्ञात होता है शुद्ध-चित्त दादू की आन्तरिक प्रेरणा से उनमें धर्म की ओर प्रवृत्त होने की भावना का अभ्युदय हुआ। अतएव इसी स्वयं प्रकाश्य को उनकी आध्यात्मिक चेतना का उन्मेष-कर्त्ता मानना उपयुक्त है।

'पं० परशुराम जी' ने गुरु पर दृष्टिपात करते हुए पूर्व प्रचलित जनश्रुति में कुछ परिवर्तन किया है। उनका सब विवरण प्रायः पहले की घटना पर आधारित है। उन्होंने केवल साधु द्वारा 'दादू' के मुख में पान की पीक डालने का प्रसंग जोड दिया है। सम्भवतः इस परिवर्तन द्वारा 'चुतर्वेदी जी' ने 'दादू' के आध्यात्मिक उत्थान की ओर प्रवृत्त होने का दिग्दर्शन कराया है। 'चतुर्वेदी जी' का कथन है कि जिस समय साधु दूसरी बार 'दादू' के पास आया उस समय घनघोर वर्षा के कारण अपूर्व शान्ति छाई हुयी थी। आरम्भ में कार्यव्यस्तता के कारण 'दादू' ने साधु का सत्कार नहीं किया, पर बाद मे वे उसकी आवभगत में विशेष रूप से प्रवृत्त हुए। इस कृत्य से साधु की आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो उठी। यह कृत्य देखकर दादू हतप्रभ हो गये। उन्होंने इसका कारण पूछा। साधु ने उत्तर दिया कि मैं तो थोड़ी देर के लिये तुम्हारे द्वार पर खड़ा था। इसके लिये तुमने इतनी श्रद्धा प्रदर्शित की। पर युग-युग से अपनी कृपा की कोर से हमें निरन्तर अवलोकित करते रहने और हमारी प्रतीक्षा करने वाले भगवान् के प्रति हमलोग अन्यमनस्क हैं। 'दादू' के कोमल हृदय पर इस उक्ति का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। वे विह्वल होकर साधु के चरणों पर गिर पड़े और उनको अपना गुरु मान लिया। यद्यपि 'दादू' ने अपने इस गुरु का नामोल्लेख नही किया है पर उनके अनुयायियों ने इन्हें वृद्धानन्द का नाम दिया है। चतुर्वेदी जी के अनुसार ये वृद्धानन्द कबीर की पांचवी पीढ़ी के सन्त विशेष थे। ऐतिहासिक दृष्टि से सं० सोलह सौ उन्नीस (१६१९) में वृद्धानन्द की उपस्थिति प्रमाणित नहीं होती। चतुर्वेदी जी ने 'डॉ० आर' के मत के आधार[1] पर अपनी बात प्रतिपादित की है। डॉ० साहब का कहना है कि दादू धुनिया, पिनारा, या पिंजारा जाति के थे। ये वस्तुतः राजस्थान के उन हिन्दुओं के वशंज समझे जाते थे जो लोदी बादशाहों के शासनकाल में मुसलमान हो गये थे। 'डॉ० आर' के अनुसार पिनारा जाति के ही लोग तेली भी थे। ये लोग अपने को पठान समझते थे। इनका मत है कि लाहौर का हंसन तेली इस जाति के लोगों का संरक्षक था। वह 'अब्दुल कादिर जीलानी' का शिष्य था। जनश्रुति के आधार पर 'शेख बुड्डन' इसी शाखा के अनुयायी थे। 'आर साहब' ने यहाँ तक लिखा है कि 'शेख बुड्ढन' के वंशज काजियों को 'नराणे' के 'दादू मंदिर' द्वारा आज भी सम्मान दिया जाता है। वहाँ पर अब भी किसी महंत को गद्दी देते समय उसके पहिनने के लिये सांभर से सूती कपड़े, पगड़ी आदि वस्तुएँ मँगाई जाती हैं और उनसे परम्परानुसार इस बात की स्वीकृति ले ली जाती है कि आज से उन्हें इस पद के योग्यमान लिया गया[2]। उपर्युक्त

१—अकबर के समय में शेख बुड्ढन नामक एक सूफी फकीर विद्यमान थे जो कादिरी शाखा के अनुयायी थे। ये काजी स्माइल के पुत्र थे। शेख बुड्ढन के वंशधर इस समय भी सांभर में रहते हैं।

२—ए सिक्सटीन्थ सेन्चुरी मिस्टिक-पृ० ५५।

विवेचन से स्पष्ट है कि डॉ० साहब प्रकारान्तर से 'बुड्ढन' को ही दादू का गुरु मानते हैं। इस विवेचन के सन्दर्भ में कई महत्वपूर्ण प्रश्न सामने आते हैं।

(१) क्या पिंजारा और पिनारा जाति के लोग भिन्न थे? अगर भिन्न थे तो इनमें क्या संबंध था?

(२) क्या 'शेख बुड्ढन' ने 'दादू' को दीक्षित किया था?

वस्तुतः शेख बुड्ढन को दादू का गुरु मानने में विशेष आपत्ति नहीं दिखलाई पड़ती। भक्तमाल में प्रायः पूर्ववर्ती प्रसग ही वर्णित है।[1]

दादू ने अपने उपदेशामृत से लोक-कल्याण का कार्य संपादित किया है। पर इनमें कहीं भी इस बात का संकेत नहीं मिलता कि ये 'वृद्धानन्द' कौन थे। दादू तो प्रत्येक अंग में एक ही वन्दना दुहराते हैं—

दादू नमो निरञ्जनं, नमस्कार गुरुदेवतः
वन्दनं सर्वं साधवा, प्रणामं पारंगतः।

इतना ही नहीं अपितु वे उसी निरंजन को अपना आराध्य देव भी मानते हैं—

परब्रह्म परापर, सो ममदेव निरंजनं।
निराकार निरंजनं, तस्य दादू वन्दनं।

उपर्युक्त साखियों में जिस गुरु की वन्दना की गयी है वे कौन हैं? यह प्रश्न भी कम विचारणीय नहीं है। ऐसा ज्ञात होता है कि जिस 'वृद्धानन्द' या 'बुड्ढन' का उल्लेख मिलता है वे कबीर की परम्परा के न हो कर सूफी परम्परा में आने वाले कादिरी शाखा से प्रभावित 'शेख बुड्ढन' थे। यदि 'शेख बुड्ढन' उनके गुरु थे तो वे कादिरी परम्परा के ही थे। कबीर की परम्परा के नहीं। यह बात इससे और भी सशक्त पृष्ठभूमि ग्रहण करती है कि 'दादू' पर सूफियो का भी प्रभाव था। पर यह बात भी कम आश्चर्यजनक नहीं है कि 'दादू' ने अपने शिष्यों की तरह अपने गुरु का स्पष्ट उल्लेख नही किया। वे तो बार-बार निरंजन की ही दुहाई देते रहे।

अनुमानों, किंवदन्तियों और जनश्रुतियो के आधार पर 'बुड्ढन' से 'दादू' का नाम बुरी तरह जुड गया है, पर यह भी सत्य है कि 'दादू' न तो सूफी विचारधारा के अनुयायी थे और न इसके प्रचारक। वे 'कबीर' की विचारधारा से प्रभावित अवश्य हुए थे, पर द्रष्टव्य यह है कि कबीर में खण्डनात्मक स्वरूप अधिक तीव्र है, पर दादू में वह अत्यधिक मृदु और सुकोमल है। सम्भवतः इसीलिये इनकी शिष्य परम्परा इतनी बड़ी, विशाल और व्यापक हो सकी है।

दादू के जीवन की महत्वपूर्ण घटनायें

प्रायः ऐसा पाया जाता है कि सन्त की सिद्धि का यशोगान करने अथवा उनका अलौकिकत्व सिद्ध करने के लिये उसके अनुयायी तरह-तरह की घटनाओ का उल्लेख करते हैं। इन घटनाओं के आधार पर देश-काल के कुछ सूत्रों का पता अवश्य चल जाता है,

---

१—राघवदास कृत भक्तमाल—पृ० १८०—८१।

पर उसके कुछ दुष्परिणाम भी होते हैं। 'दादू' के सम्बन्ध में 'दादू जन्मलीला परची', 'राघव कृत भक्तमाल', तथा 'जनगोपाल कृत भक्तमाल' में इसी प्रकार के उल्लेख मिलते हैं।

श्री जनगोपाल कृत जन्मलीला परची मे संसार के निवास का वर्णन आया है। यहाँ 'दादू' के सम्बन्ध में निम्नांकित उल्लेख मिलता है—

'बारह बरस बालपन गयऊ, गुरु भेटत तब सनमुख भयऊ।
साभर आये समै पचीसा, गरीबदास जनमै बत्तीसा।
ज्यौं ब्रह्म सनकादि उपाये, त्यौ स्वामी गरीब उपजाये।
निर्विकार उपजै सनकादू, दास गरीब जती है आदू।
मिले बयाले अकबर साहा, पचासै कल्यानैं जाहा।
समय गुनसठे नगर नरानै, साठे स्वामीं राम समानै।'[1]

यह स्पष्ट है कि सं० १६१६ से सं० १६३१ तक दादू दयाल सांभर में रहे। वहाँ इन्हें अनेक संघर्षों का सामना करना पडा। हिन्दू तथा मुसलमान दोनो ने डटकर इनका विरोध किया। ऐसी जनश्रुति है कि सं० १६२६ में 'सुन्दरदास' ने सांभर में इनसे दीक्षा ली। इनके उपरान्त 'बखना जी', 'टीला जी', 'जग्गा जी', 'बनवारी दास', 'सन्तदास', 'हरिदास', 'माखो जी', 'मड़सीदास', जगन्नाथ जी', 'प्रयागदास', 'मोहन जी', 'माधवदास' आदि उनके शिष्य हुए। सं० १६३८ में 'दादू' ने साभर से अजमेर के लिये प्रस्थान किया। वहाँ महाराज भगवन्त ने इनका स्वागत-सत्कार किया। आमेर की तपोभूमि में 'दादू-द्वारा' का निर्माण हुआ है। यहीं 'रज्जब जी', 'मोहन जी मेवाड़ा', 'मोहन जी दफ्तरी', 'मोहन जी जोगी', 'जगजीवन जी' आदि सुप्रसिद्ध-शिष्यो ने 'दादू' से दीक्षा ग्रहण की। यहीं से दादू वाणी का श्रीगणेश हुआ। 'मोहन जी दफ्तरी' ने 'दादू' महाराज के वचनों का संग्रह किया। आमेर से चलकर वे सीकरी पहुँचे। यहाँ सम्राट अकबर से उनकी भेंट हुई। अकबर के साथ उनके संवाद की विस्तृत चर्चा अनेक स्थलों पर उपलब्ध होती है।[2] 'दादू' और अकबर की भेंट सं० १६४२ मे हुयी थी। दो वर्षों तक 'दादू' ने करोली, मोतीबाडा, बस्सी, जटवारा आदि का भ्रमण किया। 'आँधी' मे जाकर इन्होंने चौमासा किया। वहाँ से लोहरबाडा जाकर आमेर लौट आये। सं० १६४७ में आमेर परित्याग करने के बाद दो वर्ष पुनः 'आँधी' में रहे। वहाँ से कल्याणपुर आकर एक वर्ष तक एकान्तवास में रहे। इस समय तक उनके शिष्यो प्रशिष्यों की एक लम्बी जमात तैयार हो गयी। इसके पश्चात् ये जोधपुर, मेवाड़, ढूँढ़ाड आदि स्थानो का भ्रमण करते हुए सांभर लौट आये और सं० १६५५ तक वहाँ रहे। इसी साल वे साँभर से नराणा पधारे। यहीं पर सं० १६६० में वे ब्रह्मलीन हुए। उनके स्मारक अनेक स्थानों पर आज भी विद्यमान हैं। कल्याणपुर डूंगरी, पर 'भजनशिला' तथा वहाँ की पहाडी पर 'दादू-द्वारा' स्थापित है। सांभर में जहाँ उनकी कुटिया थी वहाँ पर एक छतरी आज भी पाई जाती है। आमेर में उनके तप करने के स्थान पर एक दादू द्वारा स्थापित किया गया है जो आज भी सुरक्षित है। नराणा

१—श्री जनगोपाल कृत जन्मलीला परची—सं० सुन्दरदयाल दादू-पृ० १८१।
२—दादू संप्रदाय का संक्षिप्त परिचय—सं० स्वामी मंगलदास पृ०—१०, ११ तथा १२।

उनका प्रमुख स्मारक है। यहाँ का शमी का वृक्ष और उनकी भजनशाला आज भी उनकी स्मृति से स्पन्दित हैं। इनका अन्तिम स्मारक भैराणा में है। ऐसा माना जाता है कि यहाँ उनका शव रखा गया था। इस स्थल पर एक चबूतरा है और उसी के बगल में 'पालकांजी' का भी स्थान है। कल्याणपुर, साँभर, आमेर, नराणा और भैराणा दादू-पंथियो के लिए पंचतीर्थ हैं।

दादूवाणी का संक्षिप्त परिचय

सत्संग के समय अपने भावों को व्यक्त करने के लिये 'दादू' जी ने साखी तथा पदों का प्रयोग किया है। इनकी रचनाओं मे प्रबन्धात्मकता का सर्वथा अभाव है। इनके शिष्यों में 'मोहनदास दफ्तरी' स्वामी जी के साथ निरन्तर रहते थे। वे जब भी उपदेश रूप में कुछ कहते थे तो वे उसे लिख लिया करते थे। इसके पश्चात् 'रज्जब जी', 'जगजीवनदास,' 'जगन्नाथ दास' आदि ने उस लिखित सामग्री को अंगों मे विभाजित किया है। इस प्रयत्न से वाणी-सग्रह पर्याप्त मनोवैज्ञानिक बन गयी। यह वाणी-संग्रह विविध अंगो, रागों तथा शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित है। इनकी वाणी के अनेक सग्रह गुटकों के रूप मे उपलब्ध होते हैं। अब तक दादूवाणी के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इसमें निम्नांकित प्रमुख हैं—

१—बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित दादूवाणी।

२—सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित और नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित दादू का सवद।

३—जेल प्रेस जयपुर से प्रकाशित प्रति।

४—दादू सेवक प्रेस जयपुर से प्रकाशित प्रति।

५—चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी द्वारा संपादित प्रति।

६—भिषगाचार्य तथा स्वामी मंगलदास द्वारा संपादित दादूवाणी।

७—स्वामी नारायण दास जी द्वारा की गयी दादूवाणी की टीका।

८—परशुराम जी द्वारा संपादित सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'दादूदयाल'।

इनकी सम्पूर्ण वाणी दो भागो में विभाजित है। इनकी संख्या के विषय में मतभेद है। साखी में ३७ अंग हैं। पदों में २६ से लेकर २९ तक राग रागिनियों का प्रयोग हुआ है।

शिष्य-प्रशिष्य

'दादू' के शिष्यों की संख्या १५२ मानी जाती है। इनमें सौ वीतराग थे और निरन्तर आत्मचिन्तन में लीन रहते थे। इन सन्तों (वीतरागियों) ने अपनी शिष्य-परम्परा नहीं चलाई। केवल बावन शिष्य ऐसे थे जिन्होने थांभों की स्थापना की। उनकी चर्चा अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध है। 'राघवदास' ने अपने 'भक्तमाल' में इन शिष्यों की निम्नांकित तालिका दी है—

दादू जी के पंथ में ये बावन द्रिग सुमहन्त।
प्रथम ग्रीब मसकीन, बाई द्वै सुन्दरदासा।
रज्जब दयालदास, मोहन चारयूं प्रकाशा।
जगजीवन जगन्नाथ, तीन गोपाल बखानूं।
गरीबजन दूजन, घड़सी जैमल है जानूं।
सादा तेजानन्द, पुनि प्रभानन्द बनवारि द्वै।
साधूजन दरदास हू, चतुर चतुरभुज पग ह्वै।
चत्रदास द्वै चरण, प्राण द्वै चैन प्रह्लादा।
बखनौ जग्गो लाल, माख टीला अरु चांदा।
हिंगोल गिर, हरिस्यंघ, निराइण जसी संकर।
झांझू बांझू सन्तदास, टीकू स्यामहिं वर।
माधव सुदास नागर निजाम, जन राघो वाणी कहंत।
दादू जी के पंथ मैं ये बावन द्रिग सु महंत।

वस्तुतः उपर्युक्त तथ्य को स्वामी मंगलदास जी ने दादूपंथ के संक्षिप्त परिचय में दिया है। बहुत खोज और विचार-विमर्श करने के पश्चात् ये तथ्य महत्वपूर्ण और यथार्थ पाये गये हैं। अतएव उनकी सूची स्वामी जी की ही शब्दावली में यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

श्री दादू जी महाराज के पीठाधिपतियों की प्रणाली

संख्या	पीठाधिपतिनाम	पीठाधिष्ठान काल	स्वर्गारोहण तिथि
१.	श्रीमान् आचार्य स्वामी श्री दादू जी	संवत् १६०० से १६६० तक	सवत् १६६० जेष्ठ कृ० ८
२.	,, स्वामी श्री गरीबदास जी महाराज	सं० १६६० से १६९३ तक	,, १६९३ पौष वदी १३
३.	,, स्वामी श्री मशकीनदास जी महाराज	सं० १६९३ से १७०५ तक	,, १७०५ वैशाख वदी ८
४.	,, स्वामी श्री फकीरदास जी महाराज	स० १७०५ से १७५० तक	,, १७५० भाद्र वदी ८
५.	,, स्वामी श्री जैतराम जी महाराज	सं० १७५० से १७८९ तक	,, १७८९ मार्गशीर्ष कृष्ण ८
६.	,, स्वामी श्री किसनदेव जी महाराज	सं० १७८९ से १८१० तक	,, १८१० माघ कृ० १३
७.	,, स्वामी श्री चेतराम जी महाराज	सं० १८१० से १८३७ तक	,, १८३७ चैत्र कृ० ८
८.	,, स्वामी श्री निर्भयराम जी महाराज	सं० १८३७ से १८७१ तक	,, १८७१ आश्विन कृ० ८
९.	,, स्वामी श्री जीवनदास जी ,,	सं० १८७१ से १८७७ तक	,, १८७७ मार्गशीर्ष कृ० ८
१०.	,, स्वामी श्री दलैराम जी महाराज	सं० १८७७ से १८८७ तक	,, १८८७ फाल्गुन कृ० २
११.	,, स्वामी श्री प्रेमदास जी ,,	सं० १८८७ से १९०१ तक	,, १९०१ ज्येष्ठ कृ० २
१२.	,, स्वामी श्री नारायणदास जी महाराज	सं० १९०१ से १९१२ तक	,, १९१२ कार्तिक कृ० १३
१३.	,, स्वामी श्री उदयराम जी महाराज	सं० १९१२ से १९३१ तक	,, १९३१ आश्विन कृ० १०
१४.	,, स्वामी श्री गुलाबदास जी ,,	सं० १९३१ से १९४८ तक	,, १९४८ मार्गशीर्ष शु० १४
१५.	,, स्वामी श्री हरजीराम जी ,,	सं० १९४८ से १९५५ तक	,, १९५५ वैशाख शु० १०
१६.	,, स्वामी श्री दयाराम जी ,,	सं० १९५५ से १९८८ तक	,, १९८८
१७.	,, स्वामी श्री रामलाल जी ,,	सं० १९८८ से २००१ तक	,, २००१
१८.	,, स्वामी श्री प्रकाशदेव जी ,,	सं० २००१ से —	

श्री स्वामी दादूजी महाराज के थांभायती बावन शिष्यों की प्रणाली

संख्या	थांभायती नाम	ग्राम	वर्तमान मे यह थांभा है या नहीं।	विशेष विवरण
१.	श्रीमान् स्वामी गरीबदासजी	नरेना (जयपुर)	वर्तमान मे है।	
२.	,, स्वामी मशकीनदास जी	नरेना (जयपुर)	,,	
३.	,, श्रीमती बाई जी	नरेना (जयपुर)	,,	इनके थांमे में साधु हैं, पर थांभायती स्वयं कोई नहीं है।
४.	,,	नरेना (जयपुर)	,,	,,
५.	,, श्रीमान् वखनाजी	नरेना (जयपुर)	वर्तमान में थांभा नही है।	इनके जीवन के पश्चात् इनकी परंपरा नहीं चली।
६.	,, शंकरदास जी	नरेना (जयपुर)	,,	,,
७.	,, जैसोजी	नरेना (जयपुर)	,,	,,
८.	,, चादीजी	नरेना (जयपुर)	,,	,,
९.	,, बड़े प्रागदास जी	नरेना (जयपुर)	,,	,,
१०.	,, बड़े गोपालदास जी	नरेना (जयपुर)	,,	,,
११.	,, रज्जब जी	सांगानेर (जयपुर)	वर्तमान में थांभायती हैं।	यह थांभा सांगानेर से टूं टोली गया वहाँ से अब भादवा में है।
१२.	,, दयालदास जी	देवल (जयपुर)	वर्तमान में नहीं है।	सम्बत् १९६७ तक था।
१३.	,, घडसीदास जी	कढेल	थांभा है, थांभायती नहीं हैं।	अबकडेल से ग्राम चांपासर (जोधपुर) में यह थांभा है।
१४.	,, दूजणदास जी	इडैवा (जोधपुर)	थाभा और थांभायती हैं।	डेगाणा के समीप यह थांभा है।

संख्या		थाभायती नाम	ग्राम	वर्तमान में यह थांभा है या नही	विशेष विवरण
१५.	श्री	तेजानन्द जी	जोधपुर	वर्तमान में है।	अब स्थान जोधपुर से बदल कर बडाढ में है जो रैण के पास है।
१६.	,,	मोहनदास जी भजनीक	आसोप (जोधपुर)	वर्तमान मे थाभायती नही हैं।	सम्वत् १९५५ तक था।
१७.	,,	माधोदास जी	गूलर (जोधपुर)	थाभा है, थाभायती महन्त अब नहीं हैं।	अब यह स्थान डेगाणा के समीप है।
१८.	,,	हरिसिंह जी	विद्याद (जोधपुर)	थाभा और थाभायती हैं।	
१९.	,,	चतरदास जी	सिंगरावट (पंजाब)	थांभायती हैं।	सिंगरावट से यह डंगकरथल भटिंडा के पास चला गया। इस समय बीकानेर में है।
२०.	,,	सुन्दरदास जी बड़े	घाटडा (अलवर)	,,	
२१.	,,	प्रयागदास जी	डीडवाना (जोधपुर)	,,	थांभायती प्रह्लाददास जी की परम्परा में है।
२२.	,,	सुन्दरदास जी (छोटे)	दौसा। पश्चात् फतहपुर (जयपुर)	थांभायती और थांभा हैं।	अब थाभायती रामगढ़ रहते हैं।
२३.	,,	बनवारीदास जी	रतिया (हिसार) पंजाब	,,	
२४.	,,	हरदास जी	रतिया (हिसार पंजाब)	थांभायती हैं	अब थांभायती जयपुर स्टेट में झूंझणू के पास स्वामी की ढाणी में है।
२५.	,,	साधुराम जी	मांडोठी (रोहतक)	थांमे में साधु हैं, थांभायती नही हैं।	
२६.	,,	चतुर्भुज जी	रामपुर (यू० पी०)	,,	
२७.	,,	चरणदास जी	रणथभौर	अब थाभायती नही हैं, साधु भी नहीं हैं।	
२८.	,,	जग्गा जी	भँड़ौच (गुजरात)	अब थांभायती नही हैं।	
२९.	,,	लालदास जी	पट्टण (सिरोही)	अब थांभायती नहीं है, थाभा भी नहीं है।	
३०.	,,	टीलो जी	फोफल्या (मेवाड़)	अब थांभा और थाभायती दोनों नहीं हैं।	बीच मे ग्वालियर में परिवर्तन किया था।

संख्या		थांभायती नाम	ग्राम	वर्तमान में यह थांभा है या नहीं	विशेष विवरण
३१.	श्री	परमानन्द जी	ईंदोखली (जोधपुर)	वर्तमान में है।	संवत् १६७० तक थांभायती थे।
३२.	,,	जैमलजी चौहान	नौंली (जयपुर)	,, ,,	
३३.	,,	जैमलजी जोगी	सांभर (राजस्थान)	थांभायती हैं।	
३४.	,,	वनमाली जी चौकन्या	सांभर (राजस्थान)	थांभा है, थांभायती का निश्चय नहीं।	स्थान परिवर्तन हो गया है। अब पुष्कर के पास में भवस्यांग ग्राम में है।
३५.	,,	मोहनदास जी दफ्तरी	मारोठ (जोधपुर)	थांभा है, पर थांभायती नहीं हैं।	
३६.	,,	चतरदास जी	कालाडहरा (जयपुर)	थांभायती और थांभा हैं।	
३७.	,,	टीकमदास जी	नांगल (जयपुर)	थांभा तो है, थांभायती का निश्चय नहीं है।	
३८.	,,	झांझूं वांझूं	झोटवाड़ा (जयपुर)	अब थांभा नहीं है।	
३९.	,,	छोटे गोपालदास जी	भाखकिया (जयपुर)	अब थांभा नहीं है।	
४०.	,,	जगन्नाथदास जी	आमेर (जयपुर)	अब थांभा नहीं है।	संवत् १६८८ तक साधु थे।
४१.	,,	जनगोपाल जी	राहोरी (जयपुर)	अब थांभायती नहीं हैं। थांभा के साधु हैं।	थांभे के साधु हैं वे जमात निनाई में मिल गये हैं। जो 'राहोरी' वाले कहलाते हैं।
४२.	,,	सन्तदासजी बारहहजारी	नांनज्या (जयपुर)	इस समय थांभायती हैं।	
४३.	,,	नारायणदास जी	इकलोद (ग्वालियर)	थांभायती अब भी हैं।	इकलोद से गंगापुर, वहाँ से अब सोढ़ा (जयपुर) में है।
४४.	,,	जनगरीब जी	आंधी (जयपुर)	थांभायती हैं।	अब आंधी से वे नागोर (जोधपुर) में रहते हैं।
४५.	,,	मोहनदास जी मेवाड़ा	मानगढ़ (अलवर)	थांभायती और थांभा दोनों हैं।	मानगढ़ से अब मोतीवाड़ा में है।
४६.	,,	नागर निजाम जी	टैंटड़ा (जयपुर)	अब थांभा और थांभायती दोनों नहीं हैं।	

संख्या	थांभायती नाम	ग्राम	वर्तमान में यह थांभा है या नहीं	विशेष विवरण
४७.	श्री जगजीवन जी	दोसा (जयपुर)	थांभायती महन्त और थांभा हैं।	
४८.	,, मोहनदास जी दरियाई	समधि (उणियारा)	थांभायती नहीं हैं।	
४६.	,, हिंगोल गिरिजी	वोकडास (जयपुर)	थांभायती नहीं हैं।	इनकी परंपरा के गृहस्थ साधु हैं।
५०.	,, चैन जी	कानूता (जयपुर)	अब थाम्भा नहीं है।	इस थांभे का एक स्थान चंदलाई में शेष है।
५१.	,, कपिलमुनि जी	गोंदेर (जयपुर)	थाभायती नहीं हैं।	
५२.	,, श्यामदास जी	झालाना (जयपुर)	अब थांभा और थांभायती दोनों नहीं हैं।	

श्री स्वामी दादूजी महाराज, शिष्य-प्रशिष्य व परवर्ती रचनाकार

संख्या	नाम	रचना	काल	मुद्रित या अमुद्रित	विशेष
१.	श्री स्वामी दादूजी महाराज	'वाणी' साषी शब्द भाग	१६३० से १६६०	मुद्रित	६ प्रकाशन निकल चुके। सातवां निकल रहा है।
२.	,, स्वामी गरीबदासजी, नरेना	१—अनुभव-प्रबोध, २—वाणी साषी शब्द चौपदे।	१६५० से १६८०	मुद्रित	१—स्वामी लक्ष्मी राम ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित।
३.	श्री मान् स्वामी बनवारी दासजी, रतिया	रचना-शब्द संख्या केवल २	सत्रहवीं सदी	अमुद्रित	और वाणी होने का अनुमान है।
४.	,, साधुजी, माबौठो	वाणी-साषी शब्द भाग	,,	,,	
५.	,, वषनाजी, नरेना	वाणी-साषी शब्द भाग	१६४५ से १६८०	मुद्रित	स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित
६.	,, टीलाजी, फेरुल्या, मेवाड़	वाणी-शब्द भाग-राग १४ पद ५८	,,	अमुद्रित	इनका साषी भाग तथा कुछ और शब्द भाग होना चाहिये।

संख्या	नाम	रचना	काल	मुद्रित या अमुद्रित	विशेष
७.	श्री प्रयागदासजी बियाणी डीडवाना	वाणी-साखी शब्द भाग	१६५५ से १६८०	मुद्रित	साखी ६१, पद १६ ही प्राप्त हैं।
८.	,, जग्गाजी, भैंड़ौंच गुजरात	१—भक्तमाल २—शब्द	१६५५ से १६८०	अमुद्रित	इनकी वाणी और होनी चाहिये।
६.	,, मोहनदासजी, मारोठ	१—ब्रह्मलीला २—शब्द	,,	,,	शब्द ही प्राप्त है, संभव है और रचना भी हो।
१०.	,, जैमलजी जोगी, सांभर	वाणी-साखी भाग तथा शब्द भाग	सत्रहवीं सदी	अमुद्रित	
११.	,, पूर्णदासजी	वाणी-साखी और शब्द भाग	,,	,,	ये १५२ शिष्यों में थे। स्थान का निश्चय नहीं है।
१२.	,, जगजीवनजी, दासा	वाणा-साखी तथा शब्द भाग लघु ग्रन्थावली संख्या २०—दृष्टान्त साखी	सतरवीं तथा अठारहवी शती के आरम्भ तक	अमुद्रित	ये अच्छे विद्वान थे। बादशाह तथा कई राज्यों से सम्मान प्राप्त किया था।
१३.	,, जनगोपालजी, राहोरी	१—जन्मलीला, २—ध्रुवचरित्र, ३—प्रह्लादचरित्र, ४—मोहविवेक, ५—भर्तृचरित्र, ६—चौबीस गुरुदत्त लीला, ७—कायाप्राण सम्वाद, ८—बारहमासी सोरठी, ९—शब्द, १०—सवैया।	सत्रहवीं का अन्त अठारहवीं शती का आरम्भ	मुद्रित अमुद्रित	केवल जन्मलीला स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट द्वारा मुद्रित हुई है।
१४.	,, रज्जबजी, सागानेर	११—वाणी, साखी, शब्द, सवैया,	१६५० से १७१० तक	मुद्रित	वाणी मुद्रित हुई है। सर्वंगी अमुद्रित है।

संख्या	नाम	रचना	काल	मुद्रित या अमुद्रित	विशेष
		१२–कवित्त लघु ग्रन्थावली, १३–सर्वंगी (संग्रह ग्रन्थ)।	१७२० तक		
१५.	श्री सुन्दरदासजी छोटे फहतपुर	१–वाणी, साषी, शब्द, २–सवैये, ३–ज्ञान-समुद्र, लघुग्रन्थ २५ अष्टक १२ फुटकर रचनाएँ २३ हैं।	१६८५ से १७४५ तक	मुद्रित	राजस्थान रिसर्च सोसायटी द्वारा प्रकाशित सुन्दर ग्रन्थावली।
१६.	,, जगन्नाथ दासजी, आमेर	१–वाणी-साखी-पद, २–लघुग्रंथावली १८, ३–मोहयदराज की कथा ४–गुण गजनामा (संग्रह ग्रंथ)	सतरहवीं शती का अन्त तथा अठारहवीं का प्रारंभ	अमुद्रित	भक्तमालकार के मत से 'गीतासार' तथा 'वशिष्ठसार' नामक इनकी रचनाएं और होनी चाहिए।
१७.	,, जैमजी चौहान बोली	वाणी-साषी दो भाग, लघुग्रन्थ ७, ३–भक्त विरुदावली, ४–रामरक्षा।			
१८.	श्रीमान् मोहनदास जी, मेवाड़ा, मानगढ़	१–आदि बोध, २–साध महिमा नाम माला।	सतरहवीं शती का अन्त	,,	आदि बोध में दादूजी का नाम दिया गया है।
१९.	,, हरिसिंह जी, विद्याद	वाणी-साषी शब्द भाग, लघु ग्रन्थावली–१०।	सतरहवीं शती का अन्त अठारहवीं का आरम्भ	,,	
२०.	,, सन्तदास जी बारह हजारी, चावक्या	१–वाणी-साषी–५५, २–सवैया लघु-ग्रन्थावली–१६	सतरहवीं या अठारहवीं शती	,,	संख्या के विचार से इनकी रचना सबसे अधिक है।

संख्या	नाम	रचना	काल	मुद्रित या अमुद्रित	विशेष
२१.	श्री मसकीनदास जी, नरेना	वाणी-पद भाग राग १०, पद १२	सतरहवीं शती का अन्त	”	रचना पूरी नहीं है, और भी होनी चाहिए।
२२.	” मारवू जी, गंगापथा	वाणी-साखी-पद भाग।	”	”	इनकी रचना पूरी नहीं है और भी रचना प्राप्त होनी चाहिए।
२३.	” दूजण जी, ईडवा	वाणी-पद भाग—५५ पद प्राप्त।	”	”	जो सामग्री प्राप्त है उसके पन्ने खंडित हैं। अतः रचना और है ऐसा अनुमान है।
२४.	” तेजानन्द जी, जोधपुर, बागड	१—वाणी-साखी-पद-सवैया २—घटप्रमोद-ग्रन्थावली।	”	”	इनकी प्राप्त रचना भी अपूर्ण है।
२५.	” लालदास जी, पट्टण	वाणी-साखी—शब्द, अरिल तथा चितावणी।	”	”	प्राप्त रचना अपूर्ण व खंडित है।
२६.	” हरिदास जी, रतिया	१—वाणी-साखी शब्द २—धराजू जैमल की कथा ३—भर्तृहरि संवाद।	सतरहवीं शती अठारहवीं शती	”	
२७.	” जनगरीब जी	वाणी-साखी पद-भाग।	सतरहवी शती अठारहवी शती	”	
२८.	” वाजिन्द जी	वाणी (प्राप्त नहीं) लघु ग्रन्थ १८ (प्राप्त हुए हैं।)	”	”	इनकी वाणी है, पर अभी प्राप्त नहीं हुई है। जो सामग्री मिली है वह अपूर्ण है।
२९.	श्रीमान् माधोदासजी, गूलर	१ सन्त-गुण-सागर।	सतरहवीं या अठारहवीं शती	अमुद्रित	महाराज का जीवन चरित्र पद्यमय है, और रचना है या नहीं संशयात्मक है।

संख्या	नाम	रचना	काल	मुद्रित या अमुद्रित	विशेष
३०.	श्री भारवनजी सन्तदास जी फतहपुर के शिष्य प्रशिष्य	१ सर्वगबावनी—२ भारती नाम-माला।	१६८० १६८५	मुद्रित अमुद्रित	बावनी मुद्रित है। नाम-माला अमुद्रित है। नाम माला अमर-कोश का हिंदी में पद्यानुवाद है।
३१.	,, कल्याणदास जी, रज्जब जी के शिष्य	१ गोपीचन्द-वैराग।	१६६३	अमुद्रित	दोहे चौपाई छन्दो में रचना है। अन्य रचना की सम्भावना है।
३२.	,, चैनजी, जनगोपालजी के शिष्य	वाणी-सापी-पदभाग, १२ सवैये, लघु-ग्रन्थावली ४५	सतरहवीं शती	,,	रचना विस्तृत तथा प्रौढ़ शैली में है।
३३.	,, प्रहलाददास जी, बडे सुन्दर दास जी के शिष्य	वाणी-सापी-पद भाग।	अठारहवीं शती अठारहवीं का प्रारम्भ	अमुद्रित	
३४.	,, दासजी, लालदासजी के शिष्य।	१—गुण नाटक, २—पंथपरीक्षा, ३—भक्त विरुदावली, ४—अजामेलचरित्र।	सतरहवी का अन्त १७२० १७३०	अमुद्रित मुद्रित	गुण नाटक मुद्रित है। शेष अन्य अमुद्रित है।
३५.	,, चतरदास जी, सन्तदास जी के शिष्य	१ भागवत एकादश स्कन्ध का पद्यानुवाद	१६६२ जेठ सुदी ६	मुद्रित	बेंकटेश्वर प्रेस में।
३६.	,, खेमजी, रज्जबजी के शिष्य	१—रेखता, २—चितावणी, ३—ज्ञान चितावणी ४—धर्म संम्बाद, ५—शुक सम्बाद ६—गोपीचन्द वैराग्य बोध	अठारहवी सदी	अमुद्रित	संभव है और भी रचना हो। रेखते 'पंचामृत' में निकल गये हैं।
३७.	,, दयालदास जी, जगन्नाथ जी के शिष्य	१—नासिकेत आख्यान २—सवैया और रचनायें होने की सम्भावना है।	१७३४ फागण सुदी ८	अमुद्रित	नासिकेत पुराण का दोहा चौपाई में हिन्दी पद्यानुवाद।

संख्या	नाम	रचना	काल	मुद्रित या अमुद्रित	विशेष
३८.	श्री छीतरजी, रज्जबजी के शिष्य	१—कवित्त	अठारहवीं सदी	मुद्रित	स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट द्वारा 'पंचामृत' में प्रकाशित हुये हैं।
३६.	,, बालकरामजी, छोटे सुन्दरदासजी के शिष्य	१—कवित्त	अठारहवीं सदी	मुद्रित	"पंचामृत" में स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित हुए हैं।
४०.	,, अनन्तदासजी	१—नामदेवजी की परची, २—कबीरजी की परची, ३—रैदासजी की परची, ४—पीपाजी की परची, ५—सैडसमन की कथा	अठारहवीं का आरम्भ	अमुद्रित	
४१.	,, माधोदासजी, जगजीवणजी के शिष्य	१—जनरायलीला, २—मंदालसा आख्यान, ३—कवित्त	,,	,,	मंदालसा आख्यान दोहे, चौपाई, छन्द में विस्तृत है।
४२.	,, राघोदासजी	१—वाणी-साखी, पद, गीता २—लघु ग्रन्थावली, ३—भक्तमाल	१७७७	,,	रचना उत्तम है।
४३.	,, लालदास जी, (गरीबदास जी की परंपरा में)	१—नाम माला, २—चितावनी	१८३५	,,	और रचना होने की संभावना है।
४४.	,, चतरदासजी, (छोटे सुन्दरदासजी की परंपरा में)	१—राघोदासजी की भक्तमाल पर पद्यमय टीका, सवैया छन्द ६५२	१८५७ भाद्र बदी १४ मंगल	,,	अन्य रचना का होना संभव है।
४५.	,, हिरदेरामजी, सियाणा	१—नाममाला		,,	

संख्या	नाम	रचना	काल	मुद्रित या अमुद्रित	विशेष
४६.	श्री रसपुञ्जजी, (छोटे सुन्दरदासजी की परम्परा में)	१—वृत्तविनोद, २—चमत्कार चन्द्रिका	१८७८ माघ शु० ५	अमुद्रित	छन्द, शास्त्र के महान् विद्वान थे।
४७.	,, मधुपदासजी, (मोहनजी मेवाड़े की परम्परा में)	१—नागरलता	१८६७	,,	ये संगीत के विशेष विशेषज्ञ थे। राग रागिनी में गाने के पद्य ही नागरलता में है।
४८.	,, चम्पारामजी, जमातउदय पुर	१—क्षीरार्णव-छन्द संख्या १३००	१८६६ फा० शु० ५	,,	यह संग्रह ग्रन्थ है। इसमें स्वयं संग्रहकार की रचना भी सम्मिलित हैं।
४६.	,, निगमदासजी, (बनवारीदासजी की परम्परा में)	पद	उन्नीसवीं सदी	,,	स्वतंत्र इनकी रचना प्राप्त नहीं हुई है। पद संग्रह में पद हैं।
५०	श्रीमान् आत्मविहारीजी	पद	उन्नीसवीं सदी	अमुद्रित	इनके भी पद पद-संग्रह में मिले हैं। स्वतंत्र रचना की प्राप्ति नहीं हुई है।
५१	,, कृपारामजी	कीमिया सार (गद्य में) किसी फारसी पुस्तक का अनुवाद है।	,,	,,	इनकी परम्परा आदि का पता नहीं लगा है।
५२	,, स्वरूपदास जी, थांभा रज्जब जी :	१—पांडवयशेन्दु चन्द्रिका, ह्न्नयनांजन, ३ वृत्तिबोध	१८६० से १६०० तक	मुद्रित अमुद्रित	पांडवयशेन्दु चन्द्रिका मुद्रित है। अन्य अमुद्रित रचना अति प्रशस्त है।
५३	,, हरीदास जी, बनवारीदासजी की परम्परा में :	वाणी, साखी, पद सवैया, कवित्त, अरिल। नसीहत-नामा।	उन्नीसवीं सदी	मुद्रित	दादू सेवक प्रेस से प्रकाशित—
५४	,, आत्मारामजी, माखूजी की परम्परा में :	१—आत्मप्रकाश-चिकित्सा ग्रन्थ (हिंदी पद्य में)	१८८५ कार्तिक सुदी ३	,,	कई संस्करण निकल चुके हैं। अति उत्तम ग्रन्थ है।

संख्या	नाम	रचना	काल	मुद्रित या अमुद्रित	विशेष
५५	श्री सहजरामजी महाराज, बनवारीदास जी की परम्परा में :	१—सुरतिविलास-साखी, पद, कवित्त, रेखते आदि में रचना है	१८७५–७६	अमुद्रित	
५६	,, निश्चलदास जी महाराज, बनवारी दास जी की परम्परा में :	हिंदी मे १—विचार सागर, २—वृत्ति प्रभाकर-संस्कृत-कठोपनिषद्-ईशा-वास्योपनिषद् पर वृत्ति	१८७० से १९१५ तक	मुद्रित अमुद्रित	विचार सागर, वृत्तिप्रभाकर के कई संस्करण निकल चुकें। ये महान् विद्वान थे।
५७	,, मंगलदास जी, जमात उदयपुर, बड़े सुन्दरदास जी परम्परा में :	१—सुंदरोदय, २—गुरुपद्धति ग्रन्थ—३ तर्क खंडन।	१८७० से १९१० तक	अमुद्रित	इनकी रचना प्रौढ़ है। 'छन्द' प्रयोग सुन्दरदास जी की तरह इन्होंने भी बहुत किये हैं।
५८	,, रतनभजन जी	१—छन्द—रत्न माला	उन्नीसवीं का अन्त	अमुद्रित	प्राप्य पुस्तक अपूर्ण है।
५९	,, देवादास जी	१—जम्बूसर प्रसंग वर्णन	,,	,,	अन्य रचना है या नहीं अज्ञात है।
६०	,, आत्मविहारी जी	१—गूढ़ार्थ अष्टपदी	,,	,,	अन्य रचनायें हैं, यह अभी पता नहीं लगा।
६१	श्रीमान् ध्यानदास जी	१—सत्य हरिश्चन्द्र की कथा	उन्नीसवीं सदी का अन्त	अमुद्रित	दोहे चौपाई में रचना है। अन्य रचना भी होनी चाहिये।
६२	,, पं० कन्हीरामजी, बनवारीदास जी की परम्परा में :	१—भगवद्गीता पर हिंदी में टीका, २—गुरुमंत्र टीका, ३—गायत्री सार, ४—वेदानुबन्ध विवेक	बीसवीं सदी	अमुद्रित	ये उच्च कोटि के विद्वान थे नं० २, ३ तथा ४ संस्कृत में रचना है।
६३	,, नारायणदास जी, जन-गरीब जी की परम्परा में :	१—"दादू चरित्र" अकबर सम्वाद पद्य में	१९३५ ज्येष्ठ कृ० ५,	अमुद्रित	

संख्या	नाम	रचना	काल	मुद्रित या अमुद्रित	विशेष
६४ ,,	पं० हीरादास जी, भिवानी, बनवारीदास जी की परम्परा में :	१—दादूरामोदय	बीसवीं सदी	मुद्रित	संस्कृत पद्य मे दादूजी की जीवनी ।
६५ ,,	मोतीराम जी पंडित, बनवारीदास जी की परम्परा में :	१—मुमुक्षु सार	बीसवीं सदी	मुद्रित	यह वेदान्त प्रक्रिया का ग्रंथ है । रचयिता वेदान्त के परम पंडित थे ।
६६ ,,	चतरदास जी	१—पद	उन्नीसवीं सदी	अमुद्रित	इनकी यह रचना अपूर्ण है ।
६७ ,,	पंचायणदास जी	१—संस्कृत में दादू जी का स्तोत्र		,,	
६८ ,,	स्वामी लक्ष्मीराम जी आचार्य, वैद्यरत्न	१—सिद्धभैषज्यमणि माला पर टिप्पणी २—आयुर्वेद विज्ञान	बीसवीं का मध्य	मुद्रित	आप परम विद्वान तथा अपने समय के भारत प्रसिद्ध चिकित्सक थे ।
६९ ,,	चन्दनदास जी, चतरदास जी की परम्परा में :	१—छन्दोविद्मंडन	बीसवीं सदी	मुद्रित	आप छन्द—शास्त्र के बहुत विशेषज्ञ थे ।
७० ,,	स्वामी नारायणदास जी पुष्कर	१—शिक्षा सप्तशती २—लघुग्रन्थी १०	बीसवीं का मध्य	,,	आप अभी रचना कर ही रहे हैं ।

नोट :—राघोदासजी की भक्तमाल में जिनकी रचना का पर्याप्त उल्लेख आदर के साथ किया गया है उनकी नामावलि। सम्प्रति उनकी रचनाएँ प्राप्त नहीं हुई हैं।

१.	वेणीदास : माखूजी के शिष्य :	भक्तमालकार के मत से इन्होंने भागवत के दशम् स्कन्ध का पद्यानुवाद किया था।
२.	दयालदासजी : छोटे सुन्दरदासजी की परम्परा :	भक्तमालकार ने इनकी रचनाओं का भी सादर उल्लेख किया है पर अभी प्राप्त नहीं हुई हैं।
३.	नृसिंहदासजी : तेजानन्दजी की परम्परा :	इनके "छप्पयों" की भक्तमालकार ने बहुत प्रशंसा की है।
४.	अमरदासजी : तेजानन्दजी की परम्परा :	इनके पदों की समता भक्तमालकार के मत में सूरदासजी से की जा सकती है।
५.	दामोदरदासजी : जगजीवणजी की परम्परा :	इनकी रचनाओं के लिये भी भक्तमाल में विवेचन है।
६.	गोविन्ददासजी : घड़सीदासजी की परम्परा :	भक्तमालकार के मत में इनकी वाणी अतीव सरस है, ऐसा उल्लेख है।
७.	केवलरामजी महाराज : गरीबदास जी के शिष्य :	भक्तमालकार ने इनके "पदो" के लिये अतीव समादर व्यक्त किया है।

श्री स्वामी दादू जी महाराज के एक सौ बावन शिष्यों
की
नामावली

लालदास जी कृत 'नाममाला' के आधार पर। रचना काल १८३५ माघ शुक्ला ५

संख्या		नाम	संख्या		नाम
१.	श्री स्वामी	गरीबदास जी महाराज	११.	श्रीमान् स्वा०	मोहनदासजी मेवाड़ा
२.	,,	मशकीनदास जी महाराज	१२.	,,	मोहनदासजी दरियाई
३.	श्रीमती	बाई जी बड़ी	१३.	,,	मोहनदासजी भजनीक
४.	,,	बाई जी छोटी	१४.	,,	जगजीवण जी
५.	,,	हवा वहन	१५.	,,	जगन्नाथ जी
६.	श्रीमान् स्वा०	सुन्दरदास जी बड़े	१६.	,,	गोपालदास जी बड़े
७.	,,	सुन्दरदास जी छोटे	१७.	,,	जनगोपाल जी
८.	,,	रज्जब जी	१८.	,,	लघुगोपाल जी
९.	,,	दयालदास जी	१९.	,,	जनगरीब जी
१०.	,,	मोहनदास जी दफ्तरी	२०.	,,	दूजनदास जी

संख्या		नाम	संख्या		नाम
२१	श्रीमान् स्वा०	घड़सीदास जी	५५.	श्रीमान् स्वा०	राघवदास जी
२२	,,	जैमल जी चौहान	५६.	,,	महादेव जी
२३	,,	जैमलजी जोगी	५७.	,,	नागर जी
२४	,,	सादो जी	५८.	,,	निजाम जी
२५	,,	परमानन्द जी	५९.	,,	देवो जी
२६	,,	तेजानन्द जी	६०.	,,	दयालदास जी (२)
२७	,,	बनवारी दास जी बड़े	६१.	,	देवेन्द्र जी
२८	,,	बनवारीदास जी छोटे	६२.	,,	ब्रह्मा जी
२९	,,	साधू जी	६३.	,,	मोर्नी जी
३०	,,	हरदास जी	६४.	,,	पाँचो जी
३१	,,	कपिलमुनि जी	६५.	,,	दुर्गो जी
३२	,,	चतुर्भुज जी	६६.	,	धर्मदास जी
३३	,,	चतरदास जी बड़े	६७.	,,	चतरदास जी (३)
३४	,,	चतरदास जी छोटे	६८.	,,	माधोदास जी
३५	,,	चरणदासजी	६९.	,,	बखू जी
३६	,,	प्रागदास जी	७०	,,	सीधू जी
३७	,,	प्रयागदास जी	७१	,,	वनमालीदास जी
३८	,,	चैन जी	७२	,,	चतरुदास जी
३९	,,	प्रहलाददास जी	७३	,,	मोंगो जी
४०	,,	वषना जी	७४	,,	ईसरदास जी
४१	,,	जग्गो जी	७५	,,	केशोदास जी
४२	,,	लालदास जी	७६	,,	बीसो जी
४३.	,,	माखू जी	७७	,,	कँवलनैन जी
४४.	,,	टीला जी	७८	,,	ठाकुरदास जी
४५.	,,	चाँदा जी	७९	,,	गुणदास जी
४६.	,,	हिंगोलगिरि जी	८०	,,	चतरुदास जी (२)
४७.	,,	हरिसिंह जी	८१	,,	रामदास जी
४८.	,,	नारायणदास जी	८२	,,	रामूदास जी
४९.	,,	जैसो जी	८३	,,	नृसिंहदास जी
५०.	,,	शंकर जी	८४	,,	सांवलदास जी
५१.	,,	वाँझू जी	८५	,,	संतोपदाम जी
५२.	,,	राँझू जी	८६	,,	बद्रीदास जी
५३.	,,	सन्तदास जी	८७	,,	जगदीशदास जी
५४.	,,	टीकूदास जी	८८	,,	रामदत्त जी

संख्या		नाम	संख्या		नाम
८९	श्रीमान् स्वा०	माधोदास जी (२)	१२१	श्रीमान् स्वा०	दृढ़दास जी
९०	,,	तोलो जी	१२२	,,	मुरारीदास जी
९१	,,	सूरमेदा जी	१२३	,,	पाल्हा जी
९२	,,	जगन्नाथ जी (२)	१२४	,,	जगोजी
९३	,,	परमानन्ददास जी	१२५	,,	पंचायणदास जी
९४	,,	गोपालजन जी	१२६	,,	पूरो जी
९५	,,	गोविन्ददास जी	१२७	,,	चरणदास जी (२)
९६	,,	वोहियदास जी	१२८	,,	हेमदास जी
९७	,,	चेतनदास जी	१२९	,,	बिसनदास जी
९८	,,	भवन जी	१३०	,,	कल्याणदास जी
९९	,,	दूदा जी	१३१	,,	बीरमदास जी
१००	,,	द्वारिकादास जी	१३२	,,	नेतो जी
१०१	,,	नारायणदासजी (वालो)	१३३	,,	नेगोजी
१०२	,,	भगवानदास जी	१३४	,,	कलोजी
१०३	,,	गयंददास जी	१३५	,,	मनोहरदास जी
१०४	,,	डूँगो जी	१३६	,,	सुजाणदास जी
१०५	,,	टीकूदास जी	१३७	,,	हापौ जी
१०६	,,	लाषा जी	१३८	,,	टोडर जी
१०७	,,	नरहरिदास जी	१३९	,,	जोधो जी
१०८	,,	नीरो जी	१४०	,,	हरिदास जी (२)
१०९	,,	धीरो जी	१४१	,,	गंगादास जी
११०	,,	कृष्णदास जी	१४२	,,	गोयंददास जी
१११	,,	साँगो जी	१४३	,,	रायमल जी
११२	,,	दामोदरदास जी	१४४	,,	स्यामदास जी (१)
११३	,,	परशराम जी	१४५	,,	स्यामदास जी (२)
११४	,,	बीठलदास जी	१४६	,,	गोविन्ददास जी
११५	,,	लालदास जी नागो	१४७	,,	उदालवन जी
११६	,,	जंगीजी	१४८	,,	सन्तदास जी भारु
११७	,,	केवलदास जी	१४९	,,	जीतो जी
११८	,,	चूहड़ जी	१५०	,,	वाजिंद जी
११९	,,	ऊधवदास जी	१५१	,,	ध्यानदास जी
१२०	,,	शारंगदास जी	१५२	,,	भगवानदास जी

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि दादू की शिष्य-परम्परा पर्याप्त लम्बी है। इतना ही नहीं अपितु इस सम्प्रदाय में एक से एक धुरन्धर विद्वान, भजनीक, साधक, योगी और

पिंगलशास्त्र के मर्मज्ञ भी हुए हैं। उन सबका उल्लेख इस छोटे से शोध-प्रबन्ध में असम्भव है। अतएव हम यहाँ केवल कुछ अति महत्वपूर्ण लोगो का उल्लेख करेंगे।

सन्त सुन्दरदास (छोटे)

सन्त 'सुन्दरदास' कई दृष्टियों से दादूपंथ के प्रमुख संत माने जाते हैं। इनका जन्म जयपुर के द्यौसा स्थान पर खण्डेलवाल कुल में सं० १६५३ की चैत्र शुक्ल नवमी को हुआ था। इनके पिता का नाम परमानन्द (चोखा) और माता का नाम सती देवी था। द्यौसा जैपुर राज्य की प्राचीन राजधानी रहा। बूसर गोत्र के खण्डेलवाल, महाराणा के साथ नरवर ग्वालियर की ओर से आये थे। ये प्रधान कारोबारी थे। इसीलिए ये सेना में मोदीखाना के अधीक्षक नियुक्त किए गए थे। इन्हें विजित गाँवों की कुछ सम्पत्ति बँटवारे के रूप में मिली थी। जिस घर में 'सुन्दरदास' ने जन्म लिया था उसके खण्डहर आज भी द्यौसा में विद्यमान हैं।

'सुन्दरदास' पर अबतक कई विद्वानों ने विचार किया है। इन सबमें सर्व-प्रमुख कार्य पुरोहित हरिनारायण जी का है। इसके अनुसार इनका जन्म सं० १६५३ और मृत्यु सं० १७४६ मे हुई थी। इसके प्रमाण स्वरूप उनकी यह साखी उद्धृत की जाती है—

> 'सात बरस सौ में घटै, इतने दिन की देह।
> सुन्दर न्यारौ आतमा, देह खेह की खेह।

अगर इस साखी को हम प्रमाण मान लें तो सुन्दरदास इस तरह कुल ९३ वर्ष जीवित रहे। आज यह भी सर्वथा प्रमाणित हो गया है कि सुन्दरदास बूसर गोत्रोत्पन्न वैश्य थे। इस संदर्भ मे एक बूसर ब्राह्मण के साथ हुए शास्त्रार्थ का भी उल्लेख किया जा सकता है जिसमें विजित होने के पश्चात् स्वामी जी ने उसको यह उपदेश दिया था—

> 'बूसर कहै तूं सुन हो दूसर, वाद-विवाद न करना।
> यह दुनियाँ तेरी नहिं मेरी, नाहक क्यो अड़ मरना।

इनके जन्म के विषय में एक जनश्रुति प्रचलित है। वेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित सुन्दर चरित देखने से यह पता चलता है कि एक दिन 'दादूदयाल' के शिष्य 'जग्गा' जी आमेर में सूत मांग रहे थे और हाक लगा रहे थे, 'दे माई सूत, ले माई पूत'। वे यही कहते हुए एक सोंकिया महाजन के घर के सामने पहुँच गये। वहाँ उस महाजन की क्वाँरी कन्या इस रहस्य को न समझ सकी और उसने तमाशा समझकर सूत लाकर दिया। इस पर 'जग्गा' जी की जबान से अचानक निकल गया, 'ले माई पूत'। लौट कर जब वे अन्तर्यामी दादू के पास आये तो वे बोल उठे, यह तुमने क्या किया? उस कन्या के भाग्य में पुत्र नही है अतः तुम्हें उसके गर्भ में निवास करना पड़ेगा। उस कन्या का विवाह यजपुर के द्यौसा नगर के परमानन्द के साथ हुआ। 'मृषा न होइ देव ऋषि बानी' की कहावत के अनुसार 'जग्गा' जी को शरीर परित्याग करके कन्या के गर्भ में अवस्थित होना पड़ा। राघवदास के भक्तमाल में इस कथा का निम्न-लिखित उल्लेख मिलता है—

दिवसा है नग्र चोखा बूसर है माहूकार, सुंदर जनम लीयौ ताही घरी आइकैं ।
पुत्र की चाहि पति दई है जनाइ तृया, कह्यौ समझाइ स्वांमी कहौ सुखदाइ कैं ।
स्वांमी मुख कही सुत जनमैगो सही पै, वैराग लेगो वही घर रहै नहीं माइ कैं ।
ऐकादस बरष मै त्याग्यौ घर माल सब, वेदांत पुरांन सुने वांनारसी जाइ कै ।[1]

बाल्यावस्था तथा शिष्यत्व

इनके पिता के आग्रह पर सं० १६५८ में स्वामी दादूदयाल ने इन्हें दीक्षित किया। उस समय इनकी अवस्था ६ वर्ष की थी। सं० १६६३ ई० में ये 'रज्जब' जी और 'जगजीवन' जी के साथ काशी आये। ये सं० १६८२ तक काशी में अस्सी घाट पर रहे। यहीं उन्होंने योग-दर्शन, व्याकरण, साहित्य, सांख्य, वेदान्त आदि का अध्ययन किया। दादू के शिष्यों में ये योग्यतम होने के साथ ही परम प्रतिभा सम्पन्न थे। सं० १६८२ में दादू काशी से फतहपुर शेखावटी गये। यहीं उन्होंने अपने गुरुभाई प्रागदास जी विहाणी के साथ योगाभ्यास किया। यहाँ वे बारह वर्ष तक निरन्तर तपस्या में रत रहे। यहीं पर 'प्रागदास' जी 'सन्तदास' जी, 'घणसीदास' जी, 'जगजीवन' जी, 'नारायणदास' जी तथा भीषजन आदि भी विद्यमान थे। फतहपुर में ही नवाब अफ़जल खां स्वामी जी के संपर्क में आये और वे इनके चमत्कार से प्रभावित हुए। स्वामी जी ने अपने जीवन-काल में बिहार, बंगाल, उड़ीसा, पंजाब, गुजरात, मध्यप्रदेश, मालवा, द्वारिका, दिल्ली, आगरा, मथुरा, बरसाना, राजपूताना आदि का भ्रमण किया था।

ग्रन्थ

काशी से ही इनमें ग्रथ-प्रणयन की प्रेरणा जगी। इनके ग्रंथों का रचनाकाल सं० १६६७ से १७४६ तक माना जाता है। इनके द्वारा रचित सब ग्रन्थो की सूची तथा अन्यान्य विशेषतायें राघवदान के भक्त माल[2] में निम्नलिखित रूप में वर्णित हैं—

स्वांमी श्रीसुन्दरजी वांणी यह रसाल करी
भगत जगत बांचै सुणै सब प्रीति सौं ।
साखी अर सबद सवइया अष्टांग जोग, ।
ग्यांन कौ समुद्र, पंच इन्द्रिया उ जीति सौं ।
सुखहु समाधि, स्वप्न बोध बेद कौ बिचार, ।
उकत अनूप अदभुत ग्रंथ नीति सौं ।
पंच परभाव, गुर संप्रदाइ, उतिपति ।
निसांनी गुरू की महिमां बांवनी सु रीति सौ ।
षटपदी भरम बिध्वंसन, गुरू कृपा, स गुर ।
दया गुर मैमां सतोतर आंनिये ।
रांमजी नामाष्टक, आत्मा अचल, भाखा, ।

1—देखिये राघव दास कृत 'भक्तमाल'—पृ० १९९
2—वही—पृ० २००

पंजाबी सतोत्र, ब्रह्म पीर मीडु जानिये।
अष्टक अजब ख्याल ग्यांन, झूलनां है आठ,
सैजानन्द-ग्रै बैराग बोध परमांनिये।
हरि बोल तरक विवेक चितवनि त्रिय,
पम-गम, अडिल मडिल सुभ गांनिये।
बारामासौ, आयु भेद, आत्मां बिचार येही,
त्रिबिधि अन्तःकरण-भेद उर धारिये।
बरवै पूरबी भाषा चौबोला गूढ़ा अरथ,
छपै छंद गण अरु अगन विचारिये।
नव-निधि, अष्टसिधि, सात बारहू के नांम,
बारामासा ही कै बारै, राशि सो उचारिये।
छत्रबंध, कमल, मध्यक्षरा, कंकण-बंध,
चौकी-बंध जीनपोस बन्धऊ संभारिये।
चौपड़ि, बिरक्ष-बंध, दोहा, आदि अक्षरीस
आदि-अंत-अक्षरी, गोमुत्रि काज कीये हैं।
अंतर-बहरलापिका, निमात हार-बंध,
जुगल निगड-बंध, नाग-बंध भी ये हैं।
सिंघा-अवलोकनी, स प्रतिलोम अनुलोम।
दीरघ अक्षर, पंच बिधांनी सुनीये हैं।
गजल, सलोक और बिबिध प्रकार भेद।
पंडित कवीर सुरनि मांनि सुख लीये हैं।[1]

इस गणना के अनुसार इनके ४२ ग्रन्थ होते हैं। ज्ञानसमुद्र अध्यात्मविद्या का अनुपम ग्रन्थ है। इसमें पांच उल्लास हैं। लघुग्रंथावली में सर्वांग योग प्रदीपिका से लेकर पूरबी भाषा बरवै तक ३७ ग्रन्थ हैं। सवैया ग्रन्थ के चौतीस अंग हैं। यह उनकी बहुत ही महत्वपूर्ण रचना है। साखी ग्रन्थ मे २७ रागों में २१३ पद हैं। इनके अतिरिक्त अन्यान्य छोटे ग्रन्थों का उल्लेख भी मिलता है। इनका विस्तृत विवेचन पुरोहित हरिनारायण शास्त्री ने सुंदर ग्रंथावली में किया है।

ब्रह्मपद-प्राप्ति

अपने समस्त ग्रन्थों को पूर्ण कराने के बाद फतहपुर सांगानेर में इन्हें अपने प्रिय मित्र 'रज्जब' के ब्रह्मपद प्राप्त करने का सदेश मिला। इस घटना से इन्हें मार्मिक आघात पहुँचा और ये कुछ समय तक रोगग्रस्त रहे। वे कभी समाधिस्थ हो जाते थे तो कभी जाग्रत होकर उपदेश देने लगते थे। इसके उपरांत अन्ततोगत्वा कार्तिक शुक्ल अष्टमी बृहस्पतिवार को तृतीय प्रहर में स्वामी सुन्दर दास इस असार-संसार को छोड़कर ब्रह्मलीन

१—राघवदास कृत भक्तमाल—छं० सं० ५४८ से ५५१।

हो गये। इनके अन्त समय की निम्नांकित साखियो से उनकी तत्कालीन मनोदशा का पर्याप्त परिचय मिलता है।

मान लिए अन्तःकरण, जे इंद्रिन के भोग।
सुन्दर न्यारो आतमा, लगो देह कौं रोग॥
वैद्य हमारे रामजी, औषध हू हरिनाम।
सुन्दर यहै उपाय अब, सुमिरण आठौं जाम॥
सुन्दर संशय को नही, बडो महुच्छव येह।
आतम परमातम मिल्यो, रहो कि बिनसो देह॥
सात बरस सौ में घटै, इतने दिन की देह।
सुन्दर आतम अमर है, देह खेह की खेह॥[1]

जिस स्थान पर सुन्दरदास जी का दाह-संस्कार हुआ था वहाँ एक चबूतरा बना है। इस पर यह चौपाई लिखी हुई है।

संबत सत्रास छीयाला। कातिग सुदि अष्टमी उजाला।
तीजे पहर भरस्पति बार। सुन्दर मिलिया सुन्दर सार॥[2]

शिष्य, थांभा एवं स्मारक

सुंदरदास जी के पांच प्रमुख शिष्य—दयालदास, श्यामदास, दामोदरदास, निर्मलदास तथा नारायणदास हुए। राघवदास कृत भक्तमाल में इनका उल्लेख है।[3] फतहपुर में इनके कई स्थान हैं जिनके अलग-अलग महन्त हैं। इनके अनेक स्मारक घौसा, काशी, फतहपुर, चूरू, सीकर, मोर, रामगढ़ सांगानेर आदि स्थानों पर मिलते हैं।

रज्जब जी

'रज्जब जी' का जीवनवृत्त भी विवादास्पद है। इसका मूल कारण है कि इनके विषय में प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। इनका पठान वंश में उत्पन्न होना निर्विवाद है। कुछ लोगों के अनुसार इनके पिता का नाम अज्जब अली खां था। दादू के शिष्यत्व ग्रहण करने के पूर्व का इनका जीवन वृत्त अज्ञात है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि जिस समय 'दादू' ने उन्हें दीक्षा दी उस समय उनकी अवस्था २० वर्ष रही होगी। इस आधार पर इनका जन्म सं० १६२४ के आसपास होना चाहिए। जनश्रुति है कि ये दूल्हे के रूप में आमेर आये थे। 'दादू' के महत्व को सुनकर वे उनके दर्शन के लिये गये। जिस समय ये वहां पहुंचे उस समय दादू जी ध्यान मग्न थे। ध्यान टूटने पर उन्होंने देखा कि एक अत्यन्त रूपवान युवक सामने खड़ा है। उनके मुख से अनायास ही निकल पड़ा—

१—सुन्दर विलास (बेलवेडियर प्रेस) जीवन चरित्र, पृ०—७।
२—वही।
३—सुन्दर ग्रन्थावली खंड १, जीवन चरित्र, पृ०—१३३।

कीया था कुछ काज को, सेवा सुमिरण साज।
दादू भूल्या बंदगी सर्‌यो न एको काज॥[1]
(सुंदर ग्रंथावली प्रथ० खंड पृ० ५८)

इस साखी ने रज्जब के मर्मस्थल पर प्रहार किया। फलस्वरूप वे विरक्त हो गये। गुरु ने उन्हें दूल्हे के वेश में ही रहने का आदेश दिया। गुरु की आज्ञानुसार 'रज्जब' ने जीवन भर यही वेश धारण किया। 'राघवदास' ने अपने भक्तमाल में इस प्रसंग का उल्लेख निम्नांकित ढग से किया—

दादू जैसा गुरु मिले, सिष रज्जब—सा जाण।
एक सब्द में उधर्‌या, रही न खैंचा ताण॥
रज्जब को दादू दिया, एक सबद में ज्ञान।
रामचरण सब छांड़ि के, हो गया गुरू समान॥[2]

'रज्जब' जी परम गुरु भक्त थे। इसी भक्ति के कारण 'दादू' भी उन्हें अत्यधिक प्यार करते थे। 'रज्जब' जी अपने गुरु के ब्रह्मलीन होने से अत्यधिक दुखी हो गये। वे इसे सहन न कर सकने के कारण टोंक की ओर चले गये और वहीं इनका देहावसान हो गया। मृत्यु के समय इनकी अवस्था १२२ वर्ष थी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सं० १७४६ में इनका देहावसान हुआ।

रज्जव का पंथ और उनकी रचनाये

रज्जव की साधना पद्धति दादूपंथियों मे रजबावत पंथ के नाम से प्रसिद्ध है। यह पंथ दादूपंथ से अलग प्रतिष्ठित न हो सका। इनके द्वारा रचित 'वाणी' और 'सरबंगी' नामक ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। सर्वंगी रज्जब जी द्वारा रचित विशाल ग्रथ है। इसमें १४२ अग हैं। इन्होंने दादू वाणी को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया था। रज्जब वाणी एक बृहद् ग्रन्थ है। इनकी साखी १६३ अंगो में विभक्त है और इसमें ३५५२ छन्द हैं। पद और भजनो की सख्या २०६ है, ये बीस राग-रागिनियां में विभाजित हैं। सवैया ३६ अगों मे विभाजित है और इनकी संख्या ११७ है। गुण छन्द में दोहा त्रिभंगी आदि ३३ छन्द हैं। गुण अरिल्ल में ६ अंग और ८२ पद हैं। इन ग्रथो के अतिरिक्त १३ लघु ग्रंथ भी मिलते हैं। ये चौपाई और छन्द में रचे गये हैं। वे क्रमशः प्रथम बावनी, ग्रंथ बावनी, अक्षर उद्धार, तिथि सप्तवार, गुरु उपदेश, आतम उपजि, अविगति लीला, अकल लीला, परमपारिख, उत्पत्तिनिर्णय, ग्रहवैराग्यबोध, पराभेद और दोपदरीबै जैन-जंजाल हैं। कवित्त ४० अंगों में विभाजित हैं, इसमें ८६ छन्द हैं। इन ग्रन्थो का रचनाकाल सं० १७४० के आस पास माना जाता है।

शिष्य-परंपरा

रज्जब जी के दस शिष्यों का उल्लेख मिलता है। उनके नाम निम्नांकित हैं—(१) गोविन्ददास (२) पेमदास (३) हरीदास (४) छीतरदास (५) जगन्नाथ (६) दामोदर

१—पं० परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ०—५०५।
२—डा० ब्रजलाल वर्मा—सन्त कवि रज्जब सम्प्रदाय और साहित्य, पृ०—१३-१४।

दास (७) केशवदास (८) कल्याण दास (छोटे) (९) कल्याणदास (बड़े) और (१०) बनवारी दास। राघवदास ने अपने भक्तमाल में इनका निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया है—

> दीरघ गोविन्द दास पटि अवरांसर राजै।
> षेमदास सरवांड़ि तास, शिष्य तहां विराजै।
> हरीदास, छीतर जान दामोदर कैसो।
> कल्याण दो बनवारि राम रत मत गहि वैसो।
> जैन राघौ मंगल रातदिन, दीसत दै-दै कार अब।
> इस रज्जब अज्जब महंत के, भले पछोपे साध सब।

आज भी दस स्थानों पर इनके मुख्य स्मारक पाये जाते हैं।

सन्त गरीबदास

'जनगोपाल' जी की 'जन्मलीला परची में' दादू के व्यापक परिभ्रमण का उल्लेख मिलता है। इस तथ्य से एक बात स्वयं प्रतिपादित हो जाती है कि इनके श्रद्धालुओं की संख्या बहुत बड़ी रही है। यह भी सत्य है कि 'दादू' ने मंत्र देकर किसी को अपना शिष्य नहीं बनाया था। वे तो अपनी उदात्त अनुभूति को लोगों के सामने रखते थे और उसी से प्रभावित होकर लोग इनका शिष्यत्व स्वीकार कर लेते थे। ऐसी जनश्रुति है कि 'गरीबदास' और 'मसकीनदास' दोनों सहोदर भाई थे और शैशव में ही 'दादू' को अर्पित कर दिये गये थे। कुछ विवेचक तो इन दोनों सन्तो को दादू महाराज का पुत्र मानते हैं। वस्तुतः इस प्रकार की धारणा कपोलकल्पित नहीं है। भक्तमाल[1] (राघोदास कृत) और दादू जन्म-लीला परची[2] (जनगोपाल कृत) में ऐसे अंश मिलते हैं जिनके आधार पर उनकी यह धारणा सत्य प्रमाणित होती है। स्वामी 'मंगलदास' ने 'गरीबदास' की वाणी में 'जैमल चौहाण' भक्त बिड़दावलि का भी उल्लेख किया है। इन प्रमाणों मे प्रायः एक ही परम्परा के पालन करने की भावना दृष्टिगोचर होता है। अगर हम 'दादू' को इनका पिता मान लेते हैं तो फिर उन्हे गृहस्थ मानना आवश्यक हो जाता है। पर इसके प्रभूत प्रमाण नहीं मिलते। यह मानना अधिक उपयुक्त है कि इनके माता-पिता श्रद्धालु भक्त थे। उनकी दादू पर अटूट श्रद्धा थी। वे सम्भवतः अपने पुत्र को दादू जी की दया का प्रसाद मानते थे। इसीलिये सम्भवतः पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् उन्होंने अपने इन पुत्रो को स्वामीजी की सेवा,

---

१—दादूजी सुवन सूरबीर धीर सापुरस,
गरीबनिवाज यौं गरीबदास गाइये।
—राघोदास—भक्तमाल पृ० १८४, देखिये मंगलदास की दादूवाणी की भूमिका।

२—नट की बानी कछु न जानैं, करता की गति कौन बखानैं।
ज्यौं कबीर के भया कमाला, त्यौं स्वामी के उपजे बाला।
सांभर गांव र समो बतीसा, सावन जन्म दियौ जगदीसा।
दादू पिता प्रगट हैं जाके, गरीबदास सुत उपज्यौ ताके।
—जनगोपाल कृत दादू जन्मलीला परची, पृष्ठ ९५-९६।

में समर्पित कर दिया था। इस घटना के बाद ये लोग उनके पुत्र कहलाये। उपर्युक्त घटना के सूत्र उन्हीं पुस्तकों में मिलते हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है।[1] आशीर्वाद से पुत्रोत्पत्ति की घटना अगर सत्य मानी जाय तो उसके आधार पर इनके पिता का नाम 'दामोदरदास' था जो सांभर के निवासी थे। इनका जन्म सं० १६३२ में हुआ था और सं० १६९३ में ६१ वर्ष की अवस्था मे ये ब्रह्मलीन हुए।

गरीबदास दादू के परम प्रिय शिष्य थे। इसीलिये प्रायः सभी दादूपंथी रचनाकारों ने इनके विषय में कुछ न कुछ लिखा है। इनका 'अनभै प्रबोध ग्रन्थ' विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त इन्होंने ४७ पदो की रचना भी की है जो विभिन्न राग-रागिनियों में विभाजित हैं।

सन्त बषना

बषनाजी की जन्मतिथि विवादास्पद है। ये दादू के शिष्य थे और सांभर में रहते थे। दादू ने सांभर में सं० १६२०–१६३२ तक निवास किया था। ऐसा ज्ञात होता है कि इन्होंने इसी काल के बीच दीक्षा ग्रहण की थी। यह भी प्रायः निर्विवाद है कि ये गृहस्थ सन्त थे और सांभर में अपने परिवार के साथ रहते थे। इस बात से यह तथ्य सरलता से जाना जा सकता है कि शिष्यत्व ग्रहण करने के समय इनकी आयु २५ वर्ष से अधिक ही रही होगी। इस अनुमान के आधार पर इनका जन्मकाल सं० सोलह सौ से सोलह सौ दस के बीच ज्ञात होता है। ये जाति के मुसलमान थे और दादू के ब्रह्मलीन होने के पश्चात् इस असार-संसार को छोड़कर ब्रह्मलीन हुए। संभव है कि उनके ब्रह्मलीन होने का समय सं० १६६० से १६८० के बीच हो। इनकी रचना साखी और पद मे मिलती है। वाणी का विभाजन अंगों में किया गया है और पदों का विभिन्न राग-रागिनियो मे। इनके द्वारा रचित पदों की संख्या १६७ है। अब जैपुर से स्वामी मंगलदास के प्रयत्नसे इनकी सम्पूर्ण वाणी प्रकाशित हो चुकी है। परशुराम जी के अनुसार इनकी वाणियों की संख्या ४८००० मानी जाती है, पर सद्यः प्रकाशित वाणी संग्रह के अनुसार यह संख्या प्रमाणित नहीं होती।

भीषजन

ये दादूपंथ के प्रमुख सन्त थे। इनका निवास-स्थान शेखावटी था। इनके गुरु सन्तदास थे। इनकी रचना का समय सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इनकी दो रचनाओं का उल्लेख मिलता है। पहली को 'सरबंगी बावनी' के नाम से अभिहित किया जाता है और दूसरी को 'भारती नाममाला' के नाम से। द्वितीय पुस्तक अमरकोष का हिन्दी अनुवाद है। इस पुस्तक का आरम्भकाल सं० १६८५ है। यह पुस्तक दोहे छन्द में है और वह पांच सौ सत्रह दोहे तथा आठ कवित्त मे समाप्त हुई है, जैसा कि समाप्ति पर उन्होंने इस दोहे में व्यक्त किया है। सम्भवतः अधिक रचनायें करने के कारण इन्हें 'बारह हजारी' कहा जाता है—

१—देखिये गरीबदास की बानी—सं० स्वामी मंगलदास-प्राक्कथन, पृ० ३

संख्या सब गुण दोहरा, कृत 'जन भीख' सुचेत।
सत्रह ऊपर पांच सौ, आठौ कवित सहेत।

भक्तमाल कार राघव दास ने दादू जी के प्रशिष्यो की चर्चा करते हुए भीषजन के संबंध में निम्नलिखित छप्पय लिखा है—

भीख बावनी प्रसिधि, सुतौ सारे जग होई,
जा माँहि सब भाव, जाहि भावै सो सोई।
संत दास गुरु धारि उर राघो हरि मैं मिलि गये॥[1]

बालकराम जी

ये छोटे सुन्दरदास के शिष्य थे। योग्य गुरु का शिष्यत्व स्वीकार करने के कारण ये भी प्रतिभा सम्पन्न और तपोनिष्ठ साधक सिद्ध हुए। शिष्यत्व ग्रहण करने के पश्चात् इन्होंने काव्य रचना आरम्भ की। इनके ५५ कवित्त उपलब्ध होते हैं। ये कुण्डलियाँ, मनहर तथा इन्दव छन्दो में लिखे गये हैं।

छीतर जी

छीतर की सवैयो का विषय महाराज दादू की भेंट से संबंधित है। ये इन्दव छन्दो में लिखे गये हैं। इन सवैयो में गुरु की महत्ता प्रतिपादित की गई है। स्वामी मंगलदास ने 'पंचामृत' में निम्नांकित सवैया उद्धृत किया है—

दीरघ गोविन्द दास पाटि अँबरावर राजै।
खेम सरस सरवाड, तास सिव तहाँ विराजै।
हरीदास छीतर जगन, दामोदर केशो,
कल्याण द्वै बनवारी, राम रत गहिमत वेसो।
जनराघो मंगल रातदिन, दीसै दे दै कार अब,
इमि रज्जब अज्जब महन्त के, भले पिछो पे साध सब।[2]

इस उद्धरण में 'रज्जब' जी के शिष्यों का नामोल्लेख है। इससे यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि 'छीतर दास' रज्जब जी के शिष्य थे।

खेमदास

ये 'दादू' जी की शिष्य परम्परा में 'रज्जब' जी के चेले थे। इनके द्वारा रचित चार ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। ये ग्रन्थ निम्नांकित हैं—

(१) कर्म-धर्म संवाद (२) सुखसंवाद (३) चितावणी योग संग्रह (४) साखी। ये ग्रन्थ इनकी ज्ञान गरिमा के अनुपम परिचायक हैं। उपर्युक्त ग्रन्थो का उल्लेख मेनारिया जी ने राजस्थानी भाषा और साहित्य में किया है। स्वामी मंगल दास ने जो सूची उद्धृत की है, वह उपर्युक्त पुस्तक सूची से कुछ भिन्न है। ये पुस्तकें निम्नांकित हैं—

१—राघवकृत भक्तमाल पृ० २४०
२—स्वामी मंगलदास-पंचामृत, पृ० औ-अं।

(१) शुकसंवाद (२) गोपीचन्द वैराग्य बोध (३) धर्मसंवाद (४) ज्ञान चितावणि (५) भयानक चितावणि। खेमदास की भाषा में उर्दू फारसी के अनेक शब्द प्रयुक्त हैं। चिन्तन की दृष्टि से ये दादूपंथी मान्यताओं के अनुपम परिचायक सिद्ध होते हैं।

वाजिन्द जी

ये पठान कुल में पैदा हुए थे। जनश्रुति है कि गर्भिणी हरिणी का शिकार करते समय इनके मन में अचानक ग्लानि उत्पन्न हुई और ये गुरु की तलाश में चल पड़े। भक्तमाल में इनके विषय में लिखा है :—

छाड़ि के पठांण कुल राम नाम कीन्हौ पाठ,
भजन प्रताप सूं वाजिन्द बाजी जीत्यो है।
हिरणी हतत उर डर भयौ भयकरि,
सील भाव उपज्यो दुसील भाव बीत्यो है।
तोरे हैं कवाण तीर चांणक दियो शरीर,
दादूजी दयाल गुरु अन्तर उदीत्यो है।
राघोरति रात दिन देह दिल मालिक सूँ,
खालिक सूँ खेल्यो जैसे खेलण की रीत्यो है।

इनके निम्नांकित ग्रन्थ हैं[1]—

(१) आरिलैं (२) गुणकटियारा नामा (३) गुण उत्पत्ति नामा (४) गुण श्री मुखनामा (५) गुण धरियानामा (६) गुण हरिजन नामा (७) गुण नांव माला (८) गुणगंजनामा (९) गुणनिर्मोही नामा (१०) गुणप्रेम कहानी (११) गुण विरह का अंग (१२) गुणनिसानी (१३) गुण छंद (१४) गुणहित उपदेश ग्रन्थ (१५) राजकीर्तन पद।

राघोदास

इनके जीवन के संबंध में उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह अभी सिद्ध नहीं हो पाया है कि वे कब और किस स्थान पर पैदा हुए थे। 'राघवदास' कृत 'भक्तमाल' की भूमिका में श्री अगरचन्द 'नाहटा' ने इन्हें पीपावंशी 'चांगल गोत्रज' माना है और इनके पिता का नाम 'हरिराज' तथा माता का नाम 'रतनाई' स्वीकार किया है। 'दादू' की शिष्य-परम्परा में 'प्रह्लाददास' विशेष ख्याति प्राप्त माने जाते हैं। 'प्रह्लाददास' घाटदेव में विराजते थे, जहाँ उनकी चरणपादुका और छतरी आज भी विद्यमान हैं। इनके प्रमुख शिष्य 'हरिदास' थे।[2] राघोदास इसी 'हरिदास' के प्रमुख शिष्य माने जाते हैं। 'राघोदास' ने अपने 'भक्तमाल' में शिष्यों के स्थान-निरूपण के प्रसंग में स्वयं लिखा है[3]—

सुन्दर प्रह्लाददास, घाट डै सु छौड माथे,
पूरब चतुरभुज, रामपुर वाराजही।

१—राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृ० २६६।
२—देखिये राघवदास कृत भक्तमाल-भूमिका-पृ०-त
३—वही-पृ०-२७०।

'भक्तमाल' की भूमिका में निम्नांकित पद उद्घृत किया गया है जिससे ये उपर्युक्त तथ्य और स्पष्टता से प्रमाणित हो जाते हैं[१]—

नमो तात हरिराज नमो रतनाई माई।
जीव वध मद मांस छुड़ायो केसीबाई।
सत संगति गति ग्यांन ध्यांन धुनि धर्म बतायो।
हरीदास परमहंस परष पूरो गुरु पायो॥
राघो रज मो पायकै रामरत उमग्यो हियो।
दादू जी के पंथ को तब ही तनक वर्णन कियो॥

उपरोक्त उद्धरणो से सिद्ध होता है कि 'राघवदास' 'हरिदास' के शिष्य थे। प्रह्लाद-दास ने अपने को सुन्दरदास जी (बड़े) का शिष्य माना है। इस प्रकार 'दादू' की शिष्य-प्रशिष्य परम्परा में राघवदास पाँचवें स्थान पर आते हैं। 'दादू' के शिष्य सुन्दरदास (बड़े), सुन्दरदास के शिष्य प्रह्लाददास, प्रह्लाददास के शिष्य 'हरिदास' और हरिदास के शिष्य 'राघवदास' माने जाते हैं।

राघवदास के ग्रंथों मे 'भक्तमाल' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। चारण कवि 'ब्रह्मदास' के भगतमाल के बाद 'राघवदास' कृत 'भक्तमाल' दादूपंथी संतों के चरित्र-निरूपण की दृष्टि से अनुपम ग्रंथ है। इस ग्रंथ की टीका चतुरदास ने लिखी है। भक्तमाल की दो प्रतियाँ स्व० पुरोहित हरिनारायण जी के विद्याभूषण संग्रह में विद्यमान हैं। इनमें से एक प्रति सं० १८६१ की है। इसका विस्तृत उल्लेख 'अगरचन्द नाहटा' द्वारा संपादित 'भक्तमाल' की भूमिका पृ० ब पर मिलता है। राघवदास जी ने 'भक्तमाल' की समाप्ति पर निम्नांकित काल-ज्ञापक दोहा लिखा है[२]—

सम्बत् सत्रहै सै सत्रहोतरा, शुक्ल पक्ष शनिवार।
तिथि तृतिया अषाढ़ की, राघो कियो उचार॥

यद्यपि इनके भक्तमाल की रचना नाभादास के भक्तमाल के अनुकरण पर की गयी है, पर इनका दृष्टिकोण 'दादूपंथी' संप्रदाय के निरूपण की दृष्टि से अधिक उदार और व्यापक है। 'नाभादास' ने अपने ग्रंथ में केवल वैष्णव भक्तों का वर्णन किया है, पर इन्होंने इन भक्तो के अतिरिक्त 'रामानुज', 'कबीर' 'नानक' आदि के साथ ही सन्यासी, योगी, 'जैनी', बौद्ध, यवन, फकीर आदि भक्तों का भी उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ का रचना काल सं० १७१७ माना गया है। 'राघवदास' की रचनाओं में वाणी, साखी, अरिल, लघुग्रंथ आदि उपलब्ध हैं। पद अंगों में १६३७ साखियाँ हैं। अरिल के १७ अंग है जिनकी संख्या ३७० है। लघु ग्रन्थावली में (१) हरिश्चन्द्र सत (२) ध्रुवचरित्र (३) गुरु-शिष्य-सम्वाद (४) गुरुदत्त रामरज (५) पन्द्रहा तिथि विचार (६) सतवार (७) भक्तिजोग (८) चिन्तामणि ज्ञान निषेध है। १३ अंग कवित्तो के हैं, जिनमें करीब सवा सौ कवित्त हैं।

१—वही—पृ०—थ।
२—वही—पृ०—द।

निश्चलदास

आध्यात्मिक तत्वों की सूक्ष्म पकड़ और वेदान्त के गहन अध्ययन की दृष्टि से निश्चलदास का स्थान दादू पंथी साहित्य में विशेष महत्त्वपूर्ण है। ये आरम्भ से ही जिज्ञासु वृत्ति के व्यक्ति थे। ये पंजाब जिले के हांसी तहसील के कूगड़ गाँव में एक जाट परिवार में उत्पन्न हुए थे।[1] उस समय निम्न जाति में उत्पन्न व्यक्तियों के लिये वेदान्त का अध्ययन निषिद्ध था। पर निश्चलदास की जिज्ञासा सरलतापूर्वक शान्त होने वाली न थी। वे काशी आये और अपने को ब्राह्मण का शिष्य बताकर विद्याव्यसन में जुट गये। "होनहार विरवान के होत चीकने पात" वाली कहावत इनके साथ चरितार्थ हुई। इन्होंने अन्य शास्त्रों के साथ-साथ वेदान्त के गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों पर भी पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया। इन्होंने अपने विचार-सागर के अन्त में स्वयं कहा है —

> सांख्य न्याय में श्रम कियो, पढ़ि व्याकरण अशेष।
> पढ़े ग्रन्थ अद्वैत के रहे न एकहु शेष॥[2]
> कठिन जु और निबन्ध हैं, जिनमें मत के भेद।
> श्रम तें अवगाहन किये, निश्चलदास सवेद॥

शरीर से हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर और आकर्षक तो थे ही, इन्हे ब्राह्मण समझकर एक व्यक्ति इनके साथ अपनी कन्या के पाणिग्रहण के लिये हठ करने लगा। इन्हे विवश होकर अपने जाति सम्बन्धी रहस्य का उद्‌घाटन करना पड़ा। इस बात से रुष्ट होकर ब्राह्मणों ने इन्हें दण्डित किया और आदेश दिया कि तुम्हें अपने गार्हस्थ्य जीवन में अब दो विवाह करने पड़ेंगे।[3] निश्चलदास ने ऐसा ही किया। घर लौटने पर ब्राह्मणों की आज्ञा पूर्ति के पश्चात् ये वेदान्त की शिक्षा देने लगे। इन्होंने 'विचारसागर', 'वृत्तिप्रभाकर' और 'मुक्ति प्रकाश' नामक ग्रन्थों की रचना की है। इसके अतिरिक्त इन्होंने संस्कृत में कठोपनिषद् की व्याख्या की है और एक वैद्यक का ग्रन्थ भी लिखा है। विचारसागर अपने ढग का अद्वितीय ग्रन्थ है। वेदान्त के सफल निरूपण की दृष्टि से प्रायः सभी लोगों ने इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

प्रागदास

प्रागदास जी बीहाणी जोधपुर के अन्तर्गत डीडवाना और फतहपुर में रहते थे। सन्त सुन्दरदास (छोटे) भी इन्हीं के साथ रहकर साधना और तपस्या करते थे। प्रागदास के अन्तरंग शिष्यों में वहां के विशिष्ट जन और कवि थे। इस मण्डल के विचारक धर्म-सहिष्णुता के अनुपम परिचायक थे। सं० १६८८ में इनकी मृत्यु के पश्चात्

१—उत्तरी भारत की संत परंपरा—पृ० ५१४।
२—विचार-सागर, छंद संख्या १११ तथा ११२।
३—उत्तरी भारत की संत-परंपरा—पृ० ५१५

सुन्दरदास भी वहां से चले गये। 'डीडवाना' आज भी संप्रदाय का प्रमुख केन्द्र है। जनश्रुति के अनुसार इनके द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थ हैं, पर वे अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाये हैं।

जगजीवन

ऐसा माना जाता है कि जगजीवन आरम्भ में प्रमुख शास्त्रज्ञ, सुविख्यात विद्याव्यसनी और दार्शनिक थे। इन्होंने बहुत समय तक संस्कृत के 'आकरग्रन्थों' का अध्ययन किया था। परिणाम स्वरूप ये कट्टर धार्मिक भावना से पूर्णरूपेण ओत-प्रोत थे। ऐसा माना जाता है कि इसी के वशीभूत होकर इन्होंने आमेर में 'दादू' से शास्त्रार्थ करना चाहा, पर उनके व्यक्तित्व के गुरु गाम्भीर्य से वे इतने प्रभावित हुए कि उनके शिष्य हो गये। ये 'दादू' के परम प्रिय शिष्य थे। वेदान्त के अध्ययन के कारण इन पर वैदिक धारा का पर्याप्त प्रभाव था। इनके द्वारा रचित वाणी एक महान् ग्रन्थ है। उसकी भाषा सरस और प्रभावोत्पादक है। वाणी के अतिरिक्त पदों की रचना भी विशेष महत्वपूर्ण है।

मोहनदास दफ्तरी

जनश्रुति है कि मोहनदास 'दादू' के निकटतम शिष्यों में थे। दादू जो उपदेश देते थे ये उसे तुरन्त लिख लिया करते थे। यह कार्य करने के कारण इन्हें दफ्तरी की संज्ञा दी गई। राघवदास के भक्तमाल में इनका निम्न लिखित उल्लेख किया गया है—

'मोहन दास रहे गुरु पास अभ्यास रषै पद प्रीतिजु साषी।
आनन्द माहिं उचार करै, तब ता छिन आप लिषै अभिलाषी।
धारि मनोमधि ध्यान करै अति पारिष के निज हेतसु राषी।
पांच पचीस हु भार भये थिर यों रसना सु रसायन चाषी॥

अथवा— दादू दीनदयाल की बाणी ब्रह्म रसाल,
मोहन दास षजानची, ले दफतर दर हाल।
ले दफतर दर हाल द्वात लेषणि नित संगा,
साषी शबद उचार भये ते लिख्यो उमंगा।'[1]

मोहनदास ने उनकी सम्पूर्ण वाणी के लेखन का ही कार्य नहीं किया अपितु उसे अंगबद्ध करने में भी उन्होंने पर्याप्त सहायता दी। मोहनदास को लोग विशेष श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। टीला जी का यह पद इस सन्दर्भ मे विशेष महत्वपूर्ण है—

'बाबा मोहन आये हो।
आज्ञाकारी साध थो, थे वेग बुलाये हो।

१—देखिये सन्त साहित्य सुमनमाला-पंचम सुमन सं० स्वामी मंगलदास-पृ० ४।

पद लिखतो साषी लिषी अरु अरथ विचार्यो हो।
तुमहीं सो सनमुख रह्यो, और सबै निवार्यो हो।[1]

दादू की मृत्यु के पश्चात् ही ये ब्रह्मलीन हुए। इनका एक लघु ग्रन्थ ब्रह्मलीला के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें ४३ साषी और ३९ पद हैं।

मसकीन दास

मसकीन दास गरीबदास के भाई थे। अतएव इनके जीवन के सम्बन्ध में भी वही दन्त कथा प्रचलित है जो गरीबदास के जन्म से सम्बद्ध है। इनका जन्म सं० १६३४ में हुआ था और ये सं० १७०५ की वैशाख बदी ८ को ब्रह्मलीन हुए थे। नराणे की महन्त-परम्परा को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि गरीबदास की मृत्यु के पश्चात् ये गद्दी पर बैठे थे। इनके रचे हुए केवल बारह पदों का उल्लेख मिलता है।

दूजनदास

स्वामी मंगलदास के अनुसार इनका काल सं० १६४०-१६८० तक है। इनकी परम्परा ईडवे स्थान से चली थी। ये वस्तुतः सभी प्रकार के मानवीय गुणों से विभूषित थे। ये निरंजन के उपासक थे। नराणा के संग्रहालय में इनकी रचना का एक संग्रह सुरक्षित है। उसके देखने से ज्ञात होता है कि इन्होंने दोहे, चोपाई और पदों की रचना की है। इनकी वाणी में प्रारम्भ में साषी भाग है जिसमें पांच अंग हैं। इसके बाद छः सवैया हैं। आगे एक लघु ग्रंथ बावनी दूसरा 'पन्द्रह तिथि' तीसरा 'उपदेश चिंतामणि' हैं। ये तीनों लघु ग्रन्थ दोहे चौपाइयों में हैं। इससे आगे पद भाग है। प्रायः पदों की संख्या पैंतीस है।

जनगोपाल

दादू जन्मलीला परची के रचयिता जनगोपाल जी जाति के वैश्य थे और फतहपुर सीकरी में निवास करते थे। ये स्वभाव से गम्भीर और वैराग्य प्रधान प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। जनश्रुति के अनुसार अकबर से मिलने के लिये दादू महाराज जब सीकरी पधारे तो उसी समय इन्होंने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। शिष्य हो जाने के पश्चात् ये भी 'दादू' के साथ आमेर चले आये और वहीं रहने लगे। गुरु की मृत्यु के पश्चात् इन्होंने 'जन्मलीला परची' का प्रणयन किया। दादूपंथी संतों में इनके ग्रंथ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मेनारिया जी ने इनके निम्नलिखित ग्रन्थों का उल्लेख किया है:—

(१) दादू जन्मलीला परची (२) ध्रुवचरित्र (३) प्रह्लादचरित्र (४) भरतचरित्र (५) मोह-विवेक (६) चौबीस गुरुओं की लीला (७) शुकसंवाद (८) अनंतलीला,

१—संत-साहित्य-सुमनमाला, पंचम सुमन (संपादक-स्वामी मंगलदास) पृ० ५।

सुन्दरदास भी वहां से चले गये। 'डीडवाना' आज भी संप्रदाय का प्रमुख केन्द्र है। जनश्रुति के अनुसार इनके द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थ हैं, पर वे अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाये हैं।

जगजीवन

ऐसा माना जाता है कि जगजीवन आरम्भ में प्रमुख शास्त्रज्ञ, सुविख्यात विद्याव्यसनी और दार्शनिक थे। इन्होंने बहुत समय तक संस्कृत के 'आकरग्रन्थों' का अध्ययन किया था। परिणाम स्वरूप ये कट्टर धार्मिक भावना से पूर्णरूपेण ओत-प्रोत थे। ऐसा माना जाता है कि इसी के वशीभूत होकर इन्होंने आमेर में 'दादू' से शास्त्रार्थ करना चाहा, पर उनके व्यक्तित्व के गुरु गाम्भीर्य से वे इतने प्रभावित हुए कि उनके शिष्य हो गये। ये 'दादू' के परम प्रिय शिष्य थे। वेदान्त के अध्ययन के कारण इन पर वैदिक धारा का पर्याप्त प्रभाव था। इनके द्वारा रचित वाणी एक महान् ग्रन्थ है। उसकी भाषा सरस और प्रभावोत्पादक है। वाणी के अतिरिक्त पदों की रचना भी विशेष महत्वपूर्ण है।

मोहनदास दफ्तरी

जनश्रुति है कि मोहनदास 'दादू' के निकटतम शिष्यों मे थे। दादू जो उपदेश देते थे ये उसे तुरन्त लिख लिया करते थे। यह कार्य करने के कारण इन्हे दफ्तरी की संज्ञा दी गई। राघवदास के भक्तमाल मे इनका निम्न लिखित उल्लेख किया गया है—

'मोहन दास रहे गुरु पास अभ्यास रषे पद प्रीतिजु साषी।
आनन्द माहिं उचार करै, तब ता छिन आप लिषै अभिलाषी।
धारि मनोमधि ध्यान करै अति पारिष के निज हेतसु राषी।
पांच पचीस हु भार भये थिर यों रसना सु रसायन चाषी॥

अथवा— दादू दीनदयाल की बाणी ब्रह्म रसाल,
मोहन दास षजानची, ले दफतर दर हाल।
ले दफतर दर हाल द्वात लेषणि नित संगा,
साषी शबद उचार भये ते लिख्यो उमंगा।'[1]

मोहनदास ने उनकी सम्पूर्ण वाणी के लेखन का ही कार्य नहीं किया अपितु उसे अंगबद्ध करने में भी उन्होंने पर्याप्त सहायता दी। मोहनदास को लोग विशेष श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। टीला जी का यह पद इस सन्दर्भ में विशेष महत्वपूर्ण है—

'बाबा मोहन आये हो।
आज्ञाकारी साध यो, थे वेग बुलाये हो।

१—देखिये सन्त साहित्य सुमनमाला-पंचम सुमन सं० स्वामी मंगलदास-पृ० ४।

पद लिखतो साषी लिषी अरु अरथ विचार्यो हो।
तुमहीं सो सनमुख रह्यो, और सबै निवार्यो हो।[1]

दादू की मृत्यु के पश्चात् ही ये ब्रह्मलीन हुए। इनका एक लघु ग्रन्थ ब्रह्मलीला के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें ४३ साषी और ३६ पद हैं।

मसकीन दास

मसकीन दास गरीबदास के भाई थे। अतएव इनके जीवन के सम्बन्ध में भी वही दन्त कथा प्रचलित है जो गरीबदास के जन्म से सम्बद्ध है। इनका जन्म सं० १६३४ में हुआ था और ये सं० १७०५ की वैशाख बदी ८ को ब्रह्मलीन हुए थे। नराणे की महन्त-परम्परा को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि गरीबदास की मृत्यु के पश्चात् ये गद्दी पर बैठे थे। इनके रचे हुए केवल बारह पदों का उल्लेख मिलता है।

दूजनदास

स्वामी मंगलदास के अनुसार इनका काल सं० १६४०-१६८० तक है। इनकी परम्परा ईडवे स्थान से चली थी। ये वस्तुतः सभी प्रकार के मानवीय गुणों से विभूषित थे। ये निरंजन के उपासक थे। नराणा के संग्रहालय में इनकी रचना का एक संग्रह सुरक्षित है। उसके देखने से ज्ञात होता है कि इन्होंने दोहे, चौपाई और पदों की रचना की है। इनकी वाणी में प्रारम्भ में साषी भाग है जिसमें पाच अंग हैं। इसके बाद छः सवैया हैं। आगे एक लघु ग्रंथ बावनी दूसरा 'पन्द्रह तिथि' तीसरा 'उपदेश चिंतामणि' हैं। ये तीनों लघु ग्रन्थ दोहे चौपाइयों मे हैं। इससे आगे पद भाग है। प्राप्त पदों की संख्या पैंतीस है।

जनगोपाल

दादू जन्मलीला परची के रचयिता जनगोपाल जी जाति के वैश्य थे और फतहपुर सीकरी मे निवास करते थे। ये स्वभाव से गम्भीर और वैराग्य प्रधान प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। जनश्रुति के अनुसार अकबर से मिलने के लिये दादू महाराज जब सीकरी पधारे तो उसी समय इन्होंने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। शिष्य हो जाने के पश्चात् ये भी 'दादू' के साथ आमेर चले आये और वहीं रहने लगे। गुरु की मृत्यु के पश्चात् इन्होंने 'जन्मलीला-परची' का प्रणयन किया। दादूपंथी संतों मे इनके ग्रंथ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मेनारिया जी ने इनके निम्नलिखित ग्रन्थों का उल्लेख किया है :—

(१) दादू जन्मलीला परची (२) ध्रुवचरित्र (३) प्रह्लादचरित्र (४) भरतचरित्र (५) मोह-विवेक (६) चौबीस गुरुओं की लीला (७) शुकसंवाद (८) अनंतलीला;

१—संत-साहित्य-सुमनमाला, पंचम सुमन (संपादक-स्वामी मंगलदास) पृ० ५।

(९) बारहमासिया (१०) भेंट के कवित्तसवैये (११) जखड़ी प्राण काया संवाद (१२) साखी पद इत्यादि।[1] सन्तों में इनके पद और सवैये विशेष लोकप्रिय हैं।

टीला

सांभर में दादूदयाल का शिष्यत्व ग्रहण करने के पश्चात् ये निरंतर उन्हीं के समीप रहने लगे। ये लगनशील और साधनारत व्यक्ति थे। इसीलिये अल्प जीवनकाल में ही इन्होंने अनन्त सिद्धियां प्राप्त कर ली थीं। दादू दयाल के ब्रह्मलीन होने की घटना से इन्हें अत्यधिक आघात पहुंचा और थोडे ही दिन बाद इस नश्वर शरीर को छोड़कर ये ब्रह्मलीन हो गये। इनकी रचनायें अधिक न होने के बावजूद भी महत्वपूर्ण हैं। उनका दादूपंथी बड़ा सम्मान करते हैं।

जगन्नाथदास

ये जाति के कायस्थ थे और १६४० में आमेर में दादू जी के शिष्य हुए थे। शिष्यत्व ग्रहण करने के पश्चात् ये उन्हीं के साथ रहते थे।

जगन्नाथदास के सम्पूर्ण साहित्य की प्रति दादूमंदिर नराणा में हस्तलिखित रूप में पड़ी हुई है। उसका अवलोकन करने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि इनका साहित्य महत्वपूर्ण है। यह दो भागों मे विभाजित है—(१) साखी और (२) पद। साखियों की संख्या बहुत बडी है। ये अंगों मे विभाजित हैं। पद राग-रागिनियों मे विभक्त हैं।

इनकी वाणी के अतिरिक्त गुणगजनामा, गीतासार तथा योगवाशिष्ठसार आदि ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। साहित्योपलब्धि की दृष्टि से इनकी कृति का विशेष महत्व है।

संतदास

ये चमरिया गोत्र के अग्रवाल महाजन थे। इनके जन्म के विषय में कुछ पता नहीं है। इन्होंने १६९६ ई० मे जीवित समाधि ली थी। इनका एक स्मारक अब भी फतहपुर में विद्यमान है। इनकी वाणी अप्रकाशित रूप में नराणा के संग्रहालय में विद्यमान है। इनके साखी और पदों की संख्या १२००० मानी जाती है।

इनके अतिरिक्त अन्य सन्त भी हैं जिनका इस सम्प्रदाय में विशेष महत्व है। उनके विषय में ज्ञातव्य बातो का विगत पृष्ठों के आँकड़े में उल्लेख है।

दादूपंथ

महात्मा 'दादू' की आकांक्षा पथ-प्रवर्तन की नहीं थी। वे तो केवल निरंजन निराकार ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार कर अपने ज्ञानोपदेश से मानव-कल्याण करना चाहते

१—राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृ० २९०-९१।

थे। पहले इस सम्प्रदाय का कोई नाम नही रखा गया था। कुछ शिष्यो ने इनके सम्प्रदाय को 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' कहा। श्री सुन्दरदास ने गुरुसम्प्रदाय ग्रन्थ मे 'परमब्रह्म सम्प्रदाय' का नाम दिया है। किन्तु यह नाम कहीं भी प्रचलित न हो सका।[1] परमब्रह्म सम्प्रदाय के विषय में आचार्य चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा' में विचार किया है। उनके अनुसार इस पथ के आदि गुरु परमब्रह्म थे। उन्हीं के नाम पर उसका नामकरण हुआ। इसकी चर्चा छोटे सुन्दरदास ने अपने 'गुरुसम्प्रदाय' नामक ग्रन्थ मे की है कि परमात्मा सबका गुरु है। विश्वरूपी चित्रकारी उसकी कृति है। वह सब में व्याप्त है। तदुपरांत शिष्य-परम्परा के नाम ब्रह्मानन्द, पूर्णानन्द अच्युतानन्द से लेकर वृद्धानन्द तक आते हैं। इस अंतिम गुरु वृद्धानन्द के ही शिष्य दादूदयाल थे। अतः परमब्रह्म से परम्परा चलने के कारण उसका नाम 'परब्रह्म सम्प्रदाय' पड़ा।[2] आचार्य चतुर्वेदी का कहना है कि 'दादू-दयाल' को छोड़कर इस सम्प्रदाय के ये उपर्युक्त गुरु नाम किसी व्यक्ति विशेष के नहीं जान पड़ते।[3] दादूदयाल के गुरु वृद्धानन्द के सम्बन्ध में सुन्दरदास का यह निरूपण कि वे सहज रूप से विचरण करते हैं, उनका ठौर-ठिकाना नहीं है—सिद्ध करता है कि उन्होंने आत्मानुभूति की क्रमशः उदात्त भूमियो के आधार पर उन उल्लिखित गुरुओं का नाम कल्पित कर लिया है। यह नितान्त अविश्वसनीय तथा भ्रमोत्पादक है कि परम ब्रह्म से लेकर उन तक केवल ३७ गुरु हुए। एक दूसरे ग्रन्थ मे श्री सुन्दरदास ने यह भी चर्चा की है कि सद्गुरु ब्रह्मस्वरूप है। उनके शब्दो से सारा संशय दूर हो जाता है। हृदय में करोड़ों सूर्य की दीप्ति के समान ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न होता है। उससे अज्ञान का अन्धकार नष्ट हो जाता है। यह वस्तुतः उनकी गुरु सम्बन्धी मान्यता है। द्रष्टव्य यह है कि जब दो विरोधी सम्प्रदाय एक दूसरे से संघर्ष करते हुए श्रान्त एव क्लान्त हो रहे थे, तो उसी समय दादू ने 'परब्रह्म सम्प्रदाय' को प्रचलित किया।[4] दादूदयाल ने अपनी रचनाओं में इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है अतः यह नाम उनके द्वारा प्रदत्त नहीं हो सकता। श्री रज्जब ने एक स्थान पर कहा है—

> "आये मेरे परंब्रह्म के प्यारे।
> त्रिगुण रहित निरगुण निज समरस सकल साग गहि डारे।"[5]

पर इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि 'दादू' परंब्रह्म के प्यारे थे।

पं० चन्द्रिका प्रसाद द्वारा संपादित 'दादूदयाल की वाणी' मे एक स्थान पर ब्रह्म-सम्प्रदाय के अनुयायी को दादूपंथी कहा गया है। यह पद कई अन्य 'दादूवाणी' की प्रतियों में भी उपलब्ध हैं। अतः इनके प्रक्षिप्त होने का सन्देह निराधार है। सम्भव है कि रामानुज, निम्बार्क, विष्णुस्वामी तथा मध्वाचार्य के अनुयायियों के अनुकरण पर सुन्दरदास ने सर्वप्रथम दादू के लिए इस शब्द का प्रयोग किया। सुन्दरदास एवं दादू के

१—सुन्दर ग्रन्थावली प्रथम खण्ड, जीवन चरित्र-पृ० १३१।
२—वही, पृष्ठ १९७-२०२।
३—उत्तरी भारत की संत परम्परा-पृ० ५१६।
४—सुन्दर ग्रन्थावली—प्रथम भाग, पृ० २८४।
५—'राजस्थान' वर्ष १, खण्ड दो, पृ० ७५ से उद्धृत।

अन्य अनुयायियों ने कालान्तर में वेदान्त के सिद्धान्तों का ही विशेष विवेचन किया है अतः इस शब्द की सार्थकता सिद्ध हो जाती है।

सुन्दरदास ने 'गुरु-कृपा अष्टक' में भी ब्रह्मसम्प्रदाय की चर्चा की है। उन्होंने पंथ को परंब्रह्म संप्रदाय कहा है।

सद्गुरु ब्रह्मस्वरूप रूप धारहिं जग माहीं।
जिनके शब्द अनूप सुनत सब संशय जाहीं।
उर मंहि ज्ञान प्रकाश होत कछु लगै न बारा।
अंधकार मिट जाइ कोटि सूरय उजियारा॥
दादूदयाल दह दिशि प्रगट भगरि भगरि द्वै पंथ थकी।
कहि सुन्दरपंथ प्रसिद्ध यह सम्प्रदाय परब्रह्म की।[1]

वास्तव में परंब्रह्म सम्प्रदाय दादू द्वारा वर्णित सत्य की व्याख्या के प्रसंग में भी उद्धृत किया गया है। यह कोई नवीन पंथ नहीं है अपितु ब्रह्म संबंधी चर्चा जो अनादि-काल से चली आ रही थी वही सर्वव्यापक, गुणातीत परमेश्वर के चिन्तन का नवीन स्वरूप ही था। इसीलिये सुन्दरदास कहते हैं—

गह्यो सत्य सोई, लह्यो पंथ आदू।
नमो देव दादू। नमो देव दादू।[2]

यह पंथ किसी एक प्रवर्तक का नहीं है, अपितु अनेक संत इसी पंथ के अनुगामी हुए हैं। यह सहज पथ है। इसी पंथ के द्वारा सहजानन्द की प्राप्ति हो सकती है। इस पंथ के लिये किसी चिह्न की आवश्यकता नहीं है और न कृत्रिम आडम्बर की। इसमें न तीर्थयात्रा आवश्यक है और न व्रत, नियम, आचार, आसन, प्राणायाम तथा योग। शरीर छोड़कर सहज सुन्दर स्वभाव से इस पंथ का अनुगमन किया जाता है।

अलखदरीबा

भक्तजन दिनभर अपना कार्य करने के पश्चात् एकत्र होकर धर्म-कर्म तथा साधना के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करते थे। इस प्रकार की गोष्ठी को 'अलखदरीबा' की संज्ञा दी गई है। यह क्रम दादू के जीवनकाल में आरम्भ हो गया था। इस 'अलखदरीबा' से ही विचारगोष्ठी की धारा प्रवाहित हुई होगी—ऐसा उल्लेख क्षितिमोहन सेन की 'दादू' नामक पुस्तक में मिलता है।

महात्मा दादू के ब्रह्मलीन होने पर सन्त गरीबदास की अध्यक्षता में उनके शिष्य नराणे में एकत्र हुए। दादू जी की विचार-परम्परा को स्थायित्व प्रदान करने के लिये निश्चय किया गया कि वर्ष में एक बार सभी भक्त किसी विशेष अवसर पर एकत्र होकर विचार-विमर्श करें। उसी समय से दादू के जन्मदिन फागुन 'शुक्ल' अष्टमी को प्रतिवर्ष

१—पुरोहित हरिनारायण, सुन्दरग्रंथावली, प्रथम खण्ड, गुरु कृपा अष्टक छप्पय १, पृ० २४४
२—वही, गुरुदेव महिमा-पृ० २५६।

नराणे में मेला लगता है। महाराज दादूदयाल की गद्दी पर आसीन होने वाले महंतो की क्रमागत नामावली का उल्लेख इसी अध्याय मे इसके पूर्व की तालिका में हो चुका है।

दादू जी के पश्चात् जितने भी आचार्य हुए हैं उनमे अधिकांश अत्यन्त उच्चकोटि के महात्मा हो गये हैं जिन्हें बहुत से राज्यों की ओर से गाँव, जमीन, कोठी, कुएँ आदि भेंट स्वरूप प्राप्त हुए। दादू जी की मृत्यु के उपरान्त आचार्य-परम्परा के साथ-साथ उनकी शिष्य-परम्परा भी चलती रही। उभय प्रणालियों द्वारा पंथ का विकास होता रहा जो आगे चलकर सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ। विचारो की जो विशेषतायें दादू जी महाराज ने प्रचलित की थीं उनपर दृढतापूर्वक चलनेवाला समाज 'दादूपथीसमाज' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। गरीबदास से लेकर प्रायः सौ वर्षों तक अर्थात् दादूदयाल की चौथी पीढ़ी में फकीरदास तक पंथ का विकास अक्षुण्ण रहा।[1] जैसे-जैसे अनुयायियों की सख्या में वृद्धि होने लगी, नये स्थानो और थांभों का निर्माण होने लगा। कालप्रभाव तथा दूसरे सम्प्रदायों से प्रभावित होकर दादूपंथ मे भी महन्त, सन्त, मेले, गद्दी, छड़ी, चंवर आदि का व्यवहार होने लगा। रज्जब जी, सुन्दरदास, प्रागदास, बनवारीदास आदि प्रधान दादू शिष्यों का देहान्त हो जाने के पश्चात् उनके भिन्न-भिन्न थामे क्रमशः शक्तिग्रहण करने लगे तथा उनमें अलगाव की भी भावना उत्पन्न होने लगी।

सम्प्रदाय की वृद्धि के साथ-साथ पंथ की तत्परता में कुछ कमी आने लगी परन्तु दादू जी के शिष्यों ने यह भावना दृढ़ कर ली थी कि महराज के वाक्यों के सिवाय और किसी की उपासना नहीं करनी चाहिये। उसी का परिणाम है कि यह सम्प्रदाय मन्दिर, मठ एवं मूर्तियों से अब तक बचा हुआ है। प्रत्येक स्थान मे दादूवाणी की ही पूजा होती है। इसी का पठन-पाठन होता है, सायंकाल इसी की आरतो होती है और अष्टकों का पाठ होता है। स्थान की स्वच्छता और रहन सहन की उच्चता इस सम्प्रदाय की विशेषता है। छापा, तिलक, माला-कठी, यज्ञोपवीत, व्रत-उपवास, तीर्थ आदि का कोई बंधा हुआ भार इन पर नही है।[2]

इस सम्प्रदाय में विवाह करना उचित नहीं माना जाता। मृत्यु के उपरान्त मेला लगता है और इच्छानुसार पवनदाग करने की प्रथा है क्योंकि बहुत से महात्मा दाह का निषेध करते हैं। उत्तराधिकार के समय चद्दर ओढ़ाने का सस्कार होता है। अब उच्च वर्ण के हिन्दू और स्पृश्य ही शिष्य बनाये जाते हैं। नामजप में ओम, अविचल मंत्र अथवा राममंत्र का प्रयोग किया जाता है। मिलने पर परस्पर व्यवहार में 'सत्यराम' का प्रयोग होता है। प्रारम्भ में कपाली टोपी, लम्बा चोला, तुम्बी, पैरों मे तापड़ी, पंचकेश अथवा सर्वथा मुंडन एक ही प्रकार का वेश रखा जाता था। आगे चलकर साधुओं की विभिन्न जमातों में भेष की विभिन्नता हुई। इस सम्प्रदाय का पांच प्रकार की उपशाखाओं में विभाजन हुआ है। उनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१—उत्तरी भारत की संत परम्परा—पृ० ५३३-३४।
२—दादू संप्रदाय का संक्षिप्त इतिहास-दादू महाविद्यालय रजतजयंती ग्रन्थ—पृ० २५-२६।

(१) खालसा

दादूजी महाराज की आचार्य-परम्परा में गरीबदासजी और मसकीनदासजी दोनों की दो परम्परायें चलीं जिनके भिन्न-भिन्न स्थान निर्धारित हुए और अलग-अलग गद्दिया स्थापित की गई। इन गद्दियों के लोग खालसा कहे जाते हैं। इनकी संख्या कालान्तर में पर्याप्त रूप में बढ़ी और नराणा के अतिरिक्त अन्य स्थाना मे भी इनके थामे बने। आचार्य गद्दी के होने के कारण इनको विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाता है। पहले वे कान तक टोपी, चोला और कटिवस्त्र धारण करते थे। अब इनके अनुयायी टोपी की जगह साफा बांधने लगे हैं। कटिवस्त्र के स्थान पर धोती और चोले के स्थान पर कोट और कमीज पहनने लगे हैं। गरीबदास महाराज की परम्परा का स्थानधारी अब थाभापति माना जाता है उसका मुख्य स्थान नरेना में है। मसकीन दास की परम्परा अभी तक आचार्य गद्दी पर ही है। एक और थांभा इस समय बाई जी के नाम से प्रसिद्ध है जिसका मुख्य स्थान हरमाड़ा तथा चुरु मे था। चुरु का स्थान तो खाली है परन्तु हरमाड़े में अभी भी परम्परा प्रचलित है। दादूपंथियों की ओर से जो इसी सम्प्रदाय के हैं दादू महाविद्यालय नाम से सम्वत् १९७७ में एक विद्यालय स्थापित हुआ है। इस पथ के लोगों द्वारा मेले का आयोजन भी होता है।[1]

(२) विरक्त तपस्वी

दादूजी के अनुयायी बहुत से ऐसे साधु थे जिन्होंने किसी स्थान का आश्रय नहीं लिया और न किसी थामे का निर्माण किया। ये शरीर की रक्षा के लिये काषाय वस्त्र धारण करते हैं, जल का पात्र और दो-चार पुस्तकें पास में रखते हैं, और भिक्षा से जीवन-निर्वाह करते हैं। ये लोग विरक्त कहलाते हैं। जो लोग वस्त्र धारण नहीं करते और शरीर पर भस्म रमाते तथा जटा रखते हैं वे तपस्वी कहे जाते हैं। पहले विरक्त रहने वाले सफेद वस्त्र धारण करते थे या धूसर रग के कोयले से रगे हुए वस्त्र पहनते थे। बाद में रंग में परिवर्तन कर काषाय रंग को प्रधानता दी गई। किसी थांभा विशेष से ही विरक्त साधु बनते हैं।

विरक्त दोनों प्रकार के हैं। पहले प्रकार के विरक्त एकाकी जीवन व्यतीत करने वाले हैं। दूसरे प्रकार के 'मांडलिक' समूहों मे रहने वाले हैं। ये विरक्त अथवा मांडलिक वाणी का पठन-पाठन अथवा उपदेश नित्य प्रति किया करते हैं। चतुर्मास में भ्रमण नहीं करते। कालस्वभाव तथा सामूहिक स्थिति के कारण इस वर्ग की आज पहले जैसी बढ़ी-चढ़ी स्थिति नहीं है। फिर भी 'विरक्त' सज्ञा का संरक्षण, यह वर्ग अब भी तत्परता से कर रहा है। इस वर्ग के मुखिया के पास बाल अनुयायी हुआ करते हैं। यात्रा के समय इनका झुण्ड चला करता है जो कभी-कभी एक सौ पचास की संख्या तक पहुच जाता है।[2]

१—इनसाइक्लोपीडिया आव रिलीजन एण्ड इथिक्स—पृ० ३८६।

२—इनसाइक्लोपीडिया आव रिलीजन एण्ड इथिक्स—पृ० ३८६।

(३) उत्तराधे व स्थानधारी

दादू महाराज के जो शिष्य राजपूताने के उत्तर में चले गये उन्हें 'उत्तराधे' या 'उत्तराधा' की सज्ञा से अभिहित किया गया। खालसा वर्ग की तरह उत्तराधों के भी विशेष थाभे हैं। विशेष स्थान के निवासी बन जाने पर इन्हीं को 'स्थानधारी' भी कहने लगे। बाबा बनवारीदास ने, जो सांभर से हरियाणे चले गये थे, मुख्य थामे का निर्माण कराया। दूसरा थामा हरिदास जी ने हिसार के कस्बे में स्थापित किया जो बाद में चलकर जयपुर में आ गया। तीसरा थामा साधुरामजी का मांडोठी मे है। इस तरह ये तीन थामे उत्तराधियां में हैं। ये पजाब, हरियाणा, हिसार, रोहतक, दिल्ली और भटिंडा जिलों में फैले हुए हैं। गुजरात से लेकर पजाब तक इनके अनेक स्थान स्थापित हैं। महाराज-निश्चलदास जी, रसपुंजजी, रामशरणजी, कन्हीरामजी, हीरादासजी आदि विद्वान् उत्तराधे के ही थे। बनवारीदास जी की परम्परा बाद में बूढ़ादल, बड़ी बाईसी और छोटी बाईसी तीन वर्गों में विभाजित हो गयी। बनवारीदासजी की शिष्य-परम्परा की नामावली बड़ी विस्तृत है। 'परमानदजी रतिया' की अलग परम्परा अब भी राजगढ़ मे विद्यमान है। जयपुर में गगादासजी महाराज इसी परम्परा के अन्तर्गत महंत पद पर आसीन हैं। यह परम्परा बडी विस्तृत है जिनका विस्तृत विवेचन अनेक भक्तमालों और पथ के साम्प्रदायिक ग्रन्थों मे मिलता है। वर्तमान समय में बचे हुए छब्बीस थाभों मे बीस प्रायः इन्हीं के हैं। सभी की रहन-सहन प्रायः एक सी है। धोती, चोला, कोट तथा सिर पर भगवा साफा इनका वेश है। ये लेन-देन, कथा-वार्ता, वैद्यक आदि कार्य करते हैं।

(४) जमातें व नागे

यह वर्ग दादू जी महाराज के शिष्य बड़े सुन्दरदास जी द्वारा चलाया गया। सुन्दरदास जी क्षत्रिय थे। इनका पूर्वनाम भीमसिंह था। इन्होंने अलवर स्टेट में खाटड़ा नामक स्थान पर साधना की। इनके बड़े शिष्य प्रह्लाददास हुए। प्रह्लाददास की पीढी खाटडे में अब भी मौजूद है। इनके अतिरिक्त प्रह्लाददास के शिष्य हरिदास के तीन शिष्यों ने तीन विभिन्न थाभे स्थापित किये परन्तु वे आगे चलकर समाप्त हो गये। आरम्भ में सभी थाभे वाले विरक्त थे और समूह मे घूमते थे। उसे बाद मे जमात कहा जाने लगा, कुभ आदि के अवसरों पर इन सम्प्रदायों की ओर से जमातें जाया करती थीं, जहाँ इनका सन्यासियों और वैरागियों से संघर्ष हुआ करता था। इनके अनुयायी, जिनका संगठन भीमसिंह ने किया था, जयपुर राज्य के अंतर्गत टुकड़ियों में संवत् १८०० में विद्यमान था। जयपुर राज्य के अन्तर्गत इनका बड़ा मान था क्योंकि ये राज्य की ओर से भरतपुर के साथ सदा लडते रहे। कई लडाइयों में इस जमात का उल्लेख मिलता है। इनके सरदारों में स्वामी मंगलदास जी का नाम बड़ी प्रशंसा के साथ लिया जाता है। डूंगरी के सरदारों के साथ स्वामी मंगलदास जी के नेतृत्व में जो संघर्ष हुआ उसमें अधिकाश नागे मारे गये। जो बचे उन्हें जयपुर राज्य मे सरक्षण मिला। जयपुर राज्य की सेना के

अतिरिक्त इन्हें जयपुर की ओर से मालगुजारी आदि वसूलने के कार्य में भी लगाया गया। जयपुर में इनका सबसे पहला निवास रामगढ़ में हुआ। संवत् १८६० में रामगढ़ के अधिकांश साधु मतभेद के कारण उदयपुर चले गये। कुछ लोग जयपुर सरकार की ओर से चानसेन कस्बे में जाकर बसे। ये जमात् शस्त्राभ्यास तथा मल्लविद्या के लिये प्रसिद्ध है। इन्हें बन्दूक, तलवार, भाला, छुरी, फरसा, बरछा आदि का प्रयोग बड़ी कुशलता से करने का अभ्यास होता है।

(५) खाकी

ये लोग बहुत ही कम कपड़े पहनते हैं। साधारणतः लम्बी जटा धारण करके अपने शरीर में भस्म लपेटे हुए शारीरिक साधना करते देखे जाते हैं। वे छोटी-छोटी टुकड़ियों में घूमते रहते हैं और उनका विश्वास है कि प्रवाहित नदी की जलधारा की भाँति निरन्तर भ्रमणशील रहने से जीवन पवित्र रहता है।[1]

निष्कर्ष

दादू पंथ के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इसकी शिष्य परम्परा बड़ी व्यापक है। सोलहवीं शताब्दी से जो विकास-क्रम आरम्भ हुआ वह अप्रतिहत गति से किसी न किसी रूप में आज भी अग्रसर है। विचार और आचार वैविध्य की दृष्टि से भी यह पंथ अपना अलग महत्त्व रखता है। खेद का विषय है कि इस पथ से सम्बन्धित पूरी सामग्री अभी प्रकाश में नहीं आ सकी है। कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हस्तलेख और ग्रन्थ अभी तक या तो संग्रहालयों में पड़े हैं या उनके विषय में अभी तक कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है। इस बात की आवश्यकता है कि वे सभी प्रकाश में आयें और उन्हें सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया जाय।

●

१—इनसाइक्लोपीडिया आव रिलीजन एण्ड इथिक्स—पृ० ३८६।

: ३ : दार्शनिक विचार

दादूपंथी विवेच्य सामग्री पर दृष्टिपात करने के पूर्व यह सर्वथा आवश्यक प्रतीत होता है कि हम सूक्ष्मतापूर्वक 'दर्शन' तथा 'दर्शन और साहित्य' के सम्बन्ध मे विचार कर ले।

दर्शन

'दर्शन' शब्द 'दृश्' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है 'देखना', स्थूल नेत्र से स्थूल तत्वों को देखना तथा सूक्ष्म नेत्र से (प्रज्ञाचक्षु) से सूक्ष्म तत्त्व को देखना। कारण-व्युत्पत्ति से दर्शन का अर्थ है जिसके द्वारा देखा जाए और भाव-व्युत्पत्ति से उसका अर्थ है—ज्ञान।[1] यह देखना अपने अन्तर्गत ऐन्द्रिय अवबोध, परिकल्पनात्मक ज्ञान एव स्वयं प्रकाश्य अनुभूति को निहित किये रहता है। इसका सम्बन्ध तथ्य-परीक्षण, तार्किक गवेषणा अथवा आत्म-दर्शन से होता है।[2] संसार के मर्म का, जीवन-मरण के रहस्य का, सुख-दुख-समन्वित हृदय का, अपने स्वरूप का तथा पुरुष और पुरुष की प्रकृति का ज्ञान जिससे हो वह दर्शन है। सब शास्त्रों के सार को, तत्त्व को पहिचानने की शक्ति आ जाय, सब में एक ही अर्थ, एक ही परमात्मा की विविध, विचित्र एवं अनन्त कला दीख पड़ने लगे और समदर्शिता हो जाय। जिससे असख्य मतों, धर्मों तथा रुचियों के परस्पर विरोध का परिहार होकर समन्वयात्मक दृष्टि प्राप्त हो जाय, वह सच्चा दर्शन है।[3] इन सभी विशेषताओं से समन्वित और संश्लिष्ट होने के कारण भारतीय दर्शन का दृष्टिकोण आध्यात्मिक है और यह सत्य के व्यावहारिक स्वरूप के साक्षात्कार को महत्त्व प्रदान करता है। इसीलिये इसे कभी-कभी मनःगत सृष्टि (विजन) अथवा मानसिक सृष्टि का सोपान भी माना जाता है। इस अर्थ में दर्शन को हम यथार्थ की स्पष्ट, सहज स्फूर्त एवं स्वयं प्रकाश्य मानसी दृष्टि अथवा सत्य का यथार्थ अवबोध भी मान सकते हैं। पौरस्त्य दर्शन मोक्ष, निर्वाण

१—बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृ० ३-४।

२—The term darshan comes from the word dr's 'to see'. This seeing may either be perceptual observation, or conceptual knowledge or intuitional experience. It may be inspection of facts, logical enquiry or insight of soul

Dr. Radha Krishnan–Indian Philosophy–Introduction P. 43.

३—दर्शन का प्रयोजन—पृ० १६–२०, १३६–१४०।

और परमार्थ को महत्वपूर्ण समझता है। इसीलिये भारतीय दर्शन की वाह्य रूप-रेखा वस्तुतः उसके तात्विक स्वरूप का अभिज्ञान कराने में असमर्थ है। इसका अभिज्ञान तो उस आभ्यन्तरिक अनुभूति का मुखापेक्षी होता है जो वाह्य ढाचे की आधार भित्ति होती है।[1] भारतीय दर्शन अपने वाह्य स्वरूप के वैविध्यपूर्ण चकाचौंध द्वारा सामान्य चिन्तकों के बौद्धिक स्वरूप को स्तंभित और आश्चर्य-चकित कर सकता है, साथ ही इसके अन्तः में समन्वय और सामंजस्य की वह पयस्विनी प्रवाहित होती है जो आध्यात्मिक चिन्तन की अखण्डता को अक्षुण्ण रखने के साथ ही साथ मानवतावादी सिद्धान्तों को भी अपना उपजीव्य बनाती है। 'मोक्ष' को ही परम पुरुषार्थ मानने के उपरात भी वह लोक-पक्ष का तिरस्कार नहीं करता। वास्तव में अपने इस स्वरूप मे दर्शन लोक और परलोक के चिन्तन का अनुपम संधिस्थल सिद्ध होता है।

दर्शन और साहित्य

'दर्शन' और 'साहित्य' का सम्बन्ध कई दृष्टियों से विवादास्पद है। इस पर विचार करने वाले लेखकों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। जहां प्रथम वर्ग का कहना है कि दर्शन और साहित्य में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, वहीं द्वितीय वर्ग इस सम्बन्ध पर प्रश्नवाची चिह्न लगा देता है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग इस धारणा को मानकर चलते हैं कि साहित्यकार अन्य लोगों द्वारा प्रतिपादित दर्शन-सिद्धान्तों को ही मान्यता देता है। दर्शन के क्षेत्र मे उसकी मौलिक उद्भावना नहीं होती। अतएव उसे दार्शनिक नहीं माना जा सकता। वस्तुतः ये तीनों दृष्टिकोण विचार के अतिवादी छोर हैं। आधुनिक चिन्तक संक्रमण कालीन चिन्तन के उस विन्दु पर प्रतिष्ठित है जहां से वह एक ओर पलायनवादी प्रवृत्तियों से आकृष्ट होता है तो दूसरी ओर प्राचीन परम्पराओं का घटाटोप अपनी दुरूहता एवं अस्पष्टता के कारण उसके अन्दर निरास्था-मूलक प्रवृत्तियों को उत्पन्न करके उसे सर्वथा प्राचीन अथवा मध्यकालीन आदर्श के तिरस्कार के लिये वाध्य करता है। उसकी स्थिति द्विधाग्रस्त हो जाती है। वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर कुछ सोच नहीं पाता। पर यह अनिश्चित द्विविधा की स्थिति चिन्तन को पंगु बना देती है। द्रष्टव्य यह है कि साहित्य और दर्शन, दोनो ही, व्यक्ति की प्रगतिशील चेतना के अद्भुत प्रतिमान हैं। इनका विकास शून्य मे नही होता। ये तो व्यक्ति की वैयक्तिक चेतना के साथ ही राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक गतिविधियों से भी प्रभावित होते हैं। इस दृष्टि से दोनो का मूलस्रोत एक ही है। इस पैतृक ऐक्य से दोनो को कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तथ्य भी मिलते हैं जिनमें साम्य पाया जाना स्वाभाविक है।

१—The really essential part (Indian) philosophy is not, its logical super-structure, but its inner core of experience upon which that logical structure rests.

(The Philosophy of Rabindra Nath–Dr. S. K. Maitra) Rabindra Nath. P. 31.

स्पेंगलर ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सत्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। उसका कहना है कि समय की प्रकृति चाक्रिक (Cyclical) है, अतएव किसी भी विकास को हम सीधी रेखा में नहीं पाते। यह सर्वदा चक्र की द्वन्द्वपूर्ण स्थिति से उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाता है। वस्तुतः दर्शन और साहित्य इसके अपवाद नहीं हैं। प्राचीनकाल में साहित्य जन-जीवन की आकांक्षाओं और इच्छाओं का द्योतक होने के साथ ही उसकी महत्त्वाकाक्षाओं और आधिदैविक एवं आधिभौतिक प्रेरणाओं का जनक भी होता था। यह विचार-धारा मध्यकालीन साहित्य को भी प्रभावित करती रही इसीलिये सम्पूर्ण साहित्य दर्शन को अपना उपजीव्य बनाता था और इसके माध्यम से जीवन की कतिपय गुत्थियों को सुलझाने का कार्य सम्पादित करता रहा। साहित्य मे 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ धर्मार्थकाममोक्षेषु,' यशसेऽर्थकृतेव्यवहारविदे, शिवेतरक्षतये आदि वाक्यों का प्रयोग इसी सन्दर्भ का व्यंजक है और—

तुम जिनि जानहु गीत है, यह निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार।

जैसी उक्तियों का दर्शन भी इसी प्रसग में हो जाता था। इसके परिणामस्वरूप साहित्य में औदात्य का समावेश होता था और दर्शन भी साहित्यिक सम्प्रेषण से अलंकृत होकर सर्वजन सुलभ हो जाता था। यह परस्परानुमोदन की अद्भुत प्रक्रिया थी जो लोकहित साधन के लिये प्रयुक्त होती थी। यह परम्परा किसी न किसी रूप में आधुनिक काल तक अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित हुई पर इधर वह आधुनिक अनवादो से न बच सकने के कारण विविध विवादों की जननी बन गई।

सूक्ष्मतापूर्वक दृष्टिपात करने पर यह तथ्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन अथवा मध्यकालीन दर्शन का विरोध करके उसे संकीर्णता की उपाधि से अभिहित करने वाले आधुनिक विचारक भी प्रच्छन्न रूप से अपने को दार्शनिक मानते हैं। अन्तर केवल इतना है कि वे लोग प्राचीन मतों का तिरस्कार और उसका खण्डन-मण्डन करते हैं। इसमें प्रमुख रूप से दो प्रकार की प्रवृत्तिया क्रियाशील हैं। एक तो यह कि जो कुछ भी प्राचीन है वह निरर्थक है। दूसरी यह कि ख्यातिप्राप्त मान्यताओं के विरोध से झूठी ख्याति अर्जित करने में सरलता होती है। इससे बडा बौद्धिक अधकचरापन और कुछ नहीं हो सकता।

दादूपंथी सन्त मध्यकालीन चिन्तन परम्परा के प्रतिनिधि हैं। वे दार्शनिक नहीं माने जा सकते, फिर भी उन्होंने ब्रह्म, जीव, माया, सृष्टि आदि के सम्बन्ध में दर्शन सम्बन्धी कतिपय मान्यताओं को ग्रहण किया है। उनका दृष्टिकोण सर्वजन सुखाय और सर्वजन हिताय की भावना से अनुप्राणित था। वे वसुधैव कुटुम्बकम् के पक्षपाती थे। जीवन को मायामय स्वरूप से मुक्त करके परमात्मतत्त्व की ओर उन्मुख करने और आत्मतत्त्व को पहचानने के सभी साधनों का उन्होंने उपयोग किया था। दर्शन को भी वस्तुतः इन सन्तों ने

इसी महत् साध्य का साधन माना है और इसी परिप्रेक्ष्य में उसका निर्वचन भी किया है। सन्तों की जिज्ञासा अद्भुत थी। वे तो स्पष्ट कहते थे—

ऐसा कोई ना मिले सब विधि देइ बताइ,
सुन्नि मंडल में पुरुष एक, ताहि रहैं ल्यौ लाइ।

दादूपंथी सन्तों का दर्शन इसी 'सब विधि देइ बताइ' का प्रमुख माध्यम था। इसी लिये इसमें अनुभूति की गहनता चिन्तन की महनीयता और साधना की अग्निपरीक्षा का मणिकांचन संयोग था। इस सन्दर्भ में यह जान लेने की आवश्यकता है कि 'दादूपथ' के दार्शनिक विचार क्या थे। हम विगत पृष्ठों में इसका उल्लेख कर चुके हैं कि भारत धर्म और दर्शन प्रधान देश रहा है। यहां की चिन्तनधारा मौलिक रही है। भारतीय जीवन पद्धति में दर्शन सदैव किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा है। चिन्तन-वैविध्य के कारण, दर्शन की भी विविध मान्यतायें और विविध निकाय हमारे समक्ष उपस्थित रहे हैं। इनमें द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, चिद्विलास आदि का उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय विचारक अन्य दार्शनिक प्रभावों को ग्रहण करने के बावजूद किसी न किसी प्रकार इन दार्शनिक निष्पत्तियों से भी प्रभावित रहा है। अतएव विवेचन का एक स्वरूप हमारे समक्ष इस रूप में विद्यमान होता है कि हम इन दार्शनिक निकायों को लेकर इनके आधार पर 'दादू-पंथ' की दार्शनिक मान्यता का विवेचन करें। पर इस विवेचन की कतिपय कठिनाइयां और सीमायें हैं। प्रथम कठिनाई यह है कि इसके माध्यम से विवेच्य सामग्री का सर्वांगीण स्वरूप विवेचित नहीं किया जा सकता। दूसरी कठिनाई यह है कि इस प्रकार के विवेचन को एक बधी बंधाई परिपाटी से आबद्ध हो जाना स्वाभाविक है। अतएव विवेचन सौकर्य और सर्वांगीण विकास-क्रम-निर्देशन की दृष्टि से इस प्रकार की सामग्री को उपजीव्य बना कर भी इसे विविध शीर्षकों में विभाजित कर प्रस्तुत किया गया है।

दादूपंथ के दार्शनिक विचार

(अ) दादू-पंथ की दार्शनिक अनुभूति और इसकी विशेषता

अनुभूति की सप्राणता और जीवन्तता ही सन्त काव्य का मेरुदण्ड रही है, पर सन्तों की इस अनुभूति को उपयुक्त स्थान पर पकड़कर अभिव्यक्त करना अथवा उसका विश्लेषण करना दुष्कर कार्य है। इसका प्रमुख कारण यह है कि संसृति के आरम्भ से ही व्यक्ति विविध प्रकार से आवेष्टित सत्य को निरावृत रूप में प्रस्तुत करने के लिये आतुर रहा है। इस आतुरता में उसे इस बात का अभिज्ञान हुआ है कि इस रहस्यमय स्वरूप को सरलता से नहीं समझा जा सकता। अतएव इसे स्पष्ट करने के लिये व्यावहारिक उपादानों को भी उपजीव्य बनाया गया है। इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप सत्य के विविध स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित हुए हैं। किसी ने परम्परित आदर्शवादी चश्मे से उपलब्ध सामग्री को सत्य की संज्ञा दी है, तो किसी ने यथार्थ के 'पोस्टमार्टम' को ही सब कुछ मान लिया है। किसी को इस सत्य का दर्शन, मन्दिर, मस्जिद और गिरिजाघर में हुआ

तो किसी को हिमालय की निर्जन शून्यता में। पर क्या इस प्रकार के साक्षात्कार को हम सत्य की संज्ञा दे सकते हैं? इसका एकमात्र उत्तर है, 'नहीं'। इस नकारात्मकता के सन्दर्भ में इस प्रश्न का उठना भी स्वाभाविक है कि क्या 'यथार्थ सत्य' अविश्लेषित और अनिर्वचनीय है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि प्राचीन और अर्वाचीन आध्यात्मिक चिन्तकों ने इसे 'इदमित्थम्' के स्थान पर 'नेति-नेति' की संज्ञा से अभिहित किया है और 'आत्मावारे द्रष्टव्य' के घोष द्वारा आन्तरिक बोध के आधार पर इसे ग्रहण करने का सुझाव दिया है। उपनिषदों में आत्मतत्त्व के प्रतिपादन द्वारा अन्तः स्वप्न के आधार पर परमतत्त्व की उपलब्धि के अनेकानेक स्वरूप चित्रित किये गये हैं। 'रहस्यवाद' पर प्रमुख रूप से विचार करने वाली 'अण्डरहिल' ने इस आत्मतत्त्व के बोध की चर्चा की है।[१] उनका अभिमत है कि सचेतन आत्मा मनुष्य के शरीर में निवास करती है। यह सन्देश और अनुभूति की जटिल भावनाओं को विश्लेषित करने में सक्षम है।[२] 'प्लॉटिनस'[३] ने भी इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। उनका कहना है कि जब मैं अज्ञानता से मुक्त होकर बाह्य संसृति के क्रिया-कलापों का परित्याग कर अन्तःचिन्तन की ओर उन्मुख होता हूँ, तो मुझे एक विचित्र सौन्दर्य का आभास मिलता है। मेरा विश्वास है कि इस अवबोध के समय मैं एक अधिक उदात्त पृष्ठभूमि में निवास करता हूँ और मेरे अन्दर ऐसी अभिनव चेतना का सूत्रपात होता है जो हमें ब्रह्म-साक्षात्कार कराती है।[४] यही अन्तः जागृति और बहिर्मुसुप्ति की अवस्था सन्तों की रहस्यानुभूति की अवस्था है जो अपने यथार्थ स्वरूप में अचिन्त्य और अनिर्वचनीय होती है। इसे हम 'गूंगे के गुड़' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। ऐसी स्थिति में आत्मा की अन्तः शक्तियां संसृति के उपादानों से टकराती हैं और इस संस्पर्श के द्वारा अपने लिये अभिनव बिम्बों का निर्माण करती हैं। यथार्थ-विश्व के उपादानों और इस प्रकार निर्मित इन बिम्बों में सादृश्य पाया जाना स्वाभाविक है। यही सादृश्य अन्तर्योग का प्रमुख कारण है।

१—The beginning for human thought is of course, the I, the Ego, the self-conscious subject which is writing this book or other self-conscious subject, which is reading it, and which declares in the teeth of arguments "I am". Mysticism—P. 5.

२—To this I, this conscious self, "imprisioned in the body like an oyster in his shell" come, as we know a constant stream of messages and experience. Ibid—P 5

३—तुलना कीजिये—'या निशा सर्वभूतानां····· तस्यां जागर्ति संयमी"।

४—Often times when I awoke out of the slumber of body and come to a realising sense of myself, and retiring from the world outside, give myself up to inward contemplation, I behold a wonderful. Beauty, I believe that, I really belong to a higher and better world, and still I develop within me a glorious life, and become one with the God head.

देखिये—परशुराम चतुर्वेदी—रहस्यवाद, पृ० ७८।

'दादू-पंथ' मे दार्शनिक-रहस्यवाद का विविध स्वरूप रूपायित हुआ है। वस्तुतः सभी दर्शनों का आरम्भ जीवन, और ब्रह्म विषयक आखमिचौनी के साथ ही पिण्ड और ब्रह्माण्ड विषयक परिकल्पना से होता है। इसके आयाम में व्यष्टि और समष्टि चिन्तन के विविध स्वरूपो पर विचार किया जाता है। दादू-पंथ' मे इस प्रकार का चिन्तन अपनी चरम सीमा पर है।

ब्रह्म विषयक धारणा

एकेश्वरवाद

दादू-पंथ की ब्रह्म-सम्बन्धी परिकल्पना अन्य सन्तों के ब्रह्म सम्बन्धी चिन्तन के अनुरूप ही सिद्ध होती है। तत्कालीन सामाजिक पृष्ठभूमि मे जिस प्रकार की कृत्रिमता और पाखण्ड का बोलबाला था, उसे दृष्टिपथ में रखकर सन्तो ने एकेश्वरवाद पर अधिक बल दिया था। 'कबीर'[1] आदि ने इसे अपना प्रमुख प्रतिपाद्य घोषित किया था। दादूपथ के प्रमुख सन्तो ने इसी सत्य को हृदयंगम कर उसे अपने ढंग से अभिव्यक्त किया। 'दादू'[2] ने इसी तथ्य के स्पष्टीकरण में लिखा, कि वही एक प्रियतम दसो दिशाओं मे फैला है। उसका तेज चतुर्दिक परिव्याप्त है। वह सूर्य की तरह तेजोद्दीप्त है। उस एक को छोड़कर अन्य का ध्यान करना विडम्बना है। सुन्दरदास[3] के अनुसार बहुदेवोपासना के चक्कर में पड़ना महती भूल है। जिस प्रकार आकाश में अनन्त पिण्डों की उपस्थिति के बावजूद सूर्य के अभाव में तम का विनाश असम्भव है, उसी प्रकार उस एक परमब्रह्म के ज्ञान के अभाव में सब कुछ निरर्थक है। रज्जब[4] ने भी बहुदेववादी विचार का खण्डन किया है। उनके

१—एक देव के कारणे कन पूजी देव सहेसोरे।
काहे न पूजो राम जी जाके भक्त महेसो रे।
—कबीर ग्रथावली, पृ० १२६।

२—दादू एकै देपिये, दहदिसि मेरा पीव।
दह दिसि दीपक तेज के, बिन बाती बिन तेल
चहु दिसि सूरज देखिये, दादू अद्भुत पेल।
—परशुराम चतुर्वेदी, सन्त काव्य संग्रह, पृ० ७८३।

३—और देवी देवता उपासना अनेक करै,
आवन की हौंस कैसे आकडोडे जात है।
सुन्दर कहत एक रवि के प्रकास बिन,
जंगना की ज्योति, कहा रजनी बिलात है।
सं० बा० सं० भाग दो, पृ० १२३।

४—आदि नरायन आदित रूपी, दीपक देवी देव।
अंतक आंधी मुख ते तिनसे, रज्जब पाया भेव।
बांध्या बांधे को मजै, मुक्त होन् की आस।
रज्जब ये कैसे खुलैं, इहि भूंठे बसास।

अनुसार देवता दीपक के समान हैं और आदि नारायण सूर्य के समान। प्रबल झंझावात (सांसारिक प्रलोभन) के समक्ष दीपक बुझ जाता है, पर सूर्य पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। दीप-प्रकाश के समान देवताओं का अस्तित्व क्षणिक है, क्योंकि ये माया के बन्धन से मुक्त नहीं हैं। जिसे स्वयं जीवन और मृत्यु के वशीभूत रहना पड़ता है वह अमरत्व प्रदान करने में असमर्थ होता है। माया के बन्धन को विच्छिन्न करने की क्षमता तो केवल निरुपाधि ब्रह्म में होती है, सोपाधि ब्रह्म में नहीं। सारांश यह कि दादू-पंथ के विचार स्पष्ट रूप से एकेश्वरवादी थे। इस सम्प्रदाय के सन्त यह घोषणा करते थे कि जिस परमब्रह्म का ध्यान करने से संसार में सभी सुखों की उपलब्धि होती है उसे कोई नहीं याद करता और जिन देवताओं का ध्यान करने से यथार्थ सुख की उपलब्धि नहीं होती, उसका सब लोग स्मरण करते हैं। पूरा संसार शिव, ब्रह्मा देवी और देवता के जप में उलझा हुआ है[1]। 'द्रष्टव्य यह है कि ब्रह्मा का स्मरण करने से आदि ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता। वे विष्णु गर्भ से उत्पन्न हुए थे और माया के वशीभूत होकर इधर उधर दिग्भ्रमित होते रहे। शंकर भोलानाथ और वरदानी कहे जाते थे, पर वे अपने को जन्म और मरण के बन्धन से नहीं बचा सके। इन्हीं बातों पर दृष्टिपात करके सन्तों ने बहुदेवोपासना का परित्याग करके परात्पर ब्रह्म को अपना उपास्य बनाया[2]।

परमतत्व

यह विवेचन इस तथ्य का परिचायक है कि 'परमतत्व' विषयक चिन्तन सन्त साहित्य का मेरुदण्ड है। दादू सम्प्रदाय में भी इस विवेचन को पर्याप्त प्रमुखता

एक कहै अवतार दस
एक कहै चौबीस
रज्जब सुमिरे सो धणी
जो सबही के सीस। —रज्जबवाणी, पीव पिछाण का अंग।

१—साहिब यह मन ध्यावई, जातें सब सुख आनद होइ रे।
आन देव को ध्यावहीं, दुख नहिं पावै कोइ रे।
कोई शिव ब्रह्मा जप करै रे, कोई विष्णु अवतार।
कोई देवी देवता, यहां उरझि रह्यो संसार।
—सुन्दर ग्रन्थावली, सं० पुरोहित हरिनारायण शर्मा—बी० ए० (द्वि० भाग) पृ० ८२५।

२—ब्रह्म कहिये ताहि पार नहिं पावै रे।
कीयो कमल कुम्हार सुमन नहिं भावै रे।

विष्णु हुते अधिकारि सुनौं अब जनम्यो रे,
मच्छ भये अरु कच्छ दसौं दिसि भरम्यो रे।
शंकर भोला नाथ हाथ कर दीन्हों रे,
जननी जठर उधार मरन नहिं चीन्हों रे।
औरो देविन देव सेव छल त्यागिय रे,
इन्हीं सबौं बढ़ान ब्रह्म लय लागिय रे।

—वही, पृ० ८२३-२४।

प्राप्त हुई है। इस सम्प्रदाय में परमतत्व का निरूपण कई विशिष्टताओं का समन्वित रूप है। 'दादू' स्पष्ट रूप से इस बात की घोषणा करते हैं कि परात्पर परब्रह्म ही मेरा आराध्य है।[1] वह ब्रह्म निराकार और निर्मल है। यही परात्पर ब्रह्म कबीर का उपास्य था। मैं भी उसी का वरण करूंगा।[2] यह ब्रह्म जन्म और मरण के बन्धन से मुक्त है। यह न उठता है, न बैठता है, न जागता और न सोता है। वह तो निरन्तर एक रस बना रहता है। सारा संसार इसी से उत्पन्न होता है और इसी में विलीन हो जाता है।[3] वह परम तेजोद्दीप्त है और आनन्द स्वरूप है। उसने अपने स्वरूप से सर्वप्रथम ओंकार को उत्पन्न किया। इस ओंकार से बाद में इस सृष्टि का प्रसार हुआ।[4] वह ब्रह्म इस सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है, अतएव उसे अपने से अलग समझना भ्रम है।[5] मनुष्य का हृदय उसका आवास है। यह ज्ञान होने के पश्चात् उसे मानव शरीर (घट) में ही पाया जा सकता है। उस ब्रह्म से निरन्तर अमृत की वर्षा होती रहती है। सामान्य जन इससे वंचित रह जाते हैं, पर साधुगण उसका छक कर पान करते हैं।[6] वह कामधेनु और अक्षयवट सदृश है। जिस प्रकार कामधेनु निरन्तर अपने दुग्ध से जनमानस का परितोष करती है लोगों को मनोवाछित फल भी देती है, और अक्षयवट अविचल रूप से स्थिर रहता है, उसी प्रकार वह अविचल और अविनाशी ब्रह्म लोगों की मनोवाछित कामना पूरी करता है।[7] ऐसे ब्रह्म को व्यक्ति आत्म-दृष्टि के माध्यम से ही प्राप्त करता है।[8] ब्रह्म-विषयक अपनी धारणा को और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने इस तथ्य को व्यक्त किया है हरि का सरोवर सर्वत्र पूर्ण है। व्यक्ति जहा भी चाहे वहा उसका स्पर्श कर सकता है। इस सरोवर में आचमन करते ही उसकी सम्पूर्ण सासारिक अभिलाषायें समाप्त हो जाती हैं, और वह प्रसन्न होकर सुखी जीवन व्यतीत करने लगता है। यह सरोवर शून्य रूप है और इसका जल निरजन स्वरूप है। मनुष्य का मन रूपी मीन इस सरोवर मे नाना प्रकार से विहार करता है। जिस प्रकार सरोवर मे हम विचरण करते हैं, उसी प्रकार इस ब्रह्म रूपी मानसरोवर में (परमात्मतत्व में) जीव रूपी (आत्मतत्व) हंस खेला करते हैं।[9] दादू ने

१—परब्रह्म परापर सो मम देव निरजनं।
निराकारं निर्मलम् तस्य दादू वन्दनं॥
दादू दयाल की बानी—प्रथम भाग, वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, पीव-पिछाण की अंग, पृ० १६१।

२—जे था सन्त कबीर का, सेहि वर वरिहौं।
मनसा वाचा कर्मणा, मैं और न करिहौ॥—वही, पृ० १६२, ११।

३—उठै न बैसै एक रस जागै सोवै नर्हि।
मरै न जीवै जगत गुर, सब उपजि खपै उस माहि।—वही, पृ० १६।

४—पहली कीया आप थैं, उतपत्ती ओंकार।—सबद को अंग, पृ० १६६, सं० ८।

५—दादू देखौ दयाल कौं, सकल रह्यो भरपूरि।
रोम-रोम में रमि रह्या, तू जिनि जाणै दूरि—परचा को अंग, पृ० ५३, सं० ७८।

६—वही, पृ० ५६, सं० १११–१५।

७—वही, पृ० ५६–५७।

८—चर्म दृष्टि देखै बहुत, आतम दृष्टी एकि। ब्रह्म दृष्टि परिचय भया, तब दादू बैठा देखि।—वही, पृ० ६२।

९—परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ५२०

ब्रह्मतत्त्व की व्याख्या वेदान्त सम्मत की है। वेदान्त में ब्रह्म के तटस्थ लक्षण और स्वरूप-लक्षण के अनुसार परिचय की जो पद्धति अपनायी गयी है उसी प्रकार दादू ने भी ब्रह्म का परिचय दिया है। जिस लक्षण से लक्ष्य वस्तु का स्वरूप न बतलाकर कार्यादि द्वारा परिचय कराया जाता है उसे तटस्थ लक्षण कहते हैं और जिससे स्वरूप की पहचान हो उसे स्वरूप लक्षण कहते हैं। तैत्तरीय उपनिषद् कहती है—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयत्नभिमविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।" अर्थात् जिस तत्त्व से सकल संसार की उत्पत्ति होती है, जिसके द्वारा इसकी स्थिति है और अन्त में जिस तत्त्व में इसका लय होता है, वही ब्रह्म है। यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है क्योंकि इसमें ब्रह्म के कार्य-उपादान की व्याख्या है। परन्तु जब हम कहते हैं कि ब्रह्म "सत्य ज्ञानमानन्द" है तो ब्रह्म के सत्यज्ञानादि स्वरूप का परिचय होता है। दादू ने भी ब्रह्म का लक्षण इस प्रकार लिखा है :—

परम तेज परात्परं परमज्योति परमेश्वरम्।
स्वयं ब्रह्म सदई सदा दादू अविचलं स्थिरम्॥

यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। उसी प्रकार तटस्थ लक्षण के प्रसग में भी कई साखियों का उल्लेख किया जा सकता है :— जैसे

कृतम नही सो ब्रह्म है घटै बढ़ै नहिं जाय।
पूरण निहचल एकरस जगत न नाचै आय॥
अविनासी साहिब सत्य है जे उपजै बिनसै नाहि।
दादू अविहड़ आप है, कबहूँ बिहड़ै नाहि॥

इस प्रकार दादू ने भी ब्रह्म को, उत्पत्ति, विकास, विनाश और रूप आदि विकारों से उसी प्रकार मुक्त कर दिया है जैसा वेदान्त ने किया है। छान्दोग्य उपनिषद् का भी यह मत है :—

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायभूत्वा भविता वा न भूयः।

दादू-पंथ में रज्जब जी का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। इनके ब्रह्म सम्बन्धी विचार भी दादू के समान ही ज्ञात होते हैं। ये भी स्पष्ट रूप से इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि ब्रह्म निर्गुण और निराकार है, उसका अविराम सहज सुन्न है। जो अवतार लेता है, अथवा जन्म और मरण का विषय है, वह ब्रह्म नहीं है।[1] सृष्टि भी पञ्चतत्त्व से निर्मित होने के कारण नाशवान है। इसे हम ब्रह्म की संज्ञा नहीं दे सकते।[2] सूर्य, चन्द्र, जल, पवन, पृथ्वी और आकाश आदि खलक के अंग हैं, इन्हें हम खालिक नहीं मान सकते।[3] वह खालिक इस खलक के कण-कण में परिनिगात है, फिर भी वह इससे पूर्णरूपेण निर्लिप्त

१—[illegible] माई सुन्नि में, आत्मा को आधार।
जो माया उपजै मरै, पाया भेद विचार। रज्जब बानी—पृ० ११०
२—पंच तत्त [illegible] घट नश्वर नाहिं।
[illegible]।—रज्जब बानी—जीव पिछाण को अंग। देखिए, पृ० १११
३—[illegible]।
चन्द, सूर, पाणी, पवन, धर अम्बर [illegible]।—वही, पृ० ११०

रहता है। उसे इस संसृति के पुण्य और पाप छू भी नहीं सकते। जिस प्रकार मणिमाला का सूत्र मणियो का स्पर्श करते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहता है, भुजंग के मुख में पाई जाने वाली मणि पर उसके विष का प्रभाव नहीं पड़ता है, उसी प्रकार परम ब्रह्म के इस संसृति में समरस भाव से विद्यमान रहते हुए भी इससे सर्वतोभावेन निर्लिप्त भी रहता है।[1] वह अवयव रहित है। फिर भी सांसारिक वस्तुओं की आकृति, प्रकृति एवं गुण-धर्म के अनुसार उन्हीं में विद्यमान रहता है। उनका कहना है कि :—

प्राण पुरुष को पारिख पाई, जा गुण मिलै ताहि सम भाई।
ज्यूं जल पैठि ईख गुण होई, पोसत परस अफीमो सोई।
अठारह भार मांहि जल पैठे, गुण सुसमान स्वाद ह्वै बैठे।
जैसी विधि यहु रंगति नीरा, स्याम श्वेत ह्वै राता पीरा।
ऐसी विधि आत्महु पिछानी, ता सम तुल्य जाहि गुनसानी।
शीत लाग जल हेमहु होई, अगिन प्रसंग उष्ण पुनि सोई।[2]

इस विशिष्टता के साथ ही वे निर्गुण ब्रह्म की महत्ता प्रतिपादित करते हैं :—

ज्ञान दृष्टि करि देखिया, आतम उदक स्वरूप।
सरगुण मिलि सरगुण नहीं, निर्गुण मिलि निज रूप।[3]

स्पष्ट है कि ब्रह्म के अभिज्ञान के लिये ज्ञानदृष्टि परमावश्यक है क्योंकि इसी के आधार पर हमें यह ज्ञात होता है कि आत्मा का सगुण के साथ तादात्म्य होने पर ब्रह्म सगुण हो जाता है, पर जब उसका निर्गुण के साथ समरस सम्बन्ध स्थापित होता है तो वह आत्म-रूप हो जाता है। इस प्रकार सगुण ब्रह्म मिश्रित है और निर्गुण ब्रह्म शुद्ध और निर्मल।

'दादू सम्प्रदाय' में सन्त सुन्दरदास का विशिष्ट स्थान है। आरम्भ से ही अध्यवसायी और चिन्तन-मनन प्रधान व्यक्तित्व के कारण इनकी आध्यात्मिक उपलब्धि भी महती है। काशी में रहकर वैदिक साहित्य का अध्ययन करने और उसके तत्त्व को समझने का इन्होंने प्रयत्न किया था। इसीलिये इन आध्यात्मिक विचारो में सांख्य-दर्शन के साथ ही वैदिक दृष्टिकोण को पर्याप्त स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त किया गया है। सांख्य के अनुसार प्रकृति, विकृति, प्रकृति-विकृति दोनों या उभय और न प्रकृति, न विकृति, अर्थात् अनुभय चार तत्त्व हैं।[4] प्रकृति कहते हैं मूलकारण को। यह अचेतन है। यह सत्व रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था है। यह प्रसवती है, अर्थात् इससे कुछ वस्तुयें उत्पन्न होती हैं, जिनको हम विकृति कहते हैं। इससे सबसे पहले महत् उत्पन्न होता है, महत् से अहंकार, अहंकार से युगपत् तीन प्रकार के तत्त्व—मन, इन्द्रियां और पंचतन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं।

१—मणिगण अनन्त सूत मधि येकै, अरस परस और भिन्न विवेकै।
ऐसी विधि दीजै जगन्नाथा, सबसे न्यारा सबके साथा।
मणि भुजंग ज्यूं मांहैं रहई, उभय परमगुण नाहीं गहई।
त्यूं तन माहैं है ततसारा, गुरु परसाद सो किया विचारा।
रज्जब-बानी—शक्ति उभै गुणी का अंग।

२—रज्जब वानी-ग्रन्थ, पारिख का अंग—पृ० ४८५

३—वही, पृ० ४८५

४—देखिये हिन्दी—साहित्य कोष—प्रथम भाग, सांख्य दर्शन।

इन सात तत्वों को प्रकृति विकृति कहते हैं। मन, १० इन्द्रियाँ और पंच-महाभूतों को केवल विकृति कहते हैं। इस प्रकार १ प्रकृति, ७ प्रकृति-विकृति, १६ विकृति के साथ ही पुरुष को मिलाने से जो न प्रकृति है न विकृति, यह संख्या २५ हो जाती है। पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति की साम्यावस्था भंग होती है और महदादि क्रम से 'नाना जीवोयेन जगत' का निर्माण होता है। पुरुष को प्रकृति से अनासक्त माना गया है पर जगत में वह प्रकृति के नाना क्रिया-कलापों से बँधा ज्ञात होता है। ज्ञान से इस बंधन को दूर करके पुरुष का अपने अस्तित्व का अनुभव करना ही कैवल्य है। पुरुष द्रष्टा और भोक्ता दोनों है, किन्तु वह कर्ता नहीं है। कैवल्य में पुरुष अपनी दृष्टि-शक्ति तथा योग-शक्ति से ज्ञान तथा आनन्द प्राप्त करता है। बाद में इस मत के भी कई स्वरूप हमारे समक्ष आये। इन्हें 'सेश्वर सांख्य' और 'निरीश्वर सांख्य' की संज्ञा दी गई। सेश्वर सांख्यवादी ब्रह्म को विशिष्ट सत्ता मानते हैं। 'सुन्दरदास' वस्तुतः सेश्वर सांख्यवादी हैं। अपने सांख्य के विवेचन में इन्होंने प्रायः उपर्युक्त मान्यताओं के साथ ही वेदान्त को भी प्रश्रय दिया है। उनका अभिमत है कि[1] ब्रह्म से ही पुरुष और प्रकृति का आविर्भाव हुआ। प्रकृति से अहंकार का उद्भव हुआ और अहंकार से सत्व, रज और तम का। तम से महाभूत के विषय प्रसार, रज से दस इन्द्रियाँ और सत्व से मन आदि देवता उत्पन्न हुए। द्रष्टव्य है कि इस प्रकार की मान्यता सांख्य की तुलना में वेदान्त के अधिक अनुरूप है। ब्रह्म का स्वरूप बतलाते हुए वे कहते हैं कि[2] वह न तो क्षिति है न जल, न पावक है और न गगन एवं समीर, न तो इन्द्रिय तथा अन्तःकरण है और न त्रिगुण, न अहंकार और महत्तत्व है और न प्रकृति और पुरुष। वह तो 'नेति-नेति' की कहावत चरितार्थ करता है। जल, पृथ्वी तत्व से सूक्ष्म है और तेज जल से।[3] वायु तेज से सूक्ष्म है और आकाश वायु से। तीनों गुण आकाश से सूक्ष्म हैं। गुणों से अहं सूक्ष्म है और

१—ब्रह्म तें पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई, प्रकृति तें महत्तत्व पुनि अहंकार है,
अहंकार हू तें तीन गुन सत्व, रज, तम, तमहू तें महाभूत विषय पसार है।
रजहू तें इन्द्रीदश पृथक पृथक भई, सत्व हू तें मन आदि देवता विचार है॥
—देखिये सुन्दर ग्रंथावली, भाग २, अथ सांख्य को अंग, पृ० ३६०।

२—जहाँ कछु भूमि नाहि आप तेज वायु नाहि।
व्योम पंच विषय [illegible] नाहि सो तौ भ्रम कूप है॥
तहाँ [illegible] कछु इन्द्रिय अरु अन्तःकरण नाहि।
तीनों गुण हूँ नाहि [illegible] धूप छांह है॥
[illegible] अहंकार नाहि, पुनि महत्तत्व नाहि।
प्रकृति पुरुष नाहि [illegible] तौ तु अनूप है॥
सुन्दर [illegible] शिष्य सौं कहत गुरु।
नेति नेति कहैं [illegible] तेरौ रूप है॥
सुन्दर ग्रंथावली, भाग २—पृ० ५६१।

३—भूमि तें सूक्ष्म आपु है जानहु आपु तें सूक्ष्म तेज कौ अंगा।
तेज तें सूक्ष्म वायु [illegible] नित वायु तें सूक्ष्म [illegible] अंगा॥

× × ×

अहं से प्रकृति। ब्रह्म अग्नि की तरह सर्वव्यापक अनन्त और अखण्ड है। जिस प्रकार दर्पण में सभी अपना मुख देखते हैं, पर वह उनके रंग आदि से अप्रभावित रहता है अथवा जिस प्रकार सूर्योदय[1] के होते ही समस्त प्रकृति क्रियाशील हो उठती है, पर सूर्य स्वयं इस कार्य के शुभाशुभ प्रभावों से मुक्त रहता है, उसी प्रकार यह ब्रह्म भी निष्कलुष और निष्कलंक है। छहों शास्त्र इसका विविध रूप से निरूपण करते हैं।[2] पर वह वस्तुतः पिण्ड और ब्रह्माण्ड में समरस रूप से परिव्याप्त है। इसीलिये वे कहते हैं:—

"व्यापक ब्रह्म जानहु एक।
और भ्रम दूरि सब करिये इहै परम विवेक॥
ऊँच नीच भलौ बुरौ, सुभ असुभ यह अग्यान।
पुण्य पाप अनेक सुख दुख स्वर्ग नरक बखान॥
द्वन्द्व जौ लौं जगत तौ लौं जन्म मरण अनन्त।
द्वंद्व मे जब ग्यान प्रगटै होइ सब कौ अन्त॥
× × ×
यथा भांन प्रकाश तें कहु तम रहै न लगार।
कहत सुन्दर संमुक्ति आई तब कहा संसार॥"[3]

सन्त गरीबदास[4], भीषन[5] और वाजिंद जी भी उस परम तत्त्व को निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापक और सामर्थ्यवान सिद्ध करते हैं।

तात्पर्य यह कि 'दादू सम्प्रदाय' के सन्त एकेश्वरवादी थे। वे निर्गुण ब्रह्म में विश्वास करते थे। इसे उन्होंने अलख, निरंजन, सहज आदि नामों से अभिहित किया था। उनका यह ब्रह्म निर्गुण, निरातात, अनादि और निर्लिप्त था। वह जगत् के कण-कण

ताहु तें सूक्ष्म मूल प्रकृति जु, मूल तें सुन्दर, ब्रह्म प्रसंगा।
ब्रह्म निरन्तर व्यापक अग्नि अरूप अखण्डित है सब माहीं॥
सुन्दर ग्रंथावली, भाग—२ पृ० ५६६।

१—वही, पृ० ६१३-६१४।
२—वही, पृ० ६२१।
३—वही, भाग दो—पृ० ८४१।
४—भाई रे बिरछ अनूपम पाया।
ताकी सरण आय हम सीतल, तीन्यूं ताप भुलाया॥
धर आधार नहीं सो तरवर, सापापत्र न होई।
कूंपर फली पहुप पर नाहीं फलरूपी सब सोई॥
ताकी छाया सब जग बरते, बिन जाण्यां सुप दूरी।
सरवर दादर कंवल बसेरा, क्यूं पावै गति कूरी॥
पूरै भाग भंवर अनभै घरि, आक पलास न फूले।
गरीबदास स्वाति तन हूई, अपै सरोवर झूले॥
—परशुराम चतुर्वेदी-सन्त काव्य संग्रह, पृ०२८४-८५।
५—वह अविगत गति अमित, अगम अनभेव अपण्डित।
अविहर अमर अनूप अरुचि आरूप अमण्डित॥
निर्मल निगह निरंग निगम निहसंग निरनन।
निज निरबन्ध निरसन्ध निधर निरमोह निचिन्तन॥ —वही, पृ० २६६।

में परिव्याप्त होने के साथ ही परम सामर्थ्यवान था और ज्योतिःस्वरूप था। उसे वे परम सत्य का रूप मानते थे। वही सृष्टि का कर्त्ता, पालक और संहारक था। वह वस्तुतः व्यापक और विराट् था। इसीलिये इस पथ के सन्तों ने इसका विविध रूप से निर्वचन किया। वे इसे परम सौन्दर्य पुज और परमानन्द का आगार मानते थे। उनका ब्रह्म निरपेक्ष-सापेक्ष, निर्गुण-सगुण, अनन्त-सान्त, अद्वैत-द्वैत, निर्जीव-सजीव सभी परिकल्पनाओं के अन्तर्गत और बाह्य हैं। किन्तु वह वस्तु नही। अव्यक्त-व्यक्त, स्थूल-सूक्ष्म, ज्ञान-अज्ञान, प्रकाश-अन्धकार, चेतन-अचेतन, निराकार साकार, निष्क्रिय-सक्रिय, सीम-असीम सब में वह भिन्न और अभिन्न दोनो है। वह विशुद्ध सत् और सत्व, निर्विशेष, मुक्त, अक्षर, देशकाल की व्याप्ति से अमर्यादित एवं विश्वातीत किन्तु विश्वाभिव्यक्त है।[1] वह अपने आप में कैसा है कहा नहीं जा सकता। इसी लिये उसे अनिर्वचनीय, अविगत, अकथ, गूंगे का गुड़ तथा नेति-नेति आदि विशेषणों से अभिहित किया गया है। सन्त सुन्दरदास ने ठीक ही कहा है कि—

> 'एक कहूं तो अनेक सो दीसत, एक अनेक नहीं कछु ऐसो।
> आदि कहूँ तिहि अन्तहुँ आवत, आदि न अन्त न मध्य सु कैसो।
> गोपि कहूँ तौ अगोपि कहा यह, गोपि अगोपि न ऊभौ न बैसो।
> जो कहुं सोइ है नहिं सुन्दर, है तौ सही परि जैसो को तैसो॥[2]

ब्रह्म, जीव एवम् माया

सम्पूर्ण दर्शन का ताना बाना ब्रह्म, जीव तथा माया के सम्बन्ध को लेकर बुना गया है। उपनिषद्काल से लेकर आजतक यह प्रक्रिया किसी न किसी रूप में चल रही है। सन्तों में कबीर आदि ने अद्वैत को मान्यता दी है। पूर्व-पृष्ठ मे हमने इसको उद्धृत किया है कि दादू भी कबीर के 'कन्त' को ही अपना 'कन्त' मानते हैं। इस दृष्टि से अधिकाश दादूपंथी अद्वैतवादी सिद्ध होते हैं। वस्तुतः अद्वैतवादी इस बात को मानते हैं कि जीव और ब्रह्म में अद्वैत भाव का सम्बन्ध है, पर माया ग्रस्त होने के कारण वह देहाध्यास के आवर्त में फँस जाता है और यथार्थ तत्व के अभिज्ञान के अभाव मे इधर-उधर भ्रमता रहता है। जब व्यक्ति इस दृश्यजगत् के मायामय परिवेश का परित्याग कर अपने अन्तरतम् पर दृष्टिपात करता है तो उसे सरलता से इस तथ्य का अनुभव हो जाता है कि वही एकमात्र परमतत्व है। वह ऐसा मानने लगता है कि वही ब्रह्म स्वरूप है। वस्तुतः इसी भावना को अद्वैत के नाम से अभिहित किया जाता है। दादूसम्प्रदाय के सन्तों ने स्पष्ट रूप से इस बात का उद्घोष किया है कि जीव माया-ग्रस्त होकर इन्द्रियों के चक्कर में फंस गया है। अतएव उसे अपने आत्म स्वरूप का विस्मरण हो गया है। इस विस्मरण के कारण वह अजर, अमर, अविगत, अविनाशी, निर्गुण, निर्मल, अजन्मा, व्यापक, अखण्ड और समरस रूप से परिव्याप्त ब्रह्म को भूल गया है। उसे यह भी भूल गया है कि वह ब्रह्म है।[3] जिस प्रकार लोभ के वशीभूत होकर मछली कंटिये में लगे हुए मांस को निगल कर स्वयं विपत्ति

१—डा० रामखेलावन पाण्डेय, मध्यकालीन सन्त साहित्य—२६६।

२—वही, पृ० २६६ से उद्धृत।

३—सुन्दर ग्रन्थावली-भाग दो, पृ० ५७९-८०।

में फँस जाती है, बन्दर अन्न के दाने की लालच से घरिये में हाथ डालकर मुट्ठी बाँधता है और बहेलिये के द्वारा फँसा लिया जाता है, बक पक्षी नारियल मे चोंच मार कर लटक जाता है और उसी कारण उसे नाना प्रकार की विपत्ति झेलनी पड़ती है, उसी प्रकार यह जीव माया के वशीभूत होकर अपने को भूल जाने के कारण विविध प्रकार की विपत्तियो को सहन करता है।[2] उसकी दशा तो उस मद्यप जैसी है जिसे अत्यधिक मदिरा पान के कारण आत्म-विस्मरण हो जाता है। मायारूपी ठग ने उसके हाथ में कन्द-मूल दे दिया है, वह उसका कारण नही जानता और निरन्तर उसी का भक्षण करने में तल्लीन है। यथार्थ मे वह उस बालक के सदृश है जो भयवश किसी अयथार्थ वस्तु से डरकर कांपने लगता है। जरा देखिये तो, वह चैतन्य जीव माया के वशीभूत होकर किस प्रकार नाच रहा है।[3] वह इन्द्रियों से प्रेरित होकर अविद्यावश उन्ही के द्वारा अभिलषित सुखोपभोग में तल्लीन है। वह सासारिक मृगमरीचिका मे पड़कर बुरी तरह दिग्भ्रमित है। अनन्तकाल से वह इसी दुख को झेलता आ रहा है। वह ब्रह्मस्वरूप जीवन भ्रम की प्रबलता के कारण पंचभूतों से मिलकर भूतमय हो गया है।[4] वह बन्दरो की तरह चिरमिठी का ढेर लगाकर भ्रमवश उसे अग्नि समझ रहा है। उसे वस्तुतः दिशा-भ्रम हो गया है। इस भ्रम के आवर्त में वह स्वय बँध गया है।[5] दादू[6] कहते हैं कि अरे गँवार, यह माया-जनित सुख पांच दिन का है। इस पर गर्व नहीं करना चाहिए। यह सुख तो वैसा ही है जैसा सुख स्वप्न का होता है। व्यक्ति स्वप्न में नाना प्रकार के सुखो के उपभोग कर सकता है, पर जगते ही ये सब स्वप्न धराशायी हो जाते हैं। इसी प्रकार झंझटो मे वह फँसा रह जाता है और अन्ततोगत्वा कला-कवलित हो जाता है। बाह्य संसृति का यह सम्पूर्ण प्रसार छलना है, प्रवचना है। इसे 'निजरूप' समझना भ्रम है। इसलिये आत्मज्ञान को दृढ़ करके ग्रहण करना चाहिये। सभी सांसारिक प्रसार सेमर के फूल हैं। इनका परित्याग करना श्रेयस्कर है। सांसारिक ऐश्वर्य को देखकर मनुष्य परम प्रसन्न होता है। पर अन्ततोगत्वा उसे इन सबका परित्याग कर यहां से एक दिन चला जाना पड़ता है। ये सब उसके लिये निरर्थक सिद्ध होते हैं। माया के वशीभूत होकर जीव अहंकार से फूला नहीं समाता। इस विवशता की स्थिति मे सृजनहार भी उसका कल्याण नहीं कर सकते। जीव[7] विषय के रूप-लिप्सा मे निरन्तर रत रहता है और नेत्रों को अपवित्र बना देता है। वह निरन्तर बुरी

१—सुन्दर ग्रन्थावली-भाग दो, पृ० ५८०।
२—वही, पृ० ५८१।
३—वही, पृ० ५८१-८२।
४—वही, पृ० ५८२।
५—दादू दयाल की बानी, पृ० ११६-१७।
६—विषै के कारणे रूप राते रहैं,
नैन नापाक यौं कीन्ह भाई।
बदी की बात सुणत सारा दिन,
स्रवण नापाक यौं कीन्ह जाई।
स्वाद के कारणे लब्धि लागी रहै,
जिभ्या नापाक यौं कीन्ह खाई।
भोग के कारणे भूख लागी रहै,

बातों को सुना करता है। इस प्रकार उसके श्रवण भी अपवित्र हो जाते हैं। बुभुक्षा के कारण वह स्वाद का गुलाम बनता है, अतएव उसकी जिह्वा को भी निरन्तर नवीन स्वाद चखने की लत लग जाती है। वह भोग-वृत्ति में निरन्तर लिप्त रहता है। इस लिप्सा के कारण शरीर के अन्यान्य अवयव नापाक हो जाते हैं। पर द्रष्टव्य यह है कि जबतक इस शरीर रूपी नगर मे आनन्दकन्द परमब्रह्म परमेश्वर का वास नही हो जाता, जबतक इसका द्वैत मिट नहीं जाता तबतक यह जीवन प्रसन्न नही हो सकता। 'दादू'[1] स्पष्ट रूप से उद्घोष करते हैं कि यह संसार, परिवार घरबार, नर-नारी, कुल-जाति, पिता-माता, भाई-बन्धु और इसका सभी प्रसार झूठा है। इसको त्याग कर जाग्रत हो जाओ। इस झूठे शरीर के कारण तू (जीव) अत्यधिक विकारग्रस्त रहा, पर यह एक दिन मिट्टी में मिल जायगा। अतएव तू अपने सच्चे प्रियतम को खोज। वही तेरा कल्याण करेगा।

ब्रह्म, जीव और माया के विविध विवेचन सन्त साहित्य में आये हैं। यहाँ विशेष रूप से इस तथ्य की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है कि दादूपंथी विवेचन पर वेदान्त की छाप है। अद्वैत में भी माया का विशद विवेचन किया गया है। वस्तुतः इसे दो भागों में विभाजित किया गया है। पहली को विद्या माया कहा जाता है और दूसरी को अविद्या माया। अविद्या माया को तो सभी ने एक स्वर से दुख का कारण घोषित किया है पर विद्यास्वरूप को भी हम प्रपंचों से पूर्णतया मुक्त नहीं मान सकते। दार्शनिकों के अनुसार विद्यामाया और अविद्यामाया में भेद है। उनका कहना है कि विद्यामाया परमेश्वर की सहचरी है। इसी के आधार पर सृष्टि का उद्भव, पालन और संहार किया जाता है। यह माया-विशुद्ध सत्वप्रधान मानी जाती है, पर अविद्या माया अविशुद्ध सत्वप्रधान। इस आधार पर दृष्टिपात करने से माया के सम्बन्ध के अनुसार चार स्थितियाँ हमारे समक्ष उपस्थित होती हैं:—

(१) विशुद्ध सत्व चेतन स्वरूप (ब्रह्म)
(२) मायोपाधिक संयुक्त ब्रह्म (सगुण ईश्वर)
(३) मायोपाधिक संयुक्त आत्मा (जीव)
(४) अविद्यामाया ग्रसित संसारी जीव।

यों तो सन्त साहित्य में परात्पर ब्रह्म का विशद विवेचन किया गया है और जीव और मायोपाधिक जीव पर भी पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ है, पर सब कुछ के होते हुए भी माया के सन्दर्भ में इनकी दृष्टि अविद्या माया की ओर अधिक रही है। इसे नारी, बिलाई, ताना, गंग, महतारी, कन्या, डाइन, छुरी, दुलहिन, ठगिनी, कामिनी, माय, जेठानी, बुढ़िया, साँपिनि, नागिनि, डाल, पवन, बेलरी, कीकी, कामधेनु, हस्तिनी, चेरी-

---

अंग नापाक यौं कीन्ह जाई।

दादू नगरी चैन तब, जब इक राजी होइ।
दोइ राजी दुख दुन्द में, सुखी न बैसे कोइ।
इक राजी आनन्द है, नगरी निहचल बास।
राजा परजा सुखी बसैं, दादू ज्योति प्रकास।
—वही, पृ० ११८–११६।

१—दादूवाणी, पृ० १२७।
२—डा० रामखेलावन पाण्डेय— मध्यकालीन सन्त साहित्य।

दासी-ठकुरानी, जोगिणि, भगतीण, नटणी, चक्की, भामिनि, दरिया, दीपक, घरहाई, बांझ, गैया, बिल्ली, मालिनि, कुकुरी, चूहड़ी[1] आदि संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। ये अधिकांश नाम दादूपंथ में भी प्रयुक्त हुए हैं।

आध्यात्मिकता की ओर विशेष आकर्षण और झुकाव होने के कारण इनके माया के विवेचन मे वह व्यापकता और दार्शनिकता नही समाविष्ट हो पायी है फिर भी ब्रह्म साक्षात्कार के मार्ग मे प्रमुख अवरोधक तत्व के रूप में माया और मायाग्रस्त जीव का जो भी विवेचन किया गया है वह पर्याप्त विशद है। इस विवेचन मे इनकी अन्तर्दृष्टि की विविधता ही विशेष रूप से परिलक्षित हुई है।

सृष्टि

सृष्टि की उत्पत्ति, विकास और प्रलय सम्बन्धी भावनायें हमारे यहां ही नहीं अपितु विश्व के अन्य सम्प्रदायों मे भी विवेचन और विश्लेषण का प्रमुख विषय रही है। दादू-सम्प्रदाय में इस प्रकार के विवेचन को विशेष रूप से मान्यता मिली है। पर इसे स्पष्टता-पूर्वक समझने के लिये पूर्ववर्ती औपनिषदिक विवेचन पर दृष्टिपात कर लेना विशेष सहायक सिद्ध होगा। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर ज्ञात होता है कि हिन्दू धर्म के दर्शनों को (१) पदार्थ मतवाद, (२) सांख्य प्रवचन, (३) पूर्वमीमांसा या कर्म मीमांसा (४) उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त-चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।[2] प्रथम के अन्तर्गत न्याय और वैशेषिक दर्शन आते हैं, द्वितीय के अन्तर्गत सांख्य और योग, तृतीय के अन्तर्गत कर्ममीमांसा और दैवीमीमांसा सम्बन्धी विवेचन आते है और चतुर्थ के अन्तर्गत वेदान्त सम्बन्धी विचार। इसे हम निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत कर सकते हैं—
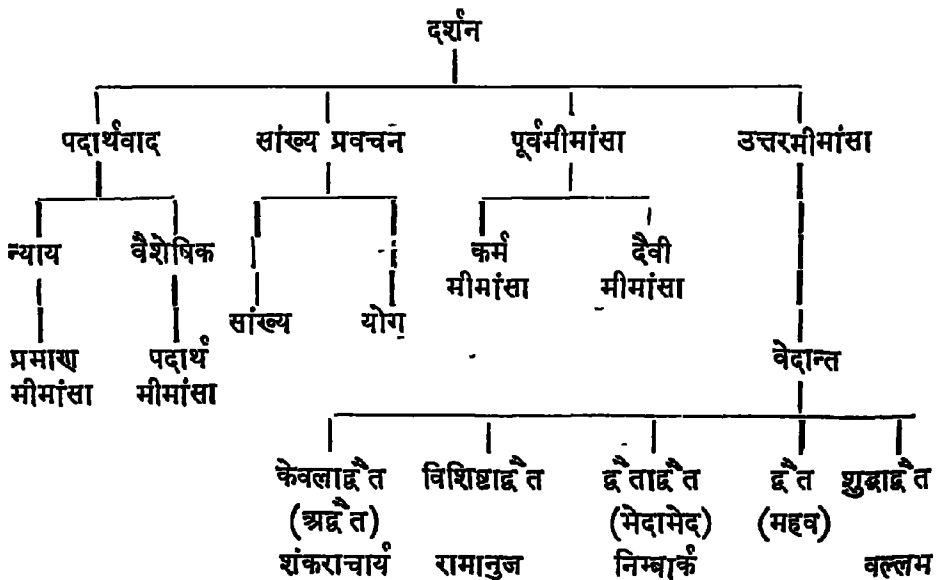
१—डा० प्रेमनारायण शुक्ल-सन्त साहित्य, पृ० ११२-११६।
२—वेदान्त दर्शन— सं० वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य-भूमिका, पृ० ४।

न्याय में प्रमाणों के द्वारा विषयों का परीक्षण किया जाता है।[1] न्याय वेदों के पदार्थों और प्रमाणों का अर्थ-निर्धारण करता है। इस रूप मे इसका प्रमुख उद्देश्य प्रमाण-मीमांसा माना जा सकता है। 'प्रमाण[2], प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभस, छल, जाति तथा निग्रहस्थान, इन १६ तत्वों के ज्ञान से निश्रेयस् की प्राप्ति का विधान न्यायशास्त्र में किया गया है। दुखजन्य प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान के उत्तरोत्तर व्यतिक्रम से नष्ट होने पर अपवर्ग होता है, जो निःश्रेयस है। न्याय में प्रमाण को चार प्रकार का माना जाता है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान और (४ शब्द। प्रमेय ज्ञान के विषय के रूप में इस दर्शन में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुख और अपवर्ग आदि को मान्यता दी जाती है।

वैशेषिक पदार्थों की विशिष्ट कल्पना पर आधारित है। यह परमाणुवाद में विश्वास करता है। इन परमाणुओं को चार प्रकार का माना जाता है (१) पृथ्वी (२) अप (३) तेज (४) वायु। ये परमाणु संख्यातीत माने जाते हैं और इनमें इनके विशिष्ट तत्वों को भी मान्यता दी जाती है। इनके अनुसार इन्हीं परमाणुओ के विभिन्न संघातों द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति होती है। वैशेषिक ५ पदार्थों और ९ द्रव्यों को मान्यना देता है। पदार्थ में द्रव्यगुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय और द्रव्यों में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, और मन की गणना की जाती है।

सांख्य का विवेचन विगत पृष्ठों में किया जा चुका है। अतएव यहां निम्नांकित संकेत सूची[3] ही पर्याप्त होगी।
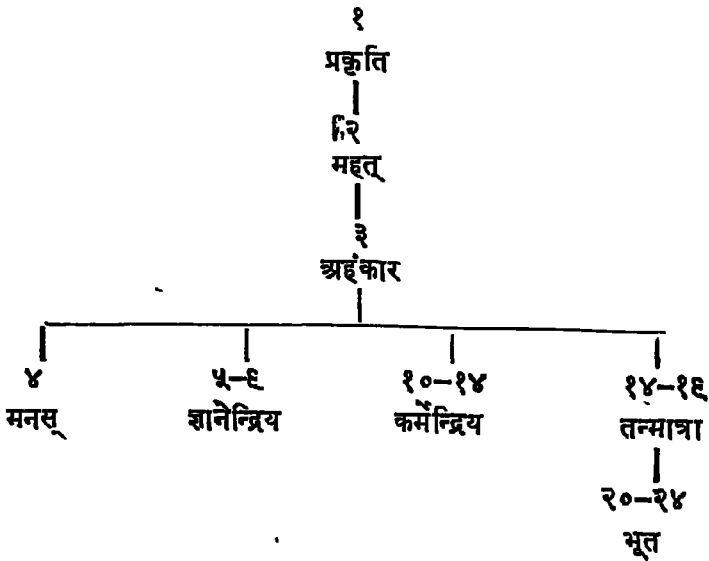
१—नीयते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन न्यायः।

२—हिन्दी साहित्य कोष–प्रथम भाग–पृ० ४६२।

३—एम० हिरियन्ना-भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० २७३।

पुरुष की स्थिति इन तत्वों से परे मानी जाती है। यहा मात्र इस बात का संकेत कर देना आवश्यक है कि सांख्यवादियों के अनुसार पुरुष के सहयोग से प्रकृति की साम्यावस्था नष्ट होती है, जिसके फलस्वरूप महदादि क्रम से सभी अन्य तत्वो का विकास होता है। उत्तर मीमांसा के प्रत्येक सम्प्रदाय ने प्रकृति का किसी न किसी रूप में विवेचन किया है। केवलाद्वैत मे स्पष्ट रूप से इस बात को मान्यता दी गई है कि "ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या।" विशिष्टाद्वैतवादी यह मानते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त जीवन और जगत् भी नित्य और स्वतन्त्र है। दोनों तत्वो को ब्रह्म की विशेषता माना जाता है। द्वैतवादी यह मानते हैं कि ब्रह्म सत्य है, इसने ही सृष्टि कीं रचना की है, अतएव वह असत्य नही हो सकता है। सारांश यह कि ब्रह्म और जगत् दोनो सत्य हैं। शुद्धाद्वैतवादी यह मानते हैं कि ब्रह्म शुद्ध तत्व है। वह मायाग्रस्त नहीं है। उसकी इच्छा के परिणाम-स्वरूप सृष्टि का प्रसार होता है।

उक्त दार्शनिक मतवाद के साथ ही उपनिषद् और गीता में भी सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में विविध प्रकार की धारणाएं व्यक्त की गई हैं। ऋग्वेद के 'नासदीय' सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में जिस प्रकार की जिज्ञासा व्यक्त की गई है वह अप्रतिम है। 'श्वेताश्वतर'[1] उपनिषद् के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक में इसी प्रकार की जिज्ञासा के दर्शन होते हैं। इस उपनिषद्[2] में जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति के स्वरूप का अलग-अलग वर्णन किया गया है। इस उपनिषद् में ईश्वर और जीव दोनों को अजन्मा माना गया है, अन्तर केवल यह है कि ईश्वर शक्तिमान है और जीव अल्पशक्तिवाला। यहां प्रकृति को भी अजन्मा माना गया है और इसे भोक्ता जीवात्मा के लिये भोग-सामग्री उपस्थित करने का साधन कहा गया है। 'प्रश्नोपनिषद्'[3] मे 'प्राण' और 'रयि' के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गयी है। ऐसा माना जाता है कि सृष्टि की उत्पत्ति की आकांक्षा होने पर परमेश्वर ने तप करके 'रयि' और 'प्राण' का जोड़ा उत्पन्न किया। 'रयि' के अन्तर्गत स्थूल भूत समुदाय को समाहित किया गया और प्राण सबको जीवन प्रदान करने वाली जीवनी शक्ति कहा गया है। यहां प्राण को चेतना माना गया है और 'रयि' को शक्ति या आकृति। जिस प्रकार धनात्मक और ऋणात्मक तत्वों के संयोग से विद्युत उत्पन्न होती है उसी प्रकार 'प्राण' और 'रयि' के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती हैं। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। 'ब्रह्मानन्द वल्ली'[4] के आरम्भ में ही 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' की घोषणा करने के पश्चात् सृष्टि के विविध उपादानों के

१—किं कारणं ब्रह्म कुतःस्मजाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा।
अधिष्ठाता केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥ १।१

२—ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थ युक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता भयं यदा विन्दतेब्रह्मएतत्। १।९

३—तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति। १।४

४—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। २।१

उद्‌भव का सविस्तार वर्णन किया गया है। भाव यह है कि अन्तर्यामी परमेश्वर ने[1] सर्वप्रथम आकाश तत्व को उत्पन्न किया। तत्पश्चात् आकाश से वायुतत्व, वायु से अग्नितत्व, अग्नि से जलतत्व और जल से पृथ्वी उत्पन्न की गई। पृथ्वी से नाना प्रकार की औषधिया और अन्न, फल-फूल आदि उत्पन्न हुए। इसी अन्न से यह स्थूल पुरुष-शरीर निर्मित हुआ। गीता[2] में भी इसी बात की कल्पना की गयी है कि ईश्वर ने अपने अव्यक्त रूप से इस सम्पूर्ण जगत् का प्रसार किया। उसमे सभी भूत स्थित हैं पर वह सबसे निर्लिप्त रहता है। कल्प के अन्त में सभी भूत उसी में मिल जाते हैं और कल्प के आरम्भ में उसी से उत्पन्न होकर सृष्टि की उत्पत्ति के कारण बनते हैं।

स्पष्ट है कि सृष्टि की उत्पत्ति से सम्बन्धित ये विवेचन अपने मूल रूप में वैविध्य के सूचक हैं। यथार्थवादी एव साख्य विचारक एक दृष्टिकोण प्रगट करते हैं तो वेदान्त-वादी दूसरा। सन्त साहित्य में भी प्रकृति एवं सृष्टि सम्बन्धी विविध मतो को प्रश्रय मिला है। कबीर ने इसी सृष्टि-जिज्ञासा को विविध प्रकार से अभिव्यक्त किया है। वे तो सृष्टि के इस रहस्य को चमत्कृत होकर देखते थे और अचानक पूछ बैठते थे[3] कि यह आकाश किससे लगा हुआ है? इसमें अनन्त तारो का सृजन किसने किया है? उनकी इस जिज्ञासा का यहीं अन्त नही होता। वे और भी रहस्यमय ढग से पूछते हैं कि यह पिण्ड और जीव कहा से आये हैं? मृत्यु के उपरान्त यह जीव कहा जाता है?[4] पहले गगन[5] की उत्पत्ति हुई या पृथ्वी की, वायु की उत्पत्ति हुई या जल की, अथवा सूर्य

१—तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत.। आकाशाद्वायुः। वायोरग्नि.। अग्नेराप: अद्‌भ्य. पृथिवी। पृथिव्या. ओषधय.। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुष.। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेक शिरः। अयं दक्षिण. पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येव श्लोको भवति।

२—मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। २। १
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववास्थितः। ४
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्। ७
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते। ६

(गीता, अध्याय ६)

३—कहो भाई अम्बर कासूं लागा, कोई जानेगा जाननहार सभागा।
अम्बर दीसे केता तारा, कौन चतुर ऐसा चितरन हारा॥

कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३३

४—उपजै प्यण्ड प्राण, कहां थे आवै, मूवा जीव जाइ कहां समावै।

कबीर ग्रन्थावली (वही) पृ० १००।

५—प्रथमे गगन कि पुहुमि प्रथमें प्रभू, प्रथमें पवन कि पाणी।
प्रथमें चन्द कि सूर प्रथमें प्रभू, प्रथमें कौन बिनाणीं।
प्रथमें प्राण कि प्यण्ड प्रथमें प्रभू, प्रथमें रकत कि रेतं।
प्रथमें पुरुष कि नारि प्रथमें प्रभु-प्रथमें बीज कि खेतं।
प्रथमें दिवस कि रैणि प्रथमें प्रभू, प्रथमें पाप कि पुन्यं।
कहै कबीर जहां बसहु निरंजन तहं कछु आह कि सुन्यं॥—वही, पृ० १४२-४३।

पहले उत्पन्न हुआ या चन्द्रमा ? प्राण और पिण्ड तथा रक्त और रेतस् में पहले कौन उत्पन्न हुआ ? पहले पुरुष उत्पन्न हुआ या स्त्री, खेत उत्पन्न हुआ या बीज ? दिन, रात और पाप-पुण्य में पहले किसकी रचना हुई ? जहां वह निरंजन निवास करता है, वहां क्या शून्य के अतिरिक्त और भी कुछ है ? उन्होंने अपनी दृष्टि से इस जिज्ञासा का समाधान भी ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि—

ॐकारे जग ऊपजै, विकारे जग जाइ।
अनहद बेन बजाइ करि, रह्या गगन मठ छाइ[1]।

वे तो ऐसा मानते हैं कि भगवान् ने एक अनन्त तेजवान प्रकाश उत्पन्न किया और इसी से सारी दुनिया की सृष्टि हुई।[2] ब्रह्म ने सृष्टि की रचना तो की, पर इसे उसके अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। त्रिगुणात्मिका माया के माध्यम से पंच तत्वों के सम्मिश्रण के द्वारा जीवों की चार कोटियां निर्मित की गई और हर जीव के लिये पृथक्-पृथक् बन्धनों का निर्माण हुआ।[3]

दादू ने भी कबीर की ही तरह सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में जिज्ञासा प्रदर्शित की है। दादू स्पष्ट रूप से यह घोषणा करते हैं कि परमतत्व ने सर्वप्रथम अपने से ओंकार को उत्पन्न किया। इससे पंच तत्वों की उत्पत्ति हुई।[4] पंचतत्व से शरीर निर्मित हुआ और इसी से सृष्टि का प्रसार आरम्भ हुआ। इसी पंचतत्व के शरीर से मेरे-तेरे का भाव

१—वही, पृ० १८६।

२—अला एकै नूर उपजाया ताकी कैसी निन्दा।
ता नूर थैं सब जग कीया, कौन भला कौन मन्दा।—वही, पृ० १०४।

३—एक बिनानीं रच्या बिनान, सब अयान जो आपै जांन।
सत रज तम थैं कीन्हीं माया, चारि खानि बिस्तार उपाया।।
पंचतत्त लै कीन्ह बधान, पाप पुन्नि मांन अभिमान।
अहंकार कीन्हें माया मोहू। सपति बिपति दीन्हीं सब काहू।।

— कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२६।

४—कादिर कुदरति लखी न जाइ।
कहँ थैं उपजै कहाँ समाइ।।
कहँ थे कीन्ह पवण अरु पाणी।
धरणि गगन गति जाइ न जानी।।
कहँ थैं काया प्राण प्रकासा।
कहाँ पंच मिलि एक निवासा।।
कहँ थैं एक अनेक दिखावा।
कहँ थैं सकल एक ह्वै आवा।।

दादू दयाल की बानी, भाग २, पृ० २१।

— — —

कौण सबद कौण परखण हार।
कौण सुरति कहु कौण बिचार।।
कौण सुज्ञाता कौण गियान।
कौण उनमनी कौण धियान।।

वही, भाग २, पृ० २२।

उत्पन्न हुआ। यही मैं और तूं अर्थात् मेरे और तेरे का भाव माया-ज्ञान है।[1] वह सृष्टि-कर्ता बड़ा हिकमती और हुनरमन्द है। उसने शब्द से पंचतत्व को उत्पन्न तो किया, पर इसे हम शब्द नहीं मान सकते। शब्द से ही सृष्टि उत्पन्न होती है और अन्ततोगत्वा इसी में विलीन हो जाती है।[2] ब्रह्म ही सृष्टि कर्ता है। इसे उत्पन्न करके वह इससे अलग हो जाता है। इस सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार में वह त्रिगुणों से विशेष सहायता लेता है। वह रजो गुण से सृष्टि की उत्पत्ति करता है, सतोगुण से इसका प्रतिपालन करता है और तमोगुण से संहार करता है।[4] उसने जन्म और मरण के सम्मिश्रण से इस पिण्ड का निर्माण किया और पुनः इसे जीव को समर्पित कर दिया।[5] दादूपंथी संतों में सुन्दरदास विद्वान् थे। उन्होंने वेदान्त और सांख्य का गहन अध्ययन किया था। सृष्टि के विकास का क्रम साख्य मे विशेष रूप से वर्णित है। सुन्दर के मन मे सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी जिज्ञासा आविर्भूत होती है। वे पूछते हैं कि हे जगद्गुरु, तुमने इस जगत् की रचना कैसे की है? तुमने प्रथम किस तत्व को उत्पन्न किया है? पहले प्रकृति उत्पन्न हुई या पुरुष या महतत्त्व अहंकार, या सत्व, रज और तम तीनों को तुमने एक साथ

कौण सहज कहु कौण समाध।
कौण भगति कहु कौण अराध॥
कौण जाप कहु कौण अभ्यास।
कौण प्रेम कहु कौण पियास॥

—दादू दयाल की बानी भाग २, पृ० २२

१—पहली कीया आप थैं उतपति ओंकार।
ओंकार थैं ऊपजै पंच तत्त्व आकार॥ ८
पंच तत्त्व थैं घट भया, बहु विधि सब विस्तार।
दादू घट थैं ऊपजे, मैं तैं वरण विकार॥ ९
एक शब्द सब कुछ किया, ऐसा समर्थ सोइ।
आगे पीछे तो करे, जे बल हीणा होइ॥ १०

—श्री दादू बाणी, सबद कौ अंग, पृ० ३६८।

२—आदि शब्द ओंकार है, बोले सब घट माहिं।
दादू माया विस्तरी, परम तत्त्व यह नांहिं॥ १२
पैदा कीया घाट घाट घड़ि, आपै आप उपाइ।
हिकमत हुनर कारीगरी, दादू लखी न जाइ॥ १३
एक सबद सौं ऊनवे, वर्षे न लागे आइ।
एक सबद सौं बीखरे, आप आप कौं जाइ॥ १४

३—आप अकेला सब करै, घट में लहरि उठाइ।
दादू सिर दे जीव के, यूं न्यारा ह्वै जाइ॥

—साखी भूत को अंग, पृ० २५७।

४—राजस कर उत्पत्ति करै, सात्विक कर प्रतिपाल।
तामस करि परलै करे, निर्गुण कौतिकहार॥ ७

श्री दादू बानी, पृ० ४६४ साखी भूत का अंग)

५—जामन मरणा सान कर, यहु पिंड उपाया।
साईं दीया जीव को ले जग में आया॥ ६ वही, पृ० २५७

उत्पन्न किया अथवा तुमने आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी की रचना की और पंचेन्द्रियो के प्रसार का निर्माण किया ? क्या तुम्हीं ने दस इन्द्रियो और अन्तःकरण का निर्माण किया ? अगर ये सब तुम्हारी ही निर्मिति हैं तो क्या आप इनसे पूर्णतया संयुक्त हैं अथवा वियुक्त ?[1] इसके उत्तर स्वरूप वे कहते हैं कि ब्रह्म से पुरुष और प्रकृति उत्पन्न हुई। प्रकृति से महतत्व अहंकार को उत्पन्न किया गया। अहकार से सत्व, रज और तम नामक तीन गुण आविर्भूत हुए, तम से महाभूत स्वरूप विषय-प्रसार उत्पन्न हुआ। रज से पृथक्-पृथक् दस इन्द्रियों की रचना हुई और सत्व से मन आदि देवताओं को उत्पन्न किया गया।[2] द्रष्टव्य है कि सुन्दरदास का सृष्टि सम्बन्धी यह मत सांख्य की मान्यता के अनुरूप नहीं ठहरता। सांख्य में प्रकृति और पुरुष के संयोग से साम्यावस्था के निरसन के कारण सृष्टि की-उत्पत्ति मानी गई है। पर 'सुन्दरदास' इसके मूल मे ब्रह्म के कर्तृत्व को स्वीकार करते हैं। उनके इस मत पर वेदान्त की छाप है। 'ज्ञान-समुद्र' में भी 'सुन्दरदास' ने अपने इसी मत की स्थापना की है। इसी स्थल पर पंच तत्वों की धारणा का दार्शनिक विवेचन भी दृष्टिगोचर होता है। यह विवेचन 'गोरक्षपद्धति' द्वितीय शतक के कतिपय श्लोकों (२०–६०) के आधार पर किया गया है। यहीं पर पंच तत्वों के गुणों की चर्चा भी की गई है। उनके अनुसार आकाश का गुण शब्द है, वायु का गुण शब्द और स्पर्श है। पावक मे शब्द स्पर्श और रूप का समाहार है और जल में शब्द स्पर्श रूप और रस का। पृथ्वी मे इन पाचों की उपस्थिति पाई जाती है।[3] स्वभाव की दृष्टि से पृथ्वी कठोर

१—कैसे कैं जगत यह रच्यो है जगत गुरु
मों सों कहो, प्रथम ही कौन तत्व कीनौं है।
प्रकृति कि पुरुष कि महतत्व अहंकार
किधौं उपजाये सतरज तम तीनौं है।
किधौ व्योम वायु तेज आपु कै अवनि कीन
किधौं पंच विषय पसार करि लीनौं है।
किधौं दश इन्द्री किधौं अन्त.करण कीन्ह।
सुन्दर कहत किधौं सकल विहीनौ है।

—सुन्दर ग्रन्थावली भाग २–पृ० ५६० ।

२—ब्रह्म तें पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई।
प्रकृति ते महतत्व पुनि अहंकार है॥
अहंकार हूं ते तीन गुन सत्व रज तम।
तम हूं ते महाभूत विषय प्रसार है॥
रज हूं ते इन्द्रिय दश पृथक् पृथक् भई।
सत्व हू ते मन आदि देवता विचार है॥

—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २–पृ० ५६० ।

३—शब्द गुणो आकाश एक गुण कहियत जामहिं।
शब्द स्पर्श वायु उभय गुण लहियत तामहिं॥
शब्द, स्पर्शजु, रूप तीन गुण पावक मांही।
शब्द स्पर्शजु रूप रस जल चहुं गुण आंहीं॥
पुनि शब्द स्पर्श जु रूप रस गन्ध पचगुण अवनि है।
शिष्य इहै अनुक्रम जानि तूं साख्य जु मत ऐसैं कहै॥

—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग १, पृ० ६०।

स्वभाव वाली, जल द्रवणशील, अग्नि उष्ण, वायु संचरणशील और आकाश स्थिर हैं।[1] स्वभाव और गुण (तामसाहंकार) के सुसम्बद्ध विवेचन के पश्चात् वे राजसाहंकार और सात्त्विकाहंकार के आधार पर सृष्टि की रचना का रहस्य समझाते हैं। उनका कहना है कि राजसाहंकार[2] से दस इन्द्रिय, पंच वायु भिन्न नामरूप क्रियायें, श्रवण, त्वचा, दृग, घ्राण, रसना, ज्ञानेन्द्रिय, पाणि, पद, उपस्थ, गुदा पंचकर्मेन्द्रिय और क्रियाशक्ति उत्पन्न हुई। सात्त्विकाहंकार[3] से मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता उत्पन्न हुए। त्रिविध[4] और त्रिगुण शक्ति से स्थूल और सूक्ष्म देह का निर्माण हुआ। तीसरी देह का नाम कारण देह है। यही सबका मूल कारण है। इसी से सूक्ष्म और स्थूल देह उत्पन्न होते हैं। इसके पश्चात् सुन्दरदास ने स्थूल देह का वर्णन किया है और इसके अन्तर्गत अन्य प्रकार से पांच भूतों से पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों का चित्रण किया है। त्रिपुटी भेद के अन्तर्गत कर्मेन्द्रिय त्रिपुटी और अन्तःकरण त्रिपुटी का विवेचन किया गया है। लिंग शरीर को ये नव-तत्वों से निर्मित मानते हैं। ये नव तत्व शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं। स्थूल वपु इनके अनुसार १५ तत्वों से निर्मित है। ये २४ तत्व जड़ कहे गये हैं। चैतन्य के संयोग से इनकी संख्या २५ हो जाती है।[5] जाग्रतावस्था का वर्णन कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय नामक अवस्थाओं का विवेचन माण्डूक्य उपनिषद् पर श्री गौड़पादाचार्य की कारिका छन्दों के अनुसार प्रतीत होता है। यह वेदान्त का ग्रन्थ है और उस पर शंकराचार्य का भाष्य है।[6]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दादू सम्प्रदाय के अधिकांश सन्तों ने सृष्टि-रहस्य को अपनी दृष्टि से समझने और समझाने का प्रयत्न किया है। इन सन्तों में सुन्दरदास का विवेचन कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि सुन्दरदास

१—यह कठिन स्वभाव अवनि को कहिये, द्रावक उदक हि जानहु।
पुनि उष्ण सुभाव अग्नि महिं बर्त्तय चलन पवन पहिचानहुं॥
आकाश सुभाव सुचिर कहियत है पुनि अवकाश लषावै।
ये पचतत्व के पंच सुभावहि सद्गुरु बिना न पावै॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग १, पृ० ६०।

२—वही, देखिये, पृ० ६१।

३—वही, पृ० ६१-६२।

४—त्रिविध शक्ति है त्रिगुणमय, तम, रज, सत्व सु येह।
इनि करि पिण्ड स्थूल है, इनि करि सूक्षम देह॥
कारण देह सु तीसरौ, सब को कारण मूल।
ताही तें दोऊ भये, सूक्षम देह स्थूल॥
—वही, पृ० ६२।

५—नव तत्वनि कौ लिंग प्रबंधा, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधा।
मन अरु बुद्धि चित्त अहँकारा, ये नव-तत्व किये निर्द्धारा॥
पन्द्रह तत्व स्थूल वपु, नव तत्वनि कौ लिंग।
इन चौबीसहु तत्व कौ बहुविधि कह्यौ प्रसंग॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग १, पृ० ६६।

६—सुन्दर ग्रन्थावली—प्रथम भाग, पाद टिप्पणी से उद्धृत।

मर्मज्ञ विद्वान् थे। परिणामस्वरूप उनकी कृतियों में अध्ययन का सार समाहित हुआ है। उन्होंने सांख्य की सृष्टि-विषयक परिकल्पना का चित्रण अवश्य किया है, पर उस पर वेदान्त की छाप लगी हुई है। वे वस्तुतः एकेश्वर सांख्यवादी और वेदान्ती सिद्ध होते हैं। उपर्युक्त विवेचन में दादू की सृष्टि-विषयक परिकल्पना का चित्रण किया गया है। वस्तुतः शिष्य होने के बावजूद भी सुन्दर का मत दादू से भिन्न ज्ञात होता है। इसका मूल कारण यह है कि दादू पर 'सूफीवाद' का प्रभाव था और सुन्दर पर सांख्य तथा वेदान्त का।

रहस्यवादी प्रवृत्ति

'अण्डरहिल' ने अपनी पुस्तक 'मिस्टिसिज्म' के आरम्भ में ही दो उद्धरण दिये हैं— 'रुडोल्फ' यूकेन के उद्धरण का तात्पर्य है कि "व्यक्ति यथार्थ के विविध स्तरों का सन्धि-स्थल है।"[1] 'रुइज़ब्रोक' (Ruysbroeck) के उद्धरण का तात्पर्य है कि जब प्रेम हमें सांसारिक वैषम्य से मुक्त करके अमृतवर्षी शान्ति की स्थिति में ला देता है तो हमें एक ऐसे रहस्यमय प्रकाश का दर्शन होता है जो हमारे रग रग में परिव्याप्त होकर हमारे मर्म को उद्घाटित कर देता है। यह प्रकाश अक्षर एव अनन्त (तत्त्व) के चिन्तन से उद्भूत होता है। इसे हम शाश्वतता का स्वयं प्रकाशित ज्ञान मानते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति एवं परमतत्त्व के बीच सामंजस्य स्थापित हो जाता है और द्रष्टा एवं दृश्य में कोई भेद नहीं रह जाता।[2] वस्तुतः सृष्टि का मूल होने के कारण मनुष्य ने जीवन और ब्रह्म सम्बन्धी आँख-मिचौनी को समझने और समझाने का प्रयत्न किया है। उसने इनके अभेद संयोग और पूर्ण तादात्म्य की अनभूति की है। वह शाश्वतता के स्वयं प्रकाशित स्वरूप से परिचित है। पर अनुभूति और परिचय में निहित अव्यक्त तत्व को व्यक्त स्वरूप मे अभिव्यक्ति प्रदान करने की कठिनाई से भी वह अभिज्ञ है। इसी कठिनाई से रहस्यवादी प्रवृत्ति का उद्गम होता है।

अगर हम 'रहस्यवाद' के 'रहस्य' शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या करें तो ज्ञात होता है कि यह शब्द 'रहस्' धातु पर आधारित है जो स्वयं 'रह त्यागे' के अनुसार 'त्याग करना' अर्थ रखने वाली धातु 'रह' से उसके आगे असुन प्रत्यय लगा कर बना कहा जा सकता है। ऐसे 'रहस्' का अर्थ साधारणतः 'विविक्त', 'विजन'

१—Man is the meeting point of various stages of reality.

—Rudolph Eucken.

२—When love has carried us above all things... .....we receive in peace the incomprehensible light, unfolding us and penetrating us. What is this light, if it not be a contemplation of Infinite, and an intuition Eternity? We behold that which we are, and we are that which we behold, because our being without losing anything of its own personality is united with Divine Truth.

—Ruysbroeck

'गुह्य' और एकान्त होता है जिस कारण इसके द्वारा अधिकतर गोपनीयता का -बोध होना स्वाभाविक है।[1] इस शब्द का प्रयोग 'परम गुह्य' के अर्थ मे भी किया जाता है।"[2]

आधुनिक साहित्य में रहस्यवाद का प्रयोग 'मिस्टिसिज्म' की तौल पर भी किया जाता है। 'मिस्टिसिज्म' शब्द ग्रीक भाषा की 'मिस्टेस' (Mystes) या 'मस्टेस' (Mustes) नामक धातु से बना है। इसका अर्थ होता है 'जीवन और मृत्यु के मर्म सम्बन्धी ज्ञान को प्राप्त करने के लिये दीक्षित व्यक्ति।[3] वस्तुतः उपर्युक्त व्युत्पत्तिपरक अर्थों से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि रहस्यवाद अनिवर्चनीय और अविश्लेषित को अंशतः वचनीय एवं विश्लेषित स्वरूप में समझने और अभिव्यक्त करने का प्रमुख सोपान है। रहस्यवाद सर्वशक्तिमान परमेश्वर के साथ व्यक्ति की एकता को स्पष्ट अनुभूति है। इसका उद्भव धार्मिक चेतना से होता है। धर्म-प्राण व्यक्ति के जीवन मे सम्पूर्ण अवरोधों को निरसित करके परम तत्व की अविकल अनुभूति कराना ही, इसका प्रमुख लक्ष्य है। इस अनुभूति की दशा में व्यक्ति सांसारिक दुश्चिन्ताओं से मुक्त होकर अपने लिये एक परम पावन और आह्लादकर आवास प्राप्त कर लेता है[4] जो सर्वांगपूर्ण है। उसमे विरोधी गुणों का समाहार है। इसीलिये वह सर्वगुण सम्पन्न होते हुए भी गुणातीत माना जाता है। वह सामर्थ्यवान निरन्तर समीप हो निवास करता है, फिर भी दूर है क्योंकि उसे सरलता से प्राप्त नही किया जा सकता। वह सर्वव्यापक होते हुए भी निर्लिप्त है। उसकी इस प्रकार की लीला को बिरले ही समझ पाते हैं।[5]

दादू-पंथ में काव्य और दर्शन की दृष्टि से 'सुन्दरदास' का विशेष महत्त्व है। बचपन में ही दादूसम्प्रदाय में दीक्षित हो जाने के कारण इन्हें शास्त्रीय अध्ययन के लिये पर्याप्त अवकाश प्राप्त हुआ। इसके परिणामस्वरूप इनकी कृतियों मे सूक्ष्म और गहन दार्शनिक विवेचन को प्रश्रय मिला। 'दादू' और 'रज्जब' पर सूफी प्रभाव था, पर 'सुन्दरदास'

१—परशुराम चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० १।

२—वही, पृ० २।

३—वही, पृ० ४।

४—Mysticism is the immediate feeling of the unity of the self with God, it is nothing, therefore, but the fundamental feeling of religion, the religious life at its very heart and centre But what makes the mystical special tendency inside, religion is the endeavour to fix the immediateness of the life in God as such, as also abstracted from all intervening helps and channels whatever and find a permanent abode in the abstract inwardness of life of pious feeling.

५—औधू अकल अनूप अकेला।
महापुरुष माँहै अरु बाहर, माया मधि न मेला।
सब गुन रहित रमे घट भीतरि, नाद बिन्द में न्यारा।
परमपवित्र परमगति खेलै, पूरण ब्रह्म पियारा। १
अंजन माहि निरंजन निरमल, गुण अतीत गुण माही।

विशेष रूप से वेदान्त की सांख्य परम्परा से प्रभावित थे। वे तो सद्गुरु के प्रभाव से 'क्षर' के मध्य अक्षर का अभिज्ञान कर चुके थे।[1] इसीलिये वे स्पष्ट रूप से इस बात की घोषणा कर सके थे कि—

यह तो एक अचम्भौ भारी।
करहु आप सिर देहु और कै, कैसी रीति तुम्हारी।
पंच तत्त्व गुण तीनि आंनिकै जुक्ति मिलाई सारी।
आपुन निर्बिकार ह्वै बैठे, हमकौं किये बिकारी।
जड़ की शक्ति कहां की स्वामी, देषहु दृष्टि निहारी।
हलन चलन चम्बक तैं दीसै, सुई न चलत विचारी।
माया मोह लगाई सबन कौं, मोहे नर अरु नारी।
ठग विद्या नीकी जानत हौ बड़े चतुर व्यापारी।
हमकौं दोष न देहु गुसाईं सुन्दर कहत उघारी।[2]

वे पुनः कहते हैं कि—

बाजी कौन रची मेरे प्यारे।
आपु गोपि ह्वै रहे गुसाईं, जग सबही तैं न्यारे॥
ऐसे चेटक कियौ चेटकी, लोग भुलाये सारे।
नाना विधि के रंग दिषावै, राते पीरे कारे॥
पाष परेवा धूरि सु चावल, लुक अंजन विस्तारे।
कोई जानि सकै नहिं तुम कौं, हुन्नर बहुत तुम्हारे॥
ब्रह्मादिक पुनि पार न पावै, मुनि जन षोजतु हारे।
साधक-सिद्ध मौन गहि बैठे, पण्डित कहा विचारे॥
अति अगाध अति अगम अगोचर, न्यारौं वेद पुकारे।
'सुन्दर' तेरी गति तूं जानै, किनहु नहीं निरधारे॥[3]

वे तो उस प्रभु को 'अगम गति गोपाल'[4] और 'अकह प्रभू की बात'[5] आदि विशेषणों से अभिहित करते नहीं अघाते। उनका उसके प्रति अनन्य प्रेम है। उससे पल भर के लिये वियुक्त होना वे सहन नहीं कर सकते। वे सूफियाना ढंग से अपने वियोग

सदा समीप सकल विधि समरथ, मिले सुमिलि नहिं जाहीं। २
सरवंगी समसरि सब ठाहर, काहू लिपित न होई।
जन रज्जब जगपति की लीला, बूझै बिरला कोई। ३
—सन्तकाव्य-सं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३३२।

१—षर माहे अषर लष्या, सतगुरु के जु प्रसाद।
सुन्दर ताहि विचारि तैं, छूटा सहज विषाद।
—सुन्दर ग्रन्थावली (१) पृ० २२२।

२—सुन्दर ग्रन्थावली (भाग २) पृ० ६०६।

३—वही, पृ० ६०६–६०७।

४—वही, पृ० ६०७–६०८।

५—वही पृ० ६०७–६०८।

की दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि[1]—मेरा प्रियतम परदेश मे लुभा गया है। वह आज भी नही आया है, ऐसा ज्ञात होता है कि किसी से उलझ गया है। जिस दिन से उसने विदेश गमन किया है उसी दिन से मुझे शान्ति नही मिल रही है। भूख, प्यास और नींद समाप्त हो गई है। उसी की चिन्ता मे सबेरा हो जाता है। मैं विरहाग्नि से जल रही हूँ। उसका अब दर्शन न होने पर हम अपना प्राणान्त कर देंगी। बहुत दिनो से उसका इन्तजार कर रही थी पर वह अब भी नहीं आया। ऐसा ज्ञात होता है कि वियोगाधिक्य के कारण इस शरीर से जीवात्मा निकल भागेगी। विरह की व्याकुलता में मै उदास होकर इधर-उधर घूम रही हूँ। मेरे इस कष्ट को वही जान सकता है जिसे इसका ज्ञान हो। इसका ज्ञान होना भी तो सरल नहीं है क्योंकि ये सन्त उस स्थान पर जाने की कल्पना करते हैं, जहाँ चरण के बिना चलना, श्रवण के बिना सुनना, हस्त के बिना कर्म करना सम्भव हो। जहाँ तन, मन और प्राण का सर्वथा अभाव हो। शब्द और जीव भी वहाँ न हों और रसना और मुख के बिना ही निरन्तर गुणगान होता हो। पवन, पावक, धरणी, आकाश, चन्द्र और सूर्य वहाँ न पाये जाते हों। वहाँ केवल परम ज्योति का प्रकाश हो और सन्त इसी में निरन्तर आपाद लीन हो।[2] उनका विश्वास है कि समस्त सृष्टि मे उस परम तेज का नूर भरपूर है। इसका दीदार करने से अमृत प्राप्त होता है।[3] यह अनन्त आनन्द की अवस्था है। इसी लिये सन्त कहते है कि—

> सुख सागर में झूलिबो, कुसमल झड़ै हो अपार।
> निर्मल प्राणी होइबौ, मिलिबौ सिरजनहार। १

१—मेरो पिय परदेश लुभानौ री।
जानत हौं अजहू नहिं आये, काहू सौं उरझानौ री॥
ता दिन तें मोंहि कल न परत है, जब तें कियौ पयानौ री।
भूष पियास नींद नहिं आवै, चितवत मोहिं बिहानौ री।
विरह अग्नि मोहिं अधिक जरावै नैननि मैं पहिचानौ री।
बिन देषे हौं प्राण तजौंगी, यह तुम सॉची मानौ री॥
(सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ६०८)
भई उदास फिरत हौं व्याकुल छूटौ ठौर ठिकानौ री।
सुन्दर विरहिनि कौ दुख दीरघ, जो जानै सौ जानै री॥
—वही, पृ० ६०८।

२—चल चल रे मन तहाँ जाइये।
चरण बिन चलिबौ, स्रवण बिन सुनिबौ,
बिन कर बैन बजाइये।
तन नाहीं जहँ, मन नाहीं तहँ बिनु रसना मुख गाइये। १
पवन पावक नहीं धरणि अम्बर नहीं, उभै नहीं तहँ लाइये।
चन्द नहीं जहँ, सूर नहीं तहँ, परम ज्योति सुख पाइये।
तेज पुंज सो सुख का सागर, झिलिमिलि नूर नहाइये।
तहँ चलि दादू अगम अगोचर ता में सहज समाइये।
—दादू दयाल की बानी, भाग दो, पृ० १०७।

३—नूर रह्या भरपूर, अमी रस पीजिये। वही, पृ० १०४।

तिहि संजमि पावन सदा, पंक न लागै प्रान।
कँवल विगासै तिहिं तणौ उपजै ब्रह्म गियान। २
अगम निगम तहं गमि करैं तत्तैं तत्त मिलान।
आसणि गुर कै आइवौ, मुकतैं महल समान। ३
प्राणी परिपूजा करै, पूरे प्रेम विलास।
सहजै सुन्दर सेविये, लागी लै कविलास। ४
रैणि दिवस दीसै नही, सहजै पुंज प्रकास।
दादू दरसन देखिये, इहि रस रातौ हो दास[1]। ५

इतना ही नहीं अपितु—

अविनासी संगि आतमा, रमै हो रैणि दिन राम।
एक निरन्तर ते भजै, हरि-हरि प्राणी नाम॥
सदा अखण्डित पुरि वसै, सो मन जाणी ले।
सकल निरन्तर पूरि सब, आतम रातौ ते॥
निराधार निज बैसणो, जिहि तति आसणि पूरि।
गुरु सिव आनँद ऊपजै, सनमुख सदा हजूरि॥
निंहचल ते चालै नहीं, प्राणी ते परिमाण।
साथी साथैं ते रहैं, जाणैं जाण सुजाण॥
ते निरगुण आगुण धरो, माहैं कौतिगहार।
देह अछत अलगौ रहै, दादू सेवि अपार॥[2]

वस्तुतः 'अविनाशी के सग आत्मा के रमने' और तत्पश्चात् पूरे से परिचय होने के पूव और पर की स्थिति का दिग्दर्शन 'दादू' सम्प्रदाय के सन्तों ने पूर्णता के साथ किया और कराया है। इनकी अनुभूति मे तीव्रता है। इस अनुभूति प्रवणता की स्थिति की अभिव्यक्ति दुरूह और रहस्यावेष्टित है। इसे अभिव्यक्त करने के लिये इन्हें कई प्रकार के स्पष्ट और अस्पष्ट कथनों का आश्रय ग्रहण करना पड़ा है। ज्ञानमार्गी होने के कारण इनकी अनुभूति में साधनात्मक रहस्य के विविध अटपटे स्वरूप भी संगुम्फित हैं। इस अनुभवगम्यता की अभिव्यक्ति की दुरूहता से भी वे भली प्रकार परिचित हैं। परिणामस्वरूप इस 'अवाङ्ग मनस गोचर' को अन्तर्दृष्टि, अन्तर्चक्षु, प्रातिभ ज्ञान, स्वयं-प्रकाश्य, अथवा स्वात्मानुभूति के माध्यम से ग्रहण करना और उसकी अनिर्वचनीयता के बावजूद अटपटे शब्दों में उसे अभिव्यक्त करना ही सन्तों की प्रमुख विशेषता है। कुछ लोग[3] (बर्गसां) इस प्रकार की अनुभूति को बौद्धिक सहानुभूति की संज्ञा देने के साथ ही तादात्म्य या समरस सम्बन्ध द्वारा उत्कृष्टता का अभिज्ञान कराने का प्रमुख

१—दादूदयाल की बानी, भाग २, पृ० ६६।
२—वही, पृ० ६६।
३—By intuition is meant the kind of intellectual sympathy by which one places one self within an object in order to coincide what is unique in it and consequently inexpressible. (An Introduction to Metaphysics (London—1915) P. 6.

सोपान मानते हैं। आधुनिक युग के प्रमुख मनीषी श्री अरविन्द[1] ने इस प्रकार के ज्ञान को पाच स्तरों में विभाजित किया है। उन्होंने प्रथम को उच्चतर मानस (Higher mind), द्वितीय को प्रदीप्त मानस (illuminated mind), तृतीय को प्रातिभ मानस (Intuitions), चतुर्थ को उर्ध्वमानस (over mind), और पचम को अति मानस (Super mind) की संज्ञा दी है। इसमे प्रथम को निम्न प्रकार का और पंचम को उच्च प्रकार का माना गया है। वस्तुतः इस प्रकार के विभाजन के मूल में मनुष्य के परिष्कृत संवेदन किसी न किसो प्रकार अवश्य प्रस्तुत रहते हैं। वृहदारण्यक उपनिषद्[2] में इस प्रकार के अनुभव की तुलना प्रियतम के प्रगाढ़ आलिंगन के माध्यम से की गई है। जिस प्रकार आलिंगन करने वाले व्यक्ति को आलिंगन के समय किसी भी प्रकार की अन्य बात का ज्ञान नही रहता और वह आप्त काम अकाम शून्य होकर केवल उसी का अनुभव करता है, उसी प्रकार तीव्रतम अनुभूति की दशा में सन्तो के समक्ष उस अनुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। वह निर्विशेष भाव से अपने को उसी अनुभूति को समर्पित कर देता है। उसकी यह अनुभूति भी सामान्य न होकर विशिष्ट होती है। विश्वचेतना के साथ समरस सम्बन्ध स्थापित करने के कारण उसके निकृष्ट सासारिक बन्धन निलम्बित हो जाते हैं और औदात्य की स्थिति मे उसे 'अहब्रह्मास्मि', 'तत्वमसि' अथवा 'सर्वखल्विदम् ब्रह्म' की अनुभूति होने लगती है। यही अनुभूति की सप्राण अनिर्वचनीयता और अभिव्यक्ति की अटपटी वचनीयता सन्तों के रहस्य का मूल स्रोत है।

दाम्पत्य भाव

उपर्युक्त विवेचन में आत्मा का विश्वात्मा के प्रति अगाध प्रेम की चर्चा की गई है। उपनिषदों के उद्धरण से इस तथ्य को प्रमाणित भी किया गया है कि इस महामिलन के सन्दर्भ में प्रियतम और प्रियतमा के प्रतीक का प्रयोग किया गया है। कतिपय कवियित्री सन्तो ने भी इस प्रतीक को मान्यता प्रदान की है। सन्तसाहित्य और विशेषकर दादू-सम्प्रदाय में इस प्रतीक को पर्याप्त मान्यता मिली है। इसके कई कारण हैं। वस्तुतः सूफियों ने मानव को रागात्मिका वृत्ति (प्रेम) के उद्वेलन को ही अपना उपजीव्य बनाया है। इसके दो पार्श्व संयोग और वियोग के बीच ही उनकी चिन्तनधारा प्रवाहित होती है। उनकी दृष्टि में विप्रलम्भ का विशेष महत्त्व है। सूफियोंके अनुसार इसी प्रेमाधिक्य के कारण जीवात्मा परमात्मा से मिलने के लिये व्याकुल हो जाती है इस मिलन के लिये प्रयाण की अवस्था में उसे निम्नांकित सात पड़ावों से गुज़रना पड़ता है—(१) उबूदियत (२) इश्क (३) जुहद (४) मारिफत (५) वज्द (६) हकीकत (७) वस्ल। 'उबूदियत' मे साधक आगे बढ़ने की दृष्टि से हृदय की शुद्धि के लिये प्रयत्नशील होता है। 'इश्क' की दशा मे वह ईश्वर

१—Dr. S K. Maitra-Studies in shri Aurbindo's Philosophy (B. H. U.) P. 5.

२—तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न वाह्य किंचन वेद नान्तरमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्य किंचन वेदनान्तर तद् व अस्यैतदा प्तकाममात्मकाममकाम रूपम् शोकान्तरम्। अध्याय (४) ब्राह्मण ३(२१)

के प्रति अनुरक्त होने की चेष्टा करता है। जुहद' की दशा में वह भौतिक विषय-वासनाओं से पूर्ण-मुक्ति का आकांक्षी होता है। 'मारिफ़त' का सम्बन्ध ज्ञान की दशा से है। इसे प्राप्त होने पर वह परमात्मा के अलौकिक गुणों से अभिज्ञ हो जाता है। वज्द् की दशा में वह परमात्मा के साथ एकता की अनुभूति करता है। हकीकत की दशा में उसे वस्तुस्थिति का ज्ञान होता है। अन्तिम अवस्था वस्ल की दशा में उसे परमतत्त्व की प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है। कुमारी अण्डरहिल[1] ने भी रहस्यमय मार्ग के अध्ययन के पाँच स्वरूपों का उल्लेख किया है—

(१) परमतत्व के प्रति आत्म जागृति और चेतनता (The awakening of the self to the consciousness of divine reality).

(२) जागृति द्वारा सांसारिक प्रलोभनों का ज्ञान और भौतिकता के परित्याग द्वारा ईश्वरोन्मुख होने का प्रयत्न।

(३) इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप ज्ञानोपलब्धि (Illumination)

(४) अहं का विगलन और पूर्ण आत्म-समर्पण (Self-Surrender)

(५) सम्मिलन (Union)

दोनों विचारधाराओं को एक साथ लेने पर इनमें निहित साम्य पर दृष्टिपात किया जा सकता है। सूफियों ने 'पूर्ण मानव' (अल् इन्सान उल् कामिल) की भावना पर भी बल दिया है। उनका मत है कि यही वस्तुतः परमात्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति है। इसी पूर्ण मानव की धारणा के सदर्भ में सूफियों ने 'सफ़रउल हक़' (परमतत्त्व की यात्रा) और 'सफ़रउल् अब्द' (दास की यात्रा) का उल्लेख किया है। प्रथम के अनुसार परमेश्वर अपनी सृष्टि-रचना के माध्यम से स्वयं अपने को अपनी उच्चदशा से निम्न स्तर पर लाया करता है, फिर द्वितीय के अनुसार वह ऐसे पूर्ण मानव के माध्यम द्वारा अपनी वास्तविक स्थिति को प्राप्त कर लिया करता है। इस द्वितीय यात्रा की प्रगति विभिन्न स्तरों में हुआ करती है और उसे तदनुसार कहीं-कहीं नासूत अथवा मानवीय, मलकूत अथवा स्वर्गदूतीय, जबरूत अथवा विशुद्ध ज्ञानपरक, लाहूत अथवा ईश्वरीय कहा गया है। इस अन्तिम दशा में 'साधक हकीकत' को उपलब्ध कर लेता है।[2] सूफियों में 'फना' और 'बका' शब्दों का भी विशेष महत्व है। 'फना' का तात्पर्य है ऐहिक अथवा भौतिक संयोग और 'बका' का आशय अद्भुत ईश्वरीय सम्मिलन। लौकिक प्रेम के ईश्वरीय प्रेम में परिणत हो जाने को 'बका' की स्थिति मानी जाती है। इसके बावजूद यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि सूफियों की विचारधारा का ताना-बाना इश्के हकीकी के आधार पर बुना गया है। वे वस्तुतः हृदय (कल्ब), रूह और आत्मा[3] में भेद करते हैं।

१—Underhill-Mysticim-P.169.

२—परशुराम चतुर्वेदी—रहस्यवाद, पृ० ६५।

३—The Sufis distinguish three organs of spiritual communication the Heart (quib) which knows God, the spirit (Ruh) loves him, and the innermost ground of soul (sirr) which contemplates him.
R. A. Nicholson-Mystics of Islam-P. 68.

उनके अनुसार हृदय के माध्यम से ईश्वर का ज्ञान होता है, रूह उसे प्यार करती है और अन्तरात्मा उसका चिन्तन करती है। सूफी हृदयवादी होने के कारण प्रेम के पुजारी हैं। इसीलिये वे-प्रेम की[1] रट लगाते हैं और इसके अनन्य भक्त सिद्ध होते हैं। उन्होंने प्रेम की अभिव्यक्ति के लिये दाम्पत्य भाव को सर्वोत्कृष्ट माना है। वे ईश्वर को प्रियतमा मानते हैं और उसी के प्रेम मे निरन्तर तल्लीन रहते हैं। उनकी यह तल्लीनता त्रिविध है। हम सर्वप्रथम उनके अन्दर प्रेमोन्माद पाते हैं। इस प्रेमाधिक्य के कारण परमात्म तत्व से एक क्षण भी अलग रहना उनके लिए असम्भव हो जाता है, परिणामस्वरूप विरह-भावना का आविर्भाव होता है। इसके बाद मिलन अथवा सयोग की अवस्था आती है जो वस्तुतः सन्तो के महामिलन और महासंयोग के सदृश है।

(अ) प्रेम

दादूपंथी सन्त परमात्मा की अलौकिक महिमा और उसके सच्चिदानन्द स्वरूप के ध्यान से विशेष अनुप्राणित हैं। निर्गुणमार्गी होने के कारण प्रेम के अद्भुत स्वरूपो के साथ ही भगवत्प्राप्ति के लिये साधना के रहस्यमय स्वरूपों को मान्यता देना इनकी प्रमुख विशेषता है। दादूपंथ के आविर्भाव के पूर्व रसिक सम्प्रदाय मे मधुराभक्ति का आविर्भाव हो चुका था। भागवत साधना के साथ ही बौद्ध धर्म के बज्रयान सम्प्रदाय में महासुख सम्बन्धी निगूढ़ तत्व इसी बात के साक्षी है। उदाहरण रूप में तैत्तिरीय उपनिषद् और बादरायण के ब्रह्म सूत्र में ऐसे सूत्र मिलते हैं जो वस्तुतः इस प्रकार की मान्यता के मूलाधार माने जा सकते हैं। यहाँ ब्रह्म को रस स्वरूप (आनन्द स्वरूप) माना गया है और इसी की उपलब्धि के द्वारा ब्रह्मानन्द की उपलब्धि बताई गई है।[2] इस मान्यता से एक बात सर्वथा स्पष्ट है कि रस-रूप में उस सर्वरससम्पन्न ब्रह्म को समझने और विश्लेषित करने का प्रयत्न प्राचीन काल से ही आरम्भ हुआ है और इसी का विकास परवर्ती साहित्य में पाया जाता है। इसकी स्थापना के आधार पर प्राकृत देह के अभिमान के निरसन और अप्राकृत देह में इसी की स्थापना के आधार पर ही अप्राकृत जगत् के रहस्यो का दर्शन सम्भव है। पर इस अप्राकृत देह को प्राप्त करना सरल नहीं है। यह सर्वमान्य है कि प्रकृति के कारण देह की रचना और तदनन्तर स्थूल और सूक्ष्म देह का आविर्भाव होता है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के उर्ध्व में विद्यमान 'प्रकृष्ट-सत्व' ही जिसे भगवद्विभूति त्रिपाद् की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है, आगम का बिन्दु और अप्राकृत सत्व है। इसे अप्राकृत देह-लाभ के पश्चात् ही प्राप्त कया जा सकता है। "प्राचीन उपनिषद् युग में दहर-विद्या प्रकरण में जो अन्तराकाशवर्ती ब्रह्मपुर की बात कही गयी है, वह भगवद्धाम है। इस आकाश को

१—Love, love alone can kill, what seemed so dead,
The frozen snake of passion, love alone,
By tearful prayer and fairy longing fed.
Reveals a knowledge schools have never known.
Nicholson-Rumi-Poet and Mystics-P. 29.

२—रसो वै सः। रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।
—तैत्तिरीयोपनिषद्-सप्तम अनुवाक्।

हृदयाकाश भी कहा जाता है। वस्तुतः वह चिदाकाश है। ज्ञानसविता के उदय होने पर जब दिव्य कमल या पुण्डरीक रूप में उसका स्फुरण होता है, तब वह लीलास्थली रूप में आत्म-प्रकाश करता है। उस कमल की कर्णिका में मराक्तिक परम पुरुष का अवस्थान है। यह व्यष्टिभाव की बात है। व्यापक दृष्टि से भी भक्त समाज में अक्षर ब्रह्म का हृदय ही परब्रह्म पुरुषोत्तम के लीला-स्थान रूप में गृहीत होता आया है। अक्षर ब्रह्म ही व्यापी वैकुण्ठ है। यह गुहारूपी हृदयाकाश ही परम धाम है, जहां परमपुरुष निहित रहता है। ब्रह्मज्ञान के प्रभाव से अविद्यानिवृत्ति के अनन्तर शुद्ध हो जाने पर पुरुषोत्तम प्राप्ति की स्वरूपयोग्यता उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् जब भगवान् महती कृपा का प्रकाश करते हुए इस शुद्ध मुक्त आत्मा को स्वीय रूपेण ग्रहण करते हैं, तब सहकारी योग्यता आती है। इसी का नाम वरण या अनुग्रह है।[1] रसिक सम्प्रदायवाले लीला का भी विविध रूपों में वर्णन करते हैं। इस विवेचन से यह स्वतः स्पष्ट है कि रसमय अथवा आनन्दमय ब्रह्म का वरण ही चिरन्तन आनन्द अथवा ब्रह्मानन्द का जनक है। इसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य को अपनी सात्विक रागात्मिका वृत्ति को उद्बुद्ध कर ईश्वरोन्मुख करना पड़ता है। इसी को भगवद्प्रेम के नाम से पुकारा जाता है। वस्तुतः लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के प्रेम में मात्र इसी रागात्मिका वृत्ति का उद्वेलन विशेष रूप से सक्रिय रहता है। लौकिक पक्ष में जो भावनायें मांसल और वासनापूर्ण होती हैं, पारलौकिक में वे ही भावनायें सूक्ष्म परिष्कृत और शुद्ध बन जाती हैं। अपनी इसी विशिष्टता के कारण यह अलौकिक आनन्द प्रदान करती है। साहित्य के क्षेत्र में इसे 'मधुररस' या गोपीभाव के नाम से अभिहित किया जाता है।

दादू पंथ के सन्तों का प्रेम अलौकिक प्रेम है। गुरु की कृपा से उन्हें यह सजीवनी बूटी प्राप्त हुई है। इसी के आधार पर उन्होंने उस परम तत्व का परिचय (परचा) प्राप्त किया है। उन्हें इस तथ्य का ज्ञान हुआ है कि[2] परमतत्त्व रूपी जल ही नदी है, और इसमें निवास करनेवाले अनन्त सन्त मीन हैं। इस सुख रूपी समुद्र में निवास करने के कारण वे सब सुखी हैं। इसी का अवगाहन करने के कारण दादू और कबीर की काया निर्मल हो गई है। अतएव इसी से प्रेम करने से उनका उद्धार हो सकता है। दादू का कहना है कि[3] मेरा मन उस जगत के स्वामी से लग गया है और हम अपने हृदय में निरन्तर उसी का ध्यान कर रहे हैं। इस ध्यान के कारण उसका स्वरूप मेरे हृदय में प्रगट हो गया है। मुझे यह ज्ञान हो गया है कि वह मुझसे दूर नहीं है क्योंकि वह मेरे हृदय में ही निवास

१—डा० भगवती प्रसाद सिंह—राममक्ति में रसिक सम्प्रदाय।

२—दादू दरियाराम जल, सकल सन्त जन मीन।
सुख सागर में सब सुखी, जन रज्जब जो लीन।
गुर दादूर कबीर की काया भई कपूर।
रज्जब रीझ्या देखि करि सरगुण निरगुण नीर।
—रज्जब ग्रन्थावली, भेंट को अंग—पृ० २।

३—मेरे मन लागा सकल करा, हम निशिदिन हिरदै सोधरा।
हम हिरदै माहैं हेरा, पिव परगट पाया नेरा॥

करता है। इस हृदयवासी परम तत्व के अतिरिक्त हम जीवन में अन्य किसी को कुछ नहीं समझते। वही जीवन-सर्वस्व है। उसी का प्रकाश आत्मा में परिव्याप्त है। इसीलिये—

जग सौ कहा हमारा, जब देख्या नूर तुम्हारा।
परम तेज घर मेरा, सुख सागर माहिं बसेरा॥
झिलिमिलि अति आनदा, पाया परमानदा।
जोति अपार अनता, खेलै फाग बसता॥
आदि अंति असथाना, दादू सो पहिचाना।[1]

इस पहिचान के पश्चात् जो जिज्ञासा उत्पन्न होती है, उसमें कातरता और दैन्य है। सन्त 'आव सलोने देखन देरे बलि-बलि जाउं बलिहारी तेरे'[2] जैसी वाणी में उससे दर्शन की याचना करता है। इतना ही नहीं बल्कि वह और भी कहता है[3]—

आव पियारे मीत हमारे निशिदिन देखौ पॉव तुम्हारे।
सेज हमारी पीव सॅवारी, दासि तुम्हारी सो धन वारी।
जे तुझ पाऊँ अंगि लगाऊँ, क्यूॅ समझाऊँ वारण जाऊँ।
पंथ निहारूॅ बाट सॅवारूॅ, दादू तारूॅ तन मन वारूॅ।

इस पृष्ठभूमि में वह उसी परमात्म तत्व में लीन होने के कारण बेपरवाह है। उसका प्राण उसी के तेज के साथ खेलता है। उसकी आँखों में उसका नूर समाया रहता है। वह आनन्द निधान है। उसका आदि अन्त नहीं है। उससे प्रेम होने के कारण मतवाला सन्त उसी में लीन होकर मस्ती से सुधारस का पान कर रहा है।[4] बहुत दिनों के पश्चात् उसके प्रियतम का सन्देश मिला है। इस सन्देश से उसका हृदय कमल प्रफुल्लित हो गया है। वह उससे मिलने के लिए श्रृङ्गार कर रही है, शरीर पर चन्दन का लेप कर रही है, सेज सॅवार रही है और उस पर पुष्प बिछा कर उसे कोमल बना रही है। उसका विश्वास है कि उसका प्रियतम परमात्मा उसके घर आकर उसे सुहाग प्रदान करेगा, वह

सो नेरै ही निज लीजै, तब सहजैं अमृत पीजै।
जब मनहीं सूं मन लागा, तब जोति स्वरूपी जागा॥
जब चित्तहिं चित्त समाना, हम हरि बिनु और न जाना।
जाना जीवनि सोई, इव हरि बिनु और न कोई॥

—दादूदयाल की बानी-भाग (२) पृ० ३५।

१—वही पृ० ४०।
२—वही पृ० ४१।
३—वही पृ० ४१।
४—तौ काहे की परवाह हमारे, राते माते नाँव तुम्हारे।
झिलिमिलि झिलिमिलि तेज तुम्हारा, परगट खेलै प्राण हमारा।
नूर तुम्हारा नैनों माहीं, तन मन लागा छूटै नाहीं।
सुख का सागर वार न पारा, अमी महा रस पीवणहारा।
प्रेम मगन मतवाला माता, रंगि तुम्हारे जन दादू राता। वही, पृ० ४४।

उससे हिल-मिल कर खेलेगी और इस प्रकार उसका भाग्योदय होगा। उसका प्रियतम परम पुरुष और अविनाशी है, वह नयन भर कर उसे देखेगी। उसका जन्म आज सुफल हो जायगा। इसी उत्साह में नायिका आज पूर्णरूपेण मग्न है।[1]

वस्तुतः दादूपंथ में प्रेम प्रमुख भक्ति के रूप में अवतरित हुआ है। इसीलिये इसमें दैन्य, कातरता, परानुरक्ति और एकोन्मुखता है। इसमें एक ओर भगवान् का स्नेहपूर्ण ध्यान है तो दूसरी ओर निष्काम भाव से अनुरागमय होकर उसी में तल्लीन हो जाने की भावना। यहाँ भगवद्विषयक प्रेम अपनी पूर्ण पराकाष्ठा पर है। इसमें तल्लीनता और आकुलता है, और इसके आवेग में प्रेमी अपने प्रियतम को प्राप्त करने के लिये विविध रूप से उत्सुक दिखाई देता है। यह भगवद्विषयक प्रेम एक ओर मधुराभक्ति समन्वित है तो दूसरी ओर इसमें कतिपय सूफी मान्यताओं के दर्शन भी हो जाते हैं। तथाकथित आधुनिक मनोवैज्ञानिक इसमें कुण्ठा की गन्ध पा सकते हैं, पर ज्ञातव्य है कि कुण्ठा सांसारिक प्रेम में सफलता अथवा असफलता से उत्पन्न होती है। इसकी पृष्ठभूमि वासना से पंकिल होती है, परिष्कृत, एकोन्मुख एवं अलौकिक भगवत्प्रेम में इसके लिये स्थान नहीं। भक्तों का रग-रग में भगवत्प्रेम परिव्याप्त रहता है, वहाँ सांसारिकता के लिये अवकाश नहीं। उनका प्रेम तो चातक का प्रेम है। वे इसी निष्ठा पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करते दृष्टिगोचर होते हैं। उनके लिये वस्तुतः पद्मावत की यह उक्ति पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है—

> 'तेहि मद चढ़ा पदा ओहि पाले,
> सुधि न रही ओहि एक पियाले।'

(व) विरह

'दादूपंथ' में ही नहीं अपितु पूरे हिन्दी साहित्य में विप्रलम्भ का विशिष्ट स्थान है। काव्यशास्त्र में इसकी विविध व्याख्यायें भी मिलती हैं। 'भोजराज' ने विप्रलम्भ शृंगार की व्याख्या दी है—उनके अनुसार जहां रति नामक भाव प्रकर्ष को प्राप्त करे लेकिन अभीष्ट को न पा सके वहां विप्रलभ शृंगार कहा जाता है। 'भानुदत्त' का कथन है कि युवा और युवती की परस्पर मुदित पचेन्द्रियों के पारस्परिक सम्बन्ध का अभाव अथवा अभीष्ट अप्राप्ति विप्रलम्भ है। 'साहित्य दर्पण' में भोजराज की परिभाषा ही दुहरायी गयी "यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भो सो।" इन कथनों मे अभीष्ट का अभिप्राय

१—आज तौ सुन्यौ है माई सन्देसो पिया को,
प्रफुलित भयौ मेरौ कँवल हिया को।
करौंगी सिंगार घसि चन्दन लगाऊँ, सेजरी सँवारूँ तहाँ फूल रे बिछाऊँ।
मेरौ गृह आइ मोहिं देहिंगे सुहागा, खेलौंगी परस्पर, बड़े मेरे भागा।
परम पुरुष मेरा पीव अविनासी, देखौंगी नैन भरि सब सुख रासी।
जन्म सुफल करि लैउँगी मैं लाहा, सुन्दर विरहनिकै भयौ है उछाहा।
—सुन्दर ग्रन्थावली भाग-१, पृ० ६२५।

नायक या नायिका से है। उक्त आचार्यों ने अभीष्ट की अप्राप्ति ही विप्रलम्भ की निष्पत्ति के लिये आवश्यक मानी है। लेकिन पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रेम की वर्तमानता को प्रधानता दी है। उनके अनुसार यदि नायक नायिकाओं मे वियोग दशा में प्रेम हो, तो वहां विप्रलम्भ शृङ्गार होता है। उनके अनुसार वियोग का अर्थ है यह ज्ञान कि 'मैं बिछुड़ा हुआ हूं।' वस्तुतः यह सत्य है कि मैं बिछुड़ा-हुआ हूँ के साथ ही अभीष्ट की अप्राप्ति ही विप्रलम्भ शृङ्गार का मेरुदण्ड है।

दादूपंथ के प्रेम-निरूपण के सन्दर्भ में हमने उसकी व्यापकता पर दृष्टिपात किया है। दाम्पत्य-भावना के साथ ही मधुराभक्ति की बहुलता के कारण उनका विरह भी गोपियों के विरह जैसा गम्भीर और सवेदनशील है। स्वयं 'दादू' मे प्रेम की तीव्रता और विरहोन्माद की उत्तेजना अधिक दिखाई पड़ती है। यह द्विविध प्रभाव का फल जान पड़ता है। सगुण भक्त भक्ति को ही एकमात्र साधन मान रहा था एवं सूफ़ी साधना में प्रेमतत्त्व को प्रधानता और विरहाकुलता की प्रतिष्ठा था। दादूपथ में वृद्धानन्द अथवा बुढ्ढन बाबा दादू के गुरु रूप में प्रतिष्ठित हैं। 'आइन-ए-अकबरी' से ज्ञात होता है कि एक शेख बुड्ढन सत्तारी शेख अब्दुल्ला शत्तारी के वशज थे और मुस्लिम सुल्तान शाह सिकन्दर के समकालीन भी। शेख अब्दुल्ला भारत मे आकर सर्वप्रथम जौनपुर में रहे और उनकी मृत्यु मालवा प्रान्त के माडू नगर मे हुई। शेख बुड्ढन शत्तारी सम्भवतया कुतबन के दीक्षा गुरु थे। इस प्रकार पंथ मे अज्ञातरूप से सूफी प्रेम की परम्परा स्वीकृत हुई। चैतन्य देव के प्रभाव से भाव-विह्वल प्रेममार्ग का विस्तार सम्भव हुआ। इनका प्रत्यक्ष प्रभाव सम्भव न होने पर भी ज्ञान तत्त्व की चेतना से अधिक भाव-विह्वलता और विरहोन्माद का विस्तार दादू मे अधिक है।[1]

दादू स्पष्ट रूप से इस सत्य के प्रतिपादक हैं कि जिस प्रकार पुष्प का रज उसे एक क्षण के लिये नहीं छोड़ता उसी प्रकार हमारे प्राण को भी परमेश्वर के ध्यान में निरन्तर तल्लीन रहना चाहिए। उससे यथार्थ प्रेम हो जाने पर साधक उसी रस में लिप्त हो जाता है। उस रस का अन्त नहीं होता, परिणामस्वरूप वह निरन्तर उसी को पीता रहता है।[2] पर यह तो बात हुई उस भक्तिरस की प्राप्ति की। अगर इसमें किसी प्रकार का व्यवधान हुआ, फिर तो उसकी व्याकुलता विषम व्योम गंगा की तरह दोनों छोरों को छिटका कर तरंगायित हो उठती है। वह उस विछोह को सहन नहीं कर पाता है। परिणामतः उसका दर्द भरा दिल तड़प उठता है।

१—डा० रामखेलावन पाण्डेय—मध्यकालीन सन्तसाहित्य, पृ० ४३८।

२—प्राण हमारा पीव सौं यौं लागा रहिये।
पुहुप वास घृत दूध में अब कासौं कहिये॥

— —

दादू माता प्रेम का रस में रह्या समाइ।
अन्त न आवै जब लगि तब लगि पीवत जाइ॥

—दादू बानी, भाग १।

दादू इस संसार में मुझ सा दुखी न कोइ।
पीव मिलन के कारणे मैं जलभरिया रोइ॥
ना वहु मिलै न मैं सुखी कहु क्यूँ जीवन होइ।
जिन मुझको घायल किया, मेरो दारू सोइ॥[१]

उनके इस प्रेम में एकनिष्ठा और दृढ़ता है। वे विछोह के उन्माद से घबराते अवश्य हैं, फिर भी उसका परित्याग नहीं करते। वे तो कहते हैं—

ज्यूँ चातृक के चित जल बसै, ज्यूँ पानी बिन मीन।
जैसे चन्द चकोर है, ऐसे (दादू) हरि सौ कीन्ह॥[२]

विरह की व्याकुलता जब असह्य हो जाती है तो वे इससे मुक्ति के लिये विनती करते हैं—

'मुए पीड पुकारतां, बैद न मिलिया आइ।
दादू थोड़ी बात थी, जे टुक दरस दिखाइ॥
('दादू') मैं भिखारी मंगिता, दरसन देहु दयाल।
तुम दाता दुख भजिता, मेरी करहु संभाल॥[३]

उनका तो यहां तक कहना है कि—

(दादू कहै) जो कुछ दिया हम कौं, सो सब तुमहीं लेहु।
तुम बिनु मन मानै नहीं दरस अपणा देहु॥[४]

फिर भी जब दर्शन नही मिलता, तो वे व्याकुल होकर कह पड़ते हैं कि नाथ क्या मुझे इस योग्य नही समझने, अगर ऐसी बात है तो मेरी परीक्षा क्यों नहीं ले लेते। मैं तो स्पष्ट कहता हूं—

जब लगि सीस न सौंपिये, तब लग इसक न होइ।
आसिक मरणै ना डरै, पिया पियाला सोई॥[५]

विरही तो यहाँ तक तैयार है—

'(दादू' सो सर हमको मारिले, जेहि सर मिलिये जाइ।
निसि दिन मारग देखिये, कबहूँ लागै आइ।'[६]

वह कातरता पूर्वक बार बार यह कहता है कि—

दरबार तुम्हारे दरदवंद पिव पिव पुकारै।
दीदार दरुनै दीजिये, सुनि खसम हमारे॥
तनहा के तनि पीर है, सुनि तुहीं निवारै।
करम करीमा कीजिये सुनि पीव पियारे॥

१—दादू दयाल की बानी-भाग १, विरह को अंग-पृ० २८।
२—दादू बानी-भाग १, विरह को अंग, पृ० ३१।
३—वही, पृ० ३२।
४—वही, पृ० ३३।
५—वही, पृ० ३५।
६—दादू बानी-विरह कौ अंग, ४२

सूल सुलाकौ सौ सहू, तेग तन मारै।
मिलि साईं सुख दीजिये, तुही तु सँभारै॥
मैं सुहदा तन सोखता, विरहा दुख जारै।
जिव तरसै दीदार कूं, दादू न बिसारै।[1]

विरही इस बात की स्मृति दिलाता है—

विरहा पावक उर बसै, नखसिख जारै देह।
रज्जब ऊपरि रहम करि बरसहु मोहन मेह॥[2]

ऋतुयें आती हैं चली जाती हैं, पर विरही के कातर मन पर उसका विपरीत प्रभाव पड़ता है।[3] उस प्रियतम के वियोग में वर्षा ऋतु भी असह्य हो गई है। काली घटा काल के सदृश कामिनी को दग्ध कर रही है। कनक भवन के आवास में निवास करना उसे फीका लग रहा है। वह विरह रूपी भुजंगम से लिपटी हुई है। उसकी सेज सूनी है अतएव उसे धीरज नहीं। दादुर, मोर और पपीहो की आवाज उसे तीर के सदृश लग रही हैं। सभी श्रृङ्गार उसके लिये भार बन गये हैं। प्रियतम के अभाव में वह अवसाद ग्रस्त और खिन्न है।[4] अपनी इसी स्थिति का ख्याल करके वह विरही कहता है कि :—

पिय मेरे वार कहा धौ लाई?
ऋतु बसन्त मोहिं वा विधि वीती, अब बरिषा ऋतु आई।
बादल उमगि चले चहुं दिशि ते, गरज सुन्यो नहिं जाई॥
दामिनि दमक करेजा कम्पै, बूंद लगत दुख दाई।
कारी रैनि अंधारी देषत, बारी बैस डराई॥
जारी विरह पुकारी कोकिल, भारी आगि लगाई।
दादुर मोर पपीहा पापी, लहत न पीर पराई॥
ये सु जरे पर लौन लगावत, क्यों जीऊं मेरी माई।

१—दादू बानी, भाग २—पृ० ३७।
२—रज्जब बानी-विरह का अंग।
३—जन रज्जब जगदीश विनु ऋतु भली कोई नाहिं।
शीत हुतासन बरषा बुरद, विरह विथा मन मांहि॥
—वही, विरह का अंग।
४—राम विन सावन सह्यो न जाई,
काली घटा काल, कामिनि दाधै भाई।
कनक अवास वास सब फीके विनु प्रिय के पदसंग।
महा विपति वेहाल लाल विन, लागै विरह भुवंग॥
सूनी सेज हेत कहु कासौं अवला धरै न धीर।
दादुर मोर पपीहा बोलै, ते मारत हैं तीर॥
सकल सिंगार भार ह्वै लागौ, मन भावै कछु नाहीं।
रज्जब रंग कौन से कीजै, जे पिव नाहीं माहीं॥—वही

ऐसी विपति जानि प्रभु मेरी, जो कहुं देहि दिखाई ॥
सुन्दरदास विरहिणी व्याकुल, मृतकहिं लेहु जियाई ।[1]

उसे अपने इस निवेदन पर भी विश्वास नहीं होता. अतएव वह इसी बात को निम्नांकित रूप में प्रगट करती है :—

हम पर पावस नृप चढ़ि आयौ ?
बादल हस्ती हवाई दामिनि, गरजि निसान बजायौ ।
पवन तुरंगम चलत चहूँ दिशि बून्द बान झर लायौ ॥
दादुर मोर पपीहा पाइक, मारै मार सुनायौ ।
दशहूँ दिशा आइ गढ़ घेर्‌यो, बिरहा अनल लगायौ ॥
जइये कहां भागि के सजनी, रजनी दुन्द उठायौ ।
को अब करै सहाइ हमारी, पिय परदेशहिं छायौ ॥
सुन्दर दास विरहनी व्याकुल, करियो कौन उपायौ ।[2]

'मृतक को उबार लेने' और पावक के चढ़ आने' की बात पर भी उसका परदेशी नहीं आता। दिन बीतने लगते हैं, विरहावस्था की प्रतिकूलता भी उसी अनुपात में बढ़ने लगती है। अचानक फागुन का मस्त महीना आ जाता है। फिर भी प्रियतम प्रवासी ही बना रहता है। अपने-अपने प्रियतम से मिलने के लिये स्त्रियाँ शृंगार करने लगतो हैं। केसर, चन्दन, कुमकुम और गुलाल की बाढ़ आ जाती है। ढोल, पखावज, चंग आदि बजने लगते हैं। यह दशा विरहिणी के लिये असह्य हो जाती है। कोकिल और चातक इस दशा मे जले पर नमक छिड़कने का कार्य करते हैं। वह चकोर की तरह तुम्हारा ही बाट देखती हैं। ऊब कर प्राण त्यागना धर्म-विरुद्ध है, फिर भी इस असह्य वेदना से बचने के लिये इसके अतिरिक्त अन्य कोई साधन शेष नहीं रह गया है।[3] दैन्य, कातरता, जड़ता, मरण आदि की दशा होने पर भी वह नहीं आता। अब विरहिणी के समक्ष कोई अन्य साधन शेष नहीं रह जाता। परिणाम स्वरूप वह अपनी पवित्र एकोन्मुखता, एकान्त निष्ठा और अप्रतिम सेवा आदि की स्मृति दिलाते हुए कहती है :—

बाला सेज हमारी रे तूँ आव ।
हौ बारी रे, दासी तुम्हारी रे ॥
तेरा पंथ निहारूं रे, सुन्दर सेज सवारूँ रे, जियरा तुम पर वारूँ रे ।
तेरा आँगना पेखौ रे, तेरा मुखड़ा देखौ रे, तब जीवन लेखों रे ॥

१—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग १—पृ० ६१६ ।
२—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग दो—पृ० ६१६ ।
३—मेरे मीत सलोने साजना हो ।
अहो तुम काहे न दरसन देहु ।
आयौ फाग सुहावनौ हो, सब कोइ करत सिंगार ।

मिलि मुखड़ा दीजै रे, चहलाहा लीजै रे, तुम देखें जीजै रे।
तेरे प्रेम की माती रे, तेरे रगड़े राती रे, दादू वारणे जाती रे।[1]

दादूपंथ मे विरह का हृदयस्पर्शी वर्णन हुआ है। सामान्य दृष्टि से विचार करने पर यह अवस्था लौकिक प्रेम की अवस्था के ही सदृश ज्ञात होती है, पर बात ऐसी नहीं है। उनका यह विरह अलौकिक है। इसमें जीवात्मा का परमात्मा के प्रति असीम स्नेह दिखाया गया है। वस्तुतः प्रेम जब व्यक्ति के रोम-रोम में परिव्याप्त हो उठता है तो प्रियतम का बिछोह उसे असह्य हो जाता है। इसी परवशता की संवेदनशील विवृत्ति दादू-सम्प्रदाय की आत्मा है।

मिलन

विरह की ही तरह इस सम्प्रदाय के मिलन की कल्पना भी आध्यात्मिक और आदर्शात्मक है। यह मिलन आत्मा का आत्मा से मिलन नहीं यह तो आत्मा का परमात्मा से मिलन है। ऐसी दशा में 'एकमेक ह्वै मिलि रह्या' की स्थिति आती है। 'कबीर' ने इसी दशा का वर्णन करते हुए कहा —"भीजै चुनरिया प्रेमरस बूंदनि।" इसका प्रमुख कारण यह है कि आरती सजा कर जो सुहागिन अपने प्रिय को ढूढ़ने के लिये चली है, वह उसे मिल गया है। इसीलिये वह मगलाचार गाने का उपक्रम कर रही है। वह अपने तन और मन को उत्सर्ग करने को तैयार है। पंचतत्त्व ही उसके बराती हैं। वह यौवन-मदमत्त है और उसकी अभिलाषा की पूर्ति के लिये 'रामदेव' पाहुन के रूप में प्रस्तुत हैं।[2] इस

मेरी छतिया दौं जरै हो, कबहुं न बुझत अंगार ।।
अपने अपने घर-घर कामनि, खेलत पिय की जोर।
देख-देख सुख और सबनि कौ, कटत करेजा मोर।
चोवा चन्दन केसरि कुमकुम, उडत गुलाल अबीर।
हौं तुम बिनु मेरे प्राण पियारे, कैसे कै राखौं धीर।
बजत चग उपग पखावज, राइ गिरगिरी ढोल।
सुनि सुनि विरहिनि के मन महिया, सालत तव के बोल।
बार-बार मोहिं विरह सतावै, कल न परत पल एक।
कहि जु गये जे वेग मिलन की, बीते दिवस अनेक।
तुम जनि जानहु है विभचारनि, हौं पतिबरता नारि।
और पुरुष भइया मव मेरे, यह तुम लेहु विचारि।
सुरति कोकिला रसना चातक पिव पिव करत बिहाइ।
नैन चकोर भये मेरे प्यारे निशि दिन निरषत जाइ।
अब मोहिं दोष कछू नहिं लागै, सुनियौ दोऊ कान।
सुन्दर विरहनि कहत पुकारै तुरत तजौंगी प्रान।

—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग दो, पृ० ६१६।

१—दादू वाणी-भाग दो।
२—दुलहनीं गावहु मगलचार,
हम घरि आये हो, राजाराम भरतार।
तन रत करि मैंम मन रत करिहूँ, पच तत बराती।
रामदेव मोरै पाहुने आये, मैं जोवन मैंमाती। —कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८७।

मिलन[1] के पश्चात् विरहिणी उन्हे जाने नहीं देना चाहती। येन-केन प्रकारेण वह उसे अपना लेना चाहती है। अब वह प्रेम पूर्वक उसके साथ रहकर निरन्तर आत्मतोष में लिप्त रहेगी। यह मिलन आध्यात्मिक मिलन होगा, इसीलिये वह कहतो है कि—

पिय षेलहु फाग सुहावनौ हो,
अहो यह आयौ है फागुन मास।
ज्ञान गुलाल करौं नानाविधि, तनमन केसरि घोरि।
चित चन्दन लै छिरकौं ललना, जौ न चलौ मुख मोरि॥
अनहद शब्द झाँझ डफ बाजै, ताल मृदंग उपंग।
सुमिति पिचक लै धाऊँ ललना, भरहिं परस्पर अंग॥
उत तै तुम इत तै हम होइ करि, साँझ करहिं झकझोर।
देवै अबहि कवन धौ जीतै, बहुत करत तुम सोर॥
हम हैं पंच पचीसी सहेली, तुम जु अकेले राइ।
चहुँ दिशा तें पकरि राखिहैं, कैसे कै जाहु छुड़ाइ॥
जोरावर तुम अधिक सुने हो, वहुत निपै गये भागि।
तौ जानौ जौ अवहि छूटिहौ, लपटि रहौ गर लागि॥
अवहिं सुमेरौ दाव बन्यौ है, गारी देत हौं तोहिं।
और और त्रिय के संग राते, बिसरि गये कहा मोहिं॥
भाइन बाप कुटुम्ब नहिं तुम्हरे, निगुसाये हौ नाहु।
समय जानि के हँसि बोलत हौ, जिनि कछु जियहु रिसाहु॥
फगुवा हम सूं कछू नहिं लैहैं, तुम्हे न जैहौं जान।
सुन्दर नारि छाड़िहैं कैसै, हो हो कन्त सुजान॥[2]

यह है सन्तों के मिलन की पृष्ठभूमि जिसमें ज्ञान, वैराग्य और साधना स्वयं प्रेम के मूर्तिमान स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं। यहीं आकर वह स्थिति उत्पन्न होती है जब साधक अपने को एक उदात्त पृष्ठभूमि में पाता है। उसे ऐसी अनुभूति होने लगती है[3]—

जिनि जिनि जब हरिनाम रट्योरे।
आदि अन्त मधि मुकुत भये सब, अखिल अभै धन प्रान खटैरो॥
आनंद आदि गये अघ अतरि, उर अन्तरि यह भाव डटै रो।
सदा सुखी साईं सो सनमुख, प्रेम पिया सो नाहि घटै रो॥
अद्‌भुत वात कहै को मुख तै, हरि हीरौ हिय हेम जटै रो।
मंगल मुदित मध्यमन माही, दुख दीरघ दिल दूरि छुटै रो॥

१—अब तोहिं जान न देहूं राम पियारे, ज्यूं भावै त्यूं होय हमारे।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बडे घरि बैठे आये।
चरण लागि करौं बरियाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।

२—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग दो, पृ० ६२३।

३—रज्जब बानी-पृ० ४१४।

कुसल कल्यान जीवन को जुगि-जुगि, जम के कागर कर्म कटै रो ।
जन रज्जब जग में नहिं आवै, जपि जगदीश संसार जटै रो ॥

यही मिलन है जहा जीवात्मा परमात्मा के साथ असीम आनन्द का अनुभव करता है और आनन्द की अवस्था मे वह निरन्तर प्रिय का दर्शन करता रहता है। इस अवस्था मे उसकी सासारिकता का निरसन हो जाता है और वह सहज चैतन्य स्वरूप जीव परमात्मा के साथ एकम्भूत सयोग स्थापित कर लेता है। इसी अवस्था को सन्त साहित्य मे मुक्ति की दशा के नाम से अभिहित किया जाता है। यहां वह निरन्तर 'राम-रस' का पान करता रहता है। इसी रस पान में उसका मन निरन्तर मगन रहता है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिये उसने अपना तन-मन सर्वस्व न्यौछावर किया है।[1]

सूफियों और सगुण भक्तों की ही तरह निर्गुण भक्तों की भी एक निश्चित साधनात्मक पृष्ठभूमि है। इस पृष्ठभूमि मे प्रेम, विरह और मिलन का एक निश्चित अर्थ होता है। इसकी व्याख्या दूसरे अध्याय मे की जायगी। यहा केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि विविध प्रभावों को अपनी अनुभूति से समन्वित करके, पठित को अनुभूति के स्तर पर उतार कर सन्तो ने जो कुछ भी अभिव्यक्त किया है, वह अपनी सवेदनशीलता में अप्रतिम और अद्वितीय है। इसमे अनुभूति की तीव्रता के साथ ही अभिव्यक्ति की सवेदनशीलता का मणिकाचन सयोग है। वेदान्त, उपनिषद्, तान्त्रिक साधना, भक्ति की पूर्ववर्ती परम्परा और सूफियो की कतिपय मान्यता के आधार पर सन्तों ने जो कुछ भी लिखा है वह दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण ही नहीं, अपितु इस देश के तात्विक चिन्तन का अनुपम प्रतिमान भी है।

१—सन्तो मगन भया मन मेरा।
अहनिसि सदा एक रस लागा, हिया दरीबै डेरा।
कुल मरजाद मेड सब भागी, बैठा भाठी नेरा।
जाति पाति कुछ समझै नाहीं, किस्कै करे परेरा।
रस की प्यास आस नहिं औरे, इहि मति किया बसेरा।
स्याव स्याव य ही ल्यो लागी, पीवै फूल घणेरा।
सो रस माँग्या मिलै न काहू, सिर साटै बहुतेरा
जन रज्जब तन-मन दे लीया, होइ धणी का चेरा।—रज्जबवानी, पृ० ३८८।

: ४ : दादू-पंथ की साधनात्मक पृष्ठभूमि

भारत प्राचीन काल में भौतिक दृष्टि से ही नहीं अपितु आध्यात्मिक दृष्टि से भी परम सम्पन्न और ख्यातिलब्ध देश था। यहाँ एक ओर दार्शनिक चिन्तन का बाहुल्य था तो दूसरी ओर साधनापरक प्रक्रियाओं का भी प्रसार। सबसे प्राचीन ग्रंथ 'ऋग्वेद'[1] में इसे यज्ञ-कर्म का मेरुदण्ड स्वीकार किया गया। इसके पश्चात् यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में भी तत्सम्बन्धी उल्लेख हुआ है। ऐतरेय उपनिषद् में[2] मन पर शासन करने की शक्ति, अलग-अलग रूप में पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति, उन्हे अविलम्ब समझ लेने, अवलोकन करने, अनुभव करने की शक्ति, धैर्य-धारण करने की शक्ति, निश्चय करने की शक्ति, चंचलता, स्मृति, सकल्पशक्ति, मनोरथशक्ति, प्राणशक्ति और कामशक्ति का उल्लेख है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्[3]' में ध्यानयोग की चर्चा की गई है। इस सन्दर्भ में साधक की आसन क्रिया के साथ ही मननिरोध की भी चर्चा की गई है। यहाँ योगाभ्यास में आने वाले कतिपय अनुभवों और घटित होने वाले अन्यान्य स्वरूपों का उल्लेख भी किया गया है[4]। ध्यान-योग-सिद्धि कैवल्य-पद प्रदान करने का साधन माना गया है। 'कठोपनिषद्' में योगाभ्यास के द्वारा मन-और पंचेन्द्रियों को स्थिर करने और बुद्धि के ईश्वरोन्मुख होने का वर्णन किया गया है। यहां पर इन्द्रिय, मन और बुद्धि की स्थिरता को योग की संज्ञा प्रदान की गयी है। वहीं परमात्मा की प्राप्ति के लिए योग के निरन्तर

१—यस्माहते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितन, स धीनां योगमिन्वति।

१।१।१८—७।

२—यदेतद्धृदयं मनश्चैतद। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतरसुः कामोवश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति।

—ऐतरेयोपनिषद्-तृतीय अध्याय, २ मंत्र।

३—त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणिमनसासंनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतासि सर्वाणि भयायवहानि।
प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः चीणे प्राणे नासिकयोच्छ्व सीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः।

—श्वेताश्वतरोपनिषद् २।८—९।

४—नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानिरूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे।
यथैव विम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वाऽऽत्मतत्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः। श्वेताश्वतरोपनिषद्, ११—१४।

अभ्यास का विधान है।[1] वस्तुतः उपनिषदों में योग की विविध क्रियाओं का उल्लेख मिलता है। यहा ब्रह्मचर्य के साथ ही प्राणोपासना के विविध स्वरूपों का भी दिग्दर्शन है। योग-साधना मे शरीर स्थित नाड़ी संस्थान का विशेष महत्व माना गया है। कठोपनिषद् में[2] इसका सविस्तार वर्णन प्राप्त होता है। योग का परम साध्य 'समाधि' भी इनका प्रमुख प्रतिपाद्य है।[3] इसके अतिरिक्त योग के फल पर भी इन मनीषियों ने दृष्टिपात किया है। उनके अनुसार योग-सिद्धि होने पर अथवा योगाग्निमय शरीर प्राप्त हो जाने पर योगी ब्रह्मानन्द में लीन होकर जरामरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

इन प्रमुख उपनिषदों के अतिरिक्त कुछ अन्य उपनिषदों का उल्लेख किया जा सकता है जिनमें योग की चर्चा को प्रमुख स्थान प्राप्त है। 'ध्यान बिन्दूपनिषद्' में ध्यान योग की महिमा का वर्णन आया है। नाद और बिन्दु के साथ ही प्राणायाम में प्रयुक्त पूरक, कुम्भक और रेचक क्रियाओं पर भी प्रकाश डाला गया है। इनका वर्णन करते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है कि, 'पूरक के द्वारा श्वास को भीतर खींचते हुए नाभिस्थान में अतसी पुष्प के समान नीलवर्ण चतुर्भुज महावीर का ध्यान करना चाहिए। कुम्भक के द्वारा श्वास को भीतर रोकते हुए हृदयस्थान में लाल कमल की कर्णिका पर विराजमान लालवर्ण के चारमुख वाले लोक पितामह ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिए। रेचक के द्वारा श्वास छोड़ते समय ललाट मे विद्यास्वरूप तीन नेत्रधारी, शुद्ध स्फटिक के समान उज्ज्वल वर्ण वाले, कलारहित, पाप विनाशक भगवान् शकर का ध्यान करना चाहिए। सुषुम्ना पथ मे उपर्युक्त तीनों कमलों मे से नाभिस्थान का कमल आठ दलों का है। हृदय स्थान का कमल ऊपर नाल एवं नीचे मुख करके अवस्थित है। ललाट में अवस्थित कमल केले के फूल के समान नील लोहित है। ये कमल सर्वदेवमय हैं। ... इन तीनों स्थानों तथा अपनी उपासना के पूरक, कुम्भक, रेचक रूप तीन मार्गों वाले विष्णु, ब्रह्मा, एवं शिवरूप से त्रिविध ब्रह्मरूप, प्रणवरूप में अकारादि तीन अक्षरों वाले, उसी रूप में अकार-उकार और मकार–तीन मात्राओं वाले तथा उनमें व्याप्त अर्धमात्रा स्वरूप परमात्मा को जो जानता है, वही वेद के तात्पर्य का ज्ञाता है।.........प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है, एवं परब्रह्म परमात्मा उसके लक्ष्य हैं। प्रमादहीन साधक के द्वारा ही वह बेधा जाता है।[4] स्पष्ट है कि इस उपनिषद् में नाड़ियों के साथ कतिपय शरीर स्थित चक्रों का भी

१—यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु: परमां गतिम्।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ। —कठोपनिषद्–तृतीय वल्ली, १०–११।

२—शतचैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति। —वही, १६।

३—तस्मादेव विच्छान्तो दान्तउपरतास्तितिक्षु समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति।
—बृहदारण्यक, ४।४।२३।

४—उपनिषद् अंक–ध्यान बिन्दूपनिषद्, पृ० ६६६–६७।

उल्लेख हुआ है। 'तेजो बिन्दूपनिषद्' मे 'आणव' शाम्भव एवं 'शाक्त' दशाओं का वर्णन है। अहंकार के परित्याग, क्रोध, सत्संग, इन्द्रिय निग्रह, स्थितप्रज्ञता एवम् गुरुसेवा को साधक के लिये आवश्यक माना गया है। इस उपनिषद् के अनुसार 'तेज बिन्दु आनन्द स्वरूप, विषय-सुखों से परे, बड़ी कठिनाई से साक्षात् होने वाला, अजन्मा, अविनाशी, चित्त की वृत्तियो से विनिर्मुक्त, शाश्व निश्छल तथा अस्खलित है। यही ब्रह्म स्वरूप है।[1] 'नाद बिन्दूपनिषद्'[2] कई छोटे अध्यायों और खण्डो मे विभाजित है। प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड में ओंकार की हस रूप मे उपासना, द्वितीय खण्ड में ओंकार की बारह मात्राओं और उनमे प्राण-वियोग के फल, तृतीय खण्ड मे योगयुक्ता स्थिति आदि का उल्लेख है। द्वितीय अध्याय के प्रथम खण्ड मे ज्ञानी के लिये प्रारब्ध के स्वरूप, नाद के अनेक प्रकार और नादानुसन्धान का वर्णन है। तृतीय अध्याय के प्रथम खण्ड में नाद के द्वारा मन के वशीभूत होने के स्वरूप, नाद में मन के लय और उन्मन होने की चर्चा है। इन सभी बातो का योग मे विशेष महत्व है।

'अमृतनादोपनिषद्' मे प्रणवोपासना, षड्ंगयोग, प्राणायाम की विधि, योग-साधना के फल और पांचों प्राणो के (वर्ण) का उल्लेख है। इस प्रकार उपनिषदों पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि प्राणायाम-क्रिया का उनमें विशेष स्थान है। इसका प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि आरम्भ से ही देश की आध्यात्मिक प्रवृत्ति विशेष रूप से जागृत रही है। रागात्मिका वृत्ति का उद्वेलन मनुष्य को अपार्थिव स्वरूपों के दर्शन अवश्य करा देता है, पर उसकी चंचल वृत्तियां और अपरिहार्य मानसिक अवस्थायें उसे निरन्तर प्रताड़ित करती रहती हैं। योग के द्वारा वह उन्हे साध कर एक निश्चित दिशा प्रदान करता है। अतः यौगिक आत्म-शोध मानव उत्थान मे विशेष सहायक होता है। इसीलिये उसकी चर्चा का जितना सूक्ष्म, व्यापक, सुव्यवस्थित और मनोवैज्ञानिक निरूपण इस देश में मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है।

इस देश की यह प्रमुख विशेषता रही है कि कुछ अंशो में योग भक्ति का पूरक बन कर विकसित हुआ है। 'विष्णु सहिता' में षडंग योग के वर्णन के पश्चात् इसे भक्ति के लिये आवश्यक माना गया है। 'जयाख्य संहिता' मे भक्त योगी की उपाधि से विभूषित किया गया है। इससे प्राणायाम की पूरक, कुम्भक और रेचक क्रियाओं के साथ ध्यान, धारणा और प्रत्याहार पर भी विशेष बल दिया गया है। चित्त-वृत्ति का निरोध ऊपर वर्णित योग का प्रमुख साध्य है। इसमें दो प्रकार की वृत्तियो पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। प्रथम के अन्तर्गत वे वृत्तियाँ आती हैं जो परिस्थितिजन्य हैं पर द्वितीय के अन्तर्गत उन वृत्तियो का सन्नियमन होता है जो तात्विक होने के कारण मानव-स्वभाव का अग होती हैं। यहां योग के विभेद का भी निरूपण किया गया है। इस विभाजन के अनुसार योग तीन प्रकार का माना गया है। (१) सकल, (२) निष्कल (३) विष्णु या शाब्द, व्योम और सविग्रह। सकल या सविग्रह योग में देवता की स्थूल मूर्त्ति का ध्यान किया जाता है। क्रमशः अभ्यस्त होने पर चमकती

१—वही, पृ० ६६८। (कल्याण, उपनिषद् अंक-ध्यान बिन्दूपनिषद्)

२—वही, पृ० ६६६। " "

हुई वृत्ताकार तश्तरी पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। इस प्रकार का ध्यान परिपक्व होने पर ब्रह्मरंध्र-पथ खुल जाता है। निष्कल योग में योगी परमतत्व का ध्यान करता है जिसके परिणामस्वरूप वह अपने ब्रह्मवत् स्वरूप का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। इस प्रकार तश्तरी मटर, अश्वकेश, नरशीर्ष केश, रोम आदि के ध्यान में क्रमशः स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाने की वृत्ति प्रगट होती है। तृतीय योग मंत्र ध्यान है। इससे भी योगी को परमतत्व का साक्षात्कार होता है। योग-क्रिया से योगी अन्ततः ब्रह्मरन्ध्र में विचारण करता हुआ, उससे भी अतीत हो जाता है और शरीर का त्याग कर देता है। तत्पश्चात् वह परमतत्व वासुदेव से एकात्म प्राप्त कर लेता है।[1]

'अहिर्बुध्न्य संहिता' में शुद्ध चिन्मय विष्णु की शक्ति के रूप में नाद और बिन्दु को मान्यता मिली है। इस शक्ति की प्रथम अभिव्यक्ति को नाद माना गया है। ऐसा समझा जाता है कि इसका श्रवण केवल महायोगी ही करते हैं। इसकी दूसरी स्थिति को बिन्दु कहा गया है। यह नाम और उसके द्वारा बोधित वस्तुगत शक्ति का एकात्म है।[2] इस संहिता में नाडियों का विशद वर्णन मिलता है। ऐसा माना जाता है कि सभी नाडियों का काण्ड नाभि के ऊपर है। यह अण्डाकार है। नाभि के नीचे शरीर का मध्यदेश है। यह चतुष्कोण है जिसे आग्नेय मण्डल भी कहते हैं। काण्ड को नाभिचक्र भी कहते हैं जिसके बारह दल हैं। इस नाभि चक्र को चारों ओर से आवृत्त किये हुए अष्टमुखी कुण्डली है, जो सुषुम्ना के ब्रह्मरन्ध्र नामक छिद्र को बन्द किये रहती है। तन्त्रों के अनुसार कुण्डलिनी शक्ति शरीर के मध्य के नीचे अवस्थित रहती है। संहिता के अनुसार नाभिचक्र के मध्य में अलम्बुषा और सुषुम्ना नाम की दो नाडियां हैं। सुषुम्ना की विभिन्न दिशाओं में कुहू, वरुणा, यशस्विनी, पिंगला, पूषा, पयस्विनी, सरस्वती, शंखिनी, गान्धारी, इडा, हस्तिजिह्वा, विश्वोदरा नाम की नाडियाँ हैं।[3] इस संहिता में वायु के भेद का वर्णन भी मिलता है। वस्तुतः प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कुकुर, देवदत्त और धनंजय इसके दस भेद हैं। मानव शरीर में विविध स्थलों पर इनका स्थान भी निर्धारित किया गया है।[4]

पाञ्चरात्र साहित्य में 'नारद' ने नारद पांचरात्र में योग ज्ञान को पंच प्रकार के ज्ञानों में प्रमुख स्थान प्रदान करते हुए इसे सिद्धिदायक घोषित किया है। यहाँ १७ सिद्धियों का वर्णन किया गया है। इन्हें अणिमा, लघिमा, व्याप्ति, प्राकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व, कामावसायिता, दूरश्रवण, इष्टार्थ साधन, सृष्टिस्तन, मनोयायित्व, परकायप्रवेश, प्राणदान, प्राणापहरण, काव्य-व्यूह, वाक्सिद्धि नामों से अभिहित

१—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलोसफी—दास गुप्ता, वोल्यूम० ३, पृ० २४, ३०, ३१।
डा० नगेन्द्रनाथ उपाध्याय—नाथ और सन्त साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से उद्धृत, पृ० २१७।

२—डा० नगेन्द्रनाथ उपाध्याय—नाथ और सन्त साहित्य, पृ० २१८।

३—वही, पृ० २१६।

४—वही, पृ० २१६।

किया है।[1] इस संहिता में चक्रों और नाड़ियो का सुव्यवस्थित विवेचन मिलता है। चक्रों में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा की गणना की गई है। ये "कुण्डलिनी शक्ति से युक्त होने के कारण अपने स्थानो पर स्थित रहते हैं। मध्या, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, चञ्चला, सुस्थिरा ये छः नाड़ियां है। मन से युक्त होने पर ये क्रमशः सुनिद्राजननी, क्षुद्विवर्द्धिनी, तृष्णाजननी, निद्राभंग करने वाली, संभोगेच्छा विवर्द्धिनी तथा विचेतनी होती हैं। मन क्रमशः इन छः नाड़ियों मे भ्रमण करता है किन्तु वह स्वेच्छाचारी और चंचल है। मूलाधार का स्थान योनि शिश्न के ऊपर है। स्वाधिष्ठान नाभिदेश में, तथा मणिपूर वक्ष में स्थित है। अनाहत उसके ऊपर है, विशुद्ध का स्थान कण्ठ में है। दोनों चक्षुओं के मध्य में आज्ञा का स्थान है। मूलाधार में इड़ा, स्वाधिष्ठान मे पिंगला, मणिपूर में सुषुम्ना, अनाहत में सुस्थिरा, विशुद्ध में चंचला और मध्या नाड़ियों का स्थान है।[2]"

योगवासिष्ठ और योग

इस ग्रन्थ के सन्दर्भ में स्वयं ग्रन्थकार का कथन है कि यह रसपूर्ण काव्य अलंकारो से विभूषित होने के साथ ही मोक्ष-प्राप्ति में सहायक है। इसके श्रवण, मनन और निदिध्यासन से महाआनन्द की उपलब्धि होती है और अत्यन्त सुबुद्ध एवं ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति को भी यह संशय मुक्त करके परमतत्व का बोध करा देता है।[3] यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि इस ग्रन्थ में ऐसा कौन-सा दार्शनिक तत्व है जिससे यह मोक्ष-प्रदाता, महानन्द का हेतु और बुद्धि को सशय मुक्त तथा निष्कलुष करने में समर्थ माना गया है। इस जिज्ञासा की तृप्ति हेतु इस तात्विक निरूपण पर विचार करना आवश्यक है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि इस महाग्रन्थ में जीवन की अशान्ति और असारता, जागतिक दृष्टि की दोषमयता, अस्थिरता, जीवन की दुर्दशा, काल की प्रबलता, जीवन मे सुख के अभाव, मोहान्धता, ऐश्वर्य जनित उपभोग की ससीमता, चित्त की चञ्चलता, तृष्णा, शरीर की अरम्यता, यौवन जनित दोष, स्त्रैणता, आदि का मार्मिक विवेचन उपलब्ध होता है और रागनिवृत्ति, अज्ञानविगलन और आत्मज्ञान

१—डा॰ नगेन्द्रनाथ उपाध्याय-नाथ और सन्त साहित्य, पृ० २२२।

२—वही।

३—शास्त्रं सुबोध मेवेदं सालंकार विभूषितम्।
काव्यं रसमयं चारु दृष्टान्तैः प्रतिपादितम्॥
अस्मिञ्श्रुते मते ज्ञाते तपोध्यान जपादिकम्।
मोक्ष प्राप्तौ नरस्येह न किंचिदुपयुज्यते॥
सर्वदुःख क्षयकरं परमाश्वासने धियः।
सुख-दुःख क्षयकरं महानन्दैक कारण॥
य इदं श्रुणुयान्नित्यं तस्योदार चमत्कृते।
बोधस्यापि परं बोधं बुद्धिरेति न सशयः॥
—योगवासिष्ठ (२।१८।३३, २।१८।३५, २।१०।६, २।१०।७) देखिये योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त—डा॰ भीखन लाल आत्रेय।

की उपलब्धि को इनसे मुक्त होने का प्रमुख साधन माना गया है।[1] साधक के जीवन के प्रमुख साध्य के रूप में चित्तशुद्धि और शम, दम, नियम आदि को विशेष महत्वपूर्ण कहा गया है[2]। मन का निरूपण और इसका मन, चित्त, बुद्धि, अहंकारादि में विभाजन विशेष वैज्ञानिक है। इसमे जीव की सात अवस्थाओं[3], उसके सात प्रकारों[4] और पन्द्रह जातियों[5] का उल्लेख भी है। (यह विभाजन जीवन की भौतिक और पारमार्थिक वृत्तियों की अवस्थाओं को दृष्टिपथ मे रखकर प्रस्तुत किया गया है) इसके अतिरिक्त योग-वाशिष्ठकार ने मन की अद्भुत शक्तियो का व्यापक और विशद विवेचन किया है। इस संदर्भ मे मन की सर्वशक्ति-सम्पन्नता, बहुविध रचना कुशलता, सभी कुछ प्राप्त करने की क्षमता, विषय चिन्तन की आसक्ति आदि को साथ ही अभ्यास[6] का महत्व प्रतिपादित किया गया है। इस स्थल पर योगाभ्यास के माध्यम से शुद्धचिदाकाश (आत्मा) का आधिभौतिक भाव को ग्रहण करने और असम्भव को सम्भव में परिणत करने की बात विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। वसिष्ठ ने वासना के निरसन और मन के नियन्त्रण द्वारा प्राप्त सूक्ष्म भाव के महत्त्व को विशेष रूप से प्रतिपादित किया है। उसके अनुसार ज्ञान प्राप्ति ही ससार के नानाविध मिथ्या स्वरूपो से मुक्त होने का प्रमुख साधन है। ज्ञान का प्रमुख सोपान 'योग' है। इसके माध्यम से व्यक्ति ससार रूपी वैतरणी[1] पार करके परमशान्ति की अवस्था को प्राप्त करता है। योग के माध्यम से वह अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध करने में समर्थ होता है। इसी के माध्यम से जीव को तुरीयावस्था का परम-शान्तिदायक आनन्द उपलब्ध होता है। इसका अभ्यास त्रिविध है क्योंकि इसके

१—वही पृ० १५८—१७६।

२—वही, पृ० १८२-८५।

३—सात अवस्थायें—बीज जाग्रत्तथा जाग्रन्महाजाग्रतथैव च।
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्न जाग्रत्सुषुप्तकम्।
योगवासिष्ठ (३।११७।१३)

४—जीवों के सात प्रकार—

ते स्वप्नजागराः केचित्केचित् संकल्प जागराः।
केचित्केवलजाग्रस्थाश्चिरजाग्रत्स्थिता परे॥ (६।२ ५०।२)
घन जाग्रास्थिताश्चान्ये जाग्रत्स्वप्नास्तथेतरे।
क्षीण जागरकाः केचिज्जीवाः सप्तविधा स्मृताः (६।२ ५०।३)

५—पन्द्रह जातिया—इदंप्रकर्मता, गुणपीवरी ससत्वा, अधमसत्वा, अत्यन्ततामसी, राजसी, राजस-सात्विकी, राजसराजसी, राजसतामसी, राजसअत्यन्त तामसी, तामसी, तामससत्वा, तपोराजसी, तामसतामसी, अत्यन्त तामसी।
(योगवासिष्ठ) वही (३।९४।४—३।९४।१६)

१—संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन् कथ्यते।
ता विद्धि द्वि प्रकारा त्व चित्तोपशामधर्मिणीम्। (६।१।१३।३)
योगश्चित्तवृत्तिरोधो (५।७८।८)

अन्तर्गत तत्व का गहरा अभ्यास, प्राणो का निरोध और मन के निग्रह का भाव निहित है।[1] प्राण का निरोध हो जाने से मन शान्त हो जाता है।[2]

इस ग्रंथ मे योग की प्रक्रिया और नाड़ी स्थान का विशद विवेचन नहीं है। अपितु मन और मन के निग्रह की विविध प्रक्रियाओं का ही दिग्दर्शन कराया गया है। इस सन्दर्भ में ज्ञानयुक्ति, संकल्पों के उच्छेदन, भोगो से विरक्ति, इन्द्रिय-निग्रह, वासना से सर्वथा परित्याग, तृष्णाराहित्य. समदृष्टि, गेय और ध्येय के त्याग, अहंभाव के विगलन, असंग के अभ्यास, समत्व दृष्टि, सर्वत्याग की भावना और ब्रह्मभावना पर विशेष बल दिया गया है।

योगदर्शन (पतंजलि)

महर्षि पतंजलि रचित 'योगदर्शन' चार पादों में विभक्त है। प्रथम पाद को समाधिपाद, द्वितीय को साधनापाद, तृतीय को विभूतिपाद और चतुर्थ को कैवल्यपाद के नाम से अभिहित किया जाता है। समाधिपाद के आरम्भ में चित्तवृत्ति के निरोध[3] को योग का प्रमुख लक्षण बताया गया है। चित्तवृत्ति 'क्लिष्टाअक्लिष्टा' प्रभेदानुसार पांच प्रकार की होती हैं। इन्हें प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति की संज्ञा प्रदान की गई है।[4] अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इनका निरोध किया जाता है।[5] मन को किसी एक ध्येय में स्थिर करने का नाम अभ्यास है।[6] 'दृष्ट' और 'आनुश्रविक' भोगों से मन को तृष्णा रहित बनाने का नाम वैराग्य है।[7] पूर्ण रूप से चित्तवृत्ति का निरोध होने की पूर्व अवस्था का नाम सम्प्रज्ञात योग है। ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता इसके तीन ध्येय हैं। पूर्ण वैराग्य की प्राप्ति के पश्चात् चित्त ससार के पदार्थों की आसक्ति से विमुख होता है। साधन, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के क्रम से सिद्ध होता है। ईश्वर प्रणिधान समाधि सिद्धि का प्रमुख हेतु है। व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति दर्शन, अलब्ध, भूमिकत्व, और अवस्थितत्व साधक के चित्त में विक्षेप उत्पन्न करते हैं।[8] तप, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान क्रिया योग हैं।[9] क्लेशों का प्रमुख कारण

१—एकतत्वधनाभ्यासा प्राणना विलयस्तथा।
मनोनिग्रहस्चेति योग शब्दार्थ संग्रहः॥ योगवासिष्ठ (६।६९।२७ ।)

२—ताल वृन्तस्य सस्पन्दे शान्ते शान्तो यथानिलः।
प्राणानिल परिस्पन्दे शान्ते शान्त तथामनः॥ (६।६९।४१ ।)

३—योगश्चित्ति वृत्ति निरोधः
पातंजल योगदर्शनम् (१।२)

४—प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रास्मृतय.। (१।६)

५—अभ्यास वैराग्याभ्या तन्निरोधः। (१।१२)

६—तत्रस्थितौयत्नोऽभ्यासः। (१।१३)

७—दृष्टानुश्रविक विपय वितृष्णस्य वशीकरण संज्ञा वैराग्यम् (१।१५)

८—व्याधिस्त्यान संशय प्रमादालस्य विरति भ्रान्तिदर्शनालब्ध भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्त विक्षेपास्तेऽन्तराया.।—योगदर्शनम् (१।३०)

९—तप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।—वही, (२।१)

अविद्या है। राग, द्वेष, अस्मिता आदि भी क्लेशों को बढ़ाते हैं। तात्पर्य यह है कि जन्म, आयु और भोग के सभी कर्म-विपाक दुःख रूप हैं अतएव उनको समूल नष्ट करना आवश्यक है। इसके पश्चात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि नाम के अष्टांग योग की चर्चा है।[1] 'यम' के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आते हैं और नियम के अन्तर्गत शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। सुखपूर्वक निश्चल बैठने का नाम आसन है।[2] आसन प्राणायाम के प्रमुख उपस्कारक हैं। आसन-सिद्धि का अवस्था में श्वास-प्रश्वास की गति रुक जाना प्राणायाम है। प्राणायाम द्वारा चित्त का पूर्णरूपेण निरोध हो जाने के पश्चात् योगी को परमज्ञान, आनन्द और शान्ति का अनुभव होता है। इस ग्रन्थ के आगे के अध्याय में समाधि और तज्जनित अलौकिक विभूति का विशेष रूप से उल्लेख है।

हठयोग

'हठयोग प्रदीपिका' मे इस प्रकार के योग का विशद विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में हठयोग के महत्व के पश्चात् साधक के हठ, यम नियम और आसन आदि का विशद् वर्णन मिलता है। द्वितीय उपदेश मे प्राण वायु के निश्चल होने का महत्व प्रतिपादित है। प्राणायाम की सफलता के लिये नाड़ियों का मल से मुक्त होना आवश्यक है। इस मुक्ति के लिये हठयोगी को इड़ा से प्राण का पान करके पिंगला से उसे छोड़ना चाहिये और पुनः पिंगला से प्राण का पान करके इड़ा से उसे छोड़ना चाहिए। इस क्रिया के निरन्तर तीन मास तक इस किस्म की साधना से योगी की नाड़ियां शुद्ध हो जाती हैं। प्राणायाम तीन प्रकार के होते हैं, जिस प्राणायाम को करते समय शरीर में पसीना आ जाय उसे कनिष्ठ प्राणायाम, जिसे करते समय देह में कम्प हो उसे मध्यम प्राणायाम और जिस प्राणायाम की साधना से योगी ब्रह्मरन्ध्र रूप उत्तम स्थान को प्राप्त होता है उसे उत्तम प्राणायाम माना जाता है। प्राण-साधना में धैर्य से काम लेना आवश्यक है। उपयुक्त प्राणायाम स्वास्थ्यवर्द्धक और आनन्ददायक होता है, पर अनुपयुक्त प्राणायाम रोगोत्पादक। मेद या श्लेष्माप्रधान व्यक्ति प्राणायाम की दृष्टि से अनुपयुक्त होते हैं, उन्हें सर्वप्रथम धोती, नेती, वस्ती, त्राटक, नौली, कपालभाती के माध्यम से साधना के पूर्व ही इन शारीरिक विकारों से मुक्त हो जाना चाहिये। आसन और बन्ध के माध्यम से प्राणायाम क्रिया सम्पन्न की जाती है। इस अवस्था में वायु, इड़ा और पिंगला से होता हुआ सुषुम्ना के मुख मे प्रविष्ट हो जाता है। इस दशा मे मन स्थिर हो जाता है। इस स्थिरता को मनोन्मनी अवस्था का नाम दिया जाता है। कुम्भक प्राणायाम सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, प्लावनी-आठ प्रकार का होता है।[3]

१—यमनियमासन प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। (२।२९)

२—स्थिर सुखमासनम् (२।४६)

३—सूर्यभेदन मुज्जायी, सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छाप्लाविनीत्यष्ट कुम्भका।
—हठयोग प्रदीपिका- २।४४।

'कुण्डली' अथवा कुण्डलिनी प्राणायाम के प्रमुख उपायों का आधार है। गुरु की कृपा से इसके जाग्रत होने से शरीर स्थित कमल प्रफुल्लित हो जाते हैं। सुषुम्ना के पर्याय शून्य पदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी और मध्यमार्ग आदि हैं। 'कुण्डली' के बोध से ही पट्चक्र भेद होते हैं। प्राणायाम मे मुद्राओं का भी विशेष महत्व है। ये महामुद्रा, महाबन्ध, महाबोध, खेचरी, उड्यान, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीत करणी, बज्रोली शक्तिचालन दस प्रकार की मानी जाती है। तृतीय उपदेश में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के विवेचन के साथ ही कुण्डलिनी की शक्तियों का विशद वर्णन हुआ है। यहा राजयोग और समाधि का भी विशेष रूप से उल्लेख है। राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लयत्व, शून्याशून्य परंपद, अन्यमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा और तुर्या आदि समाधि के वाचक हैं।[1] जिस प्रकार नमक जल में मिलकर एकमेक हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा और मन, प्राण और मन तथा आत्मा और परमात्मा मिलकर जब समत्व को प्राप्त हो जाते हैं तो इसे समाधि की स्थिति माना जाता है[2]। कुण्डलिनी शक्ति के बोध और कर्मत्याग के पश्चात् योगी की जो अवस्था आती है उसे सहजावस्था कहते हैं[3]।

'हठयोग' ही ज्ञान और मोक्षसिद्धि का प्रमुख साधन है। इसी के माध्यम से व्यक्ति आत्म और परमात्म तत्व का बोध प्राप्त करता है। प्राण और मन के लय होने से मोक्ष संभव है। प्राण की स्थिरता के लिये मन को स्थिर करना आवश्यक है। ब्रह्म-स्वरूप में अन्तःकरण की वृत्ति होने पर 'लयावस्था' का प्रादुर्भाव होता है। इस दशा में व्यक्ति सम्पूर्ण ध्यान योग्य विषयों से मुक्त हो जाता है। इनके अतिरिक्त इस पुस्तक में योग-साधन की अन्यान्य विधाओ और उपक्रमों का भी वर्णन है। इनका उल्लेख आगे हुआ है अतः यहा इतना ही कहना पर्याप्त है कि "हठयोग का फल राजयोग है और राजयोग का फल कैवल्य। हठयोग काया सिद्धि अथवा काया पर पूर्णाधिकार को अपना लक्ष्य मानता है यद्यपि उसका चरम लक्ष्य मानस-सिद्धि या चित्त-सिद्धि के उपरान्त प्राप्त होने वाला कैवल्य है[4]।"

नाथ-योग

नाथ-योग के सन्दर्भ में प्रमुख रूप से दो तथ्य ज्ञातव्य है। सर्वप्रथम यह कि इस योग का तांत्रिक योगसाधना से घनिष्ट सम्बन्ध है। दूसरे यह कि इसका संस्कृत ग्रंथों के साथ ही हिन्दी ग्रंथो में भी वर्णन मिलता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसका उल्लेख

१—राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं, लयस्तत्वं शून्याशून्यं परं पदम ॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालंबं निरंजनम्।
जीवन मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचका:। – हठयोग प्रदीपिका - ४। ३-४

२—वही, ४।५,६,७।

३—वही, ४।११।

४—डा० नगेन्द्रनाथ उपाध्याय—नाथ और सन्त साहित्य, पृ० २६३।

करते हुए सस्कृत और हिन्दी ग्रंथो मे वर्णित तथ्यो के विभेद को समझाते हुए लिखा है कि सस्कृत में योगियो के जो भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे असाधारण तौर पर साधना मार्ग के ही व्याख्यापरक ग्रन्थ है। उनसे योगियो के दार्शनिक और नैतिक उपदेशो का आभास बहुत कम मिलता है। हिन्दी मे गोरखनाथ के नाम से जो अनेक पद और सबदी आदि प्रचलित हैं उनमे भी साधन मार्ग की व्याख्या की गई है, पर उनमे योगियो के धार्मिक विश्वास, दार्शनिक मत और नैतिक स्वर का परिचय अधिक स्पष्ट भाषा में मिलता है। इस दृष्टि से इन्हीं रचनाओ का विशेष महत्व है।[1] डा० द्विवेदी के मत से सहमत होना इस दृष्टि से आवश्यक है कि नाथ-योग की परम्परा का पूर्ण विकास और परिष्कार हिन्दी रचनाओ में ही दृष्टिगोचर हुआ और इनके अन्तर्गत पूर्ववर्त्ती यौगिक परम्पराओं का अवलम्बन भी किया गया। इस विकास-क्रम मे ये परम्परायें योग की तत्कालीन मान्यताओ की अनुपम परिचायक सिद्ध हुई।

नाथ योगियों के अनुसार योग द्वैत को अद्वैत में परिणित करके उससे भी उच्चतम अवस्था को प्राप्त करना चाहता है। नाथ-योग का लक्ष्य केवल शिवशक्ति योग नहीं अपितु इस अद्वय योग से भी अतीत द्वैताद्वैत विवर्जित अवस्था है जिसके लिये चार प्रकार से योग से समन्वित योग को, जिसमें प्राणायाम प्रधान है, योग के लिये स्वीकार किया गया है। इस योग से सिद्ध देह और उसी मे निर्वाण पद की प्राप्ति आवश्यक स्वीकार की गयी है।[2]

नाथपथी योगी योग को सिद्ध देह की प्राप्ति का प्रमुख साधन मानते है। इसके अन्तर्गत काया साधन के साथ ही चैतसिक साधना को भी महत्व दिया गया है। इनके अनुसार परमतत्व सत्-असत् विवर्जित अनिर्वचनीय एवं निर्नाम है। उसकी अनुभूति मानव के पिण्ड देह मे—गगन शिखर—ही होती है। यह योगयुक्त ज्ञान के द्वारा आन्तरिक नाद के रूप मे पहचाना जा सकता है। इसीलिये नाथ-योगी अपने को पहचानने और शरीर के आन्तरिक रहस्य से अवगत होने का परामर्श देते हैं। नाथ योगी काया को साधना का प्रमुख क्षेत्र मानते हैं और 'मन और पवन' के नियंत्रण पर विशेष जोर देते हैं। इनकी कृतियों में अष्टांग योग का वर्णन मिलता है। पर द्रष्टव्य यह है कि ये योगी प्रमुख रूप से हठयोगी माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों मे नाड़ी और चक्रों का भी विशद विवेचन मिलता है और इनका निरूपण और साधनात्मक स्तवन प्रायः उसी पद्धति पर किया गया है।

दादू पंथ की यौगिक साधना

निर्गुण पंथ में यौगिक शब्दावली और कतिपय योगपरक साधनाओं का उल्लेख प्रायः सभी कवियों ने किया है, पर इसका विस्तृत विवेचन हमें केवल 'सुन्दरदास' में मिलता है। सौभाग्य से ये 'दादूपंथी' हैं। अतएव दादूपंथ के योग की मान्यता

१—नाथ सम्प्रदाय, पृ० १८२।

२—डा० नगेन्द्रनाथ उपाध्याय—नाथ और सन्त साहित्य, पृ० ३०५।

प्रमुख रूप से इनके द्वारा विवेचित योग पर ही आधारित होगी। 'दादू' 'रज्जब' तथा अन्यान्य दादूपंथी साधकों ने यौगिक शब्दावली की चर्चा यथा स्थान की है जो यौगिक शब्दों के संदर्भ में प्रस्तुत किया जाएगा।

'ज्ञान-समुद्र' के तृतीयोल्लास में शिष्य गुरु से योग को समझाने की प्रार्थना करता है। सहृदय और सदाशय गुरु-शिष्य की जिज्ञासा की तृप्ति के लिये अष्टांग योग के साथ ही अन्तर्भुक्त समस्त मुद्राओं, बन्धों, नाड़ियों और चक्रों का वर्णन करते हैं।[1] आरम्भ में सुन्दरदास ने अष्टांग योग की चर्चा करते हुए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन किया है[2]। वे यम के दस भेद मानते हैं[3]। उनके अनुसार इसके अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार और नियमित शौचत्याग का स्थान है। इस वर्णन के लिये वे स्पष्ट रूप से हठयोग प्रदीपिका के ऋणी हैं।[4] इनकी विशेषता यह है कि ये दस यमों का लक्षण भी निर्धारित करते हैं। ये लक्षण पातंजल योगसूत्र तथा मन्वादि स्मृतियों के आधार पर वर्णित हैं।[5] इनके अनुसार मन का दोष निवृत्त होना, कटुवचन न बोलना और शरीर से किसी को हानि न पहुँचाना अहिंसा है।[6] सत्य दो प्रकार का है[7]— झूठ न बोलना और निरन्तर सत्य भाषण करना और 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का भाव समझना। अस्तेय के अन्तर्गत तन और मन दोनों की चोरी से मुक्ति का भाव निहित है। मन की चोरी के अन्तर्गत सम्भवतः उन्होंने मन के नानाविध विचारों को परिगणित किया है। ब्रह्मचर्य का लक्षण बताते हुए उन्होने अष्ट प्रकार के मैथुनों से बचने[8] और जितेन्द्रिय होने का उल्लेख किया है।[9] दुष्टों की प्रतारणा से विक्षुब्ध हुए बिना मन,

---

१—तैं सिष पूछ्यौ चाहिकरि योग सिद्धान्त-प्रसंग।
तोहि सुनाऊँ हेत सौं अष्टयोग के अंग॥
तिनके अन्तर्भूत हैं, मुद्राबन्ध समस्त।
नाडी चक्र प्रभाव सब आवहिं तेरे हस्त।
—सुन्दर ग्रन्थावली, ज्ञानसमुद्र, तृतीयोल्लास, पृ० ३१-३२।

२—वही, पृ० ३२।

३—वही, पृ० ३३।

४—अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमाधृतिः।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमादश।
—हठयोग प्रदीपिका, प्रथम उपदेश, यमनियमाः १

५—पातंजल योग-साधनपाद, २९-४४। मनु० २।७७, याज्ञवल्क्य ३।३१३-१४।

६—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ३३।

७—वही, पृ० ३३।

८—श्रवणं स्मरणं चैव, दर्शणं भाषणं तथा।
गुह्य वार्ता च हास्यं च स्पर्शनम्चाष्टमैथुनम्। —सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ३४ से उद्धृत
तुलना कीजिये—नारी समरन श्रवन पुनि, दृष्टि भाषियं होइ।
गुह्यवारता हास्य रति, बहुरि स्पर्शय कोइ॥

९—वही, पृ० ३४।

वचन और कर्म से सहिष्णुता बरतना क्षमा है और कठिन और असह्य दुःख की स्थिति में अन्तःकरण में धैर्य धारण धृति है। जीवमात्र के प्रति दया का भाव प्रदर्शित करना और निर्वैर भाव की उपासना करना दया है और हृदय और दृष्टि से कोमलता का व्यवहार आर्जव है। सात्विक एवम् अल्पमात्रा में अन्न ग्रहण करना मिताहार है और आभ्यंतर और बाह्य शुद्धि पर बल देना और उसके उपाय को अपनाना शौच है।[1]

नियम भी दस प्रकार के हैं। इनके अन्तर्गत तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान-पूजा, श्रवण, लज्जा, मति, जप और हवन का उल्लेख किया गया है।[2] यह वर्णन हठयोग प्रदीपिका से ग्रहण किया गया है।[3] इन्द्रिय स्वाद, रूप, रस, स्पर्श तथा गन्ध का परित्याग तप है, कल्पनाजनित भौतिक अभिलाषाओं के स्थान पर प्रारब्ध जनित उपलब्धि में विश्वास सन्तोष है, हृदय से अप्रतीति का निवारण करके शब्द ब्रह्म में आस्था आस्तिक्य भाव है, सुपात्र का ध्यान रखकर दिया गया उपदेश या अन्न, वस्त्र, आदि प्रदान करना दान है, निष्कपट, निष्कलुष और प्रतिदान के भाव से रहित होकर आशा और विश्वास के साथ उपास्य को पत्र, पुष्प, फल और जल अर्पित करना पूजा है, हितपूर्ण आध्यात्मिक उपदेश सुनना सिद्धान्त श्रवण है, गुरु, सन्त, लोक, कुल और कुटुम्ब आदि की मर्यादा का ध्यान रखकर कार्यरत होना लज्जा है, संसार जनित सुख से स्वर्गादि और लोक-परलोक की इच्छा का परित्याग, सम्मान, आदर और निन्दा में विरक्ति समभाव है। प्राणायाम के साथ ईश्वर प्रणिधान जप है और अग्नि (प्रज्ज्वलित करके) में साकल्य का हवन प्रवृत्ति मार्गियों का 'होम' है। तथा ज्ञानाग्नि प्रज्ज्वलित करके इन्द्रिय जनित विषय-वासना को भस्म करना निवृत्ति-मार्गियों का 'होम' है।[4]

'सुन्दरदास' ने आसनों का वर्णन भी किया है। उनके अनुसार आसन योग-सिद्धि के प्रमुख साधन हैं। ऐसा माना जाता है कि जीवन को ८४ लक्ष योनियो में भ्रमण करना पड़ता है। इसी भेद के अनुसार आसनों की संख्या भी ८४ रखी गई है। इन अनन्त आसनों में सिद्धासन और पद्मासन प्रमुख हैं। इनको सिद्ध करने की क्रिया का लेखक ने यथास्थान उल्लेख किया है। आसनो का वर्णन 'हठयोग प्रदीपिका' और पातंजल योग दर्शन में भी मिलता है। ऐसा ज्ञात होता है कि उनके विविध भेदों से बचने के लिये 'सुन्दरदास' ने केवल दो मूलभूत एवं प्रमुख आसनों का उल्लेख किया है। आसन सिद्ध होने पर प्राणायाम-प्रक्रिया सुकरता से सम्पन्न होने लगती है। प्राणा-याम के सन्दर्भ में लेखक ने पूरक, कुम्भक और रेचक का वर्णन किया है।[5] नाड़ियों

१—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ३५-३६।

२—वही, पृ० ३७।

३—तप· सन्तोप आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्त वाक्य श्रवणं ह्री मती जपोहुतम्॥
—हठयोग प्रदीपिका, प्रथम उपदेश, यमनियमाः—२।

४—देखिये—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ३७–४०।

५—वही, पृ० ४३।

की संख्या प्रायः ७२ हजार मानी जाती है पर इनमें इड़ा, पिंगला, और सुषुम्ना प्रमुख हैं। इड़ा बाँये होती है और इसे चन्द्रनाड़ी कहा जाता है, पिंगला दाहिने होती है और इसे सूर्य नाडी कहा जाता है। इनके मध्य में सुषुम्ना बहती है। इसे अग्नि नाडी के नाम से पुकारा जाता है। जब प्राणायाम के प्रभाव से इडा और पिंगला की गति थक जाती है और प्राण-वायु सुषुम्ना से प्रवाहित होने लगती है तो अनंत आनंद की उपलब्धि होती है[1]। प्राण-वायु के सन्दर्भ में प्राणायाम संबंधी पुस्तकों में विविध प्रकार के विवेचन उपलब्ध होते हैं। इस दृष्टि से हम गोरक्ष पद्धति[2] और सिद्धान्त-पद्धति का उल्लेख कर सकते हैं। सुन्दरदास ने सम्भवतः इन्हीं से प्रभावित होकर प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान नाग, कर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय आदि दस प्रकार के प्राणों का वर्णन किया है। इनके स्थान की चर्चा करते हुये वे कहते हैं—

> प्राण हृदय मंहि बसत है गुदा मण्डले अपांन।
> नाभि समानहिं जानिये, कण्ठहिं बसै उदान॥
> कण्ठहिं बसै उदान व्यान, व्यापक घट सारै।
> नाग करय उद्गार कूर्म सो पलक उघारै॥
> कृकल सु उपजै क्षुधा देवदत्त हिजृम्भाणं।
> मुर्यें धनंजय रहै पंच पूरब सो प्राणं॥[3]

वायु के प्रभेदों एवं स्थानों की चर्चा के पश्चात् वे षट्चक्र का वर्णन करते हैं। चक्रों

१—वही, पृ० ४/।

२—प्राणो पानः समानश्चोदान व्यानौ न्व वायवः
नागकूर्मोऽथकृकलो देवदत्तो धनंजय।
—गोरक्ष-पद्धति, महीधर शर्मा कृत—भाषानुवाद संहिता—प्रथम शतक, श्लो० ३३, पृ० ७०
द्रष्टव्य—वही, श्लोक ३३-३४

३—सुन्दर ग्रन्थावली, ज्ञान-समुद्र, पृ० ४५ तथा ४६
तुलना कीजिये—

> प्राणोपानः समानश्च उदानो व्यान एव च।
> पंचकर्मेन्द्रिय युक्ताः शक्ति समुद्यताः।
> नागः कर्मश्च देवदत्तो धनंजयः।
> पंच ज्ञानेन्द्रियैयुक्ताः बुद्धिशक्तिसमन्विताः।

द्रष्टव्य है कि यहां पर पंच ज्ञानेन्द्रिय और पंच कर्मेंद्रिय के आधार पर प्राणों का विभाजन है। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति—सं० श्रीमती कल्यानी मल्लिक—योगविषयः, पृ० ४६, श्लोक—१३, १४।

तुलना कीजिये—हृदये प्राणवायुः उच्छ्वास—निश्वास—कारको
हकार-सकारात्मकश्च। गुदे त्वपानवायु.रेचकः
कुम्भकश्च। नाभौ समानवायुः दीपकः पावकश्च। कण्ठे
व्यान वायु. शोषणाप्यायन कारकश्च। तालौ उदानवायुः
ग्रसन-वमन-जल्पकारकश्च। नागवायु सर्वांगव्यापकः
मोचकश्चालकश्च। कूर्मवायुः चक्षुषोरुन्मेष-कारकश्च। कृकल.
उद्गारकश्च क्षुत्कारकश्च। देवदत्तो मुखे विजृम्भक।
—धनंजयोनाद। सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति—सं० श्रीमती कल्यानी मल्लिक—पृ०७, श्लोक ६८

का वर्णन भी योग सम्बन्धी पुस्तकों में मिलता है। हठयोग प्रदीपिका मे इसका उल्लेख मात्र है, पर गोरक्ष पद्धति[1] में इसका विशद विवेचन मिलता है। उसी आधार पर सुन्दर-दास ने मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्य, आज्ञा आदि का उल्लेख किया है। उनके अनुसार मूलाधार चक्र मे चार अक्षर तथा चार दल, स्वाधिष्ठान मे ६ अक्षर और ६ दल, मणिपूर में १० अक्षर तथा १० दल, अनाहत में १२ अक्षर और १२ दल, विशुद्धाख्य मे १६ अक्षर तथा १६ दल एवम् आज्ञा मे दो अक्षर तथा दो दल होते हैं। इन चक्रो का भेदन होने के पश्चात् समाधि की अवस्था आती है साधक को इडा नाड़ी से पूरक, सुपुम्ना से कुम्भक और पुनः पिंगल से रेचक क्रिया करनी चाहिये[2]। पूरक, कुम्भक और रेचक में एक : चार : दो का अनुपात अनिवार्य है। प्राणायाम करते समय 'ओंकार' का जप करना चाहिये। (पर इस जप की दशा मे उपर्युक्त अनुपात पर ध्यान देना अनिवार्य है।) प्राणायाम् से मन शान्त हो जाता है और साधक के समस्त पाप कट जाते हैं। इस सन्दर्भ में सुन्दरदास ने गोरक्ष पद्धति का आधार ग्रहण करते हुये अजपा गायत्री का वर्णन भी किया है। गोरक्ष पद्धति में इस बात का निर्देश है कि चिदाभास जीव हकार करके स्वाधिष्ठान चक्र से उत्पन्न होता है और सकार करके मूला धारादि चक्र मे प्रवेश करता है। इस प्रकार श्वास बाहर निकलने से हकार और अन्तःप्रविष्ट होने से सकार की ध्वनि होती है। इसी से हंस शब्द बनता है जिसे अजपा गायत्री के नाम से अभिहित किया गया है। यह प्रक्रिया ६० घटी मे २१६०० बार होती है। इसका अभिज्ञान होने से जीव अद्वैत तक का अनुभव करने लगता है और उसे स्वय अहं ब्रह्मास्मि की अनुभूति हो जाती है। इसे महाविद्या के साथ ही योगाभ्यास के रहस्य के नाम से भी निरूपित किया जाता है।[3] सुन्दरदास का भी कथन है कि जीवन उसी परमात्म तत्व का स्वरूप है। उसका प्रत्येक श्वास-प्रवासविध है उसे सोऽह की अनुभूति

१—द्रष्टव्य महीधर शर्मा कृत गोरक्षपद्धति-पृ० १४।

पट् चक्र षोडशाधार द्विलक्ष्य व्योम पचकम्
स्वदेहे येनं जानन्ति कथ सिद्धयन्ति योगिन.।
एकस्तम्भ नवद्वार ग्रहं पंचाधि दैवतम्।
स्वदेहे येन जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनश्च।
चतुर्दल स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षट्दलम्।
नाभौ दश दलं पद्मं सूर्य संख्या दलं हृदि।
कण्ठे स्यात षोडप दल भ्रूमध्ये द्विदले तथा।
सहस्र दलमाख्यात ब्रह्मरन्ध्रे महापथे।
—गोरक्ष पद्धति—प्रथम शतक, १३–१६, द्रष्टव्य श्लोकः १७–२४।

२—सुन्दर ग्रन्थावली, ज्ञान-समुद्र, पृ० ४५ तथा ४६।

३—हकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेत्यमु मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥
षट्शतानि त्वहोरात्रे सहस्राण्येक विंशति।
एतत्सङ्ख्यान्वित मंत्रं जीवो जपति सर्वदा॥
अजपानाम गायत्री योगिना मोक्ष दायिनी।
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापै. प्रमुच्यते॥

कराता है। उसे जब इस तथ्य की अनुभूति हो जाती है तो वह इस महाविद्या के रहस्य को जान लेता है।[1] कई स्थानो पर ये गोरक्ष-पद्धति के सिद्धान्तों का निरूपण करते दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण स्वरूप दोनो की कतिपय पक्तियां उद्धृत की जाती हैं।

सुन्दरदास

द्वादश मात्रा पूरक करणं, द्वादश मात्रा कुंभक धरण।
द्वादश मात्रा रेचक जाण, पूरबवत् सु विपर्यय ठाणं॥
अधमे द्वादश मात्रा उक्त', मध्यम मात्रा द्विगुणा युक्त'।
उत्तम मात्रा द्विगुणा कहिये, प्राणायाम सु निर्णय कहिये॥[2]

गो रक्ष पद्धति

प्रथमे द्वादशी मात्रा मध्यमे द्विगुणामता।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः॥[3]

सुन्दरदास ने हठयोग प्रदीपिका[4] के आधार पर सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भ्रसिका, भ्रामरी, मूर्छा तथा प्लाविनी आठ प्रकार के कुम्भक का उल्लेख किया है।[5] हठयोग प्रदीपिका मे इन आठ प्रकार के कुभको का पर्याप्त विशद् विवेचन मिलता है पर सुन्दरदास ने मात्र परिगणन शैली अपनायी है। इनका कहना है कि आठ प्रकार के कुंभक वायु अवरोध में सहायक होते हैं। मुद्राबंध लगाकर इनका साधन करने से शरीर शुद्ध हो जाता है। उस समय अनाहद नाद होने लगता है जिसको श्रवण करने से सभी विषाद छूट जाते हैं। क्रमानुसार पहले भ्रमर गुजार होता है फिर शख, मृदंग, ताल, घण्टा, वीणा, भेरी और दुंदुभी की ध्वनि होती है। त्रिपुर सार समुच्चय में इससे

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशा जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं ज्ञाने न भूते न भविष्यति॥
कुन्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राण विद्या महाविद्या यस्तां वेत्तिस वेद्वित्॥
—गोरक्ष पद्धति—प० महीधर शर्मा कृत भाषानुवाद संहिता—पृ० २२-२४
श्लोक ४२-४६।

१—सोहं सोह सोहं हंसो। सोह सोह सोहं हंसो।
स्वासो स्वासं सोहं जापं। सोहं सोहं आपै आपं॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग १, पृ० ४७।

२—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग १, पृ० ४८।

३—गोरक्ष संहिता, द्वितीय शतक, श्लोक ५।

४—सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतल तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा प्लाविनीत्यष्ट कुंभकाः॥ पृ० ६६, श्लोक ४४।

५—सुन्दर ग्रन्थावली भाग १, पृ० ४८।

भिन्न क्रम का वर्णन है। वहा भ्रमर, वंशी, घण्टा, समुद्रगर्जन, मेघगर्जन आदि का उल्लेख मिलता है।[1] हठयोग प्रदीपिका में भी इसका वर्णन है कि अनाहद ध्वनि के अनुसंधान से चित्त मे एकाग्रता उत्पन्न होती है और आनन्द की उपलब्धि होती है। इस अभ्यास की अवस्था मे योगी को समुद्र, मेघ, भेरी, तथा झांझ की ध्वनि सुनाई पड़ती है। यह ध्वनि उस अवस्था मे उत्पन्न होती है जब प्राण-वायु ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट होता है। जब प्राण ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर हो जाता है तो बांसुरी और भ्रमर की ध्वनि सुनाई पड़ती है। इस दशा में जिस भी प्रकार के नाद मे योगी का मन रमण करता है वह उसी में रम जाता है। इस प्रकार प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की प्रक्रियाएं संपादित होती हैं और मनुष्य का मन अपनी चचलता का परित्याग करके समाधि-सुख का उपभोग करता है।[2] द्रष्टव्य है कि हठयोग प्रदीपिका में जिस प्रकार के नाद का सूक्ष्म वर्णन मिलता है वह सुन्दरदास मे नही दिखाई पड़ता। ऐसा ज्ञात होता है कि इनका प्रमुख उद्देश्य विषय की सूक्ष्मता का परित्याग करके उसके ग्राह्य निरूपण की ओर अधिक रहा है। यही बात मुद्रानिरूपण के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है। हठयोग प्रदीपिका में दस मुद्राओ का स्पष्ट उल्लेख है। इनमें महामुद्रा, महाबध, महावेध, खेचरी, उड्यान, मूलबंध, जालधरबध, विपरीतकरणी, बज्रोली और शक्ति-चालन की चर्चा की गई है।[3] सुन्दर दास ने इनका नाम तो गिना दिया है पर वे उनके अनावश्यक विस्तार में नहीं पड़े हैं।[4] सुन्दरदास ने प्रत्याहार का भी वर्णन किया है। यों तो शाब्दिक रूप में इसका विवेचन योग की सभी पुस्तकों में मिलता है पर इसका विशेष निरूपण गोरक्ष-पद्धति में किया गया है। इस ग्रन्थ में इन्द्रिय-निग्रह के प्रायः सभी स्वरूपों का उल्लेख है।[5] प्राणायाम के आधार पर मन के नानाविध क्रिया-कलापों का निरसन प्रत्याहार कहलाता है। गीता और योगवासिष्ठ मे मन की चंचलता का स्पष्ट निरूपण किया गया है और इनसे निवृत्त होने के लिये योग और अभ्यास को आवश्यक माना गया है। 'सुन्दरदास' ने पचेन्द्रिय-विषय ग्रहण के स्वरूप पर दृष्टिपात करते हुए गीता[6] के शब्दों में इनके निरोध की चर्चा की है। उनका कथन है कि श्रवण शब्दों को सुनना पसन्द करते हैं और नेत्र रूप के लोभी होते हैं। नासिका सुवासित गन्ध चाहती है

१—द्रष्टव्य—पाद टिप्पणी, सुन्दर ग्रन्थावली भाग १, पृ० ४६।

२—हठयोग प्रदीपिका, पृ० २०५ से २१२।

३—महामुद्रा, महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्यान मूलबन्धश्च बन्धोजालन्धराभिधः।
करणी विपरीताख्या, वाज्रोली शक्ति चालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरण नाशनम्॥ —हठयोग प्रदीपिका—पृ० ६१, श्लोक ६—७
विशेष वर्णन के लिये द्रष्टव्य—इसी पुस्तक का सम्पूर्ण तृतीय उपदेश।

४—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग १, पृ० ५०।

५—द्रष्टव्य—गोरक्ष पद्धति महीधर शर्मा कृत भाषानुवाद सहिता, पृ० ७२
श्लोक २२ से पृ० ८४, श्लोक ६० तक।

६—यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। —गीता २।५८।

और जिह्वा रसलोलुप होती है। त्वचा स्पर्श सुख चाहती है। मानव स्वभावेन इन्द्रिय-सुखानुरागी होता है।[1] पर उसे आत्म-कल्याण और आध्यात्मिक-उत्थान के लिये इनसे मुक्ति पाना आवश्यक है। जब वह कूर्म की तरह अपने अंगो को समेट कर इनका निरसन करता है तो मन के अवरोध में पूर्णतः सफल हो जाता है।[2]

सुन्दरदास ने 'गोरक्ष-पद्धति' के अनुगमन पर पंचतत्व की धारणा का दिग्दर्शन कराया है। गोरक्ष-पद्धति में इस तथ्य को निरूपित किया गया है कि हृदय में मन एवं प्राण-वायु को निश्चल करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश संज्ञक पंचभूतो का पृथक् पृथक् संधार करना ही धारणा है।[3] इसी बात को ध्यान में रखकर 'गोरक्ष-पद्धति' में पंचभूतों की धारणा का वर्णन किया गया है। सुन्दर दास ने उपरोक्त ग्रन्थ को सानुवाद उद्धृत कर दिया है। उदाहरण के लिये दोनों ग्रन्थों के कतिपय स्थल पर्याप्त हैं।

गोरक्ष संहिता—

या पृथ्वी हरिताल हेम रुचिरा पीतालंकारान्विता।
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी।
प्राणंस्तत्रविलीय पंच घटिकं चितान्वितान्धारये।
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद् भुवो धारणा[4]॥

सुन्दरदास—

यह चारे कोण लकार हि युक्त जांनहु पृथ्वी रूपं
पुनि पीत वर्ण हृदि मण्डल कहिये विधि अंकित सु अनूपं
तहं घटिका पंच प्राण करि लीनं चित स्थम्भ न होई।
सुनि शिष्य अवनि जय करै नित्य ही भूमि धारणा सोई[5]॥

जलत्व की धारणा—

गोरक्ष पद्धति—अर्द्धेन्दु प्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठेऽम्बुतत्वं स्थितं
यत्पीयूषवकारबीज सहितं युक्त सदा विष्णुना।

१—इन्द्रियाणा हि चरता यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।—वही, श्लोक ६७।

२—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ५०।

३—हृदये पचभूतानां धारणा च पृथक्-पृथक्।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा सामिधीयते॥ गोरक्ष पद्धति-महीधर शर्मा कृत, भाषानुवाद संहिता—पृ० ८१, श्लोक ५३।

४—वही, पृ० ८१, श्लोक ५४।

५—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खंड, पृ० ५१।

प्राणं तत्र विलीय पंच घटिका चित्तान्वितं धारये।
देषा दुःसह कालकूट दहनी स्याद्वारुणी धारणा ॥[1]

सुन्दरदास

अक्षर वकार संयुक्त जानि जल चन्द्र खण्ड निर्द्धारं।
पुनि हृषीकेश अंकित अति शोभित कण्ठ पारदाकारं।
तहं घटिका पंच प्राण करि लीनं चित्त धारिकै रहिये।
विष कालकूट ब्यापै नहिं कबहूं वारि धारणा कहिये[2]॥

तेज की धारणा

गोरक्ष पद्धति

यत्तालुस्थितमिन्द्रगोप सदृशं तत्वं त्रिकोणानलं।
तेजोरेफ युतं प्रवाल रुचिरं रुद्रेण सत्संगतम्।
प्राणं तत्र विलीय पंच घटिकं चित्तान्वितं धारये
देषावह्नि जयं सदा नितनुते वैश्वानरी धारणा[3]।

सुन्दरदास

यह अग्नि त्रिकोण रेफ सयुक्त पद्मराग आभासं।
पुनि इन्द्र गोपु द्युति मध्य तालुका कहिये रुद्र निवासं।
तहं घटिका पंच प्राण करि लीनं ग्रंथहिं उक्त बषानं।
सुनि शिष्य अग्नि भयहन्ता कहिये तेजधारणा जांनं।

वायुतत्व की धारणा

गोरक्ष पद्धति

यद्भिन्नाञ्जन पुंज सन्निभमिदं स्यूतं भ्रुवोरन्तरे।
तत्वं वायुमयं यकार सहितं तमेश्वरो देवता।
प्राणं तत्र विलीय पंच घटिकं चित्तान्वितं धारये-
देष्वा खेगमनं करोति यमिनः स्याद्वायवी धारणा[4]।

१—गोरक्ष पद्धति—पृ० ८१, ८२, श्लोक ५५।
२—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ५१।
३—गोरक्ष पद्धति—पृ० ८२, श्लोक ५६।
४—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ५२।
५—गोरक्ष पद्धति—पृ० ८२, ८३ श्लोक ५७।

सुन्दरदास

भ्रुव मध्य यकार सहित षट्कोणं ऐसी लक्ष विचारं।
पुनि मेघवर्ण ईश्वर करि अंकित बारंबार निहारं॥
तहं घटिका पंच प्राण करि लीनं खेचर सिद्धि हि पावै।
सुनि शिष्य धारणा वायु तत्व की जो नीकै करि आवै[1]॥

आकाश तत्व की धारणा

गोरक्ष पद्धति

आकाशं शुविशुद्ध वारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितं।
तन्नादेन सदाशिवेन सहितं तत्वं हकारान्वितम्।
प्राणं तत्र विलीय पंच घटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्ष कपाट पाटन पटुः प्रोक्ता नमो धारणा[2]॥

सुन्दरदास

अब ब्रह्मरन्ध्र आकाश तात्त्वहै सुभ्र बर्त्तुलाकारं।
जहं निश्चय जांनि सदाशिव तिष्ठति अक्षर सहित हकारं।
तहं घटिका पंच प्राण करि लीनं परम मुक्ति की दाता।
सुनि शिष्य धारणा व्योम तत्व की योग ग्रन्थ विख्याता॥[3]

इस पंचतत्व धारणशक्ति के लाभ के विषय में भी दोनो विचारकों का मत एक है।[4] उनका मत है कि पृथ्वी धारण के अभ्यास में दृढ़ व्यक्ति जल, पवन आदि के स्तम्भन की सामर्थ्य रखता है और वारुणी धारण में पटु व्यक्ति में समस्त द्रव्य पात्रों को द्रव में परिवर्तित कर देने की क्षमता होती है। तेज धारण करने वाला व्यक्ति, बिना अग्नि के वस्तुमात्र को जला सकता है। वायु धारण करने में सक्षम व्यक्ति समस्त जगत को घुमाने में समर्थ होता है और नभधारण करने वाला व्यक्ति सर्वशोषण क्षमता से संयुक्त होता है। इस प्रकार पंच तत्वों को धारण करने वाला व्यक्ति सर्वशक्तिमान होता है और वह दुःखों से मुक्ति पा जाता है। सुन्दरदास ने ध्यान का भी वर्णन किया है और इसे पदस्थ, पिंडस्थ, उपस्थ और रूपातीत बताया है। ध्यान का वर्णन गोरक्ष पद्धति में भी आया है।

१—सुन्दर ग्रन्थावली—पृ० ५२।
२—गोरक्ष पद्धति—पृ० ८३, श्लोक ५८।
३—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ५२।
४—देखिये गोरक्ष पद्धति-श्लोक ५६ तथा सुन्दर ग्रन्थावली-पृ० ५२।

वहाँ इसके नौ भेद माने गये हैं।[1] घेरण्ड संहिता मे ध्यान योग को तीन प्रकार का कहा गया है। (१) स्थूल ध्यान, (२) ज्योतिर्ध्यान और (३) सूक्ष्मध्यान। स्थूल ध्यान का संबंध मूर्ति से होता है। ज्योतिर्ध्यान तेजमय और सूक्ष्म ध्यान ब्रह्ममय निरूपित किया गया है।[2] सुन्दरदास के अनुसार "नाना प्रकार के चित्रो में रचित और बीज मत्रों में प्रस्तुत वस्तुओं का ध्यान तथा महावाक्यों और महामंत्रो का जप सहित ध्यान 'पदस्थ ध्यान' कहलाता है। इस पदस्थ ध्यान को घेरंड संहिता के स्थूल ध्यान के सदृश कहा जा सकता है। पिंडस्थ ध्यान पिंड-शोधन से सबंधित है। पिंड की शुद्धि के पश्चात् साधक को षट्-चक्रों का ध्यान करना पिंड ध्यान कहलाता है। घेरण्ड सहिता मे ज्योतिर्ध्यान के अन्तर्गत मूलाधार में स्थित तेज और त्रिकुटी में स्थित ओंकारमय तेजशिखा के ध्यान की चर्चा की गयी है। इसमें षट्चक्रो के स्थान पर केवल दो चक्रों में निहित तेज के ध्यान की चर्चा है। पर पिण्डस्थ ध्यान में सुन्दरदास ने सभी चक्रों के ध्यान का वर्णन किया है। सुन्दरदास का रूपस्थ ध्यान आत्मानुभव से सवलित तथा विलक्षण है। उनका कथन है कि इस ध्यान के अन्तर्गत त्रिकुटी में विविध प्रकार की चिनगारियों के पश्चात् प्रकाश की दीप-शिखा दृष्टिगोचर होती है। ऐसा ज्ञात होता है कि वहाँ अनन्त कोटि सूर्य और चन्द्र के प्रकाश के बीच विद्युत कौंध की अनुपम आभा विकीर्ण हो रही है। इस अद्भुत तेज से समस्त विश्व प्रकाशित हो रहा है। घेरण्ड सहिता में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख मिलता है कि त्रिकुटी में जो तेजोद्दीप्त शिखा है वही ज्योतिर्ध्यान कही जाती है। यह प्रतीत होता है कि प्रकारान्तर से सुन्दरदास ने आत्मानुभूति सवलित ज्ञान के साथ ही आज्ञा चक्र के स्वरूप आदि को दृष्टि-पथ मे रखकर इस ध्यान का वर्णन किया है। षट् चक्र निरूपण में आज्ञा चक्र के स्वरूप का वर्णन करते हुए 'विद्युदामायाम शुभ्रौ' 'शारदचन्द्र शुभ्रं' 'ऊंकार ज्योतिरूपन्तु प्रदीपामं जगन्मयम्' आदि विशेषणों का प्रयोग हुआ है।[3] प्रणव के ज्योतिस्फुल्लिंगवेष्टित तत्व के सन्दर्भ में टीकाकार ने भी लिखा है—

तदूर्द्धे प्रणवाकारमात्मानम् दीप सन्निभम्।
स्फुलिंग ज्योतिरिंगाभैर्वेष्टितं परितः शुभम्॥

इतना ही नहीं अपितु आज्ञा-चक्र के परमशिव की स्थिति का वर्णन करते हुए उल्लिखित है—

१—गोरक्ष पद्धति २ शतक, श्लोक ७५।
गुदं मेढ्रं च नाभिश्च हृत्पद्मं च तदूर्ध्वतः।
घण्टिका लम्बिकास्थान भ्रूमध्ये च नभोविलम्॥७५

२—घेरण्ड संहिता, षष्ठोपदेश. पृ० ८३।
स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा
सूक्ष्मं विंदुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता॥१॥

३—Shat Chakra Nirupana-Edt. by Tara Nath Vidya Ratna pp. 88–88.

४—द्रष्टव्य-षट्चक्रनिरूपण-पाद टिप्पणी, पृ० ४१।

ज्वलद्दीपाकारं तदपि च नवीनार्कबहुल-
प्रकाशं ज्योतिर्वा गगन धरणी मध्यमिलितम्।
इहस्थाने साक्षाद् भवति भगवान् पूर्ण विभवो-
ऽव्ययः साक्षात् वहिः शशिमिहिर योगमण्डल इव।[1]

स्पष्ट है कि सुन्दरदास के विवेचन में ऊपर उद्धृत आज्ञाचक्र की कतिपय विशिष्टतायें विद्यमान हैं। सांख्य के अनुसार आज्ञाचक्र का भेदन हो जाने के पश्चात् ही कैवल्य की प्राप्ति होती है। स्यात् यह विचार भी उनके इस विवेचन का मूल रहा हो। सुन्दरदास के रूपातीत ध्यान के वर्णन के सम्बन्ध में पुरोहित हरिनारायण जी का मत है कि उनका यह वर्णन याज्ञवल्क्य से प्रभावित है। उन्होंने रूपातीत को "शून्य ध्यान" की उपाधि से अभिहित किया है। यहाँ मन निरन्तर इसमें लीन रहता है। जिस प्रकार अनंत आकाश में उड़ान भरने वाला पक्षी थक कर भी इसके आदि अंत से अवगत नही होता, उसे सर्वत्र अनंत आकाश ही दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार योगी भी निरंतर शून्य के ध्यान में मग्न रहता है और वह इसके रहस्य को पूर्ण रूप से नहीं जान पाता। ब्रह्म भी शून्य है और वह दसो दिशाओ में निरन्तर व्याप्त रहता है। जब साधक को इस तथ्य का अभिज्ञान हो जाता है तो वह परम तत्व से परिचित होकर अखण्ड समाधि मे लीन हो जाता है। इसको योग-निद्रा भी कहते हैं। घेरंड संहिता ने सूक्ष्म ध्यान को बड़ा सूक्ष्म, गुप्त और दुर्लभ कहा है। षट्चक्र निरूपण करते हुए सहस्र दल वर्णन मे 'तदन्त शून्यं तत् सकल सुरगणैः सेवितं चातिगुप्तम्' तथा 'सुधा धार सारं' आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है[2]। ज्ञात होता है कि इस विवेचन के समय उनके मस्तिष्क में उपर्युक्त तथ्य विद्यमान रहे हैं। समाधि का वर्णन योगशास्त्र की सभी पुस्तकों में है। योगवासिष्ठ में स्पष्ट रूप से यह निरूपण हुआ है कि निर्विकल्प समाधि में स्थिर हो जाने के पश्चात् अक्षय सुषुप्ति सदृश शुद्ध पद की प्राप्ति हो जाती है। समाधि की व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि जब साधक की प्रज्ञा स्थिर नित्यतृप्त और यथार्थ तत्व से अवगत हो जाती है एवम् चंचलता, अहंकार, चिन्ता, आशा, अभिलाषा, तृष्णा तथा मनजनित नाना विषयों से साधक सर्वथा मुक्त हो जाता है और उसमें सत्य ज्ञान के साथ शान्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है तो समाधि का आविर्भाव होता है। ऐसी दशा में मन अखड आनन्द निमग्न होने का अनुभव करता है।[3] घेरण्ड संहिता के अनुसार समाधि के भेद हैं : ध्यानयोग समाधि, रसानंदीय समाधि, लयसिद्धियोग समाधि, भक्तियोग समाधि एवं राजयोग समाधि[4]।

महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन[5] में समाधि का वर्णन करते हुए लिखा है कि ध्यान करते करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है और उसे ध्येय से भिन्न उपलब्धि

१—द्रष्टव्य—षट् चक्रनिरूपण-पाद टिप्पणी, पृ० ३७।
२—देखिये—षट् चक्रनिरूपण-सं० तारानाथ विद्यारत्न, पृ० ५०-५२।
३—द्रष्टव्य—योगवासिष्ठ ३।१।६६, ५।६२।७, ५।६२।१२, ४।१५।२० से ४।१५।२५ तक
४—घेरण्ड संहिता-७।५-६।
५—योगदर्शन, ३।३।

नहीं होती है तो इस ध्यान को समाधि कहते हैं। 'हठयोग प्रदीपिका' में समाधि के विभिन्न पर्यायों का उल्लेख इस प्रकार है।[1]

राजयोगः समाधिश्च, उन्मनी च मनोन्मनी ॥
अमरत्वं लयस्तत्वं शून्याशून्य परं पदम् ॥
अमनस्कं तथा द्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम् ॥
जीवन मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥

इसके अनन्तर इनका विवेचन भी मिलता है। गोरक्ष पद्धति में इस तथ्य् का निरूपण मिलता है कि विषयों से पूर्ण मुक्ति, आत्मा और परमात्मा के ऐक्य, इन्द्रियसुखों से वितृष्णा के पश्चात् योगी को समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था में वह जरा-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है और उसे अद्वैतभाव की उपलब्धि होती है।[2] सुन्दरदास ने समाधि की दशा मे साध्य और साधक के ऐक्य पर विशेष बल दिया है। योगी इस अवस्था में कर्म-बंधन से मुक्त तथा स्थित-प्रज्ञ हो जाता है। उसका द्वंद्व मिट जाता है तथा उसकी संसारिक अनुभूतियां समाप्त हो जाती हैं।[3] सारांश यह कि इनका उक्त विवेचन अन्य ग्रन्थों से विशेषतः हठयोग प्रदीपिका से प्रमुख रूप से प्रभावित है। सूक्ष्म रूप से विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि यथास्थान उन्होंने इस ग्रन्थ के श्लोकों का अनुवाद प्रस्तुत कर दिया है। सर्वांग योग प्रदीपिका में उन्होंने भक्ति, योग, हठयोग और सांख्ययोग का भी वर्णन किया है। इनके अनुसार सनकादिक, नारद, शुकदेव और प्रह्लाद भक्तियोग के, आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, चर्पट और मीन हठयोग के, तथा ऋषभदेव, कपिल, दत्तात्रेय, वसिष्ठ, अष्टावक्र और जड़भरत साख्य के आचार्य हुए हैं। भक्तियोग और हठयोग के चार प्रभेद होते हैं। इन्होंने सांख्य को भी इस सन्दर्भ में चार प्रकार का माना है। पर इससे सहमत होना कठिन है।

भक्तियोग

'सर्वांगयोग प्रदीपिका' के अन्तर्गत सुन्दर दास ने सर्वप्रथम भक्तियोग पर दृष्टिपात किया है। इसके लिए उन्होंने दृढ़ वैराग्य, जितेन्द्रियता, माया-मोह का परित्याग, कनक-कामिनी निरसन एवम् आशा-तृष्णाराहित्य पर बल दिया है। इस अवस्था में शील, संतोष तथा क्षमाधारण, धैर्य और दया का प्रतिपालन, दीनता और गरीबी की स्थिति, निरपेक्ष भाव से संसार का अवलोकन, मान और महात्म्य से वितृष्णा, निःशंकता, जीवों के प्रति समभाव, निरंजन देव की उपासना, शून्य मन्दिर में स्थित ज्योतिस्वरूप का ध्यान, मनसा वाचा अयाचक भाव का ग्रहण, ज्ञानसंपन्नता, अनाहत शब्द पर विचार, तन मन और सर्वस्व न्योछावर की

१—उपदेश ४।३—४।

२—द्रष्टव्य—गोरक्ष पद्धति द्वितीय शतक, श्लोक ८५ से ९३।

३—द्रष्टव्य—सुन्दर ग्रन्थावली भाग १, ज्ञान समुद्र, पृ० ५५—५६।

धारणा, गद्‌गद् हो उपासना में तल्लीनता तथा एकोन्मुखता आवश्यक बतलाया गया है।[1]

स्पष्ट है कि जप, ध्यान, सत्संग और स्वाध्याय को विशेष महत्व प्रदान करने पर भी सुन्दरदास का भक्तियोग-विवेचन परम्परा से सर्वथा भिन्न है। शून्य मन्दिर में ज्योति-स्वरूप मूर्ति का ध्यान, ज्ञान-शिखा का प्रज्वलन, अनाहत शब्द पर विचार आदि ऐसे प्रसंग हैं जो इनके दृष्टिकोण को ज्ञानमार्गी रूप देने के लिए पर्याप्त हैं। भक्ति की व्याख्या के लिए ईश्वर में परानुरक्ति को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। यहाँ सुन्दरदास ने उसे एकोन्मुखता के सन्दर्भ में पातिव्रत आदर्श के माध्यम से विश्लेषित किया है। इसी शोध-प्रबन्ध के दर्शन विवेचन में इसपर पर्याप्त विचार किया जा चुका है। अतएव यहाँ इतना ही कथन समीचीन प्रतीत होता है कि परम्परागत भक्ति की विशेषताओं के आनयन के साथ ही साधनात्मक रहस्य की कतिपय मूल बातों को ग्रहण करके उन्होंने भक्तियोग का यह विलक्षण ढांचा निर्मित किया है। जहाँ तक यम-नियम का प्रश्न है वे भक्ति के प्रायः सभी ग्रंथों में पाये जाते हैं। संभवतः इस विवेचन के लिए वे भगवद्‌गीता के विशेष रूप से ऋणी हैं। उदाहरण स्वरूप गीता में ब्रह्मचर्यपालन, अभयता, शान्तचित्तता, मननिरोध और अव्यभिचारी-भाव-युक्त ईश्वर-प्रणिधान, निर्मलता, अन्तःकरण शुद्धि पर विशेष बल, सभी कर्मों का ईश्वरार्पण, भगवत्‌शरण आदि को विशेष महत्वपूर्ण माना गया है।[2]

मंत्रयोग

योगमार्गों में मंत्रयोग सरल कहा गया है। जप-तप में जप के अन्तर्गत मंत्र का ही विशेष महत्व है। पातंजल योग सूत्र में ईश्वर को ओंकार का वाचक मानकर मंत्र-योग की महत्ता प्रतिपादित है।[3] महामहिम गोपीनाथ कविराज ने इस तत्व पर विचार करते हुए लिखा है—वाक् तत्व की पांच कलाएं हैं। यह महाजनों का सिद्धान्त है। तदनुसार जप अथवा नाम स्मरण के प्रभाव से स्थूल देह और स्थूल जगत् नाम की पहली कला में लीन हो जाते हैं। सूक्ष्म देह और सूक्ष्म जगत नाम की दूसरी कला में लीन हो जाते हैं और उसमें पहली कला भी लीन हो जाती है। कारण देह और कारण जगत् तीसरी कला में लीन होते हैं और उसमें दूसरी कला भी लीन हो जाती है। महाकारण देह और अप्राकृति शुद्ध जगत नाम की चतुर्थ कला में लीन हो जाते हैं। पहली तीन कलाएं भी इस चतुर्थ कला में लीन हो जाती हैं। चतुर्थ कला अर्द्धचन्द्र स्वरूप है। इसके पश्चात् चिदात्मक आत्मा का कैवल्यात्मक चिन्मय स्वरूप रह जाता है और नाम की चतुर्थ कला रह जाती है तथा नाम की पंचम कला, जो चित्

१—द्रष्टव्य—सुन्दर ग्रंथावली भाग १, भक्तियोग पृ० ६५–६६।

२— ,, श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ६।११–१३, १३।१०, १४।२६, १५।४, १६।१, १८।५२, १८।५७–५८ एवम् १८।६२–६३।

३—तस्य वाचकः प्रणव.।

कला के नाम से प्रसिद्ध है वह भी रह जाती है। आत्मा चित् स्वरूप है और नाम की पंचम कला जिसे चित् कला कहते हैं बिन्दु स्वरूप है।......विशुद्ध चित्त स्वरूप आत्मा बिन्दु रूप कला शक्ति का अवलम्ब किये बिना कलातीत का संधान नहीं पा सकता। यदि उसको प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करे तो निष्कल का पता पाना तो दूर की बात है, अपनी-सत्ता भी लुप्त हो जाती है।[1] 'निष्कर्ष यह कि जप या मंत्र के सतत् अभ्यास में भी योग के उद्देश्य निहित हैं। सुन्दरदास ने आरम्भ मे ही नाम और नामी के सम्बन्ध पर विचार करते हुए नामजप की महत्ता प्रतिपादित की है। उनका मत है कि रूप, रेख, गुण, जाति एव युक्ति विहीन उस परम तत्व को किसी उपाधि विशेष से विभूषित करना आवश्यक है। अन्ततोगत्वा सतों ने उस परम तत्व को राम नाम से अभिहित करके उसे सभी मन्त्रों का सार बतलाया है। इस मन्त्र का माहात्म्य बतलाते हुए ये निरंतर अटूट श्रद्धा और विश्वास के साथ निरंतर इसके जाप का उपदेश करते हैं। प्रथम अवस्था में यह मंत्र जिह्वा से जपा जाता है। दूसरी अवस्था में हृदय इसका आवास बन जाता है और अन्तिम अवस्था में यह अजपा जाप का रूप धारण कर लेता है। इस अवस्था में इससे रकार की अखण्डित ध्वनि उत्पन्न होती है और इस सुरति शब्द संयोग से योगी मुक्ति प्राप्त करता है। कठोपनिषद् मे नाम जप के उद्देश्य को बतलाते हुए इस तथ्य का निरूपण है कि 'ओंकार' अक्षर ही ब्रह्म है। यही परब्रह्म है। इसके माध्यम से मनुष्य इच्छित फल प्राप्त करता है।[2] पातंजल योगदर्शन मे भी प्रणव को परम तत्व का वाचक मानते हुए इस सत्य का प्रतिपादन है कि उस परमात्मा के नाम जप और उसके अर्थ की भावना करने से सम्पूर्ण विघ्नों का नाश हो जाता है और परमपद की प्राप्ति होती है।[3] गीता में स्पष्ट रूप से इस तथ्य पर प्रकाश डाला गया है कि अव्यभिचारी भाव से प्राणों का अर्पण करने वाले भक्त जन उस तत्वज्ञान रूपी योग को प्राप्त करते हैं जिससे सभी अज्ञानान्धकार समाप्त हो जाते हैं।[4] इस प्रकार हम यह देखते हैं कि 'सुन्दरदास' वस्तुतः मन्त्रयोग के उसी स्वरूप को प्रतिपादित करते हैं जो शास्त्र सम्मत है। दादू पंथ के अन्य सन्तों में भी भक्तियोग और मत्रयोग के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं।[5]

१—द्रष्टव्य—नाथ और सत साहित्य—डा० नगेन्द्र नाथ उपाध्याय, प्राक्कथन, डा० गोपीनाथ कविराज, पृ० ७-८।

२—एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्ये वाक्षर परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा, यो यदिच्छति तस्यतत्। (कठ० १।२।१६)

३—तज्जपस्तदर्थभावनम् (योग १।२८)

४—मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्य तुष्यन्तिच रमन्ति च।।
तेषा सतत युक्तानां भजता प्रीति पूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयन्ति ते।।
तेषा मेवानुकम्पार्थं महमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्म भावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।—गीता (१०।६।११)

५—काहि रे राम के आगे।
करिले निरत निरन्तर निसिदिन और सकल संसारहिं त्यागे।
—रज्जबवानी, पृ० ४२४।

लययोग

लययोग ध्यान योग का पर्याय है। वस्तुतः ध्येय वस्तु के साथ चित्त का एकाकार हो जाना ध्यान है। हठयोग प्रदीपिका में इसको स्पष्ट रूप से निरूपित किया गया है कि सांसारिक विषयों की विस्मृति ही लय है।[1] 'सुन्दरदास' भी अवान्तर से इसी ग्रन्थ के आधार पर लय की व्याख्या करते हैं। इनका मत है कि सच्ची लय लग जाने पर भय नष्ट हो जाता है और जीव आवागमन के बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[2] इस दृष्टि से इन्होंने लय के कतिपय आदर्शों को प्रस्तुत किया है। दादू ने भी स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया है कि 'लय' उसको कहते हैं जो जीवन भर विद्यमान रहती है, कभी छूटती नहीं और मरने के बाद उसी मृतक शरीर में समा जाती है।[3] लय समाधि का रसपान करने से काल का भय नहीं रहता, व्यक्ति जरा-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।[4] साधक को अन्तर रति से लय लगाना चाहिए। ऐसी स्थिति में उसे सुरति योग का अभ्यास हो जाता है, और उसका मन आनन्दमग्न होकर नाच उठता है।

दादू तो स्पष्ट कहते हैं :—

'निर्गुण राम रहै ल्यौ लाइ।
सहजैं सहज मिलै हरि जाइ।
भौजल व्याधि लियै नहिं कबहूँ।
करम न कोई लागै आइ।
तीन्यूं ताप जरै नहिं जियरा।
सो पद परसै सहज सुभाइ।

(ब) अरे मन भजिले आतम् राम
कारज इहै करौ मन मेरे इहि औसरि इहि धाम।—वही, पृ० ४२०

(स) पूरण हारा पूरसी जो चित रहसी ठाम।
अन्तर थैं हरि उमंगसी, सकल निरन्तर राम॥
—दादू ग्रन्थावली पीव पिछाण कौ अंग—पृ० १८५

(द) नीके राम कहत है बपुरा।
घर मांहे घर निर्मल राखे, पंचौं धोवे काया कपरा।
सहज समरपण सुमिरण सेवा तिरवेणी तट संजम सपरा।
सुन्दरि सन्मुख जागणि लागी, तहँ मोहन मेरा मन पकरा।
बिनु रसना मोहन गुन गावै, नाना वाणी अनभै अपरा।
दादू अनहद ऐसैं कहियै, भगति तत्त यह मारग संकरा। —दादू ग्रन्थावली–२, पृ० ३१।

१—लयोलय इति प्राहुः की दृशम् लय लक्षणम्।
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषय विस्मृतिः॥ (४।३४)

२—सुन्दर ग्रन्थावली (१) पृ० ६८।

३—लयलागी तब जाणिये, जे कबहूँ छूटि।न जाइ।
जीवत यौं लागी रहे, मूवाँ मांझि समाइ॥—दादू ग्रन्थावली (१) लय को अंग–८८

४—वही, (१) ८८।

जनम जुरा जोनि नहिं आवै।
माया मोह न लागै ताहि।
पांचो पीड़ प्राण नहिं व्यापै।
सकल सोंधि सब इहै उपाइ।
संकटु संसा नरक न नैनहुं।
ताको कबहूं काल न खाइ।
कंप न कोई भै भ्रमभागै।
सब विधि ऐसी एक लगाइ।
सहज समाधि गहौ जो छिढकरि।
जासों लागै सोई आइ।
भृंगी होइ कीट की न्याई।
हरिजन दादू एक दिखाइ॥[1]

इस संदर्भ में यह तथ्य विशेष रूप से विचारणीय है कि सन्तों का मंत्रयोग और लययोग बाह्य स्थूलता से संबंधित न होकर आध्यात्मिक सूक्ष्मता का परिचायक है। ये स्पष्ट रूप से जोई 'प्यण्डे सोई ब्रह्मण्डे' की भावना के परिपोषक हैं। इसी का प्रतिपादन करते हुए सन्त रज्जब कहते हैं कि[2]--

सूक्षिम सेव सरीर में कोई गुरुमुखि जाणै।
मन मिरतग तन बैठि करि पति पूजा ठाणै।
पच्छिम पाट कहुको रचै सति सेवा साजै।
विविध भाँति बहु बन्दगी बिधि ब्रह्म विराजै।
सॉच सील जल सापड़ै, सुचि संजम साचा।
ब्रत उनमनि अहि निसा, मन मनसा बाचा।
पाती पंच चढ़ाइ लै, सत सुकृत सुगन्धा।
धूप ध्यान ग्यानै दिया, यहु आरंभ धन्धा।
घण्टा घट रट राम की, ताली तव ताला।
बाणी बैठा मृदंगमत, सब सबद रसीला।
सरबस ले आगै धरै, भजि भोग सो लागै।
जुग जुग जगपति आरती, जिव जूठाणि मांगे।
दीन लीन सांचे मतै, डरके डंडौता।
भयभीत भयानक भगत सों निरगुण न्योता।
सारी सेव शरीर मे सब करै बखाना।
रज्जब रामरजाइ यूं जन जोति समाना।

१—दादू ग्रन्थावली-(२) पृ० १६१।
२—रज्जब बानी-पृ० ३७५।

चर्चायोग

चर्चायोग के अन्तर्गत नित्य निराकार ब्रह्म के परात्पर स्वरूप की चर्चा की गई है और वह विविध रूपों में निरूपित है। ब्रह्म के निराकार स्वरूप के कारण उसे अगम्य, अगोचर, अभेद्य और निष्कारण घोषित किया गया है। वस्तुतः इस स्वरूप का वर्णन दर्शन के अन्तर्गत विशेष रूप से आया है। यहाँ हम केवल सुन्दरदास की इस उक्ति की व्याख्या करना चाहेंगे कि भक्ति के इन्हीं चारों स्वरूपो में नवधाभक्ति सन्निहित है[1]। यद्यपि अध्यात्म रामायण[2] और ज्ञान और षट्चक्र-भेदन से वीर्य मस्तिष्क में स्थित हो जाता है। उस स्थिति में योगी भोग मे रहते हुए भी उससे आनन्द का उपभोग करता है और उसके शरीर में निरंतर तेज की वृद्धि होती रहती है। योगी को सुख-दुःख, हर्षशोक, बुभुक्षा-तृष्णा, निद्रा-आलस्य, शीत-ताप आदि प्रभावित नहीं करते। वह जरा-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। उसे न तो अग्नि जला सकती है और न जल डुबा सकता है। उसका शरीर वज्रवत ऐसा सुदृढ़ हो जाता है कि उस पर खड्ग का भी प्रभाव नहीं पड़ता। वह सर्वज्ञ हो जाता है। आठो सिद्धियां और नवों निद्धियां उसकी आज्ञानुसारिणी बन जाती हैं। वह इच्छानुसार तीन लोक में कहीं भी रम सकता है। उसके लिए कही अवरोध नही रहता। वह आकाश-पाताल, मृत्युलोक कहीं भी विचर सकता है। उसके हृदय मे निरन्तर प्रकाश रहता है। वह परब्रह्म की अखंड ज्योति के दर्शन बिना साधन (तेल और बत्ती के) ही करता रहता है[3]।

लक्ष्ययोग

'लक्ष्ययोग' को जानने का सरल साधन गुरु कृपा है। सुन्दरदास ने अधोलक्ष्य,

---

१—ये चार्यो अंग भक्ति के नौधा इनही माहिं।
सुन्दर घट मंह कीजिये बाहरि कीजै नांहि ॥—सुन्दर ग्रन्थावली-(१) पृ० १०१।

२—तस्माद् भामिनि संक्षेपाद् वक्ष्येऽहं भक्तिसाधनम्।
सता संगतिरेवात्र साधनं प्रथम् स्मृतम्।
द्वितीयं मत्कथालायस्तृतीयं मद्गुणेरणम्।
व्याख्यातृत्वं मदवचसां चतुर्थं साधनम् भवेत।
आचार्योपासन मद्रे मदबुद्धयऽमायया सदा।
पंचमं पुण्य शीलत्वं यमादि नियमादि च।
निष्ठाम पूजने नित्यं षष्ठं साधन मीरित।
मम मंत्रोपासकत्वं सांगं सप्त समुच्यते।
मद्भक्त्येष्वाधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः।
वाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादि सहितं तथा।
अष्टमं नवमं तत्व विचारो मम भामिनि।
एवं नव विधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा।
—अध्यात्म रामायण, अरण्य० १० । २२-२७।

३—सुन्दर ग्रन्थावाली—भाग १, पृ० १०३-१०४।

मध्यलक्ष्य, उर्ध्वलक्ष्य और बाह्यलक्ष्य का उल्लेख किया है। उनके अनुसार अधोलक्ष्य के साधक को नासा के अग्रभाग पर अपनी दृष्टि स्थिर करनी चाहिए। ऐसा करने से मन और पवन सिद्ध होते हैं। मध्य लक्ष्य के साधक को अपना कोई प्रिय आकार स्थिर करके मन मे उसी पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। इससे साधक में सतोगुण का आविर्भाव होता है। उर्ध्वलक्ष्य के साधक को रात-दिन अपनी दृष्टि आकाश में लगाये रखनी पड़ती है। इस साधन से उसे विविध प्रकार के प्रकाश की प्राप्ति होती है और वह गुप्त वस्तुओ को भी देखने मे समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त साधक को बाह्यलक्ष्य और अन्तर लक्ष्य की भी साधना करनी पड़ती है। इसकी साधना में उसे पंचतत्वों को अपने लक्ष्य का विषय बनाना पड़ता है। इस प्रकार की साधना में नासिका के अग्रभाग से चार अगुल पर उसे नीले आकाश, छः अगुल पर धूम्रवर्ण की वायु, अष्टअंगुल पर लाल अग्नि, दस अंगुल पर श्वेत वर्ण जल और बारह अंगुल पर पीतवर्ण की भूमि दिखाई पड़ती है। अन्तरलक्ष्य की साधना ब्रह्मनाडी की साधना से सम्बन्धित है। कुडलिनी, सुषुम्ना अथवा ब्रह्मनाडी से होती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। अन्तर लक्ष्य में साधक को इसी की साधना करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त सुन्दरदास ने ललाट के मध्य मे बड़े तारे सदृश अथवा लाल वर्ण के भ्रमर के सदृश उपादान पर भी ध्यान केंद्रित करने की चर्चा की है।[1] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लक्ष्ययोग अन्तः, बहिः और मध्य तीन प्रकार के हैं। बहिर्लक्ष्य ध्यान को केन्द्रित करने का आरम्भिक सोपान है, मध्यलक्ष्य मे प्रथम ध्यान की सिद्धि के पश्चात् मन को बाह्य उपादानो से हटाकर आन्तरिक ध्यान केन्द्र पर स्थिर करना पड़ता है। इस दशा मे 'वपु प्रमान कोइ रूप निहारे' कहकर सुन्दरदास ने ध्येय वस्तु को यहाँ भी साकार ही माना है। अन्तर्लक्ष्य तक जाते-जाते उनका यह विवेचन सूक्ष्म मानसिक साधनाओं के साथ ही सुषुम्ना के माध्यम से कुण्डलिनी के ब्रह्मरन्ध्र मे प्रवेश की प्रक्रिया का परिचायक बन गया है। यहाँ आकर लक्ष्य योग, योग की चरम-साधना और उपलब्धि का संकेत करने लगता है। दादू सम्प्रदाय में सुन्दरदास को छोड़कर अन्य किसी भी 'सन्त' ने इसका विवेचन नहीं किया है।

अष्टांग योग

'सुन्दरदास' द्वारा निरूपित अष्टांग योग के पश्चात् यहाँ गरीबदास, दादू और रज्जब की इस धारणा का विवेचन आवश्यक है। सन्त गरीबदास योग के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जब साधक अन्तर्मुखी साधना में लीन होता है तो उसे आत्मोपलब्धि होती है। वह कर्मेन्द्रियो के बारह मार्गों भागवत[2] में भी नवधा भक्ति का स्पष्ट निरूपण मिलता है।

१—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग (१) पृ० १०४-१०५।

२—श्रवण कीर्तन विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्ये धीतमुत्त मम्   —भागवत ७।५।।२३-२४।

आध्यात्म रामायण में नवधा भक्ति के अन्तर्गत सत्संग, भगवत्काथा में रति, गुरुपदपंकज सेवा, मंत्र-जाप, कर्मों से विरक्ति, जगत् की ब्रह्ममयता की भावना और संत का विशेष महत्व, लाभ और संतोष के साथ परदोष उपेक्षा की प्रवृत्ति, निष्कपटता आदि का परिगणन हुआ है। भागवत के अनुसार श्रवण, कीर्तन, विष्णुस्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन एवम् दास्य या सख्यभाव से आत्म-निवेदन को नवधा भक्ति माना गया है। अतः यह स्पष्ट है कि आध्यात्म रामायण की नवधा भक्ति और भागवत की नवधा भक्ति में कुछ भिन्नता है। भक्तियोग के अन्तर्गत सुन्दरदास ने मंत्रयोग, लययोग, चर्चायोग इत्यादि का वर्णन किया है। इनकी विशेषताओं पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि नवधा भक्ति में निरूपित सभी आवश्यक तत्व इनमे विद्यमान हैं।

हठयोग

सुन्दरदास ने अन्य हठयोग-ग्रंथों की भांति शिव को इसका आचार्य घोषित किया है। इनका मत है कि इसमें साधक प्रयत्नशील हो कर इड़ा और पिंगला का मेल बल-पूर्वक कराता है। इसीलिए इसे हठयोग कहते हैं। इस साधना में शान्त, निष्कंटक और एकाकी स्थान पर मठ का निर्माण करके साधक, गुरुप्रदत्त उपदेश तथा ज्ञान के आश्रय से साधना करता है। वह हठपूर्वक श्वास का नियंत्रण, आसनो का साधन, निद्रा का परित्याग, अल्पाहार आदि का संपादन करता है। उसके भोजन में तामसी द्रव्यो के स्थान पर गेहू, साठी का चावल, खीर, खांड़, घृत इत्यादि सम्मिलित रहते हैं। वह योग के षट् कर्मों-धोती, वस्ती, नेति, नौली, त्राटक एवम् कपाल-भाती के द्वारा शरीर को शुद्ध करता है।

इनके निरन्तर अभ्यास से वह आनन्द की प्राप्ति में समर्थ होता है। हठयोग का यह वर्णन हठयोग प्रदीपिका, शिवस्वरोदय, गोरक्ष पद्धति, योग-चिन्तामणि आदि में विशेष रूप से आया है।

राजयोग

यह योग सभी योगों से उत्कृष्ट माना जाता है। इसके विविध नाम हैं।[1] इस योग को साधना की पराकाष्ठा कहा गया है 'इसमें मन तथा प्राण का भेद मिट जाने से ये एकीभूत हो जाते हैं। इससे मन का उत्पात बन्द हो जाता है, तथा माया के आवरण का उच्छेदन हो जाने पर मन चरम ध्येय में केन्द्रीभूत हो जाता है। इस अवस्था को उन्मन भी कहते हैं।[2] डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि मन को एकाग्र करके परब्रह्म के आनन्द स्वरूप का मनन करते हुए आत्म-समाधिस्थ

१—राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, परमपद, निरालम्ब, जीवनमुक्ति, आदि। द्रष्टव्य डा० रामजीलाल सहाय, कबीरदर्शन, पृ० २०६।

२—वही।

होकर ब्रह्म से मिलना राजयोग है।[1] वस्तुतः राजयोग के प्रमुख उपजीव्य के रूप में मन-साधना, काया-साधना तथा प्राण-साधना को मान सकते हैं। ध्यान, धारणा और समाधि इसी में अन्तर्भुक्त होते हैं। इसीलिए इसकी विशेषताओं में ज्ञान और भक्ति के सभी आवश्यक स्वरूपों का समावेश है। सुन्दरदास ने राजयोग को सर्वोत्कृष्ट माना है। इन्होंने इसकी कतिपय अद्‌भुत उपलब्धियों का विवेचन भी किया है।[2] इनका मत है कि साधक नाड़ी को सयत करके सहस्रार की ओर उन्मुख होता है। इस साधना में वह इड़ा और पिंगला को सुषुम्ना में लगाता है और तत्पश्चात् अनाहत नाद का अनुभव करता है। उसे त्रिगुणों, पाच तत्त्वों और पचीस प्रकृतियों को निर्गुण चैतन्य में लीन कर देना पड़ता है। ऐसा करने के पश्चात् उसके रोम-रोम से आनन्द की ध्वनि निकलने लगती है।[3] प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि योग की अन्तर्मुखी साधना के साथ ही नाड़ी-नियंत्रण और षट्चक्र भेदन की ओर इनका ध्यान अवश्य गया था। इसीलिये वे साधक को यमनियमादि के माध्यम से इसकी साधना की ओर उन्मुख होने का परामर्श देते हैं।

दादू[4] ने भी यथास्थान अष्टांग योग के कुछ स्वरूपों और नाडी भेदन तथा चक्रो का उल्लेख किया है। वे 'राजयोग' की प्रमुख मान्यता, 'जोई प्यण्डे सोई ब्रह्मण्डे' के समर्थक हैं इसीलिए सुन्दरदास की भाँति ये आन्तरिक साधना पर विशेष बल देते है। इस संदर्भ में उद्धृत पद्य विचारणीय है।

'मन पवना ले उनमन रहै, अगम निगम मूल सो लहै ॥ टेक ॥
पंच बाइ जे सहजि समावै, ससिहर के घरि आणै सूर।
सीतल सदा मिलै सुखदाई, अनहद सबद बजावै नूर।
पंक नालि सदा रस पीवै, तब यह मनुवां कहीं न जाइ।
बिगसै कवल प्रेम जब उपजै, ब्रह्म जीवन की धरै सहाइ।

१—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, मलूकदास और चरणदास की दार्शनिक विचारधारा, पृ० ५३४।

२—घृत नहिं ढरै अग्नि के पासा। राजयोग का वडा तमासा॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग १, पृ० १०३।

३— नन खोजै तव पावै रे।
उलटी चाल चले जे प्राणी, सो सहजे घर आवे रे।
वारह मारग बहता रोकै, तेरह ताली लावै रे।
चन्द सूर सहजैं सतराखै, अणहद वेण वजावे रे।
तीन्यूं गुण चौथे घर राखे, पाँच पचीस समावै रे।
नऊ निरति सूं और बहत्तर, रोम-रोम धुनि धावं रे।
—परशुराम चतुर्वेदी, सन्तकाव्य, पृ० २८३।

४— घटि-घटि गोपी घटि-घटि कान्ह। घटि घटि राम अमर अस्थान।
गंगा जमुना अन्तरवेद सुरसती नीर वहै परसेद।
कुंज केलि तहं परम विलास, सव संगी मिलि खेलें रास।
तहं विन वेना वाजै तूर, विगसै कंवल चन्द अरु सूर।
पूरण ब्रह्म परम परकास, तंह निज देखै दादू दास।
—दादू ग्रन्थवाली—भाग २, पृ० १७३।

त्रैसि गुफा में जोति विचारै, तब तेहिं सूझै त्रिभुवन राइ।
अंतरि आय मिलै अविनासी, पद आनंद काल नहिं खाइ।
जामण मरण जादू भव भाजै, अबरण के घरि बरण समाइ।
दादू जाय मिलै जग-जीवन, तब यहु आवागमन बिलाइ।[1]

इतना ही नहीं बरं दादू ने भाग्यवान साधक के उस लक्ष्य का भी उल्लेख किया है जहाँ निरंतर अनाहत नाद ध्वनित होता रहता है और सुषुम्ना के सहस्रार की ओर उन्मुख होने से परमानन्द का प्रादुर्भाव होता है। यहाँ एक मानसरोवर है जहाँ हंस अनवरत निवास करता रहता है और इसमें स्नान करके वह अनन्त सुखों का भागी बनता है। जो साधक इस स्थल के रहस्य से परिचित हो जाता है वह अमृत का पान करता है और उसके लिए अगम्य भी गम्य हो जाता है। यहाँ आत्मा तथा परमात्मा की अद्भुत क्रीड़ा होती रहती है और तेल एवम् बाती के बिना ही अखंड ज्योति प्रकाशित रहती है। दादू इसी स्थान पर पहुँचने और उस विलक्षण सुख के उपभोग करने के अभिलाषी हैं। इसकी चर्चा इन्होंने कई स्थलों पर की है। इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि ये भी योग की आन्तरिक साधना के प्रति जागरूक थे। अन्तर इतना ही है कि ये मात्र योग के प्रशंसक न होकर भक्तियोग के अनुगामी है। इसीलिए इन्होंने 'भाव-प्रेम की पूजा होई जापरि किरपा जानै सोई' कहकर इसी सत्य को उद्घाटित किया है।

रज्जब में भी अष्टांग योग की कतिपय बातें मिल जाती है। पर वे विवेचन की परिगणन शैली से सर्वथा भिन्न हैं। तारतमिक दृष्टि से उसकी खोज करने पर भले ही निराशा हो, पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर उसकी विशेषताएँ इनमें प्राप्त हो जाती हैं। इन्होंने पिण्ड एवम् ब्रह्माण्ड पर विचार करते हुए स्थूल को सूक्ष्म में अन्तर्भुक्त होने की कतिपय अवस्थाओं का उल्लेख किया है। वे अवस्थाएँ निम्नांकित हैं[2] :—

क—ब्रह्मांड का पिंड में विलय।
ख—पिंड का मन में निमज्जन।
ग—मन का प्राण में लय।
घ—प्राण का आत्मा में प्रविलय।

यद्यपि ये सहज साधना के समर्थक हैं। फिर भी आन्तरिक चिन्तन को प्रश्रय देने के कारण इनमें इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना के द्वारा परम तत्व की प्राप्ति, अन्तर्मुखी साधना के द्वारा परमानंद की उपलब्धि, संयम, इन्द्रिय-निग्रह, ब्रह्मरन्ध्र एवम् शून्य सवधी रहस्य की कतिपय विशिष्टताएँ विद्यमान हैं।

ये कहते हैं :—

'अंतरि लांघे लोक सब, अंतरि औघट घाट।
अंतरजामी कूं मिले, जन रज्जब उर बाट।[3]

१—दादू ग्रन्थावली—भाग-२, पृ० १७२।
२—डा० ब्रजलाल वर्मा-सन्त कवि रज्जब संप्रदाय और साहित्य, पृ० १५४।
३—रज्जब बानी—मधिमार्ग निजस्थान का अंग,

इनका अभिमत है कि यदि साधक बाह्य प्रपंचों को त्यागकर इन्द्रियों की बहिर्मुखी गति को अन्तर्मुखी बनावे तथा मन एवम् इन्द्रिय जनित विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त करके मन को ब्रह्म मे लय कर दे तभी मोक्ष की प्राप्ति सभव है। ये भी 'दादू' की भाति भक्तियोग के प्रतिपादक हैं। अतएव योग को उसी सीमा तक मान्यता प्रदान करते हैं जिस सीमा तक वह उनकी भक्ति के लिये सहायक है।

सांख्ययोग

सांख्य के सन्दर्भ में विगत पृष्ठों मे यह भी विवेचित किया गया है कि सुन्दरदास वेदान्त से विशेष प्रभावित हैं। फिर भी उसके विषय में संक्षिप्त रूप में कतिपय तथ्यों का वर्णन आवश्यक है। ये सेश्वर साख्यवादी हैं। इनका कथन है कि आत्मतत्व शुद्ध और नित्य है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इसी से संलग्न हैं। इन पंच तत्वों के साथ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि भी मनुष्य की कर्मेन्द्रियों से संबद्ध हैं। मन, चित्त, बुद्धि एवम् अहं और अन्तःकरण के स्वरूप हैं। मन संकल्प-विकल्प प्रधान होता है, बुद्धि तर्क प्रधान। चित्त, चैतन्य रूप होता है और अहंकार अभिमान स्वरूप। इस प्रकार साख्य में २४ तत्वों की योजना है। परम तत्व इनसे सर्वथा पृथक् होता है। इसी की प्रेरणा से प्रकृति में स्पन्दन होता है और वह निरंतर विकासोन्मुखी है।

ज्ञानयोग

सुन्दरदास का ज्ञानयोग सम्बन्धी वर्णन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इनका कथन है कि कारण स्वरूप परमतत्व (आत्मतत्व) और कार्य स्वरूप ब्रह्मांड के ज्ञान द्वारा इसे जान सकते हैं। सत्य यह है कि आत्मा विश्व का मूल है। जिस प्रकार आकाश में बादल उठते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मतत्व से संसृति का विकास होता है और वह पुनः उसी में विलीन हो जाती है। अतः इन्होंने आत्मा को ही विश्व मान लिया है और इनके एकत्व को विशेष रूप से प्रतिपादित किया है। इनके विचार से ज्ञानयोग इसी तथ्य का उद्घाटन करता है।

ब्रह्मयोग

ब्रह्मयोग विचार निरपेक्ष होते हुए भी अनुभव सापेक्ष्य है। यह निष्काम व्यक्ति को हस्तामलकवत् प्राप्त हो जाता है। इसे प्राप्त होते ही भौतिक बंधन विनष्ट हो जाते हैं और आत्मा तथा परमात्मा में अद्वैत स्थापित हो जाता है। ऐसी अवस्था में योगी को 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति होने लगती है।[1]

अद्वैतयोग

जहाँ अहं तथा परत्व की भावना समाप्त हो जाती है तथा भौतिक प्रपंच निरोहित हो जाते हैं वहा अद्वैतयोग का प्रादुर्भाव होता है। इस अवस्था में व्यक्ति को

१—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ११२।

केवल, ब्रह्म की अनुभूति होती है और ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान तथा ध्याता, ध्येय, ध्यान का अन्तर मिट जाता है।

उक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि दादू सम्प्रदाय में सुन्दरदास ने योग की पूर्ववर्ती परम्परा का अनुशीलन करके उसका सांगोपांग विवेचन किया है। इनके निरूपण में हठयोग प्रदीपिका, सिद्धसिद्धांत पद्धति, घेरंड संहिता, षट्चक्रनिरूपण, अहिर्बुध्न्य सहिता, पातंजल योगदर्शन वासिष्ठ योग इत्यादि के योगपरक सिद्धान्तों को समाहित करने का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। आवश्यकतानुसार इन्होने अनुवाद तथा परिगणन शैली का अवलंबन ग्रहण किया है। जहां इनकी साधनात्मक अनुभूति योग की क्रियात्मक पद्धति से समन्वित होकर अभिव्यंजित हुई है वहा इन्होने कई दृष्टियो से पूर्ववर्ती परम्परा का परित्याग करके उसे अभिनव रूप देने का प्रयत्न किया है। रज्जब, दादू, गरीबदास आदि ने योग का इतना विशद विवेचन नहीं किया है। इन लोगो ने यथास्थान अपनी अनुभूति प्रगट करने के लिए योग के कतिपय शब्दों का प्रयोग किया है। वस्तुतः दादूसम्प्रदाय की पृष्ठभूमि साधनात्मक होने के साथ रागात्मिका वृत्ति की महनीयता से परिवेष्टित है। यही कारण है कि इस सम्प्रदाय के प्रमुख सन्तो ने योग की नीरस शब्दावली मात्र का प्रयोग न करके इसे भक्ति की सरलता से सिक्त करने का प्रयत्न किया है। अतएव इनकी साधना को भक्तियोग के नाम से अभिहित करना अधिक समीचीन है। जहां तक काया-शोधन का प्रश्न है, वहां इन संतों ने आवश्यकतानुसार योग के यम-नियम आदि का आश्रय ग्रहण किया है। परन्तु जहां 'एकमेक ह्वै मिलि रह्यौ' की स्थिति आयी है वहां इनकी साधना में भक्ति की अनुपम विशेषताएँ स्वयमेव सन्निविष्ट हो गई हैं।

दादू सम्प्रदाय की यौगिक शब्दावली

दादू सम्प्रदाय मे निरंजन, शून्य, गगन, खसम, भँवर गुहा, नाद-बिन्दु, सुरति-निरति, उन्मनी, अजपा-जाप आदि शब्दों का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। सूक्ष्मता-पूर्वक मनन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये शब्द योग की पूर्ववर्ती परम्परा के साथ ही तत्कालीन संत साहित्य में किसी न किसी रूप में विद्यमान थे। दादूसंप्रदाय के संतों ने इन शब्दो को पूर्वप्रचलित अर्थों में ग्रहण किया है।

निरंजन

व्युत्पत्ति की दृष्टि से यदि इस शब्द पर विचार किया जाय तो यह भलीभांति ज्ञात हो जाता है कि यह शब्द दो धातुओं निः + अंजन से बना है। निः का अर्थ 'नहीं' और अंजन का अर्थ 'माया' है। तात्पर्य यह कि यह शब्द मूल रूप से माया-राहित्य तथा आडम्बर शून्यता का परिचायक होने के कारण निर्गुण और निरुपाधि ब्रह्म का बोधक सिद्ध होता है। इसके लिए अनेक स्थानों पर प्रमाण मिलते हैं। हठयोग-प्रदीपिका[1],

---

१—सदानादानुसन्धानात् क्षीयन्ते पाप संचया।
निरंजने विलीयेते निश्चलं चित्त-मारुतौ॥ —हठयोग प्रदीपिका, ४।१०४।

शिवसंहिता[1], श्वेताश्वतर[2] नाथ योगपरक ग्रन्थों में इसका इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है। तात्पर्य यह है कि गुणरहित, रागद्वेष क्लेश आदि से मुक्त अव्यक्त तत्व को निरंजन की संज्ञा से विभूषित किया जाता है।[3] निरंजन शब्द का प्रयोग अव्यक्त सत्ता, कालपुरुष, पंथ विशेष के संस्थापक आदि के लिए किया गया है। कबीर ने इसका प्रयोग दो अर्थों में किया है। प्रथम अर्थ मे यह माया रहित सत्ता का परिचायक है द्वितीय में कालपुरुष का। दादू पंथ मे भी निरंजन शब्द का प्रयोग हुआ है। दादू वदना करते हुए कहते हैं 'दादू नमो निरंजनं नमस्कार गुरुदेवतः। वंदन सर्व साधवा प्रणामं पारंगतः॥[4]' इससे विदित होता है कि इस शब्द का प्रयोग ये गुणातीत अव्यक्त एवम् परात्पर ब्रह्म के लिए करते हैं। इन्होंने जहाँ भी निरंजन शब्द का प्रयोग किया है वहाँ यह इसी अर्थ का द्योतक है।[5] दादू ने रामनाम को निरंजन शब्द से अभिहित किया है और निरंजन को अष्ट सिद्धि एवम् नवनिधि का दाता तथा मायापति आदि विशेषणों से विभूषित किया है। इस बंदना मे रज्जब ने भी 'निरंजन' शब्द का प्रयोग किया है। ये 'अजन पलटि निरंजन होई। यह गति बूझै बिरला कोई॥[6]' के माध्यम से उसी निर्गुण सत्ता का निर्वचन करते हैं। इन्होंने इस मंत्र को गुरुमंत्र के रूप में ग्रहण किया है।[7] इससे यह विदित होता है कि दादूपथ मे निरजन को निर्मल, निष्कलुष तथा पापनाशक माना गया है। इनका अभिमत है कि माया सत्य जीव (अंजन में) ही परात्पर सत्ता व्याप्त है। जब साधक अपनी साधना के द्वारा पाप-समूह से मुक्त होकर उसका साक्षात्कार कर लेता है तो मुक्त हो जाता है।

शून्य

दादू पंथ मे इस शब्द का भी प्रयोग हुआ है किन्तु विचार करने पर यह तथ्य भलीभाति ज्ञात होता है कि पूर्ववर्ती साहित्य में इस शब्द का त्रिविध अर्थों में प्रयोग हुआ है। महाभारत में विष्णु के सहस्र नामों की चर्चा करते समय इसका भी उल्लेख

१—यावन्नोत्पद्यते ज्ञान साक्षात्कारे निरंजने।
तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यते विविधनि च॥ शिवसंहिता—२।४८
निखिलोपाधि हीनो वै यदा भवति पूरुष:।
तदा विवत्तते शखण्डज्ञानरूपी निरंजन:॥ वही।

२—निष्कलं निष्क्रियं शान्त निरवद्यं निरंजनम्:॥ श्वेताश्वतर ६।१६

३—निर्गतमने अंजनानि राग द्वेषादि क्लैषा अस्मिन्निति निरंजन.।
—दे० डा० रामखेलावन पाण्डेय-मध्यकालीन सन्त साहित्य, पृ० ५१४।

४—द्रष्टव्य-दादूदयाल की वानी-भाग १, पृ० १।

५—मन रे सेवि निरंजन राई, ताकौं सैवी रे चितलाई।

— — —

सुरनर मुनि जाको पार न पावै कोटि मुनी जन ध्याई।
—वही, भाग २, पृ० २२७।

६—रज्जब ग्रन्थावली, पृ० ६८।

७—रामनाम मूल मंत्र सत्य नाम निरजन। यथा धावै तथा पावै भजै मारि ये मंजन॥
रज्जब वानी सुमिरन को अंग साखी।

हुआ है। शंकराचार्य ने सभी प्रकार के विशेषणों से मुक्त होने के कारण विष्णु को शून्य शब्द की संज्ञा प्रदान की है। बौद्ध दर्शन में नागार्जुन ने इसकी विशिष्ट स्थिति की चर्चा करते हुए इसे परमार्थ सत्ता का बोधक माना है। सिद्ध और नाथ पंथ मे इसका प्रयोग परमार्थ सत्ता, चित्तशून्यता, जगशून्यता, ब्रह्मानुभूति जनित परमानद का वाचक आदि अर्थों में हुआ है। गोरखवानी में इस शब्द को ब्रह्मरन्ध्र का वाचक माना गया है। कबीर ने इस शब्द का प्रयोग ब्रह्मरन्ध्र तथा परमतत्व के अर्थ में किया है।[1] तात्पर्य यह कि इस शब्द का प्रयोग प्रायः सभी निर्गुण संतो ने अपनी-अपनी दृष्टि से किया है। दादूपंथ में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है। दादू का तो स्पष्ट कथन है कि :—

ब्रह्म सुंन तहं ब्रह्म है निरंजन निराकार।
नूर तेज जहं जोति है दादू देखन हार॥[2]

ये स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि ब्रह्म ही शून्य है। अतएव उसी से लय लगाने से समाधि-रस की उपलब्धि होती है एवम् जीवन परमानंद का उपभोग करता है। ब्रह्म के अतिरिक्त इन्होंने इस शब्द का प्रयोग अभाव और स्थान के लिए भी किया है। रज्जब में यह शब्द विशेष रूप से ब्रह्मरन्ध्र तथा ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है।[3] ये उसे अस्थिरता का द्योतक भी मानते हैं।[4] इनका मत है कि स्वामी (परात्पर ब्रह्म) शून्य में निवास करता है। वह ओंकार आभा स्वरूप तथा अविनाशी है।[5] वह आदि, मध्य एवम् अंत रहित है। इसी ब्रह्म की आराधना से साधक मुक्ति लाभ करता है।

सुंनि सरूपी साइयां रज्जब आभा माहिं।
प्रगट गुपुत सब दिसि फिऱ्या पार सु पावै नाहिं॥
इक साईं अरु सुंनि कै आदि अंति मधि नाहिं।
सोधन हारे सब थके जन रज्जब ता माहिं॥
प्रथम सुंनि को संग्रहै को सोधे ता माहिं।
को पावै वा वस्त कौ जो रज्जब है नाहिं॥
(रज्जब बानी, पृ० १३७)

ब्रह्मरन्ध्र के लिए शून्य का प्रयोग करते हुए वे कहते हैं :—

मन उनमन ले राखिए परम शून्य अस्थान।

१—(अ) सुन्नि मंडल में मंदला बाजै, तहां मेरा मन नाचै। कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११०
(ब) सुंनि मंडल में सोधि ले परम तत्व परकास। वही, पृ० १२७।
२—दादूदयाल की बानी, भाग १, पृ० ५८।
३—रज्जब साईं सुंनि संग कोई बिरला साध। सो सब में न्यारा अकल पूरन बुद्धि अगाध।
—रज्जब ग्रन्थावली, पृ० ७७।
४—सुंनि न चंचल होइ।—वही, पृ० ७७।
५—(अ) रज्जब साईं सुंनि में आभा वो ओंकार।—रज्जब बानी, पृ० ११०।
(ब) आदि नरायन सुंनि सम लिपै छिपै सो नाहिं।—वही, पृ० ११०।

वे शून्य को अगम्य मानते हैं। साधक प्रयत्न करते हुए थक जाता है पर उसका पार न पाने के कारण हार मान लेता है।

गगन

निर्वाण मजरी में गगन[१] शब्द का प्रयोग ब्रह्म के पर्याय रूप में किया गया है। यहाँ इसके लिये 'यदाकाशवत्' 'शान्तरूपं' 'ज्योतिनिराकार' 'शून्य वरेण्य' आदि विशेषण प्रयुक्त हैं। यही परम्परा सिद्धमत में भी ग्राह्य हुई है। 'नाथ' साहित्य मे 'गगन' आकाश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, पर यह अपने व्यापक अर्थ मे ब्रह्मरन्ध्र और निर्गुण शिव का वाचक भी माना गया है।[२] गोरखबानी में 'गगन शिखर' और 'गगन मण्डल' का प्रयोग एकाधिक बार मिलता है। सन्त कबीर[३], धर्मदास[४], दरिया साहब[५] आदि ने भी इस शब्द को परम्परित अर्थ में ही ग्रहण किया है। दादू पंथ में यह शब्द अपने पूर्ववर्ती अर्थों का द्योतक है। उदाहरण के लिये निम्नांकित स्थल उद्धृत किये जाते हैं :—

आकाश के अर्थ में

अवधू बोलि निरजन बाणी, तहँ एकै अनहद जाणी।
तहँ बसुधा का बल नाहीं, तहँ गगन घाम नहिं छाँहीं[६]॥

अथवा—धरनि अकास ताहि थै ऊपरि, तहाँ जाइ रत होई।[७]

ब्रह्मरन्ध्र के अर्थ मे

मूनै येह अचम्भौ छाये।
कीडी ये हस्ती विडार्‍यो, तेन्हैं बैठी खाये।
जाण हुतौ ते बैठो हारे, अजाण तेन्हैं ता वाहे
पांगुलो उजावा लाग्यौ, तेन्हैं कर को साहै।
नान्हौ हुतौ तो मोटो थयौ, गगन मँडल नहिं मायें[८]।

अथवा— गहि विन्द गगन दिशि जाता, भखि पवन पियाला माता।[९]

१—यदाकाशवत्सवर्गं शान्तरूपय परं ज्योतिनिराकारशून्य वरेण्यम्।
यदाधन्त शून्यं पर शकराख्य यदन्तर्निभाव्य तदेवाहमस्मि।—निर्वाणमजरी, श्लो० १२।

२—निर्गुण च शिव शान्त गमने विश्वतोमुखम्।
भ्रमध्ये दृष्टिमादाय ध्यात्वा ब्रह्म भयो भवेत।
निर्मलं गगनाकार मरीचि जल सन्निभम्।
आत्मान सर्वंग ध्यात्वा योगमवाप्नुयात।—योग मार्तण्ड-श्लो० १६७-६८।

३—जरामरण व्यापै कुछ नाहीं, गंग मण्डल लै लागी।—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६६।

४—गगन जोति गरजे असमाना, देखो दृष्टि धुजा फहराना। —धर्मदास की शब्दावली, पृ० १८।

५—गगनमण्डल विच भयो है बास-दरिया साहब की शब्दावली, पृ० २३।

६—दादूबानी-भाग दो, पृ० ८४।

७—वही, पृ० ८४।

८—वही, पृ० ८५।

९—सुन्दर ग्रन्थावली-भाग २, ८८७।

ब्रह्म के अर्थ में

सुन्दरदास तास कौ बन्दै, सून्य सुधारस पागे हो[1] ।

भंवर गुहा—दशम द्वार

निर्गुण साहित्य में जहां केवल 'गुफा' का प्रयोग हुआ है वहां यह शब्द बुद्धि या हृदय का पर्याय है, पर जहां 'भंवर गुफा' का प्रयोग हुआ है वहां यह ब्रह्मरन्ध्र का वाचक है। कबीर ने स्पष्ट रूप से इस ब्रह्म का उल्लेख किया है कि 'साधक जबतक भंवर-गुफा का ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता, तबतक उसका मन स्थिर नही होता[2]।' 'सुन्दरदास' ने ब्रह्मरन्ध्र के लिये 'दशम द्वार' का प्रयोग किया है[3]। यथास्थान 'शून्य सरोवर' भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[4]। दादू ने भंवर गुफा के रहस्य का वर्णन करते हुये लिखा है कि—

'मन पवना ले उनमन रहै, अगम निगम मूल सो लहै।
पंच बाइ जे सहजि समावै, ससिहर के घर आणै सूर।
सीतल सदा मिलै सुखदाई, अनहद सबद बजावै तूर।
बंक नालि सदा रस पीवे, तब यह मनुवाँ कहीं न जाइ।
बिगसै कँवल प्रेम जब उपजै, ब्रह्म जीव की करै सहाइ।
बैसि गुफा में ज्योति बिचारै, तब तेहि सूझै त्रिभुवन राइ।
अन्तरि आप मिलै अबिनासी, पद आनन्द काल नहिं खाइ।
जामण मरण जाइ भव भाजै, अबरण के घरि बरण समाइ।
दादू जाई मिले जगजीवन, तब यहु आवागवन बिलाइ[5]।

स्पष्ट है कि भंवर गुफा (सहस्रार) के रहस्य से अवगत हो जाने के पश्चात् योगी जरा-मरण, और आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में अंजन और निरंजन में अद्वैत स्थापित हो जाता है, शक्ति और शिव एकमेक हो जाते हैं और

१—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २ पृ० ८९१।

२—जब लगि भंवरगुफा नहिं जानै।
तौ मेरा मन कैसे मानै।—कबीर ग्रन्थावली।

३—नौ दरवाजे साजि कैं दसवैं कपाट लगाया।
—सुन्दर ग्रन्थावली-भाग २, पृ० ९२६।

४—अलप निरजन धीरा कोई जानै बीरा।
कृत्तम का सब नाश है अजर अमर हरि हीरा।
सुंन्नि सरोवर भरि रह्या तहां आपे निरमल नीरा।
वार पार दीसै नहीं कहुं नाहीं तट न तीरा।
—वही, पृ० ९२७।

५—दादू दयालकी बानी-भाग दो, पृ० १५६।

साधक अनन्त रूप से निःसरित होने वाले अमृत का पान करने लगता है। इसी अवस्था की विलक्षण अनुभूति का दिग्दर्शन कराते हुये दादू कहते हैं—

भागे सब काल झाल, छूटे सब जग जंजाल।
बिसरे सब हाल चाल, हरि की सुधि पाई।
प्रान पवन जहा जाइ, अगम निगम मिले आइ।
प्रेममगन रहे समाइ, बिलसै वपु नाही।
परम नूर परम तेज परम पुज, परम सेज।
परम जाति परम हेज, सुन्दरि सुख पावै।
परम पुरिष परम रास, परम काल सुख विलास
परम मंगल दादू दास, पीव सूं मिलि खेलै[1]।

नाद-विन्दु

नाद-बिन्दु योग के बहुचर्चित विषय हैं। वस्तुतः नादानुसन्धान और बिन्दु-साधना लय योग के साधनों में प्रमुख हैं। नाद सूक्ष्म-तत्व का क्रियमाण स्वरूप है जो क्रमशः स्थूल रूप में परिणित होता हुआ सृष्टि का कारण होता है। मूल ऊकार के अभिव्यक्त रूप नाद ही के स्थूल तत्व में परिणत हो जाने पर सृष्टि का कार्य प्रारम्भ होता है। यह नाद मानव शरीर के भीतर भी व्यष्टि रूप मे वर्तमान है और साधक पूर्णत्व प्राप्त करने पर इसका अनुभव करता है[2]।

'हठयोग प्रदीपिका' में नादानुसन्धान का उल्लेख हुआ है। इस ग्रन्थ में 'नाद' की चार अवस्थाओं[3] का वर्णन और अवस्था विशेष में सुनाई पड़ने वाले वाद्यों का निरूपण किया गया है।[4] यहा इस तथ्य पर विशेष बल दिया गया है कि नादानुसन्धान-रत योगी चित्त की चंचलता के साथ ही अन्यान्य विक्षेपों को जीत कर आत्मानन्दरूप सुख की उपलब्धि करता है[5]। नादबिन्दूपनिषद् में वर्णन आया है कि आन्तरिक नाद-श्रवण की अवस्था में बाह्य ध्वनियां निलम्बित रहती हैं। साधक को आरम्भावस्था में विविध प्रकार के जोरदार नाद सुनाई देते हैं, पर साधना की प्रगति के साथ ये सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते जाते हैं। नादानुसन्धान रत साधक विषययुक्त होता है, और उसका बिन्दु स्थिर होता है। बिन्दु के स्थिर हो जाने से प्राण स्वयमेव स्थिर हो जाता है। योग में कुण्डलिनी शक्ति का विशिष्ट महत्व प्रतिपादित है ऐसा माना जाता है कि जब कुडलिनी साधना के द्वारा उद्बुद्ध होकर ऊपर की ओर प्रस्थान करती है तो उसमें स्फोट होता है।

१—दादूदयाल की बानी—भाग २,

२—डा० हरस्वरूप माथुर—भारतीय साधना और सन्त तुलसी—पृ० ४७६।

३—आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च।
निष्पत्तिः सर्व योगेषु स्यादवस्था चतुष्टयम्।—हठयोग प्रदीपिका, ४।६९।

४—द्रष्टव्य, वही, ४।७०-८२।

५—वही, ४।८२।

इसी स्फोट को नाद की संज्ञा दी जाती है।[1] नाद से प्रकाश होता है और प्रकाश ही व्यक्त रूप महाबिन्दु है। यह बिन्दु तीन प्रकार का होता है—इच्छा, ज्ञान, क्रिया। पारिभाषिक शैली में योगी लोग इन्हीं को सूर्य, चन्द्र और अग्नि कहते हैं और कभी ब्रह्मा, विष्णु और शिव की संज्ञा प्रदान करते हैं। यह नाद और बिन्दु वस्तुत. निखिल विश्व में व्याप्त अनाहत नाद का व्यष्टि में व्यक्त रूप है। अर्थात् विश्व में व्याप्त अनाहत नाद व्यक्ति में नाद और बिन्दु बन जाता है।[2]

दादूपंथ में नाद और विन्दु शब्द पर पर्याप्त विचार हुआ है। इस शब्द को यथास्थान उपदेश का पर्याय भी माना गया है।[3] रज्जब स्पष्ट रूप से इसका गुणगान करते हुए कहते हैं—

'सबद होइ सब सृष्टि, सबद सबही घट मांही
सबद रूप गुरुदेव सुरति सिष बाहरि नाहीं।
सबदै वेद कुरान सबद सब सबद पढ़ावै।
स्यो सकती का भेद सबद सब दई सु बतावै।
प्रगट सबद संजोग लग पुनि बिजोगि गुपता रहै।
रज्जब कहिये कौन सों सबद भेद बिरला लहै।[4]'

इन सन्तों द्वारा नादानुसन्धान का विश्लेषण अपने स्वरूप मे स्वानुभूतिपरक होने के साथ ही रहस्याभिव्यंजक है। यह प्रमुख रूप से साधकों की काया-साधना अथवा आन्तरिक साधना से संबंधित है। इसीलिये सुन्दरदास कहते हैं :—

'साधो साधन तन कौ कीजै।
मन पवनां पंचौ बस राषै, सून्य सुधारस पीजै।
चन्द सूर दोउ उलटि अपूठा, सुषमनि के पर लीजै।
नाद विन्द जब गांठि परे तब, काया नेकु न छीजै।

१—सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रा संधाय वैपणिम्।
श्रुणुयादक्षिणे कर्णे, नादमन्तर्गतं सदा।
आयस्यमानो नादोऽयं, वाह्य माश्रृणुते ध्वनिम्।
श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
वर्धमाने तथाभ्यासे, श्रुयते सूक्ष्म सूक्ष्मतः।—नादविन्दूपनिषद्, १-२।

२—कबीर-हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४६।

३—(अ) आतम आरतवन्त है सतगुरु शब्द सुनाय।
रज्जब रुचि के राचणों, फल माहें रहिजाय।
—रज्जब बानी-गुरुदेव का अंग—साखी, १३६

(ब) आया था इक आया था, जिनि दरशन प्रगट दिखाया था।
श्रवण हू शब्द सुनाया था, तिन सत्य स्वरूप बताया था।
—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग दो, ८७०।

(स) सबद सदेसा ना लहत, साधन गुन जो जीव।
—रज्जब बानी—पृ० ७२।

४—वही, पृ० ५०३।

तात्पर्य यह कि नादानुसन्धान और बिन्दुसाधना की संप्राप्ति के पश्चात् शरीरपुष्ट रहता है और वह क्षीण नहीं होता। इसीलिये योगी बार-बार 'गहि बिन्द गगन दिशि जाता[1]' का उपदेश दिया करता है और वह यह कहते नहीं थकता कि "नादबिन्द सो घट भरे, सो जोगी जीवै[2]।"

अनाहत नाद

कुण्डलिनी जब उद्‌बुद्ध होकर षट्-चक्र का वेधन करती है तो प्राण स्थिर हो जाते हैं और साधक को इस आन्तरिक साधना में विशिष्ट प्रकार का नाद सुनाई पड़ता है। इसे योग में अनाहत नाद की संज्ञा प्रदान की गई है। यह शब्द ब्रह्म का अन्तर्गत रूप माना जाता है। इसके ३६ भेदों का उल्लेख मिलता है। इनमें दस अपेक्षाकृत स्थूल हैं और कान से सुनाई पड़ते हैं पर शेष २६ अत्यन्त सूक्ष्म हैं और अनुभव द्वारा जाने जाते हैं। दस प्रकार के अनाहत नाद को सारंगी और छब्बीस स्वर वाले को वीणा कहते हैं[3]।

दादूपंथ में अनाहत नाद का अत्यधिक उल्लेख है। 'सुन्दरदास' ने अन्तःकरण में अनाहत के ध्वनित होने और कमल के प्रफुल्लित होने की चर्चा की है। अनाहत की विशिष्टता का वर्णन करते हुये दादू कहते हैं :—

अवधू बोलि निरंजन बाणी तहँ एकै अनहद जाणी।
तहँ बसुधा का बल नाहीं, तहँ गगन घाम नहिं छाँही।
तहँ चन्द सूर नहिं जाई, तहँ काल काया नहिं भाई।
तहँ रैणि दिवस नहिं छाया, तहँ बाव बरण नहिं माया।
तहँ उदय अस्त नहिं होई, तहँ मरै न जीवै कोई।
तहँ नाहीं पाठ पुराना, तहँ अगम निगम नहिं जाना।
तहँ विद्या बाद नहिं ग्याना, नहिं तहाँ जोग अरु ध्याना।
तहँ निराकार निज ऐसा, तहँ जान्या जाइ न तैसा।
तहँ सब गुण रहिता गहिये, तहँ दादू अनहद कहिये।[4]

सुरति-निरति

सुरति-निरति की चर्चा निर्गुण साहित्य में अत्यधिक हुई है, पर इनके अर्थ की दृष्टि से विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। डा० सम्पूर्णानन्द ने सुरति को स्रोत का अपभ्रंश

१—सुन्दर ग्रन्थावली-भाग दो, पृ० ८८७।
२—डा० राम खेलावन पाण्डेय—मध्यकालीन सन्त साहित्य, पृ० ५०१।
३—(अ) अनहद बाजा बाजही, अन्तःकरण मंझारो।
कंवल प्रफुल्लित होत हैं, लागे रंग अपारो।
—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग २, पृ० ११३।
(ब) अनहद शब्द झंझ डफ बाजे, ताल, मृदंग, उपंग।—वही, पृ० १०१।
४—दादूदयाल की बानी-भाग, २. पृ० ८४।

मानते हुए इसे चित्तवृत्ति का प्रवाह कहा है।[1] डा० बड़थ्वाल ने इसका अर्थ स्मृति माना है[2] और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे अन्तर्मुखी प्रवृत्ति मानते हैं।[3] पूर्ववर्ती परम्परा पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धमत[4] में सुरति का प्रयोग प्रेम-क्रीड़ा के अर्थ में हुआ है और 'नाथमत' मे शब्द नाद को ब्रह्म, सुरति को शब्दोन्मुख चित्त एवं निरति को ब्रह्म के साक्षात्कार के पश्चात् शब्दोन्मुख चित्त की शब्द 'निरावलम्ब स्थिति' के नाम से अभिहित किया गया है। यहाँ सुरति का सम्बन्ध शब्दोन्मुख चित्त और निरति का सम्बन्ध-शब्द ब्रह्म के रस में लीन निरावलम्ब स्थिति से है। इस सन्दर्भ में हम सुरति को शब्द-ब्रह्म में लीन करने वाली ध्यान वृत्ति और निरति को सुरति से प्राप्त निरति अथवा निवृत्ति की अवस्था भी मान सकते हैं।[5] इस विवेचन से ज्ञात होता है कि सुरति में ध्यान-वृत्ति के वैशिष्ट्य की उपस्थिति के कारण आध्यात्मिक-प्रवृत्ति की प्रबलता होती है और निरति में ध्येय की उपलब्धि के कारण निर्विशेष सहज अनुरक्ति पाई जाती है। सम्भवत: इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए संत कबीर ने लिखा है—

सुरति समाणी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्वयंभु दुवार[6]।

'दादूपंथ' के सन्तों ने भी सुरति निरति का प्रयोग किया है। 'दादू' सुरति को आध्यात्मिक प्रवृत्ति मानते हैं और इसे सहज ध्यान का पर्याय घोषित करते हैं। उनका कथन है—

'मन ये अगम, दृष्टि अगोचर, मनसा की गमि नाही,
सुरति समाई, बुद्धि बल थाके, बचन बचन न पहुंचे ताही[7]।

ये मानते हैं कि 'सुरति' से पंचेन्द्रियाँ[8] शान्त हो जाती हैं और साधक 'उन्मनी' अवस्था को प्राप्त कर लेता है। दादूपंथी रज्जब ने सुरति का प्रयोग दादू और कबीर की अर्थ-संगति में किया है।[9] उनके अनुसार 'सुरति' ध्यान है, पर यह ध्यान सांसारिक ध्यान

१—विद्यापीठ त्रैमासिक पत्रिका, भाग दो, पृ० १३५।
२—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय-पृ० ४१८-१९।
३—कबीर, पृ० २४४।
४—अहिणिसि सुरअ-प्रसंगे जाअ, जोइणि जाले रआणि पोहा अ।
—हिन्दी काव्यधारा, पृ० १५८ से उद्धृत।
५—अवधू सबद अनाहत सुरति सो चित्त।
निरति निरालम्भ लागौ बन्ध
दुविधा मेटि सहजै में रहै, ऐसा विचार मछिन्द्र कहै। गोरखबानी, पृ० १९६।
६—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४।
७—दादू बानी-पृ० १६७।
८—दादू एक सुरति सौं सब रहै, पंचौ उनमनि लाग।
यह अनभै उपदेस यहु, यहु परम जोग बैराग।—दादूबानी—लै को अंग।
९—सुरति समावै पिण्ड में, पीछे मन में जाय।
आतम अन्तरि ह्वै रमै, आगे मिले खुदाय।—रज्जब बानी, मध्यमार्ग निवास स्थान निर्णय का अंग—साखी २४।

से भिन्न है। 'नयनों निरति स्वरूप, सुरति श्रवणो अस्थानी' के अनुसार नेत्र ब्रह्म स्वरूप के साक्षात्कार में रत रहते हैं, पर श्रवण सुरति-सुख (ब्रह्मनाद सुख) का आस्वादन करते हैं। यह सहज समाधि की अवस्था होती है। उनका अभिमत है कि 'सुरति' 'पिण्ड' की आभ्यन्तरिक सत्ता को प्रभावित करती है, इससे मन के क्रिया-कलापों पर एक अंकुश लग जाता है और व्यक्ति आत्मस्थ होकर ब्रह्मसत्ता जनित आनन्द का उपभोग करने लगता है। इस अवस्था का वर्णन 'दादू' ने विशेष सतर्कता के साथ किया है। उनका कहना है—

संतो राम-बाण मोहिं लागे।
मारत मिरग मरम तब पायो, सब संगी मिलि जागे।
चित्त चेतनि च्यन्तामणि चीन्हे, उलटि अपूठा आया।
मन्दिर पैसि बहुर नहिं निकसै परम तत्त घर पाया।
आवै न जाइ, जाइ नहिं आवै, तिहि रसि मनवाँ माता।
पान करत परमानँद पायो, थकित भयो चलि जाता।
भयो अपंग पंक नहिं लागै, निरमल संगि सहाई।
पूरण ब्रह्म अखिल अबिनासी तिहि तजि अनत न जाई।
सो सर लागि प्रेम परकासा, प्रगटी प्रीतम बाणी।
'दादू' दीन दयालहि जाणैं, सुख में सुरति समाणी।[1]

उन्मनी

हठयोग प्रदीपिका में 'उन्मनी' अवस्था का वर्णन है। इसका आशय यह है कि नेत्रों की कनीनिका रूप तारों को ज्योति में अर्थात् तारों का नासिका के अग्रभाग में संयोग करने से प्रकाशमान् तेज में संयुक्त करके भृकुटियों को किंचित् ऊपर करके अन्तःलक्ष्य बहिःदृष्टि रूपयोग ही क्षणमात्र में उन्मनी अवस्था उत्पन्न कर देता है। इसी अवस्था को उन्मनी मुद्रा भी कहते हैं[2]। सन्त साहित्य में यह शब्द निम्नांकित अर्थों में[3] प्रयुक्त हुआ है—

(१) सन्तमत में पाँच अवस्थाओं में सर्वश्रेष्ठ अवस्था (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय के अतिरिक्त 'उन्मनी' अवस्था।
(२) योग की एक मुद्रा : जिसमें मन बाह्य-वृत्तियों का त्याग करके अन्तर्मुखी हो जाता है।
(३) एक प्रकार का ध्यान।

१—दादूदयाल की बानी भाग २, पृ० ८२।
२—तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ।
पूर्वयोगं मनो युञ्जन्नुन्मनीकारकः क्षणात्।
—हठयोग प्रदीपिका—४।३६।
३—डा० [illegible] साहित्य, पृ० ५[illegible]।

(४) मन की वृत्ति।

(५) अपनी चंचलता खोकर मन का स्थिर हो जाना उन्मनावस्था है। यह योग की मुद्रा से भिन्न मन की अवस्था है। इस अवस्था में मन इस तत्व से विच्छिन्न होकर परमतत्व की सम्बद्धता प्राप्त कर लेता है। 'दादूपंथ' में इस शब्द का यथास्थान प्रयोग हुआ है। इन सन्तों ने इसको पूर्व-प्रचलित अर्थों की संगति में प्रयुक्त किया है। 'दादू' इसकी महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि साधक का मन जहां उन्मनी में लग जाय वही स्थान और साधना की दृष्टि से उपयुक्त है।[1]

'सुन्दरदास' ने इस शब्द की विशद व्याख्या की है। उनका कहना है कि ऐसा गुरु करना चाहिए जो कर्त्तव्यपरायण हो और ऐसे स्थान पर उन्मनी को सिद्ध कर चुका हो, जहां चन्द्र और सूर्य नहीं हैं। वह अपनी इन्द्रियो को वश में कर चुका हो और सांसारिकता के परित्याग द्वारा उसका चित्त स्थिर हो गया हो।[2] यह अवस्था सिद्ध होने पर निम्नांकित स्थिति का उत्पन्न होना स्वाभाविक है :—

कोई पिवै राम रस प्यासा रे।
गगन मण्डल में अंमृत सरवै, उनमनि कै घर बासा रे।[3]

उन्मनी अवस्था में व्यक्ति को परात्पर सत्ता का साक्षात्कार हो जाता है और वह छक कर राम-रसायन पीने लगता है। वह जरा-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इसका उल्लेख करते हुए 'सुन्दरदास' कहते हैं :—

'सीस उतारि धरै धरती पर करै न तन की आसा रे।
ऐसा महिंगा अमी बिकावै छह रिति बारह मासा रे।
मोल करै सो छकै दूर तैं तोलत छूटै बासा रे।
जो पीवै सों जुग-जुग जीवै कबहुं न होइ बिनासा रे।[4]

सुन्दरदास ने आभ्यन्तरिक साधना के सन्दर्भ में भी 'उन्मनी' का उल्लेख किया है। वे तो स्पष्ट कहते हैं :—

'ऐसो योग युगति जब होई।
तब काल न व्यापै कोई।

१—ना घर भला न वन भला, जहाँ नहीं निज नांव।
'दादू' उन्मनि मन रहै, भला त सोई ठांव।

२—ऐसा सतगुरु कीजिये करनी का पूरा। उन्मनि ध्यान तहाँ धरै जहाँ चन्द न सूरा।
तन मन इन्द्री वसि करै फिरि उलटि समावै। कनक कामिनी देपि कै कहुंचित्त न चलावै॥
—सुन्दर ग्रन्थावली-भाग दो—पृ० ८६३।

३—सुन्दर ग्रन्थावली-भाग दो, पृ० ८७३।

४—वही, पृ० ८७३।

धरि आसन पद्म रहन्ता, सब काया कर्म दहन्ता।
तजि निद्रा खण्डि अहारा, करि आपुहिं आप विचारा।
गहिं बिन्द गगन दिशि जाता, भषि पवन पियाला माता।
सुनि अनहद सींगी बाजै, धुनि मांहि निरंजन गाजै।
सो अवधू गुरु का पूरा, जिनि एक किया ससि सूरा।
अभिअंतरि जोति जगावै तहां उन्मनि ताली लावै।
यह गंग जमुन बिच्चि पेला, तहां परम पुरुष का मेला।
गुरु दादू दिया दिषाई, तहां सुन्दर रह्या समाई।[1]

सन्त 'रज्जब' आन्तरिक साधना को महत्व प्रदान करते थे। उनकी कृतियों में भी उन्मनी अवस्था में समस्त क्लेशों के निरसन की चर्चा आई है।[2] उनका यह मत है कि विवेकपूर्वक चित्त की समस्त वृत्तियों को परात्पर सत्ता में लगा देने से साधक उस शून्य मार्ग से अवगत हो जाता है और उसमें उन्मनी अवस्था का प्रादुर्भाव होता है।

अजपा जाप

सगुण भक्तों ने नवधा भक्ति का उल्लेख करते हुए जप की महत्ता प्रतिपादित की है। उनका आलम्बन अथवा उपास्य साकार अथवा सविशेष देव विग्रह है। वे उसी के नामरूप की साधना में तल्लीन रहते हैं, पर निर्गुणोपासक आरम्भ में नामजप का भले ही उल्लेख करते हों, पर अन्त में वे उस निरवयव एवं निर्विशेष ज्योति का चमत्कारपूर्ण वर्णन करते हैं जो सगुण साधना से सर्वथा भिन्न है। निर्गुण उपासक जब अपनी उपासना के चरमोत्कर्ष पर पहुँचते हैं तो प्रार्थना के बाह्य साधन निलम्बित हो जाते हैं और जप की एक स्वतः स्फुरित प्रक्रिया का आविर्भाव होता है। यह स्वरूप साधक की आन्तरिक साधना-प्रक्रिया से संबंधित होता है। अतएव इसके लिये किसी बाह्य उपचार की आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसी अवस्था में आत्मा स्वयं स्पन्दित हो उठती है और इसका परमात्म-तत्व के साथ अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस दशा में परात्पर सत्ता के प्रति साधक की अनन्य आसक्ति होती है। उसके रोम-रोम से एक ही ध्वनि निकलती है और वह ध्वनि निरन्तर चलने वाली ध्यान-साधना से संबंधित होती है।

तांत्रिकों ने इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है कि मनुष्य दिन भर में २१६०० बार श्वास लेता है। जब श्वास अन्दर जाती है तो 'हकार' की ध्वनि होती है और जब बाहर आती है तो 'सकार' की। इस श्वास के अन्तर्गमन और बहिर्गमन से 'हंस' शब्द बनता है। इसी बात का उल्लेख ध्यान बिन्दूपनिषद् में इस प्रकार हुआ है।

१—वही, पृ० ८८७।
२—रज्जब [illegible] लिन्हा देह उनमनि रहै।
रज्जब के कवित्त, उपदेश का अंग, पद ७।

षट्-चक्र

चक्रो के विशद विवेचन की दृष्टि से 'षट्चक्र निरूपण' का विशेष महत्व है। सन्त-साहित्य में इसकी चर्चा यथास्थान मिल जाती है। पर द्रष्टव्य यह है कि इनकी संख्या के विषय मे इनमें एकता नहीं है। पूर्ववर्त्ती सन्त तो इनकी संख्या छः ही मानते हैं, पर परवर्ती सन्तो के मत से इसमें सतत वृद्धि होती गई है। षट्चक्रों का पूर्ण वर्णन निम्नांकित विवेचन द्वारा स्पष्टता से ज्ञात हो जाता है[1]—

चक्र	स्थान	वर्ण	देवता	पत्र संख्या
१—मूलाधार	गुदा	रक्त	गणेश	चार
२—स्वाधिष्ठान	लिंग	पीत	ब्रह्मा	छः
३—मणिपूर	नाभि	नील	विष्णु	दश
४—अनाहत	हृदय	श्वेत	गुरु	बारह
५ - विशुद्ध	कण्ठ	धूम	जीव	षोड़श
६—आज्ञा	भूमध्य	पीत	अग्नि	दो

कतिपय सतो ने षट् चक्रो के अतिरिक्त ब्रह्मरन्ध्र को सप्तम चक्र माना है। इसके अतिरिक्त अष्ट, दस और द्वादश चक्रो का उल्लेख भी मिलता है। दादूपंथी 'सुन्दरदास' ने उक्त तथ्यो का उल्लेख करते हुए लिखा है—

> बहुदल षटदल दशदल षोजै, द्वादश दल तहां अनहद भौंना।
> षोड़ष दल अंमृतरस पीवै, ऊपरि द्वै दल करै चतौना।
> चढ़ि आकास अमर पद पावै, ताकौं काल कदै नहिं षौना।
> सुन्दरदास कहै सुनु अवधू, महा कठिन यह पंथ अलौना।[2]

दादूपंथी योग-एक विवेचन

'दादूपंथ' मे योग का विवेचन कई दृष्टियों से किया गया है। 'सन्त सुन्दरदास' आदि ने जो विवेचन किया है वह वस्तुतः उनके पाण्डित्य का ज्वलन्त प्रमाण है। ऐसा ज्ञात होता है कि विषय विवेचन के पूर्व उन्होंने योग के सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन किया था और उसी को सामान्य हेरफेर के साथ प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से इनका यह विवेचन प्राचीन ग्रन्थों का उद्धरण मात्र हो जाता है। 'सन्त दादू' रज्जब आदि ने साधना का व्यवस्थित विवेचन न करके यथास्थान उसके अंशमात्र का उल्लेख कर दिया है। इनका यह विवेचन भी पूर्ववर्ती परम्परा की अर्थ-संगति में ही प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि योग-साधना की दृष्टि से उनकी कोई मौलिक देन नहीं है। फिर भी पूर्ववर्ती परम्परा जहां उनकी स्वानुभूति के स्वारस्य से विभूषित होकर प्रकट हुई है, वहां उसमें चार चांद लग गया है।

१—डा० रामखेलावन पाण्डेय-मध्यकालीन सन्तसाहित्य, पृ० ५१२।

२—सुन्दर ग्रन्थावली-भाग दो, पृ० ८६२।

: ५ : सामाजिक एवं आचारगत विचार

भारतीय धरित्री वीर प्रसविनी होने के साथ ही, धर्म, नीति और आदर्श की अधिष्ठात्री भी रही है। इसी विशिष्टता को दृष्टि में रखकर इसकी प्रशस्ति में कहा गया है 'गायन्ति देवा किल गीतकानि, धन्येस्तु तव भारत भूमि भागे'। यह प्रश्न उठता है कि इस देव-अर्चित एवं प्रशंसित भूखण्ड की महत्ता का रहस्य क्या है ? इसके उत्तर स्वरूप यही कहा जा सकता है कि यहाँ का दर्शन, संस्कृति, सामाजिक परम्परा एवं आध्यात्मिक अनुचिन्तन ही इस सप्राणता का मेरुदण्ड है। इस देश की सबसे बड़ी विशेषता इसके आर्थिक, पारमार्थिक, भौतिक, आध्यात्मिक एवं लौकिक तथा पारलौकिक सम्बन्धों में रही है। इसकी सामाजिक एवं नैतिक व्यवस्था पृथ्वी की स्वर्गीय कल्पनाओं के साथ ही स्वर्ग की मानवीय इच्छाओं से रंजित है। यही अभिनव सम्बन्ध यहाँ के चिंतन को सप्राण, सशक्त और स्थायी बनाये रखने में सक्षम रहा है। धर्म, नैतिकता एवं परम्परित आचारों में रूढ़िवादिता के कारण, इस देश की चिन्ताधारा में परिवर्तन के स्वरूप उपस्थित हुए, पर यथा समय इसको सबल मस्तिष्क का सहारा प्राप्त हुआ और यह विनाश के गर्त में जाने के बजाय नवनिर्माण के अभिनव स्वरूपों की ओर प्रवाहित हो उठी। काल-प्रवाह में इसका धूमिल होना आवश्यक था पर इसके ही गर्भ से उत्पन्न मनीषियों ने इसका संवर्धन और परिवर्धन किया परिणाम स्वरूप यह अविकृत और विशुद्ध बनी रही।

दादूपंथ के सामाजिक एवं आचारगत विचार

दादूपंथ की सामाजिक चिन्तनधारा पूर्ववर्ती सन्तों से विशेष रूप से प्रभावित थी। सन्त-साहित्य का अभ्युदय समाज की एक निश्चित आवश्यकता की पूर्ति के लिये हुआ था। इसके परिणाम स्वरूप इसमें प्रायः उन प्रगतिशील विचारधाराओं का समावेश भी हुआ जो तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने मे पूर्ण सफल हुई।

सामाजिक विचार

दादूपंथ में सन्त साहित्य की तरह दो प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। एक प्रवृत्ति तो साधनाजन्य चरम आनन्द को श्रद्धा और उल्लास से व्यक्त करने वाली है और दूसरी खण्डनात्मक है जिसमें तत्कालीन समाज में प्रचलित नाना प्रकार की रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों, और बाह्याचारों का विरोध व्यक्त हुआ है। खण्डनात्मक रचनाओं में भी दो प्रकार की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। एक केवल खण्डन की और दूसरी निषेध की।

खण्डन की प्रवृत्ति मूलतः समाज में वर्तमान धार्मिक या सामाजिक रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और मान्यताओं के विरोध में है। निषेधमूलक प्रवृत्ति आचरण और कर्तव्य सम्बन्धी है जिसमें सन्त कवियो ने कुछ विशेष प्रकार की क्रियाओ का वर्णन किया है।[1] खण्डन की प्रवृत्ति के अन्तर्गत जातिवाद, मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा और बाह्य कर्मकाण्डो की व्यर्थता पर विशेष रूप से बल दिया गया है।

जातिवाद का खण्डन

सन्त साहित्य के उद्‌भव-काल तक भारतवर्ष में जातियों का बाहुल्य हो गया था। प्राचीन वर्ण-व्यवस्था और चातुराश्रम्य के सिद्धान्त आँखो से ओझल हो चुके थे। इसके परिणाम स्वरूप इस क्षेत्र में अन्धविश्वासपूर्ण वितण्डावाद का बोलबाला था। यवनो के आक्रमण और उनके अत्याचार से इस भावना को कुछ और भी बल मिला था। यहाँ तक आते-आते साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों और तज्जनित प्रभावो के कारण जाति और धर्म सम्बन्धी नवीन समस्यायें उठ खड़ी हुई थीं। सन्तों का ध्यान इस कलहपूर्ण स्थिति की ओर गया और वे इसकी निस्सारता का प्रतिपादन करने लगे। सन्त कबीर ने इस पर जमकर कुठाराघात किया है। 'दादूपंथी' सन्त भी इससे मुक्त न रह सके। दादू स्वयं कहते हैं —

> अलह राम छूटा भ्रम मेरा।
> हिन्दू तुरक भेद कछु नाहीं देखौ दरसन तोरा।[2]

दादू ने मुसलमानों को फटकारा है :—

> कुफर जेके मन में, मीयाँ मुसलमान।
> दादू पेया फंग में, बिसारे रहमान।[3]
> जिसका था तिसका हुआ, तौ काहे का दोस।
> 'दादू' बन्दा बन्दगी, मीयाँ ना कर रोस।[4]

मुसलमान, मोमिन और पीर की विशेषता का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं :—

> मुसलमान जो राखै मान, साईं का मानै फुरमान।
> सारौ को सुखदाई होइ, मुसलमान करि जाणै सोइ।
> (दादू) मुसलमान मिहर गहि रहै, सबकौ सुख किसही नहिं दहै,
> मुवा न खाय जीवत नहिं मारै, करै बन्दगी राह संवारै।

१—डा० मोती सिंह—निर्गुण साहित्य, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० १६।

२—सन्तकाव्य सग्रह, पृ० २।

३-४—दादू दयाल की बानी, साच को अंग, १६, २०।

सो मोमिन मन में करि जाणि, सति सबूरी बैसै आणि।
चालै साच सँवारे बाट, तिनकूँ खुलै भिस्त का पाट।
सो मोमिन मोम दिल होइ, साईं को पहिचानै सोइ।
जोर न करै हराम न खाइ, सो मोमिन भिस्त में जाइ।
अपणे अमलौं छूटिये, काहू के नाहीं।
सोई पीड़ पुकारसी, जा दूखै मांहीं।[1]

पण्डित को परामर्श देते हुए वे कहते हैं :—

पोथी अपणा प्यण्ड करि, हरि जस माहैं लेख।
पण्डित अपणा प्राण करि, दादू कथहु अलेख।[2]

उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि दादूपंथी सन्त जातिवाद के प्रबल विरोधी थे। इस विरोध के मूल में इससे सम्बन्धित असामाजिक तत्व थे जिन्हें उन्होंने अच्छी तरह समझा था। इसीलिये वे जहां भी इस पर प्रहार करते हैं, वहां इनकी खण्डनात्मक प्रवृत्ति ही विशेष रूप से सक्रिय दीख पड़ती है। उनके अनुसार जातिवाद व्यापक मानवता को खण्डित करके देखने का अभ्यस्त है। इस खण्ड दृष्टि के कारण समाज में कलह और अशान्ति फैलती है। अन्धविश्वास से ग्रस्त होकर व्यक्ति, व्यक्ति का शत्रु बन जाता है। इसके परिणाम स्वरूप असत्य का प्राधान्य होता है। मनुष्य को इससे मुक्त हो कर इस सत्य को हृदयंगम करना आवश्यक है कि 'साईं के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोइ'। इस सत्य को हृदयंगम करते ही खण्ड मानवता के स्थान पर अखण्ड, व्यापक और विश्वजनीन मानवता[3] का अविर्भाव होता है और व्यक्ति के आपसी भेद की दीवार ढह जाती है।

मूर्तिपूजा का खण्डन

'सन्त साहित्य' में मूर्तिपूजा का विरोध अपनी चरम सीमा पर है। सन्त कबीर तो स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि पत्थर पूजने से अगर भगवान की प्राप्ति हो जाय तो

१—दादू दयाल की वाणी-सांच को अंग, पृ० १२८-२९।
२—वही, पृ० १३०।
३—पहले चव सु चूमिये, जे वाव्यन बीचि सुसाफ।
तौ जाति पांति का पूछिये, सोहवति देखौ साफ।
ग्वाल भीलणी स मिलि खेलै, सख बजाया कौने काज।
साग अरोग्या कौने के घरि, नीच ऊँच की रही न लाज।
—रज्जब वानी, पृ०-६१।
जे मन उत्तिम भाव है, तौ कुल का क्या भेद।
जन रज्जब दृष्टान्त कौं, जथा मंजारी भेद।—वही, पृ० ६१।

हम पहाड़ पूजने को तैयार हैं। दादूपंथी सन्त भी मूर्तिपूजा के प्रबल विरोधी हैं। दादू कहते हैं—

'जग अन्धा नैन न सूझै, जिन सिरजै ताहि न बूझै।
पाहण की पूजा करै करि आतमघाता।
निरमल नैन न आवई, दोजग दिसि जाता।
पूजै देव दिहाड़िया, महामाई मानै।
परगट देव निरंजना, ताकी सेव न जानै।
भैरों भूत सब भरम कै, पसु प्राणी ध्यावै।
सिरजनिहारा सबनि का, ताकूं नहिं पावै।
आपु सुवारथ मेदिनी का का नहिं करई।
'दादू' सांचे राम बिन मरि-मरि दुख भरई[1]।'

तात्पर्य यह है कि दादूपंथी सन्तों ने निर्गुण-निराकार-परात्पर ब्रह्म को अपना उपास्य बनाने के कारण मूर्तिपूजा का खण्डन किया है।

अवतारवाद का खण्डन

ब्राह्मणकाल तक आते-आते बहुदेवोपासना और अवतार सम्बन्धी परिकल्पना जड़ीभूत हो गई थी। बाद के निरीश्वरवादी सम्प्रदायों और सन्तों ने उसका डट कर विरोध किया। कबीर ने स्पष्ट रूप से 'रामनाम का मरम है आना', 'जा दशरथ घरि औतरि आवा' अथवा 'एक देव के कारणें कत पूजों देव सहेसा रे, काहे न पूजो राम जी जाके गुरु महेसा रे' आदि का उद्घोष किया। दादूपंथी सन्तों ने कबीर की इसी परम्परा का पालन किया। उनके अनुसार अवतार मायाग्रस्त होता है और अपनी इस ससीमता के कारण वह जीव को बन्धनमुक्त नहीं कर सकता है।[2] ब्रह्म आदि, अनन्त और निष्कल है पर अवतार ससीम और सकल।[3] अकल, अनीह, अनाम और अरूप अवतार नहीं ग्रहण करता। उसका ज्ञान प्राप्त करना भी दुष्कर है, क्योंकि—

ब्रह्मा कहियेइ आदि पार नहिं पावै रे।
कीयौ करम कुलाल सुमन नहिं भावै रे।
विष्णु हुते अधिकारि सुतौ भ्रम जनम्यौ रे।
संकट मांहैं आइ दसौ दिसि भरम्यो रे।

१—दादूदयाल की बानी -भाग दो, ८३-८४।

२—बांध्या बांधै को भजै, मुकति होन की आस।
सो रज्जब कैसे खुलैं, यहि झूठे वेसास।
—रज्जब बानी -पीव पिछाण का अंग।

३—आदि नारायण अकल है, कला रूप अवतार।
माया आतम बंदि विधि, वेत्ता करौ विचार।- वही।

शंकर भोलानाथ हाथ बरु दीनों रे।
अपनो काल उपाई मरम नहिं चीन्हो रे।
औरो दैविय देव सेव हम त्यागिय रे।
सब तों भयौ उदास ब्रह्म लय लागिय रे।[1]

परात्पर ब्रह्म में लवलीन होना ही इनका प्रमुख कर्तव्य था। इसी बात को एक मुसलमान फकीर को सुनाते हुए सन्त सुन्दरदास कहते हैं —

घट बिनसै नहीं रहै निदाना।
खुदइ (कहुं। देष्या अकलि तै जाना।
ब्रह्म विष्णु महेसुर बपिया, इन्द्र, कुबेर, गये तप तपिया।
पीर पैकंबर सबै सिधाये, मुहमद सिरिषे रहन न पाये।
धरनि गगन, पानी अरु पवना, चन्द सूर पुनि करिहैं गवना।
एक रहै सो 'सुन्दर' गावै, मुष्टि न माइ, दृष्टि नहिं आवै।[2]

'दादूपंथी' सन्त इस बात को मानते हैं कि ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जाने बिना अवतारवादी तरह-तरह का पाखण्ड फैलाये रहते हैं। वे अपनी झूठी देवतावादी परिकल्पना के साथ ही अन्य प्रकार के भ्रम से ग्रस्त हैं। सत्य से दूर होने के कारण उनका देवता, उसको पूजने वाला व्यक्ति तथा इस पूजा मे प्रयुक्त नाना प्रकार की सामग्री झूठी है। वे व्यर्थ ही ईश्वर-गुणगान करते हैं और अन्य लोग उसके रहस्य को समझे बिना उसे सुनते हैं। यथार्थ यह है कि परात्पर ब्रह्म सर्वव्यापक और सर्वनियन्ता है। वह इस प्रकार के आडम्बर से सर्वथा मुक्त है[3]।

बाह्याडम्बर का खण्डन

मूर्तिपूजा, जातिवाद और अवतारवाद के साथ ही दादूपंथी सन्तो ने बाह्याचार विषयक अन्यान्य स्वरूपों का विरोध किया है। सम्प्रदाय की निस्सारता, बाह्य शक्ति

१—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग दो, पृ० ८२३।
२—वही, पृ० ८४७।
३—साचा राम न जाणै रे, सब झूठ बखाणै रे।
झूठे देवा, झूठी सेवा, झूठा करै पसारा।
झूठी पूजा, झूठी पाती, झूठा पूजण हारा।
झूठा पाक करै रे प्राणी, झूठा भोग लगावै।
झूठा आडा पड़दा देवै, झूठा भोग लगावै।
झूठे बकता, झूठे सुरता, झूठी कथा सुणावै।
झूठा कलिजुग सबको मानै, झूठा भरम दिढ़ावै।
थावर जंगम जल थल महियल, घटि घटि तेज समाना।
'दादू' आतम राम हमारा, आदि पुरिष पहिचाना।
—दादू दयाल की बानी, भाग २ पृ० ७६।

की व्यर्थता, सामान्य साधनो के माध्यम से सिद्धियो को प्राप्त करने के उपायों का तिरस्कार उनका प्रमुख प्रतिपाद्य है। बाह्य भेष की असारता की ओर उनकी दृष्टि विशेष रूप से गई है। इसका मूल कारण यह है कि उस काल में सन्तों की एक विशिष्ट वेश-भूषा और दैनिक क्रिया हुआ करती थी। बाद में चल कर यह बाह्य परिवेश तो ज्यों का त्यों बना रहा, पर साधना, तप, और तत्व दर्शन का विशेष रूप से ह्रास हुआ। इसके परिणाम स्वरूप एक विचित्र प्रकार के व्यवधान का बीजारोपण हुआ। इसी का दिग्दर्शन कराते हुए 'दादू' कहते हैं—

'हम पाया, हम पाया रे भाई।
भेप बनाइ ऐसी मनि आई।
भीतर का यहु भेद न जानै।
कहै सुहागिन क्यूँ मन मानै।
अंतर पीव सूं परचा नाहीं।
भई - सुहागनि लोगन माही।
साँईं सुपिनै कबहुँ न आवै।
कहिबा ऐसे महल बुलावै।
इन बातन मोहिं अचिरज आवै।
पटम किये पिव कैसै पावै।
दादू सुहागनि ऐसै कोई।
आपा मेटि राम रत होई।'[1]

इस पद्य में 'पटम' शब्द महत्वपूर्ण है, इसका अर्थ होता है पाखण्ड। सन्त के लिये अपनत्व का विगलन करके परमतत्व का साक्षात्कार करना आवश्यक है, पर वह तो बाह्याडम्बर में फँस गया है। उसे आत्म-तत्व पर विचार करने का अवसर कहां ? जबतक वह इसको हृदयंगम नहीं कर पाता तबतक उसकी मुक्ति के सभी द्वार अवरुद्ध रहते हैं। इसी तथ्य की अभिव्यंजना करते हुए सन्त सुन्दरदास कहते हैं—

'अवधू भेष देषि जिनि भूलै।
जब लग आतम दृष्टि न आई, तब लग मिटै न सूलै।
मुद्रा पहरि कहावत जोगी, युगति न दीसै हाथा।
वह मारग कहुं रह्यौ अनत ही, पहुचै गोरषनाथा।
लै संन्यास करै बहु तामस, लम्बी जटा बधावै।
दत्तदेव की रहनि न जानै, तत्त कहां तै पावै।
मूंड़ मुड़ाइ तिलक सिर दीयौ, माला गरै भुलाई।
जौ सुमिरन कीनौ सब सन्तनि, सौ तौ पबरि न पाई।
तह बन्ध बांधि कुतक्का लीना, दम दम करै दिवाना।
महमद की करनी नहिं जानै, क्यौं पावै रहिमाना।

१—दादू दयाल की बानी-भाग दो पृ० ११२।

दरसन लियौ भली तुम कीनी, क्रोध करौ जिनि कोई ।
सुन्दरदास कहै अभिअन्तरि, बस्तु बिचारौ सोई ।[1]

बाह्य उपचार के प्रति इस प्रकार का आक्रोश सन्तों की प्रमुख विशेषता है। जिस स्पष्ट शब्दावली में उन्होने इस पर प्रहार किया है वह हिन्दी साहित्य मे अद्वितीय है। वे तो स्पष्ट रूप से उपदेश देते हैं—

आपुकौ संभारै तब तौ तूंही सुख सागर है ।
आपु कूं बिसारै तब तूही दुख पाइ है ।
तूं ही जब आवै ठौर दूसरौ न भासै और ।
तेरी ही चपलता ते दूसरौ दिषाइहै ।
बातै कानि सुनि भावै, दाहिनै पुकारि कहू ।
अबकै न चेत्यौ तो तूं पीछै पछिताइहै ।
भावै आज भावै कंल्पन्त बीतैं होइ ज्ञान ।
तबही तूं अबिनासी पद मै समाइहै ।
सुन्दर कहत सन्त मारग बतावै तोहि ।
तेरी पुसी परै तहां तू ही चलि जाइहै ।[2]

अपने को सम्हालना, अपनत्व का ज्ञान होना और इसी के माध्यम से परमात्मतत्व की उपलब्धि ही सन्तों का प्रमुख उद्देश्य है। 'जोई प्यण्डे सोई ब्रह्मण्डे' की भावना से अभिभूत होने के कारण सन्त पिण्ड के रहस्य को विशेष रूप से महत्व प्रदान करते हैं। इसके परिणाम स्वरूप उनका दृष्टिकोण बाह्य स्थूलता एवं बाह्याडम्बर से मुक्त होकर आभ्यन्तरिक शालीनता, महनीयता और साधना से मण्डित है। समाज की दृष्टि आडम्बर प्रिय होती है। जब कोई तत्वज्ञानी अथवा साधक अपने पीयूषवर्षी उपदेश से कृत्रिमता पर कुठाराघात करता है और उसकी निस्सारता को अनावृत रूप में प्रस्तुत करता है तो उसकी आखों से भ्रम का परदा हट जाता है। सन्तों में युगद्रष्टत्व की क्रान्तिकारी भावना विद्यमान थी। इसी आधार पर उन्होंने युग-स्रष्टत्व का बाना धारण किया और उसमें उन्हे सफलता ही नही मिली अपितु वे जन-जन के गले का हार बन गये। इस दृष्टि से उनके कार्य को समाज-सुधार एवं समाज-कल्याण का प्रमुख सोपान माना जा सकता है। उनकी अनुभूति में तन्मयता और स्पष्टता थी और उनकी अभिव्यक्ति में किसी भी बात को दो टूक कहने की विशेषता। उनका सारा जीवन तत्व-गवेषणा में संलग्न था। यहां पाखण्ड और आडम्बर के लिये स्थान न था। वे तो स्पष्टरूप से कहते थे—

आये मेरे पारब्रह्म के प्यारे ।
त्रिगुण रहित निरगुण निज सुमिरत, सकल स्वांग गहि डारे ।

१—सुन्दर ग्रन्थावली-भाग दो, पृ० ८६५ ।
२—सुन्दर ग्रन्थावली-भाग दो, पृ० ८६४-६५ ।

माला तिलक करै नहिं कबहूँ, सब पाखण्ड पचि हारे।
सांचे साध रहति सांची गति, सकल लोक में सारे।
नांव प्रताप परिपंच न मानै, षट दरसन सों न्यारे।
भजि भगवन्त भेष सब त्यागे, एक सांच के गारे।
जिनि कै दरसि परसि सुख उपजै, सो आये चलि द्वारे।
जन रज्जब जगपति सो ऊंचे, प्राण उधारण हारे।[1]

सत्य है कि जिनका जीवन चरम आध्यात्मिक साधना में सतत संलग्न रहता है, उनके लिये व्यक्ति-व्यक्ति में विभेद उत्पन्न करके सामाजिक विघटन का कारण बनने वाले संकीर्ण विचारो का कोई अर्थ नहीं होता। वे तो जन्मेन मानव होते हैं और सम्पूर्ण मानवता उनका कर्मक्षेत्र बन जाती है। वे बाह्याडम्बर की अपेक्षा आन्तरिक तत्वान्वेषण के जिज्ञासु होते हैं। इसी तथ्य का संकेत करते हुये 'दादू' कहते हैं—

सति राम आत्मा बैश्नौ, सुबुधि भोमि संतोष थान।
मूल मंत्र मन माला, गुर तिलक सति संजम ॥
सोल सुच्या ध्यान धोवती, काया कलस प्रेमजल।
मनसा मंदिर निरंजन देव, आत्मा पाती पुहुप प्रीति।
चेतना चंदन नवधा नॉव, भाव पूजा मति पात्र।
सहज समर्पण सबद घंटा, आनंद आरती दया प्रसाद।
अनिनि एक दसा तीरथ सतसंग, दान उपदेस व्रत सुमिरन।
खट गुन ज्ञान, अजपाजाप, अनभै आचार मरजादा राम।
फल दरसन अभिअंतरि, सदा निरंतर सति सौंज दादू वर्तते।
आत्मा उपदेस अंतरगति पूजा।[2]

जिस, शम, दम, नियम, संयम और अन्तःसाधना का उल्लेख उपर्युक्त पद में हुआ है, वही 'दादूपंथ' की प्रमुख विशेषता है।

जगत को मायामय मानकर इसके मिथ्यापन का निरूपण

आध्यात्मिक उत्थान में सतत् संलग्न व्यक्ति के लिये जगत के नाना प्रलोभन अवरोधक सिद्ध होते हैं। व्यक्ति जबतक सांसारिक मृगमरीचिका के चक्कर में पड़ा रहता है, तब तक परमात्मतत्व का चिन्तन सर्वतोभावेन असम्भव है। सन्तों ने इस तथ्य को पूर्णतः हृदयंगम किया था। वे इस बात से पूर्ण रूपेण परिचित थे कि भौतिक सुख अपनी बाह्य आस्वादनशीलता में आकर्षक एवं मधुर अवश्य होते हैं, पर इनका अन्तिम परिणाम व्यक्ति के लिये हितकर नहीं होता। वे इसी तथ्य को 'रज्जु-सर्प', मरीचिका

१—रज्जब वानी–पृ० ४०४।
२—दादू दयाल की बानी, पहिला भाग–परचा को अंग पृ० ६७।

जल, स्वप्न, बाजीगर और नट के दृष्टान्त से अभिव्यक्त करते रहते थे। वे तो स्पष्ट रूप से कहते थे कि हे मन! तू जो इस भौतिक वैविध्य को देख कर मुग्ध होता है, वह वस्तुतः असत्य है। परम तत्व तो अगम्य और अगोचर है। वह इस सांसारिक प्रलोभन से सर्वथा निर्लिप्त रहता है। जिस प्रकार अत्यन्त काली रजनी मे कुछ भी नहीं दिखाई देता और व्यक्ति संशय रूपी सर्प से बुरी तरह ग्रस्त रहता है, उसी प्रकार यह संसार एक काल कोठरी है, इसमें व्यक्ति तत्त्वज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। यह जीव अन्धे व्यक्ति की तरह संसार के रहस्य को न समझ सकने के कारण माया से बँधा रहता है और वह अहर्निश उसका भक्षण किया करती है। व्यक्ति निरन्तर झूठी आशा के नाग-फाँस से बँधा रहता है, वह मृगमरीचिका के चक्कर में पड़कर तत्त्वज्ञान को प्राप्त नही कर पाता। सांसारिक सुख तथा वैभव-विकास उसे क्षणिक आनन्द अवश्य प्रदान करते हैं, पर अन्ततोगत्वा वे कष्टप्रद सिद्ध होते हैं। वह एक विचित्र स्वप्न में पड़ा रहता है। जबतक वह सोता रहता है अर्थात् सत्य के दर्शन से दूर रहता है तबतक 'सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाक पति होइ' की कहावत चरितार्थ करता है, पर जाग्रत हो जाने के पश्चात् वे स्वप्न-जनित सुख अदृश्य हो जाते हैं और वह हाथ मलकर तरह-तरह से पछताता है।[1] दादूपंथी सन्त इस बात को मान्यता प्रदान करते हैं कि जिस प्रकार बाजीगर के खेल से दर्शकों का मन मुग्धकारी ढंग से आकृष्ट होकर कुछ समय के लिये अपना अपनत्व भूल जाता है, उसी प्रकार सांसारिक बन्धन एवं माया के स्वर्ण-पाश में बँधा हुआ यह व्यक्ति निरन्तर मिथ्या भ्रम में तल्लीन रहता है।[2] सुन्दरदास इसी तथ्य की अभिव्यक्ति करते हुये कहते हैं—

१—मन रे तूँ देखै सो नाहीं, है सो अगम अगोचर माहीं।
निस अँधियारी कछू न सूझै, ससै सरप दिखावा।
ऐसैं अंध जगत नहिं जानै, जीव जेवड़ी खावा।
मृग-जल देखि तहा मन धावै, दिन-दिन झूठी आसा।
जहँ-जहँ जाइ तहा जल नाहीं, निहचै मरै पियासा।
भरम-विलास बहुत विधि कीन्हा, ज्यों सुपिनैं सुख पावै।
जागत झूठ तहाँ कुछ नाहीं, फिर पीछैं पछितावै।
जब लग सूता तब लग देखै, जागत भरम बिलाना।
दादू अन्ति इहाँ कुछ नाहीं, है सो सोधि सयाना।
—दादू दयाल की बानी (बेल वेडियर प्रेस) भाग २, पृ० १२०

२—भाई रे बाजीगर नट खेला, ऐसैं आपै रहै अकेला।
यहु बाजी खेल पसारा, सब मोहे कौतिगहारा।
यहु बाजी खेल दिखावा, बाजीगर किनहुं न पावा।
इहिं बाजी जगत भुलाना, बाजीगर किनहुं न जाना।
कुछ नाहीं सो पेखा है सो किनहुं न देखा।
कुछ ऐसा चेटक कीन्हा, तन मन सब हरि लीन्हा।
बाजीगर भुरकी बाही, काहू पै लखी न जाई।
बाजीगर परकासा, यहु बाजी झूठ तमासा।
'दादू' पावा सोई, जो इहिं बाजी लिपत न होई। —वही, पृ० १२१।

'अब तौ ऐसैं करि हम जांन्यौ।
जो नानात्व प्रपंच जहां लौं मृग तृष्णा कौ पांन्यो।
रजु कौ सर्प देषि रजनी में भ्रम मैं अति भय आंन्यौ।
रबि प्रकाश जब भयौ प्रात ही, रजु कौ रजु पहिचांन्यौ।
ज्यौं बालक बेताल देषि कै, यौं ही वृथा डरांन्यौ।
ना कछु भयौ नहीं कछु ह्वै है, यह निश्चय करि मांन्यौ।
शशा-शृङ्ग बन्ध्या सुत झूलै, मिथ्याबचन बषान्यौ।
तैसे जगत काल त्रय नाहीं, समुझि सकल भ्रम मान्यौ।'[1]

विविध दृष्टान्तों के माध्यम से माया की प्रबलता और संसार की असारता का प्रतिपादन करने से ही सन्त सन्तुष्ट नहीं हो जाते। वे तो इससे ग्रस्त जीव का चित्रण भी करते हैं। सन्त 'सुन्दरदास' का कहना है—

'सोइ-सोइ सब रैनि बिहांनी, रतन जनम की षबरि न जांनि।
पहिले पहर मरम नहिं पावा, मात-पिता सौं मोह बंधावा।
षेलत-षात हंस्या कहुं रोया, बालापन ऐसे ही षोया।
दूजै पहर भया मतवाला, परधन परत्रिय देषि षुसाला।
काम अन्ध कामिनि संगि जाई, ऐसैं ही जोबन गयौ सिराई।
तीजै पहर गया तरनापा, पुत्र कलत्र का भया संतापा।
मेरै पीछै कैसी होई, घरि-घरि फिरिहैं लरिका जोई।
चौथे पहरि जरा तन व्यापी, हरि न भज्यौ इहिं मूरष पापी।
कहि समुझावै सुन्दरदासा, राम विमुख मरि गये निरासा।'[2]

दादूपंथ में जहां इस प्रकार का यथार्थ निरूपण आया है वहां उनकी तत्वनिरूपिणी क्षमता में चार चांद लग गया है और उनकी वाणी में वह अप्रतिम उपदेश निहित हो गया है जो एक बार महान से महान पापी के हृदय को भी स्पन्दित कर देने में सक्षम है। जीवन की कुछ ऐसी विशेषता है कि वह सरलता से परमात्म तत्व की ओर उन्मुख नहीं होता। अतः उसके सक्षम दृष्टान्त रूप में यह सत्य पुनः-पुनः प्रतिपादित किया जाता है कि माया संसार को नचाती है। ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, सिद्ध और साधक सभी इसके मोहक पाश में आबद्ध होकर दिग्भ्रमित होते रहते हैं। इसके समक्ष षट्दर्शन अक्षम सिद्ध होते हैं और बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति को यह चकित करके नचाया करती है।[3]

१—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग दो, पृ० ८५५।

२—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग दो, पृ० ८५८।

३—राम राइ कठिन यह माया।
जिनि मोहि सकल जग खाया।
इन माया ब्रह्मा से मोहे, संकर-सा भटकाया।

सन्तों ने माया को बन्धन की अधिष्ठात्री घोषित किया है। उनके अनुसार यह तमोगुणी वृत्ति की जननी है। इसके चक्कर में पड़कर जीव प्रायः असामाजिक कृत्य करता है। पर जब उसकी आँखो से भ्रम का परदा हट जाता है और उसमें सत्व गुण की प्रधानता हो जाती है तो वह 'पाशव' स्थिति से 'शाम्भव' स्थिति की ओर उन्मुख होता है। संकीर्णता के स्थान पर दृष्टिव्यापकता उसका अलंकार बनती है और वह उत्कृष्ट मानवतावादी आदर्शों का स्वयमेव पालन करने लगता है।[1]

नश्वरता

जीव ने अगर अमरत्व प्राप्त किया होता तो वह सम्भवतः सबसे अधिक निरंकुश असामाजिक और अत्याचारी सिद्ध होता। वह अमर न होकर नश्वर है। कुछ वर्षों के लिये कर्म-बन्धन से बँधकर नियति-नटी का कन्दुक बना हुआ वह ससार में आता है और पुनः अपना कार्य-काल समाप्त करके चला जाता है। इस अवस्था में कभी-कभी वह असामाजिक, निर्दय, क्रूर और हिंसावादी होकर मानवता के लिये अभिशाप सिद्ध होता है। पर उसमें आसुरी वृत्ति और तमोगुण की प्रधानता ही नहीं होती, दैवी और सात्विक वृत्तियाँ भी विद्यमान रहती हैं। प्रायः देखा जाता है कि ये दैवी वृत्तियाँ आसुरी वृत्तियों से आच्छन्न रहती हैं। पर जिस प्रकार घोर तिमिराच्छन्न वातावरण प्रकाश के अभ्युदय के साथ आलोकमय हो उठता है, उसी प्रकार महापाप-लिप्सु वृत्ति भी ज्ञान के अवतरण से परिवर्तित हो जाती हैं। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। अपनी सीमा का अभिज्ञान हो जाने के पश्चात् व्यक्ति की निरंकुशता समाप्त हो जाती है। मानव के लिये इस अभिज्ञान का प्रमुख साधन नश्वरता की स्मृति है। सन्तों ने इस महौषधि का समुचित उपयोग किया है। सन्त गरीबदास 'यह दुनियां संसार बतासा खांड का' कहकर जीव को उसकी नश्वरता का बोध कराते हैं। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं—

> 'सांवत और मंडलीक गये बहु सूर रे।
> राजा रंक अपार मिले सब धूर रे।
> रूई लपेटी आग में अंगीठी आठ रे।
> कोतवाल घट माहिं मारता काठ रे।

१—महाबली सिध साधिक मारे, तिन का मान गिराया।
इन माया पट् दरसनि खाये, बातनि जग बौराया।
छल-बल सहित चतुर जन चक्रित, तिनका कछु न वसाया।
मारे बहुत नाव सूँ न्यारे, जिनि यासौं मन लाया।
रज्जब मुकति भये माया सो, जोगहिं राम छुडाया।
—रज्जब बानी—पृ० ३७६।

नरक बहै नौ द्वार देहरा गंध रे।
क्या देखा कलि माहिं पड़ा क्यूं फन्द रे।
हासिल का घर दूर हजूर ने चालता।
हरे हो कहता दास गरीब हटी में लाल था[1]।'

दुनिया नश्वर है, यहां राजा और रंक सभी मरणशील हैं। इस शरीर में काल निरन्तर भ्रमण करता है। समय पूरा हो जाने पर वह किसी भी समय जीव को लेकर चला जा सकता है। फिर भी वह बुद्धिहीन जीव सुख की नींद सोता है। उसे ज्ञात नहीं है कि उसका अस्तित्व वृक्ष पर बैठे हुए थके पक्षी के सदृश है। जिस प्रकार पक्षी थोड़े ही समय में उड़कर अन्यत्र चला जाता है, उसी प्रकार यह जीव भी इस संसार का त्याग करके बिदा हो जाता है। यह संसार वस्तुतः एक बड़ा हाट है, जहां लाभ के वशीभूत होकर व्यक्ति ही व्यक्ति का शोषण करता है। यहां कोई किसी का मित्र नहीं। यह 'सेमर के फूल' की तरह आकर्षक ज्ञात होता है। पर अपने अन्तिम परिणाम में निस्तत्व और सारहीन है।[2] हे मनुष्य! अपने स्वार्थ में पड़कर लालची वृत्ति मत अपना, क्योंकि तू वस्तुतः इस संसार के रहस्य से परिचित नहीं है। तू अज्ञानता में पड़ा है। तुम्हें यह कहां मालूम कि यम ने तेरे सिर पर मृत्यु का बाण साध रखा है और क्षण में ही यह शरीर काल-कवलित हो जा सकता है।[3] इसी बात को ओजस्वी रूप में अभिव्यक्त करते हुए सन्त सुन्दरदास कहते हैं—

कौने भ्रम भूले अंधला।
अपना आप काटि कै मूरष, आपुहि कारन रंधला।
मात-पिता दारा सुत सम्पत्ति, बहु बिधि भाई बंधला।
अन्तकाल कोइ काम न आवै, फोकट फाकट धंधला।

१—परशुराम चतुर्वेदी—सन्तकाव्य संग्रह, पृ० ४१२।

२—बटाऊ रे चलना आजि कि काल्हि।
समझि न देखै कहा सुख सोवै, रे मन राम सँभालि।
जैसें तरुवर बिरष बसेरा, पंखी बैठे आइ।
ऐसैं यह सब हाट पसारा, आप आप कौ जाइ।
कोइ नहिं तेरा सजन सँगाती, जिनि खोवै मन मूल।
यहु संसार, देखि जिनि भूलै, सबही सेंवल फूल।
तन नहिं तेरा धन नहिं तेरा कहां रह्यौ इहिं लागि।
'दादू' हरि बिन क्यों सुख सोवै, काहे न देखै जागि।
—दादू दयाल की बानी—भाग २, पृ० ५३।

३—आप सवारथ येह विलूधारै, आगम मरम न जाणै।
जमकर माथैं बाण धरीला, ते तौ मन नहिं आणै।
मन विचारि सारी तै लीजै, तिल माहैं तन पड़िबा।
'दादू' रे तहं तन ताणी जै, जैणे मारग चढ़िवा।
—दादू दयाल की बानी-पृ० ८०।

गये विलाइ देव अरु दाना, होते बहुतक मंधला।
तुम कहा गर्व गुमान करत हौ, नखशिख लौं दुरगंधला।
या सुख मैं कछु नांहि भलाई, काल बिनासै कंधला।
सुन्दरदास कहै समुझावै, राम भजहु निरसंधला।[1]

सन्तों का प्रमुख उद्देश्य नश्वरता को अविनश्वरता मे बदल देना था। इसके लिये आवश्यक था कि वे पहले इस नश्वरता अथवा क्षणभंगुरता की परीक्षा करके इसका निर्देश करते और पुनः इसका अभिज्ञान हो जाने के पश्चात् उसे आध्यात्मिक संस्पर्श प्रदान करते। वे अपने मन्तव्य में पूर्ण सफल हुए हैं। जिस प्रकार की संप्रेषणीयता और प्रभावोत्पादकता उनके उपदेशों से टपकती है वह जीव को उसकी सीमाओं से अवगत कराकर परम तत्त्व की ओर अग्रसर करने में सक्षम है। आधुनिक व्यक्ति सन्तों के इस विचार को मनोग्रन्थियों (Superiority complex, inferiority complex) से ग्रस्त कह सकते हैं। पर द्रष्टव्य है कि मनोग्रन्थि आत्म-परिचय से नहीं अपितु आत्म-विभ्रम से उत्पन्न होती है। सन्तों ने आत्म-परिष्कार के माध्यम से आत्मोन्नति के विविध सोपान प्रस्तुत किए हैं। उन पर इस तरह का आक्षेप मात्र वैचारिक खोखलेपन का परिचायक है। उनके द्वारा नश्वरता का विवेचन आत्महीनता से नहीं अपितु औदात्य आत्म-परिष्कार और अनुभूति सम्वलित सचेतन परिकल्पना से अनुप्राणित है। यही विशिष्टता उनके इस प्रकार के विश्लेषण की जननी है। सुन्दरदास के 'काल चितावनी को अंग' और 'दादू के काल को अंग' के व्यापक विवेचन का यही मेरुदण्ड है।

मन और इच्छा की प्रबलता

मन की चंचलता का प्रतिपादन सभी आध्यात्मिक निकायों का प्रमुख अंग रहा है। 'योगवासिष्ठ' और 'गीता' में इस पर पर्याप्त विचार किया गया है। दादूपंथी सन्तों ने इसे अपना प्रमुख विवेच्य बनाया है और इसके लक्षण, स्वभाव, शक्ति, अवगुण और गुण का सविस्तार वर्णन किया है। इन सन्तों ने आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की तरह उसकी महती शक्ति का निर्वचन किया है और इस तथ्य को प्रतिपादित किया है कि मन ही मनुष्य को कुमार्ग, और सुमार्ग पर ले जाने का प्रमुख माध्यम है। इसी से मनुष्य बँधता और इसी से मुक्त होता है। 'दादू' ने स्पष्ट रूप से इस बात का बोध किया है कि—

मन का आसण जे जिव जाणै, तो ठौर-ठौर सब सूझै।
पंचौ आणि एक घरि राखै, तब अगम निगम सब बूझै।
बैठे सदा एक रस पीवै, निरवैरी कत जूझै।
आतम राम मिलै जब 'दादू' तब अंगि न लागे दूजै।
जब लगि यहु मन थिर नहीं, तब लगि परस न होइ।
दादू मनवाँ थिर भया, सहजि मिलैगा सोइ।[2]

१—सुन्दर ग्रन्थावली-भाग दो-पृ० ६०१।
२—दादू दयाल की बानी, भाग १, मन को अंग-पृ० ९६–९७।

मनका आसन जानना और उसे स्थिर करके परमतत्व की ओर उन्मुख करना सन्तों का प्रमुख उद्देश्य है। पर इस प्रयत्न में उन्हें तरह-तरह की बाधा का सामना करना पड़ता है। सबसे बड़ी बाधा है इसकी चंचलता। दादू के अनुसार समुद्र में जितनी लहरे तरंगायित होती रहती हैं, मन में उतने ही मनोरथ क्रियाशील पाये जाते हैं।[1] सुन्दरदास ने 'अथ मन कौ अंग' में इसकी व्यापक चर्चा की है। उनका कहना है कि—

हटकि-हटकि मन राषत जु छिन-छिन।
सटकि-सटकि चहु वोर अब जात है।
लटकि-लटकि ललचाइ लोल बार-बार।
गटकि-गटकि करि विष फल षात है।[2]

उनकी उपर्युक्त उक्ति गीता के 'चंचल हि मन: कृष्ण: ··· ········' तथा 'मनो-दुर्विचार निग्रहम्' की स्मृति दिलाती है। सुन्दरदास ने इसके क्षण-क्षण नवीन परिवर्तित स्वरूप धारण करने की चर्चा की है। उनके ये कथन 'मन की प्रतीति कोऊ करै सो दिवानौ है,' 'मन को स्वभाव कछु कह्यौ न परत है,' 'मन सौ न कोऊ हम देष्यौ अपराधी है', 'मन सौ न कोऊ हम जान्यो दगाबाज है', 'मन सौ न कोऊ है अधम या जगत मैं' 'मन सौं न कोऊ या जगत मांहि रिन्द है' और 'मन के नचाये या जगत सब नचत है।'[3] इसके अप्रतीतिकर, सतत परिवर्तनशील, पापलिप्सु, प्रवंचक, अहंवादी, निकृष्ट और विभ्रमोत्पादक स्वरूप के परिचायक हैं। गीता के 'मन एवं मनुष्याणां, कारण बन्ध मोक्षयो' तथा 'योगवासिष्ठ' के कतिपय उद्धरण इसी तथ्य की अभिव्यंजना करते हैं।[4] वस्तुतः मन शब्द संस्कृत के 'मनस्' का रूपान्तरण है। 'मन्यते अनेन इति मनः मन् करणे असुन्' के व्युत्पत्ति लब्ध अर्थ के अनुसार जो मानने का कार्य सम्पादित करता हो अथवा इस कार्य का प्रमुख माध्यम हो वही मन है। इसी तथ्य का संकेत करते हुए सुन्दरदास ने लिखा है—

सुख मानै दुख मानै सम्पति विपति मानै।
हर्ष मानै शोक मानै, मानै रंक धन है।
घटि मानै बढ़ि मानै शुभ हूं अशुभ मानै।
लाभ मानै हानि मानै याही तें कृपन है।

१—जेती लहरि समंद की तेते मनहिं मनोरथ मारि—दादू दयाल की बानी भाग १ 'मन कौ अंग'।
२—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग दो, पृ० ४४२।
३—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग दो, पृ० ४४२-४४५।
४—मनोहि जगतां कर्तृ मनोहि पुरुषः स्मृतः। ३।९१।४
स्वरूपं सर्वं कृत्वं च शक्तत्वं च महात्मनः। ३।९१।१६
मनो यदनुसन्धत्ते तदेवाप्नोति तत्क्षणात्। ३।९२।१८
तथेतद्भावयेत्स्वान्तं तथैव भवति क्षणात् ।३।९१।५२
प्रतिभां समुपायाति यद्यदस्य हि चेतसः।
तत्तत्प्रकटतामेति स्थैर्यं सफलतामपि। ३।९१।१७

पाप मानै पुन्य मानै उत्तम मध्यम मानै।
नीच मानै ऊच मानै मानै मेरौ तन है।
स्वरग नरक मानै बन्ध मानै मोक्ष मानै।
सुन्दर सकल मानै ताते नाउ मन है।[1]

सन्त इस तथ्य को मानते हैं कि जीव वस्तुतः ब्रह्म स्वरूप है। माया के आवर्त में पड़कर वह अपने निजी स्वरूप को भूल जाता है। इस माया के मूल में मन के विविध क्रिया-कलाप हैं। मन का निरसन करने से ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।[2] यह सम्पूर्ण जगत मन का ही प्रसार है। जिस समय जीव का भ्रम मिट जाता है उस समय यह सांसारिक-बन्ध भी विलुप्त हो जाता है।[3] इसीलिये मन को समझाते हुए सन्त कहता है कि हे मन! तू समझ और अनायास निस्सार एव निरर्थक वस्तुओं से मत उलझ, अमृत को छोड़कर विषपान की ओर मत उन्मुख हो। तू सांसारिक प्रलोभनों का पार नहीं पा सकता। अतएव ब्रह्मतत्त्व के सुख को छोड़कर दुःखों के समूह का संवरण मत कर। इतना कहने पर भी जब मन विषय विमुक्त नहीं होता तो वह दुःखी होकर उसे फटकारने लगता है—

हा हा रे मन हा हा।
हाइ हाइ तोहिं टेरि कहत हौ जब चलि सीधी राहा।
बार-बार समुझायौ तोकौं दे-दे लम्बी धाहा।
निकसि जाइ पल मांहि धूम ज्यों कतहूँ ठौर न ठाहा।
तेरो वार पार नहिं दीसै, बहुत भाँति औगाहा।
डुबकी मारि-मारि सब थाके, कतहुँ न पायौ थाहा।
जौं तै चतुर प्रवीन जान अति, अब कै करि निर्बाहा।
छाडि कल्पना राम नाम भजि याते और न लाहा।
चंचल चपल चाहि माया की, यह गुलाम गति काहा।
सुन्दर समुझि विचार आप कौ तू तो है पतिसाहा।

इस फटकार में आध्यात्मिक परामर्श निहित है। बार-बार जीवन की असारता प्रतिपादित करते हुए इस बात की अभिव्यक्ति की गई है—

१—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग दो, पृ० ४५०।
२—वही, पृ० ४४६–४८।
३—वही, पृ० ४५३।
४—तूं ही रे मन तू ही।
कौन कुबुद्धि लगी यह तोको होत सिंह से चूही।
छानत छार फिरै निसिवासर, कौंडी को सब भू ही।
अंमृत छाडि निलज्ज मूढ मति, पकरत नीरस छूही।
अंत न पार कलपना तेरी ज्यौं वरिषा ऋतु फूही।
सुख निधान अपनौं सुख तजि कैं कत है दुःख समूही।
—वही, पृ० ८४०।

मन यहु मानि मुगध अचेत ।
समुझि सठ हठ छांड़ि मूरिख, कहत हूँ करि हेत ।
देह झूठ सु परत पल में, लई कै जम लेत ।
काल कर करवाल काटे, देखि ले सिर सेत ।
सीत कोटर सुपिन संपति, सुनहुँ यहु संकेत ।
छिनहिं मैं सब छॉड़ि जैहैं, मारि मूडहिं वेत ।
मात-पित सुत सखा-बांधव, सकल कालर खेत ।
करि करखि यूं मर्‌यो रीतो, खोलि देखो नेत ।
त्यागि धन तन गेह गाफिल, सीख सतगुरु देत ।
रज्जवा जम जोरि लैहैं, देस मोहड़े रेत ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'दादू पंथ' में मन के विवेचन के अन्तर्गत इसकी सर्वशक्ति सम्पन्नता, निरंकुशता, चंचलता और दिग्भ्राति पर विशेष रूप से दृष्टिपात किया गया है। इच्छा को मन का व्यापार माना गया है। अतएव मन के साथ ही इसके निग्रह को विशेष महत्व दिया गया है।[2]

अहं-विगलन

योगवासिष्ठकार ने लिखा है कि मिथ्या अभिमान के कारण जीव अपने को स्वतंत्र मानकर संसार के बंधन में बँध जाता है। यहीं 'मैं हूँ' का मिथ्या बोध अहंकार कहलाता है।[3] संकल्प शक्ति के उद्बुद्ध होने पर इसकी स्थूलता के कारण जीव में अहंभाव का आविर्भाव होता है।[4] यह अहंभाव चार प्रकार का होता है :—(१) मैं देह हूँ, (२) मैं चित्त हूँ, (३) मैं सर्वभाव विमुक्त सूक्ष्म आत्मा हूँ (४) मैं सारा विश्व हूँ। प्रथम प्रकार

१—रज्जब वानी-पद, पृ० ४०६।

२—अवधू कामधेन गहि राखी।
बस कीन्हीं तब अमृत सरवै, आगै चारि न नाषी।
पोषंता पहली उठि गरजै, पीछै हाथि न आवै।
भूषी भलैं दूध नित दूणां, यूँ या धेंन दुहावै।
ज्यूं - ज्यूं षींण पडै त्यूं दूझै, मुकता मेल्यां मारै।
घाटा रोकि घेरि घरि आणैं, बांधी कारज सारै।
सहजैं बांधी कदे न छूटै, कर्म-बंधन छुटि जाई।
काटै कर्म सहज सौं बांधि, सहजैं रहै समाई।
—सन्त काव्य संग्रह—पृ० २५३।

३—यदामिथ्याभिमानेन सत्तां कल्पयति स्वयम्।
अहंकाराभिमानेन प्रोच्यते भव बन्धनो। ३।९६।१६

४—जीवो हंकृतिमादत्ते संकल्प कलयेद्धया।
स्थैतया घनतया नीलिमानमिवाम्बरन्। वही, ३।६४।१४।

का विश्वास अज्ञानता जनित होने के कारण असत्य और दुखकारक है। द्वितीय इस बात का परिचायक है कि सृष्टि में आद्योपान्त रहने वाला और संकल्पानुसार रूप धारण करने वाला मन जीव का सूक्ष्म रूप है। तृतीय प्रकार का विश्वास आत्मज्ञान का परिचायक होने के कारण मोक्षोन्मुख करने का साधन है। चतुर्थ स्तर पर व्यक्ति को 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' की अनुभूति होने लगती है। स्पष्ट है प्रथम प्रकार का अहं सांसारिक बंधन का कारण है। इससे मुक्त होने का प्रमुख साधन परमात्म तत्व की ओर उन्मुख होना है। 'दादूपंथी' सन्तों में इसके चारों प्रकारों के दर्शन हो जाते हैं। इस बोध के कई स्तर हैं–

(१) देहाध्यास में पड़े हुए जीव का अहंभाव

इस प्रकार के अहं का सन्तों ने बड़ा ही मनोरंजक वर्णन किया है। उनका कहना है कि हे जीव! तू मदमत्त होकर क्यों भ्रमण करता है। तुम्हें इस बात का ज्ञान नहीं कि धन और यौवन मायामय होने के कारण गर्व के विषय नहीं हैं। तू अपने शरीर की सुन्दरता पर मुग्ध होकर स्त्री में आसक्त है। तुम्हारे अन्दर विषय-वारिधि हिलोरें ले रहा है। 'मेरे और तेरे' के चक्कर में पड़कर तू माया से दिग्भ्रमित हो रहा है। इसी अवस्था में तुम्हारा सारा जीवन बीत गया है और काल तुम्हारे सिर पर नाचने लगा है। अरे मूढ़! अब तो चेत।[1] देख! अब तेरा, अन्त समय आ गया है। तुम्हारे सर के बाल श्वेत हो गये हैं। जीवन और मरण में संघर्ष चल रहा है। श्रवण सुन नहीं पाते, दृष्टि की क्षमता समाप्त हो गई है और तुम अपनी सुधि-बुधि खो बैठे हो।[2] फिर भी तुमने उस निर्मल नाम का स्मरण न किया। कठिन कर्म के चक्कर-में पड़कर तुम्हारा मन माया के व्यापार में फँसा था। विषय के चक्कर में पड़कर तुम इन्द्रिय सुखानुरागी हो गये थे। काम और क्रोध का तुम पर आधिपत्य था। तृष्णा से आलोड़ित होकर तुम पंच विकारों को अपना चुके थे। इस देहाध्यास और भौतिक सुख में तुमने अपना सब कुछ गँवा

१—जात कत मद को मातौ रे।
तन धन जोवन देखि गरवानौ, माया रातौ रे।
अपनौ ही रूप नैन भरि देखै कामिन को सँग भावै रे।
बारबार बिषै रत मानै, मरिवौ चीति न आवै रे।
मैं वड़ आगैं और न आवै, करत केत अभिमाना रे।
मेरी मेरी करि करि भूल्यौ माया मोह भुलाना रे।
मैं मैं करत जनम मव खोयो, काल सिरहानै आयौ रे।
दादू देखु मूढ़ नर प्राणी, हरि बिन जनम गमायौ रे।
—दादू दयाल की बानी, भाग २, पृ० ५३।

२—देखत ही दिन आइ गये।
पलटि केस सब सेत भये।
आइ जुरा मीच अरु मरणा।
आया काल अवै क्या करणा।
स्रवणों सुरति गई नैंन न सूझै।
सुधि बुधि नाठी कह्या न बूझै। —वही, पृ० ८८।

दिया और दुर्भाग्य के कारण अपने रचने वाले को भूल गये।[1] तुम्हें क्या पता था कि यह शरीर विकार और व्याधिग्रस्त है। इसमें मेद, मज्जा, मांस, रक्त और मल की पेटियां हैं। यह हाड का पिंजरा है। जो चाम से मढ़ दिया गया है। इसमें मलमूत्र, श्लेष्मा, लार भरे है। रज और वीर्य से बने इस देह पर तू इतना घमण्ड क्यों करता है।[2] अरे ज़रा सोच तो सही कि तू अपनी यह विषम स्थिति भूल क्यो गया—

अन्धे सो दिन काहे भुलायौ रे।
जा दिन गर्भ हुतौ ऊंधै मुख, रक्त पीत लपटायौ रे।
बालपनै कछु सुधि नहीं कीनी, मात-पिता हुलरायौ रे।
षेलत षात गये दिन यौ ही, माया मोह बंधायौ रे।
जोबन मांहिं काम रस लुबधी, कामनि हाथ बिकायौ रे।
जैसे बाजीगर कौ बानरा, घर-घर बार नचायौ रे।
तीजापन मैं कुटंब भयौ तब, अति अभिमान बढ़ायौ रे।
मेरी सरभरि करै न कोई, हौ बाबा कौ जायौ रे।
बिरध भयौ सिर कंपन लागौ, मरनै कौ दिन आयौ रे।
'सुन्दरदास' कहै संमुझावै, कबहूं राम न गायौ रे।[3]

'देहाध्यास' की बार-बार स्मृति दिलाकार 'दादूपंथी सन्त' देहजनित सीमाओ का परित्याग करके व्यक्ति को उत्तरोत्तर आध्यात्मिक उत्थान की ओर अग्रसर होने का परामर्श देते हैं। यही उनके इस विवेचन का मूल मंत्र है।

(२) मैं सर्वभाव विमुक्त आत्मा हूं

दादूपंथी सन्तो ने बार-बार अपने को पहचानने की सलाह दी है। उनके अनुसार बिना आत्म-परिचय के मुक्तिलाभ नहीं हो सकता। वे मानते हैं कि यह परिचय ब्रह्म-परिचय का प्रमुख सोपान है। 'दादू' आत्मतत्व के आन्तरिक स्वरूप की गवेषणा के समर्थक हैं। वे कहते हैं कि हे भाई! इसे अपने शरीर के अन्दर खोजो। यह अगोचर है। जिस प्रकार दही को मथने से मक्खन निकलता है उसी प्रकार इस शरीर के अन्दर छिपे आत्मतत्व को प्रकट कर सकते हैं।[4] इसीलिए—

१—निर्मल नाउँ न लीया जाइ। जाके भाग्य बडे सोई फल खाइ।
मन माया मोह मदमाते, कर्म कठिन ता माहि परे।
विषै विकार मान मन माही, सकल मनोरथ स्वाद खरे।
काम-क्रोध ये काल कल्पना, मैं मैं मेरी अति अहंकार।
तृष्णा तृपति न मानैं कबहूं, सदा कुसंगी पंच विकार। —दादू दयाल की वानी, भाग २, पृ० १४५।

२—सुन्दर ग्रन्थावली भाग २, अथ देह मलीनता गर्व प्रहार कौ अंग — ४३५–३७।

३—वही, भाग दो, पृ० ९०९।

४—आप आपण में खोजो रे भाई।
वस्तु अगोचर गुरु लखाई।
ज्यूं मही विलोयें माखण आवै।
त्यूं मन मथियाँ तें तत पावै। —दादू दयाल की बानी, पृ० १६५।

साध कहै उपदेश बिरहणी।
तन भूले तब पाइये, निकट भया परदेश बिरहणी।
तुमहीं माहैं ते बसै, तहाँ रहे करि बास।
तहँ ढूँढ़े पिव पाइये, जीवनि जीव के पास बिरहणी।
परम देस तहँ जाइये, आतम लीन उपाइ।
एक अंग ऐसे रहै, ज्यो जल जलहि समाइ बिरहणी।
सदा सँगाती आपणा कबहूँ दूरि न जाइ।
प्राण सनेही पाइये, तन मन लेहु लगाइ बिरहणी।
जागे जगिपति देखिये परगट मिलिहै आइ।
दादू सन्मुख ह्वै रहै, आनद अगि न माइ बिरहणी।[1]

स्पष्ट है कि वह परमतत्व इसी पिण्ड मे निवास करता है पर उसे शोध पाना एक दुष्कर कार्य है। वह तन-मन को भूल जाने के पश्चात् ही मिलता है। इसीलिये दादू कहते हैं—

'भाई रे घर ही में घर पाया।
सहजि समाइ रह्यौ ता माही, सतगुर खोज बताया।
ता घर काज सबै फिरि आया, आपै-आप लखाया।
खोलि कपाट महल के दीन्हे, थिर अस्थान दिखाया।
भय औ भेद भरम सब भागा, साच सोई मन लाया।
प्यंड परे जहाँ जिव जावै, ता में सहज समाया।
निहचल सदा चलै नहिं कबहूँ, देख्या सब मे सोई।
ताही सूँ मेरा मन लागा, और न दूजा कोई।
आदि अन्त सोई घर पाया, इब मन अनत न जाई।
'दादू' एक रगै रँग लागा, ता में रह्या समाई।[2]

आत्मचैतन्य को दादूपंथी परात्पर सत्ता का प्रतिरूप मानते हैं। इस सन्दर्भ में अपने को पहचानना, आत्मपरिचय या आभ्यन्तरिक प्रयाण द्वारा परमतत्व की उपलब्धि एक विशिष्ट अर्थ का परिचायक सिद्ध होती है। वस्तुतः सन्त इस बात को मानते हैं कि जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में भी है। अतएव बाह्य का परित्याग तथा 'घट' की अन्तः-परीक्षा परम तत्त्व का साक्षात्कार करके उसके साथ समरस सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

वस्तुतः यह परिकल्पना चिन्तन की व्यापकता की सूचक है। इसके अन्दर एक

१—दादू दयाल की बानी, भाग २, पृ० ६०।
२—वही पृ० ३१८।

(३) मैं विश्वरूप हूं

औदात्य निहित है। 'सुन्दरदास' स्पष्ट रूप से कहते हैं कि सबकी अन्तरात्मा में उसी परब्रह्म का निवास है।[1] वही सर्वत्र विद्यमान है। इसीलिये जीव भी वही है जो ब्रह्म है।[2] दादू ने 'कायाबेली'[3] में पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता का विशद विवेचन किया है। इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि ये जीव को ही महत्वपूर्ण नहीं मानते थे अपितु इस काया-मन्दिर को भी ब्रह्माण्डमय समझते थे।

'दादूपंथ' में अहं के सभी प्रकारों का वर्णन है। पर इसके बाधक एवं असामाजिक स्वरूप पर इस पंथ के सन्तों ने विशेष रूप से दृष्टिपात किया है। वस्तुतः इसके प्रथम स्वरूप को इन कवियो ने विशेष रूप से अपना विवेच्य बनाया है। इसका मूल कारण यह है कि इस 'पंथ' के सन्त व्यक्ति की उन भावनाओं और मनोवेगों पर जमकर कुठाराघात करते हैं, जो परमात्म तत्व की उपलब्धि में सहायक सिद्ध नहीं होते।

आत्मतत्व की पहचान

सन्तों ने आत्म-तत्व की गवेषणा और इसके साक्षात्कार को विशेष महत्व दिया है। आत्मा हमारे दर्शन, चिन्तन और मनन का प्रमुख अंग रही है। गीता में 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' इत्यादि इसी तथ्य का संकेत करते हैं। दादूपंथी सन्त आत्मा के इसी अजर-अमर स्वरूप को मान्यता देते हैं। उनका कहना है कि यह आत्मा अनुपम है। यह न तो मरती है, न जीती है और न काल-कवलित होती है। इसे न तो अग्नि जला सकती है और न तीक्ष्ण हथियार काट सकता है। यह अनश्वर और अविनाशी है। यह अपने सहज स्वरूप में व्यापकता एवं ब्रह्मैकत्व की परिचायक है। दादू कहते हैं—

१—सोई है सोई है सोई है सब मैं।

—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग दो, पृ० ८४७।

२—तूं ही तूं ही तूं ही तूं, जोई तूं है सोई हूं।
ज्यौं ज्यौं आवै त्यौं त्यौं यौं ना कछु यौं नहिं ना कछु त्यौं।
तूँ मति जाणौ है या स्यौं, ज्यौं कौं त्यौं ही, ज्यौं कौं त्यौं।
यौं हीं यौं हीं यौं हीं यौं, सुन्दर थोथौ रापै क्यौं।—वही पृ० ८४६।

३—ऐसा तत्त अनूपम भाई, मरै न जीवै काल न खाई।
पावकि जरै न मार्‌यौ मरई, काट्यौ कटै न टार्‌यौ टरई।
आखिर खिरै न लागै कोई, सीत घाम जल डूबि न जाई।
माटी मिलै न गगन बिलाई, अघट एक रस रह्या समाई।
ऐसा तत्त अनूप कहिये। सो गहि दादू काहे न रहिये।
दादू दयाल की बानी, भाग २, पृ० ६१।

पीव पीव आदि अंत पीव ।
परसि-परसि अंग संग, पीव तहाँ जीव । ॥टेक॥
मन पवन भवन गवन, प्राण कँवल माहिं ।
निधि निवास विधि-विलास, राति दिवस नाहिं ।
साँस-बास, आस-पास, आत्म अँगि लगाइ ।
रैन बैन निरखि नैन, गाइ गाइ रिझाइ ।
आदि तेज अति तेज, सहजि सहजि आइ ।
आदि नूर अति नूर, दादू बलि-बलि जाइ ।[1]

आत्म तत्व की परख के सन्दर्भ मे 'दादूपंथी' सन्त काया के आन्तरिक रहस्य का सकेत भी देते हैं । इनका कहना है—

आप आपण मे खोजौ रे भाई ।
बस्तु अगोचर गुरू लखाई ।
ज्यूँ मही बिलोयें माखण आवै ।
त्यूँ मन मथियाँ तें तत पावै ।
काठ हुतासन रह्या समाइ ।
त्यूँ मन माहैं निरंजन राइ ।[2]

कहीं कहीं सन्तो ने परम तत्व को 'आतम राम' के नाम से भी अभिहित किया है ।[3] कुछ अन्य स्थलों पर आत्म-परिचय 'अहम्ब्रह्मास्मि' के ज्ञान के पश्चात् उपलब्ध होने वाले ब्रह्मानन्द का उल्लेख मिलता है । उदाहरण स्वरूप सन्त सुन्दरदास का निम्नांकित पद लिया जा सकता है—

'ऐसी मोहि रैनि विहाई हो ।
कौन सुनै, कासौ कहौ, बरनी नहिं जाई हो ।
पूरन ब्रह्म विचार तैं मोहि नींद न आई हो ।
जागत जागत जागिया, सूतै न सुहाई हौ ।
कारण लिंग स्थूल की सब शंक मिटाई हो ।
जाग्रत स्वप्न सुपोपती तीनौं बिसराई हो ।
तुरीया तत्पद अनुभयौ ताकी सुधि पाई हो ।
"अहं ब्रह्म" यौ कहत हौ, हौं गयौ बिलाई हो ।
वचन तहाँ पहुचै नहीं यह सैंन बताई हो ।
सुन्दर तुरियातीत मैं सुन्दर ठहराई हो ।[4]

१—दादू दयाल की वानी भाग २, पृ० ६५ ।
२—दादू दयाल की वानी, भाग दो, पृ० १५।३—५४
३—आतम राम न जानै, मेरा कह्या न मानै ।
—वही, पृ० १५५ ।
४—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग दो—पृ० ८४५ ।

ऐसा ज्ञात होता है कि दादूपंथी सन्तो का आत्मतत्व का परिचय वस्तुतः ब्रह्मतत्व के साक्षात्कार का प्रमुख परिचायक है। इसके लिये वे सांसारिकता का परित्याग आवश्यक मानते है। 'दादू' ने कहा भी है—

आपा मेटे हरि भजै, तन-मन तजे विकार,
निरबैरी सब जीव सों, दादू यह मत सार।[1]

ज्ञान की महत्ता

दादूपंथ के सन्त ज्ञान के उन्मुक्त गायक हैं। इस दृष्टि से वे कबीर की ज्ञानमार्गी परम्परा के ही परिपोषक सिद्ध होते हैं। 'दादू' स्पष्ट रूप से इस बात की घोषणा करते है कि ज्ञान आत्मा में ही उत्पन्न होता है। इसका उदय होते ही व्यक्ति के कर्मों का अशुभ होने लगता है और जीव "निरंजन-थान" को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।[2] अतएव वे उसी एक 'अल्लाह' की सच्ची उपासना करने का परामर्श देते हैं। जिस प्रकार पिंजरे में बैठा हुआ सुग्गा राम राम पढ़ता है, उसी प्रकार इस शरीर में बैठी हुई आत्मा एकमात्र परात्पर सत्ता के अभिज्ञान से संयुक्त हो जाती है।[3] ऐसा माना जाता है कि व्यक्ति जिस प्रकार का चिन्तन करता है वह उसी प्रकार परिवर्तित हो जाता है। सम्भवतः इसी तथ्य का उल्लेख करते हुए सन्त सुन्दरदास संसार के समस्त भ्रमो एवं मोहान्धकारों के नाशक ब्रह्म ज्ञान-रूपी सूर्य का स्तवन करते हैं।[4] वे स्पष्ट रूप से कहते हैं—

सब कोउ आप कहावत ज्ञांनी।
जाकौ हर्ष शोक नहिं ब्यापै, ब्रह्मज्ञान की ये नीसांनी।
ऊपर सब बिवहार चलावै, अंतह्करण शून्य करि जांनी।
हानि लाभ कछु धरै न मन मैं, इहिं विधि बिचरै निर अभिमांनी।
अहंकार की ठौर उठावं, आतम दृष्टि एक उर आंनी।
जीवन-मुक्त जांनि सोइ सुन्दर, और बात की बात बषांनी।[5]

१—दादू दयाल की बानी-भाग दो, पृ० २५।

२—आतम माहै ऊपजे, दादू पंगुल ज्ञान।
किरतिम जाइ उलंघि करि, जहाँ निरंजन थान।
— स्वामी दादू दयाल की वाणी भाग १, पृ० २।

३—दादू यह तन पिंजरा, माही मन सूवा।
एकै नाव अलह का पढि हाफिज हूवा।—स्वामी दादूदयाल की वाणी, पृ० ३६

४—ब्रह्म ज्ञान विचारि करि, ज्यों होइ ब्रह्म स्वरूप रे।
सकल भ्रम तम जाय मिटि उर उदित भान अनूप रे।
—सुन्दर ग्रंथावली, भाग दो, पृ० ८३१।

५—वही, पृ० ८३६।

हर्ष, शोक से विमुक्त होना, और सारे सांसारिक प्रपंच से मुक्त होकर निःसंशय भाव से संसार में ज्ञान-शिखा प्रज्ज्वलित करके अन्धकार और पापाचार का विनाश करना ही ज्ञानी का प्रमुख कर्तव्य है। उसका जीवन विवाद-रहित और चिन्तन स्वरूप भ्रम रहित होता है। वह हस्तामलकवत सब कुछ देखता है और सब कुछ समझता है।[1] इसीलिये संसार में सन्त ज्ञान को अत्यावश्यक मानते हैं और उसका विविध दृष्टि से गुणगान करते हैं। सन्त सुन्दरदास इस ओर संकेत करते हुए लिखते हैं :—

'व्यापक ब्रह्म जानहु एक।
और भ्रम सब दूरि करिये, इहै परम बिवेक।
ऊच, नीच, भलौ बुरौ, सुभ, असुभ यह अज्ञांन।
पुन्य पाप अनेक सुख, दुख, स्वर्ग नरक बषान।
द्वंद्व जौ लौ जगत तौ लौ जन्म मरण अनत।
हृदै में जब ज्ञान प्रगटै होइ सबको अन्त।
दृष्टि गोचर श्रुति पदारथ, सकल है मिथ्यात।
स्वप्न तैं जाग्यौ जबहिं तब, सब प्रपंच बिलात।
यथा भांन प्रकाश तैं कहु तम रहै न लगार।
कहत सुन्दर संमुझि आई, तब कहा संसार।[2]

ज्ञान समन्वयवादी और भ्रमभंजक होता है। यह मनुष्य के अन्दर द्वन्द्वातीत स्थिति करके आध्यात्मिक साधन में सहायक सिद्ध होता है। इसके समक्ष पाप का महत्व नहीं, यह तो उसे इस प्रकार जलाकर राख कर देता है जैसे अग्नि काष्ठ को। यही व्यक्ति को संसार के मिथ्यात्व से अवगत कराता है। इसीलिए सन्त सुन्दरदास कहते हैं कि ज्ञान के अभाव में व्यक्ति सांसारिकता में लिप्त होकर अपना सर्वनाश कर लेता है। उसकी दृष्टि परात्पर सत्ता की ओर नहीं जा पाती, अपरिष्कृत रहने के कारण यह भेद-संयुक्त होती है। इस स्वरूप से वह विविध जन्मों में जमे हुए पाप की परतों में फँसकर इनका विषय फल भोगता है। उसके शरीर मे ही उसकी मुक्ति के विविध साधन विद्यमान हैं, पर वह उनसे अभिज्ञ न होने से नाना प्रकार के दुःखो को भोगता है।[3] उसे यह कहाँ पता कि—

१—ज्ञानी ज्ञान कों जानै हो।
मुक्त भयो विचरै सदा, कछु शंक न आनै हो।
समुझि बूझि चुपचाप ह्वै बकवाद न ठानै हो।
दूरि भई सब कल्पना, भ्रम भेदहि भानै हो।
देषै हस्तामलक ज्यौं कछु नाहिं न छानै हो।
सुन्दर ऐसा ह्वै रहै, तब ही मन मानै हो।
—सुन्दर ग्रन्थावली (२), पृ० ८४६।

२—वही, पृ० ८४१।

३—ज्ञान बिन अधिक अरूझत है रे।
नैन भरे तौ कौन काम के नैंक न सूझत है रे।
सब मैं व्यापक अन्तरजामी ताहि न बूझत है रे।

'जाकै हिरदै ज्ञान है, ताहि कर्म न लागै।
सब परि बैठे मक्षका, पावक तै भागै।
जहां पाहरू जागहीं, तहां चोर न जांहीं।
आंषिन देषत सिंह कौ पशु दूरि पलांहीं।
जा घर मांहि मंजार है, तहां मूषक नासै।
शबद सुनत ही मोर का अहि रहै न पासै।
ज्यों रवि निकट न देषिये, कबहूं अंधियारा।
सुन्दर सदा प्रकास मैं सबही तैं न्यारा।[1]

जीव के लिए 'मोह-निशा सब सोवनि हारा, देषहिं स्वप्न अनेक प्रकारा' की कहावत चरितार्थ होती है, पर जब वही ज्ञान-संयुत् और अमरपद अभिलाषी हो जाता है तो उसकी स्थिति भिन्न हो जाती है। इस दशा में वह गीता के 'स्थितप्रज्ञ' के सदृश सर्व सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है और उसके हृदय में निरन्तर ज्ञान का अद्भुत प्रकाश हो जाता है। सन्तों ने ज्ञान को मुक्ति का प्रमुख हेतु माना है। इसकी तुलना सूर्य से की गई है। द्रष्टव्य है कि मरीचिमाली, तिमिरनाशक, सत् प्रकाशित और तेजोद्दीप्त होता है। सन्तों द्वारा निरूपित ज्ञान में ये विशिष्टतायें सर्वांश रूप में विद्यमान हैं। सन्त साहित्य में तिमिर का अर्थ अज्ञान अथवा मोहान्धकार है। ज्ञान, उनकी शब्दावली में, इस अज्ञान का विरोधी और प्रकाश का सहगामी है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि दादूपंथ में 'ज्ञान' वह प्रमुख साध्य है जिसके प्राप्त हो जाने के पश्चात् अन्य सभी साधन हस्तामलकवत उपलब्ध हो जाते हैं।

सन्त और योगी

दादूपंथी योगी सर्वमाया-मुक्त, सर्वथा निस्पृह और ज्ञानालंकृत साधक है। वह बाह्याडम्बर का विरोधी और अन्तःसाधना का समर्थक है। इसकी विशेषता का उल्लेख करते हुए 'दादू' कहते हैं—

'निरंजन जोगी जानि ले चेला। सकल बियापी रहै अकेला।
खपर न झोली डंड अधारी। मठी न माया लेहु बिचारी।
सींगी मुद्रा विभूति न कंथा। जटा जाप आसण नहिं पंथा।
तीरथ बरत न बनखंडि बासा। माँगि न खाइ नही जग आसा।
अमर गुरू अबिनाशी जोगी। दादू चेला महारस भोगी।[2]

भेद दृष्टि कर भूलि पर्‌यौ है तातैं बूझत है रे।
कठिन करम की परत भापसी मांहि अमूंझत है रे।
सुन्दर घट मैं कांमधेन हरि निशदिन दूझत है रे।
—सुन्दर ग्रन्थावली-भाग दो, पृ० ८४२।

१—वही, पृ० ८६६।

२—दादू दयाल की बानी, भाग २—पृ० ६२।

वह निरंजन निराकांक्षी, बाह्याचार-भंजक, अमर गुरु का अविनाशी चेला और महारस-भोगी है। वह तो सब ब्रह्माण्ड को माला, इसके आकारों को मनियां और परम-तत्व को धागा मानता है। इस परमतत्त्वरूपी धागे में गुही हुई अनन्त संसृति की मनियों से निर्मित ब्रह्माण्ड रूपी माला ही उसके जप का साधन है। शरीर के प्रत्येक छिद्र मुख और जिह्वा हैं और इन्ही के माध्यम से वह अपना अजपाजाप संपादित करता है।[1] वह निराकार निर्मल, अविनाशी और परम तेज पुंज निर्गुण तत्व को अपना उपास्य मानता है। अपने हृदय में उसी का साक्षात्कार करके उसकी सेवा में निरन्तर संलग्न रहता है।[2] योगी की इन्हीं विशिष्टताओं के कारण दादू उसके गुण के ग्राहक हैं। उसकी अद्भुत शक्ति का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

'जोगी जानि जानि जन जीवै।
विनहीं मनसा मनहिं बिचारै, बिन रसना रस पीवै।
विनहीं लोचन निरखि नैन बिन, श्रवण रहित सुनि सोई।
ऐसैं आतम रहै एक रस, तौ दूसर नॉव न होई।
विनहीं मारग चलै चरण बिन, निहचल बैठा जाई।
बिनहीं काया मिलै परस्पर, ज्यों जल जलहि समाई।
बिनहीं ठाहर आसण पूरै, बिन कर वेनु बजावै।
विनहीं पॉऊँ नाचै निस दिन, बिन जिभ्या गुण गावै।
सब गुण रहिता सकल वियापी, बिन इंद्री रसभोगी।
दादू ऐसा गुरू हमारा, आप निरंजन जोगी।[3]

वस्तुतः बाह्य दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात हो सकता है कि उपर्युक्त मान्यता अतिरंजित और अतिशयोक्तिपूर्ण है, पर बात ऐसी नहीं है। दादूपंथ की तात्त्विक दृष्टि इस सत्य का ज्वलन्त प्रमाण है कि संप्रदाय के सन्त बाह्याडम्बर के स्थान पर आभ्यन्तरिक काय-

---

१—'दादू' माला सब आकार की, कोइ साधू सुमिरे राम।
करणीगर तै क्या किया, ऐसा तेरा नाम।
सब घट मुष रसना करै, रटै राम का नाव।
दादू पीवै राम रस, अगम अगोचर ठाव।
—दादू दयाल की बानी, पहिला भाग—पृ० ५८।

२—आदि अंत आगे रहै, एक अनूपम देव।
निराकार निज निर्मला, कोई न जाणै भेव।
अविनासी अपरपरा, वार पार नहिं छेव।
सो तूं दादू देषि ले, उर अन्तरि करि सेव।
दादू भीतरि पैसि करि, घट के जड़ै कपाट।
साँई की सेवा करै, दादू अविगत घाट।
घट परिचय सेवा करै, प्रत्तषि देषै देव।
अविनासी दर्सन करै, दादू पूरी सेव।
—वही, पृ० ६६।

३—दादू दयाल की बानी—भाग दो, पृ० ८५।

साधना के पक्षपाती थे। ये ज्ञानी होने के साथ ही योगी भी थे। योग बाह्य का आभ्यन्तर से सम्मिलिन कराने के साथ ही, आभ्यन्तर की सुषुप्त शक्ति को जाग्रत करने का प्रमुख साधन है। इस प्रक्रिया में साधक को सगुण-साकार के स्थान पर निर्गुण-निराकार का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि बाह्य शक्तियों का निरसन होने पर आभ्यन्तरिक दृष्टि विशेष रूप से विकसित और उद्‌बुद्ध हो जाती है। योगी की विशिष्टता सम्बन्धी उपर्युक्त उद्धरण इसी सत्य का ज्वलन्त प्रमाण है। योगी वस्तुतः अपने योग-बल से सांसारिकता को मारकर आध्यात्मिकता का उन्नयन करता है। इस दृष्टि से वह द्विजन्मा माना जाता है।

दादूपंथ में 'योगी' की तरह ही 'सन्तों' का महत्व भी विशेष रूप से प्रतिपादित किया गया है। 'अथ साध महिमा' को अंग में इस सम्प्रदाय के सन्तों ने तत्सम्बन्धी सामग्री का विशद विवेचन किया है। साधु की विशेषता बतालाते हुए 'सुन्दरदास' ने परब्रह्म के प्रति अनन्य प्रीति, अद्वैत के प्रति आसक्ति, हृदय की शुद्धता, निर्मलता और ज्ञान-सम्पन्नता का उल्लेख किया है।[1] साधु के मिलने से पातकी व्यक्ति भी पवित्र हो जाता है और उसके दोष और कलंक मिट जाते हैं। सन्तों में अशुद्ध मन को शुद्ध करने की अप्रतिम शक्ति होती है।[2] इनके संग से व्यक्ति में साधुता का उदय होता है। उनके उपदेशामृत से व्यक्ति व्यक्ति भ्रम-विमुक्त होकर आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने लगता है[3]। ये विषय-सुख से मुक्त और स्थित प्रज्ञ होते हैं। हर्ष-शोक, यश-अपवाद, अथवा मान-अपमान इन्हें प्रभावित नहीं कर पाते[4]। इसीलिये सन्त सुन्दरदास इन्हें मुक्ति का प्रमुख साधन मानते हैं[5] और सन्त दादूदयाल इन्हें भवसागर के लिये उपयुक्त बोहित की उपाधि से अभिहित करते हैं[6]। साधु-संगति की उपमा, गंगा, चन्दन, पारस, हीरा आदि से दी गई है। जिस प्रकार उपर्युक्त पदार्थों से व्यक्ति लाभ प्राप्त करता है, उसी प्रकार साधु की संगति से वह जीवन का नाना-आधि-व्याधियों से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त करता है। इसलिये यथास्थान सन्तों ने साधु को

१—प्रीति प्रचण्ड लगै परब्रह्महि और सबै कछु लागत फीकौ।
शुद्ध हृदैमति होइ सुनिर्मल, द्वैन प्रभाव मिटै सब जी कौ।
गोष्टि रु ज्ञान अनन्त चलै तहं, सुन्दर जैसें प्रवाह नदी कौ।
ताहि तें जानि कटै निसवासर, 'साधु कौ संग सदा अति नीकौ।'
—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग दो, पृ० ४६०।

२—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग दो—पृ० ४६०।

३—वही, पृ० ४६१।

४—वही, पृ० ४६२।

५—छूटिवे कौ सुन्दर उपाइ एक साधु संग, जिनकी कृपा तें अति सुख पाइयतु है।
वही, पृ० ४६३।

६—साधू जन संसार में, भव जल बोहिथ अंग।
दादू केते ऊबरे, जेते बैठे संग।
—दादू दयाल की बानी, पहिला भाग, पृ० १४६।

परमेश्वर के सदृश अभिमत फलदाता सिद्ध किया है।[1] सन्तों के अनुसार सांसारिक भोगों में रत व्यक्ति मृतक तुल्य हैं।[2] साधु संगति ही अमृत का छींटा देकर उन्हें जीवन दान देती है। इसीलिये ये स्पष्ट रूप से इस सत्य का उद्घोष करते हैं—

सन्त सुखी दुखमय संसारा।[3]

अथवा वे कहते हैं—

सन्त समागम करिये भाई।
जानि अजानि छुवै पारस कौ, लोह पलटि कंचन होइ जाई।
नाना बिधि बतराइ कहावत, भिन्न-भिन्न करि नाम धराई।
जाकौ बास लगै चन्दन को, चन्दन होत बार नहिं काई।
नवका रूप जानि सत्सगति, तामैं सब कोई बैठहु आई।
और उपाइ नहीं तरिवे कौ, सुन्दर काढ़ी राम दुहाई।[4]

गुरु-महिमा

गुरु की महिमा का निर्वचन प्राचीनकाल से ही आध्यात्मिक-चेतना का प्रमुख अंग रहा है। 'योगवासिष्ठ' में कहा गया है कि जो कृपा पूर्वक दर्शन, स्पर्शन या शब्द के द्वारा शिष्य के देह में शिव भाव का 'आवेश' करा सकते हैं, वे ही देशिक या गुरु हैं। कुण्डलिनी जगकर पट् चक्रों का भेदन करके जब ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव के साथ जा मिलती है तो यह आवेश होता है।[5] 'बोधसार' में 'नरहरि' ने योग्य शिष्य के उद्धार अथवा अयोग्य शिष्य को योग्य बनाकर उसे मुक्तिपथ पर उन्मुख करने की क्रिया को गुरु द्वारा सम्पादित होने वाला कार्य कहा है।[6] 'नवचक्रेश्वरतत्र' के अनुसार गुरु पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत का मर्मज्ञ होता है।[7] 'गुरुगीता' में स्पष्ट रूप से इस तथ्य का उल्लेख है कि कुण्ड-

---

१—दादू इस ससार में ये द्वै रतन अमोल।
इक साईं अरु सत जन, इनका मोल न तोल। —दादूदयाल की बानी, पहिलाभाग, पृ० १५४
२—(दादू) सबही मृतक समान हैं, जीया तबही जाणि।
दादू छांटा अमी का, को साधू बाहै आणि। —वही, पृ० १५८।
३—सुन्दर ग्रन्थावली-भाग दो, पृ० ८३५।
४—वही, पृ० ८३५-३६।
५—दर्शनाद स्पर्शनाच्छब्दाद कृपया शिष्य देहके।
जनयेद् यः समावेशं शाम्भव सहि देशिक'। निर्वाण प्रकरण (१।१२८।१६१)
डा० गोपीनाथ कविराज—भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खण्ड, पृ० २६१ से उद्धृत।
६—तत्तद्विवेक वैराग्ययुक्तवेदान्तयुक्तिभि.।
श्री गुरुः प्रापयत्येव न पद्ममपि पद्मतान्।
प्रापय्य पद्मतामेनं प्रबोधयति तत्त्वणाद। वही, पृ० २६१।
७—पिण्डं पदं तथा रूपं रूपातीतं चतुष्टयन्।
ये वा सम्यग् विजानाति, सः गुरुः परकीर्तित। वही, पृ० २६१।

लिनी शक्ति, हंस, विन्दु और निरंजन को ही यथाक्रम से पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत कहा गया है।[1] गम्भीरता पूर्वक विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि आध्यात्मिक रहस्यों से अवगत कराने के लिए साधक को एक सिद्ध व्यक्ति की आवश्यकता होती है। इसका कारण यह है कि आरम्भ में वह इस रहस्य से अवगत नहीं रहता है। इससे उसे पूर्ण रूप से अवगत कराना और उसकी मानस-ग्रन्थियों को खोलकर उसे मोक्ष के मार्ग पर ले जाना गुरु का प्रमुख धर्म है। दादूपंथी सन्तों ने इसीलिए गुरु की महिमा का गुणानुवाद मुक्त कण्ठ से किया है। इनका विश्वास है कि सद्गुरु का उपदेश-पूर्ण शब्द भौतिक सुषुप्ति का नाश करके साधक को उद्बुद्ध करता है। उसके शब्द को सुनते ही शिष्य में साधना के भाव का अभ्युदय हो जाता है।[2] वह तत्वदर्शी बन जाता है और अपने अन्दर की निष्क्रिय शक्ति को सक्रिय बनाकर ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार वह अपने जीवन को सफल बना लेता है।[3] जिस प्रकार पारस लोहे को बदल कर मूल्यवान स्वर्ण बना देता है, उसी प्रकार गुरु भी सांसारिक शिष्य को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करके मोक्ष का अधिकारी बना देता है। गुरु ज्ञान प्रदाता है। इस माध्यम से वह शिष्य के हृदय को अज्ञान के अन्धकार से मुक्त कर देता है। गुरु के अभाव में किसी भी सांसारिक उपादान से यह अज्ञान समाप्त नहीं किया जा सकता।[4] गुरु की महत्ता का वर्णन करते हुए सन्त सुन्दरदास कहते हैं—

'गुरु के प्रसाद बुद्धि उत्तम दशा कौं ग्रहै।
गुरु के प्रसाद भवदुःख बिसराइये॥
गुरु के प्रसाद प्रेम प्रीतिहू अधिक बाढ़ै।
गुरु के प्रसाद रामनाम गुन गाइये॥
गुरु के प्रसाद सब योग की युगति जानैं।
गुरु के प्रसाद शून्य मैं समाधि लाइये॥

१—पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्त्तितः।
रूपं विन्दुरिति ज्ञेयं, रूपातीतं निरंजनम्। —भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खंड, पृ० २६१।

२—सबद बाण गुर साध के दूरि दिसंतर जाइ।
जेहिं लागे सो ऊबरे सूते लिये जगाइ।
दादूदयाल की बानी, भाग १, पृ० १८६

सतगुर सबद मुख सौं कह्या, क्या नेड़े क्या दूर।
दादू सिष स्रवनहुँ सुणया, सुमिरण लागा सूर।
—वही, पृ० ३

३—साचा समरथ गुर मिल्या, तिन तत दिया बताइ।
दादू मोट महाबली, घट घृत मथि करि खाइ।—वही पृ० ४।

४—(अ) इक लख चन्दा आणि घर, सूरज कोटि मिलाइ।
'दादू' गुर गोबिन्द बिन, तौ भी तिमर न जाइ - वही पृ० ६।
(ब) गुरु बिन ज्ञान ज्यौं अंधेरै माहिं आरसी।
—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग २, पृ० ३८६।

सुन्दर कहत गुरुदेव जौ कृपाल होंहि।
तिन के प्रसाद तत्वज्ञान पुनि पाइये॥[1]

रज्जब गुरु और गोविन्द से समान प्रीति का उल्लेख करते हैं।[2] उनका कहना है :—

सतगुरु सो जो चाहि चेला बिन कीया।
यौ परिदोष न दीजिये, मिलि अमृत रस पीया॥
ज्यूँ ससि के सरधा नहीं कोइ कवल विगासै।
मुदित कुमोदिनि आप सों बाँधी उस पासै॥
ज्यूँ दीपक को दिल नहीं को पड़ै पतंगा।
तन मनु होमै आपसो मोडै नहिं अगा॥
कँवल कोष आपै खुलै मन मधुकर नाहीं।
भँवर भुलाना आप सों बींधा यूँ माहीं॥
ज्यूँ चन्दन चाहै नहीं कोई विषधर आवै।
जन रज्जब अहि आव सौं सो सोधिर पावै[3]॥

लघुता और दीनता

मद-विगलन, अहं का परित्याग तथा गुरु और ब्रह्म के समक्ष विनत भाव से रहना सन्तों की प्रमुख विशेषता है। कबीर तो स्पष्ट रूप से इस बात का उद्घोष करते हैं कि मैं राम का कुत्ता हूँ। मेरा नाम 'मुतिया' है। मेरे गले में राम की जेवडी पडी हुई है, वह जिधर मुझे खींचता है उधर ही मैं बढ़ जाता हूँ। 'लघुता का अंग' में रज्जब ने इससे सम्बन्धित विचारावली का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि सन्त के लिये आडम्बरपूर्ण बड़प्पन अनावश्यक है। उसे लघु और दीन होना चाहिए। उसका व्यवहार और स्वभाव शिशु के सदृश होना चाहिए। इसी लघुता और दीनता से व्यक्ति बड़प्पन और महत्ता प्राप्त करता है।[4] समुद्र का महान विस्तार लाघने की किसी व्यक्ति की क्षमता नहीं पर पवन-पुत्र हनुमान ने लघुरूप धारण करके इसे लाघने का कार्य संपादित किया।[5] तात्विक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव-भक्ति,

---

१—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग दो, ३८६।
२—प्रीति गुरु गोविन्द सों ऐसी विधि कीजै।
३—सन्त-काव्य (संग्रह) परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३३२।
४—दिव बड़ाई मैं नहीं, बड़ान हुँ जो कोई।
   दाप लही लघु माधुरी, रज्जब देखो जोई।
   लघु को देई लोग सब, लघु को लेहि सुगोद।
   जन रज्जब जोया नजरि, देखौ निनु की कोद। रज्जब बानी, पृ० ६३।
५—लंघि समद बलधि करि, दीरघ गय न कोइ।
   पवन-पूत पहुचा तहाँ, जन रज्जब लघु होइ। वही, पृ० ६३।

दीनता, प्रेम और प्रीति साधु के अलंकार हैं। इसीलिये दादू का कहना है कि साधू को सत्य का अवलंबन करके अपने विश्वास को निष्कलुष रखना चाहिए। उसके अन्दर इस प्रकार का दैन्य भाव प्रस्तुत रहना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर वह स्वामी के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर सके।[1] वस्तुतः इस संसार में अन्य कोई व्यक्ति जीता नहीं है। जीता तो वह है जो 'मरजीवा' हो।[1] 'मरजीवा' शब्द विशिष्ट अर्थ का द्योतक है। इसका तात्पर्य है 'मर कर जीना'। सन्त इसे अपनी साधना का मेरुदण्ड मानता है। वह अपने स्वरूप मे 'आपा मेटे हरि मिलै' अथवा 'आप गंवाये पिव मिलै' का परिचायक है। उसे इस बात में विश्वास है कि सांसारिकता का निरसन होने के पश्चात् आध्यात्मिकता का अभ्युदय होता है। जीव की सांसारिकता का विनाश ही उसकी मृत्यु है और उसका अध्यात्म की ओर उन्मुख होना ही उसका पुनर्जन्म है। इसीलिये दादू कहते हैं —

जीवत मिरतक होइ करि मारग माँहैं आव।
पहिला सीस उतारि धरि, पीछे धरिये पांव।
'दादू' मारग साध का खरा दुहेला जाण।
जीवत मिरतक ह्वै चलै, राम नाम नीसाण।
'दादू' मारग कठिन है, जीवत चलै न कोइ।
सोई चलिहै बापुरा, जो जीवत मिरतक होइ[3]।

दादूपंथी सन्तों का यह दैन्य उनकी रागात्मिक वृत्ति को झंकृत करके उनके अन्दर विनय का भाव उत्पन्न करता है। वे सब तरफ से हार कर उस अनन्त विभु की शरण में जाते हैं और दीन होकर कह पड़ते हैं—

अब मोहिं नाचत राखहु नाथ।
चारि पहर चारिउ जुग नाच्यौ, पर परबसि पर हाथ।
तृष्णा ताल, पखावज पाखण्ड, स्वर स्वारथ सब बाजै।
क्यूँ करि कुमति उपंगई राखा, रागर दोष निवाजै।
नाना नेग पहरि पग नूपुर, चंचल चरण चलाये।

१—'दादू' भाव भगति दीनता अंग,
प्रेम प्रीति सता तिहि संग।
सिदक सबूरी साच गहि, साबित राखि अकान।
साहिब सौं दिल लाइ रहु, मुरदा है मसकीन।
—दादू दयाल की बानी, पृ० २०३।

२—तब साहिब को सिजदा किया, तब सिर धन्या उतारि।
यौं 'दादू' जीवत मरै, हिरस हवा कूँ मारि।
राव रंक सब मरहिंगे, जीवै नाहीं कोइ।
सोई कहिये जीवता, जो मरजीवा होइ। वही, पृ० २०३।

३—दादूदयाल की बानी, भाग १, पृ० १६२।

चौरासी घट भेष रेख सोई, सब संगीत खिलाये।
फेरी फिर्यो मान मन मानी, हुरमी हेत सुडारी।
सरग भूमि पाताल परे पग, भीख न लही भिखारी।
रज्जब रम्यो रजा की करम गति, कौल न कुंजन पावै लाल।
रीझै राम दरस दत दीजै, पूरी तौ दीजै प्रतिपाल[1]।

चेतना का उद्बोध

उनकी यह दीनता और लघुता ही उसके आध्यात्मिक उत्थान का सर्वस्व है। यह सत्य है कि उनका यही भाव उनकी चेतना को उद्बुद्ध करके उन्हें इच्छित मार्ग पर अग्रसर करने में समर्थ होता है। सन्त संसार के व्यापक उलझन से पूर्ण अवगत हैं। हर परिस्थिति के साथ उलझना और उसका सुलझाव खोजना दुष्कर है। अतएव वे निषेध-पद्धति का अवलम्बन ग्रहण करते हैं। दैन्य-भाव-संवलित उद्बोधन अपनी संप्रेषणीयता और प्रभावोत्पादकता मे अप्रतिम हैं। उदाहरण के लिये दादू का निम्नांकित पद लिया जा सकता है[2]।

जागत कौं कदे न मूसै कोई।
जागत जानि जतन करि राखै, चोर न लागू होई।
सोवत साह वस्तु नहिं पावै, चोर मुसै घर घेरा।
आसि पासि पहरो कोउ नाहीं, वस्तैं कीन्ह निवेरा।
पीछैं कहु क्या जागें होई, वस्तु हाथ थैं जाई।
बीती रैनि बहुरि नहिं आवै, तबका करिहै भाई।
पहिलै ही पहरें जे जागै, वस्तु कछू नहिं छीजै।
दादू जुगति जानि करि ऐसी, करना है सो कीजै।

उपर्युक्त पद में जीव की निरवलम्ब स्थिति के साथ ही, 'मन पछतैहौं अवसर बीते' अथवा 'का बरिषा जब कृषी सुखानी' का भाव विद्यमान है। सन्त स्पष्ट रूप से इस बात की घोषणा करता है कि हे गँवार! समय रहते चेत। तुझे दूसरी बार मानव जन्म नहीं ग्रहण करना है। जिस मार्ग पर तुम्हें चलना है, उसी पर समझ-बूझ कर चल। तुम्हें ज्ञात नहीं है कि आगे का मार्ग विषम है, उसपर चलना तलवार की धार के सदृश है।[3]

१—रज्जब बानी—पृ० ३७४।

२—दादूदयाल की बानी-भाग दो, पृ० ५-४।

३—मन मेरे कछु भी चेत गँवार।
पीछे फिरि पछितावैगा रे, आवै न दूजी बार।
काहे रे मन भूलो फिरत है, काया सोच विचार।
जिनि पंथ चलना है तुम कूँ, सोई पंथ सँवारि।
आगे बाट तू विषम है मन रे, जैसी खाँडे की धार।
दादू दास तूँ साईं सौं सत करि, कूड़े काम निवार।
—दादूदयाल की बानी, भाग २,-पृ० ४०।

तूं अब भी नहीं जगता, सारी रात्रि समाप्त हो गई है। जीवन अंजुलि के पानी की तरह समाप्त होता जा रहा है। घड़ियाल निरन्तर ध्वनि करके समय की नश्वरता का अभिज्ञान करा रहा है। सूर्य और चन्द्र निरन्तर अपनी गति से इस बात की स्मृति दिला रहे हैं कि समय के साथ ही आयु भी निरन्तर घट रही है। जिस प्रकार सरोवर का पानी और वृक्ष की छाया निरन्तर अस्थिर रहती है, उसी प्रकार यह जीव भी नश्वर है। वह बटोही है। यहाँ आया है और चला जायगा। इसलिये समय रहते आत्म-तत्त्व को पहचान लेना आवश्यक है[1]। इसी तथ्य को हृदयंगम करके सन्त कह उठता है—

'जागि सबेरे जागि सबेरे, जागि परें तें तूं ही है रे।
सोइ सुपन मैं अति दुख पावै, जागि परे जीवत्व मिटावै।
सोइ सुपन मैं आनत भैसौ, जागि परें जैसे कौ तैसो।
सोई सुपन मैं ह्वै गयौ रंका, जागि परे रावत है बंका।
सोइ सुपन मैं सुधि बुधि खोई, जागि परे सुन्दर है सोई[2]।'

सभी दादूपंथी सन्तों में यह विचारधारा अपने पूर्ण उत्कर्ष पर है। उनका प्रमुख कर्तव्य जीव को उसकी आध्यात्मिक सत्ता का अभिज्ञान कराना था। यह तभी सम्भव था जब उसके समक्ष उसका यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत किया जाय और उसे इस बात की स्मृति दिलाई जाय कि वह वस्तुतः परमोच्च सत्ता का अंग है। मायालिप्त हो जाने के कारण उसे इसका ज्ञान नहीं है। सन्तसाहित्य में इस युक्ति का मनोवैज्ञानिक प्रयोग किया गया है। यह निर्वचन इतना सरल, स्पष्ट और हृदयग्राह्य है कि कुछ क्षण के लिये परम भोग-लिप्सु भी प्रभावित हो उठता है।

यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि प्रत्येक जीव मोह-निशा में पड़े रहने के कारण अपने यथार्थ-स्वरूप से अवगत नहीं रहता। पर जब उसके समक्ष उसका सही स्वरूप प्रस्तुत हो जाता है तो उसे अपने भौतिक कार्यों के प्रति घृणा होने लगती है और उसकी मुक्ति का द्वार खुल जाता है। सन्त-साहित्य में मानव की चेतना को झकझोर देने वाली इस प्रकार की उक्तियो का बाहुल्य है।

अहिंसा और समत्व भाव

दादूपंथी सन्त हिंसा को पाप मानते हैं। उनकी धारणा है कि हिंसक अधोगति

१—जागि रे सब रैणि बिहाणी।
जाइ जनम अँजुली कौ पानी।
घडी घड़ी घडियाल बजावै, जे दिन जाइसो बहुरि न आवै।
सूरज चंद कहैं समझाइ, दिन दिन आव घटती जाइ।
सरवर पाणी तरवर छाया, निस दिन काल गरासै काया।
हंस बटाऊ प्राण पयाना, दादू आतम राम न जाना।—दादूदयाल की बानी भाग २ पृ० ६२

२—सुन्दर ग्रन्थावली—भाग दो, पृ० ८५२।

को प्राप्त होता है[1]। 'दादू' ने अपनी साखी में इसीलिये 'निर्वैरी सब जीव सों' की बार-बार पुनरावृत्ति की है। उनका कहना है कि बिना दया के मानवमन तत्त्वग्राही नहीं हो सकता।[2] मांसभक्षी जीव वस्तुतः सिंह, सियार और कुत्ते के सदृश है। वह विवेकहीन पशु है। सन्त स्वभावेन अहिंसक होता है। उसकी मान्यता है कि संसार के जीव एक ही परिवार के हैं। उनमें भेद नहीं है। मूल का विचार करने से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है[3]। वे तो स्पष्टरूप से कहते हैं कि—

'दादू' सूका सहजैं कीजिये, नीला भानैं नाहिं।
काहे को दुख दीजिये, साहिब है सब माहिं।[4]

स्पष्ट है कि जीवों की हत्या के ही वे विरोधी नहीं हैं, अपितु उन्होंने वनस्पतियों में भी जीव की कल्पना करने का महत्त्वपूर्ण कार्य आज की वैज्ञानिक खोज के पहले ही सम्पादित किया था। अहिंसा का प्रतिपादन करते समय उनकी वाणी में ओज, शब्दों में स्पष्टता और विचार में तीखापन है। उनका कहना है—

'काला मुँह करि करद का, दिल थैं दूरि निवार।
सब सूरति सुबहान की, मुल्लाँ मुग्ध न मार।
गला गुसे का काटिये, मियाँ मनीकौ मारि।
पचौं बिसमिल कीजिये, ये सब जीव उबारि।
वैर विरोधैं आतमा, दया नहीं दिल माहिं।
दादू मूरति राम की, ता कौं मारन जाहिं[5]।'

जीवमात्र की एकता के प्रतिपादन का इससे महत्त्वपूर्ण स्वरूप संतों को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिल सकता। अहिंसा का प्रतिपादन आध्यात्मिक चेतना के उन्मेष का प्रथम सोपान है। अहिंसक के अन्दर समत्व के साथ ही दया और भावनात्मक ऐक्य जैसे महनीय गुणों का अभ्युदय होता है। वह अपने क्रोध से मुक्त हो जाता है, विद्वेष को एक प्रकार से समाप्त कर देता है और इसके प्रभाव के अन्तर्गत आत्म-उत्थान में निरन्तर तल्लीन रहता है। वस्तुतः अहिंसा के तमोगुणी स्वरूप के दिग्दर्शन के द्वारा ही सन्तों

१—'दादू' कोई काहू जीव की करै आतमा घात।
साच कहूँ सना नहीं सो प्राणी दोजगि जात।
—दादूदयाल की बानी, भाग १, पृ० १२५।

२—'दादू' सिदिक सुबूरी मन नहीं, दिल के वज्र कठोर।
काजी काफिर है कहिये, मोमिन मालिक और। वही, पृ० १२५।

३—आतम भाई जीव सब, एक पेट परिवार।
'दादू' मूल विचारिये, तौ दूजा कौन गँवार।
—दादू दयाल की बानी, भाग १, पृ० २२३।

४—वही, पृ० २२३।

५—वही, पृ० २२४।

ने उसके सतोगुणी स्वरूप का अभिज्ञान कराया है। इस तुलनात्मक कौशल से व्यक्ति की आँखें खुल जाती हैं और उनके उपदेश के रहस्य में निहित सत्य को वह सरलता से हृदयंगम कर लेता है। दादूपंथ में अन्य सन्तों ने भी अहिंसा के पक्ष में इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है। उदाहरण के लिए जनगोपाल जी का निम्नांकित पद लिया जा सकता है :—

जीव न मारी रे बाबा जीव न मारी रे।
पाप पहुँचै एक दिन दुष पावै भारी रे।
सब जीव पियारे सब जीव पियारे पीव कै, तुझ दया न आवै रे।
साहिब लेषा लेइगा तब कीया पावै रे।
रोम जितो जा जीव के, ते ते नरक कूपा रे।
सहस्र वर्ष लौं भुगतसी, होसी लट रूषा रे।
जे मार्या सो मारसी, सुणि साध की बाणी रे।
बैर बहौडे साइयां, दुख पावै प्राणी रे।
जनमोहन जो वाहिये लुणियेगा सोई रे।
दया किये पावै दया, मारै मर होइ रे।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दादूपंथी सन्तों ने अहिंसा और समता का महत्वपूर्ण प्रतिपादन किया है।

स्त्री-निन्दा

स्त्री-निन्दा का सन्तसाहित्य में विशेष स्थान है। इसका प्रमुख कारण यह है कि सन्त साधना एवं आध्यात्मिक उत्थान को विशेष महत्व प्रदान करते थे। स्त्री के प्रति विशिष्ट मोहासक्ति से उनकी साधना में बाधा उपस्थित होती थी। अतएव उसे प्रमुख बाधा समझ कर वे उसका परित्याग करते हैं।[2] सन्तों का कहना है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी इस विष रूपी अमृत का पान करने में उलझ गये।[3] सन्त आत्मा की अनश्वरता में विश्वास करते हैं। उनका कहना है कि जीव कर्म फल से निरन्तर विविध योनियों में दिग्भ्रमित होता रहता है। इस कारण ऐसी भी अवस्था आती है कि पहले जन्म में जिन लोगों में परस्पर पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध रहता है दूसरे जन्म में उन्हीं में माता-पुत्र का सम्बन्ध भी हो जाता है। इस प्रकार के सम्बन्ध के कारण अवधूत स्त्री का परित्याग

१—सन्त-साहित्य सुमन माला—पंचम सुमन—महाराज श्री दादू के शिष्यों की रचनायें-पृ० १५।

२—जे नर कामिनि परिहरैं, ते छूटैं गर्भवास।
दादू औंधे मुख नहीं, रहैं निरंजन पास।
—दादू दयाल की बानी—भाग १, पृ० ११६।

३—ब्रह्मा विष्णु महेश लौं सुर नर उरझाया।
विष का अमृत नाँव धरि, सब किनहूँ खाया। —वही, पृ० १२१।

करता है।[1] दादू ने नारी को माया का स्वरूप मानने के साथ ही इसे सर्पिणी की संज्ञा से अभिहित किया है। उनका कहना है कि यह अपने स्वरूप मे विविध रूपाधारिणी है। यह बाबा कहकर गले से मिलती है, भाई कहकर जीव का भक्षण करती है, पुत्र बनाकर संपूर्ण संसार को पी जाती है। यथार्थ में यह सर्वतोभावेन अविश्वसनीय है।[2] सुन्दरदास के मत से कामिनी का शरीर ऐसा सघन वन है जहां जाकर कोई बच नहीं सकता है। उसकी चाल ही मस्त हाथी है और उसकी कटि से केसरी का भय उत्पन्न होता है। उसकी वेणी काले नाग के सदृश है और कुच काम-चोर का आवास पर्वत है। वह कटाक्ष का बाण चलाती है। इसका शरीर राक्षस का शरीर है और वह जिसे पाती है, उसी का भक्षण कर जाती है।[3] यह नीच जीव विषय के वशीभूत है। इसीलिये उसे विविध प्रकार की योनियों में भ्रमित होना पड़ता है।[4]

सन्तों ने नारी की निन्दा तो अवश्य की है, पर नारी उनके लिए सर्वथा अग्राह्य नहीं है। वे तो वासना रूप नारी का तिरस्कार करते हैं, और काम के अहितकर स्वरूप

१—जाणे बूझै जीव सब, त्रिया पुरुष का अंग।
आपा पर भूला नहीं, दादू कैसा संग॥
माया के घट साजि द्वै, त्रिया पुरुष धरि नॉव।
दून्यूँ सुन्दर खेलैं दादू, राखि लेहु बलि जांउ॥
बहण वीर सब देषिये, नारी अरु भर्तार।
परमेसुर के पेट के, दादू सब परिवार॥
पर घर परिहरि आपणी, सब एकै उणहार।
पसु प्राणी समझै नहीं दादू मुग्ध गँवार॥
पुरिष पलटि बेटा भया, नारी माता होइ।
'दादू' को समझ नहीं, बडा अचभा मोहि॥
माता नारी पुरिष की, पुरिष नारि का पूत।
दादू ग्यान विचारि करि, छाडि गये अवधूत।
—दादूदयाल की बानी, भाग १, पृ० १२०।

२—बाबा-बाबा कहि गिलै, भाई कहि कहि खाइ।
पूत-पूत कहि पी गई, पुरिषा जिन पतियाइ। —वही, पृ० १२४।

३—कामिनी की देह मानों कहिये सघन वन।
वहाँ कोऊ जाइ सु तौ भूलि कैं परतु है।
कुंजर है गति कटि केहरि कौ भय जामैं।
वेनी काली नागनीऊ फन कौं धरतु है॥
कुच है पहार जहा काम चोर रहै तहा।
साधिकै कटाछ बान प्रान कौं हरतु है॥
सुन्दर कहत एक और डर अति तामैं।
राछस बदन षाऊ षाऊं ही करतु है॥ —सुन्दर ग्रंथावली, भाग दो, पृ० ४३७।

४—पामर पशु समान उदर भरि विषै कमावै।
× × ×
विषई दंद भोग कर्म करि स्वर्गहि पावै।
—पचामृत—सं० स्वामी मगलदास बालकराम जी के कवित्त, पृ० ३१।

को त्याज्य मानते हैं उनके अनुसार मनोवेग मनुष्य के विवेक पर परदा डाल देते हैं और वे आत्मतत्व की पहचान में सहायक नहीं होते। अतएव व्यक्ति को अपने उत्थान के लिए इनको अमान्य घोषित करना आवश्यक है।[1]

सन्तों ने स्त्रीत्व में निहित व्यभिचार का खण्डन किया है उसके तपोनिष्ठ अनुशासित जीवन का नहीं। 'पतिव्रता' के सम्बन्ध में इनके विचार पर दृष्टिपात करने से उपर्युक्त कथन की उपयुक्तता स्वयं प्रमाणित होती है द्रष्टव्य है कि उनके द्वारा निरूपित यह विवेचन जहाँ एक ओर उनकी एकोन्मुख एव सप्राण-निष्ठा का परिचायक है वहीं यह उनके पातिव्रत सम्बन्धी विचार पर भी प्रकाश डालता है। उदाहरण के लिए निम्नांकित पद लिए जा सकते हैं—

'आज्ञा मांहैं बैसै ऊबै, आज्ञा आवै जाइ।
आज्ञा माँहि लेवै देवै, आज्ञा पहिरै खाइ।'—दादूदयाल की बानी, भाग १, पृ० ८८

× × × ×

पतिव्रत गृह आपणे करै खसम की सेव।
ज्यों राखै त्यों हीं रहै, आज्ञाकारी टेव।—वही, पृ० ८८

× × ×

नारी सेवग तब लगै, जब लग साईं पास।
दादू परसै आन कौ ता की कैसी आस।[2] —वही, पृ०८९

जीवन—गार्हस्थ्य जीवन

निर्गुणमार्गी सन्तों में भी कुछ ऐसे सन्तों का दर्शन हो जाता है जो गृहस्थ जीवन बिताते हुए साधना में निरन्तर रत रहते हैं। इसके साथ ही कुछ ऐसे सन्त भी दृष्टिगोचर होते हैं, जो गृहस्थ जीवन के प्रति अपना विचार व्यक्त किये हैं। 'घर' और 'बन' शब्द का प्रयोग दादूपथ मे मिलता है। ये सन्त निरन्तर इसी बात का उपदेश देते हैं कि इन दोनो के मध्य में साधक को अपना स्थान निर्धारित करना आवश्यक है।

१—निरपि काम अति हेत भयौ लंकापति षण्डन।
क्रोध काजि बलि साजि कीन्ह हिरनाच्छ विहण्डन।
लोभ लाइ बलि राइ धाइ करि गयो पतालहिं।
मोह कपोत सनेह कुटुम्ब हित पर्यो सु जालहिं।
काम क्रोध अरु लोभ लगि मोंह सहित चा-यूं गता।
थे सव व्यापत भीषजन सौ कैसे नहिं है हता।
—पचामृत-सं० स्वामीमंगलदास, पृ० ११।

२—स्वामी दादूदयाल की वाणी—पृ० १३० और १३३।

स्थान महत्त्वपूर्ण नहीं है महत्त्व तो है वृत्तियों के प्रकाशन का[1]। इसीलिये ये सन्त कहते हैं—

काहे दादू घरि रहै, काहे बनखँडि जाइ।
घर बन रहिता राम है, ता ही सौं ल्यौ लाइ॥
दादू जिनि प्राणी करि जाणिया घर बन एक समान।
घर माहैं बन ज्यौं रहै सोई साध सुजान॥[2]

दादूपंथी संत साधना को विशेष महत्त्वपूर्ण मानते थे। वे 'जोई प्यण्डे सोई ब्रह्मण्डे' की भावना में विश्वास करते थे। उनका प्रमुख उद्देश्य पिण्डशोधन के माध्यम से परात्पर सत्ता की प्राप्ति था। इसीलिये वे 'घर-बन बीच ही रहौ प्रेम पुर छाइ' का घोष करते थे। 'निज स्थान निर्णय' सम्बन्धी आध्यात्मिक उपदेश का निर्वचन करते हुए 'दादू' कहते हैं[3]—

अर्श इलाही रब्बदा, इथाई रहमान वे।
मक्का बीच मुसाफरीला, मदीना मुलतान वे।
नबी नाल पैगम्बरे, पीरे हदा थान वे।
जन तहँ ले हिकसा, ला, इथा बहिश्त मुकाम वे।
इथा आब जमजमा, इथा ही सुबहान वे।
तख्त रबानी कंगुरेला, इथा ही सुलतान वे।
सब इथा अन्दर आव वे, इथा ही ईमान वे।
'दादू' आप वजाइ वेला, इथा ही आसान वे।

इस मान्यता के कारण दादूपंथी सन्त बाह्याडम्बर के स्थान पर क्रियाशील अनुशासन और साधनात्मक अनुभूति को विशेष महत्त्व प्रदान करते थे। उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक होने के साथ ही सामाजिक भी था। इसके स्पष्टीकरण के लिए हमें एक प्रकार से उस तथ्य पर भी दृष्टिपात करना पड़ेगा जिनका उपयोग दादूपंथ में हुआ है। दादूपंथी सन्त स्पष्ट रूप से कहते हैं—

'दादू विषै विकार सौं, जब लग मन राता।
तब लग चीत न आवई त्रिभुवन-पति दाता।
का जाणौं कब होइगा हरि सुमिरण इकतार।
का जाणौं कब छाड़ि है यह मन विषै विकार।
(दादूदयाल की बानी, भाग १, पृ० २१)

१—घर बन माहैं राखिये दीपक जोति जगाइ।
दादू प्राण पतंग सब जहँ दीपक तहँ जाइ।
घर बन माहिं राखिये, दीपक जलता होइ।
दादू प्राण पतंग सब, आइ मिलैं सब कोइ।
घर बन माहिं राखिये, दीपक प्रगट प्रकास।
'दादू' प्राण पतंग सब, आइ मिलैं उस पास॥—स्वामी दादूदयाल की वाणी, भाग १, पृ० १५५-१५६।
२—दादूदयाल की वाणी—भाग १, पृ० १६३।
३—[illegible] प्रकाशिका टीका—टीकाकार स्वामीनारायणदास पुष्कर—पृ० ६७५।

त्रिभुवन पति को चित्त में लाने और विषय विकार को त्यागने का यह सन्देश उनके उपदेश का मेरुदण्ड है। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए उसे प्राप्त करने के साथ ही विरक्त होकर भी पाया जा सकता है।

समन्वयवादी दृष्टिकोण

दादूपंथी सन्तों का समन्वयवादी दृष्टिकोण विशेष महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से दादू के विचारों का विशेष महत्व है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि—

'तब हम एक भये रे भाई।
मोहन मिलि साची मति आई॥
पारस परसि भये सुखदाई।
तब दुतिया दुरमति दूरि गमाई॥
मलयागिरी मरम मिलि पाया।
तब बंस बरण कुल भरम गँवाया॥
हरि जल नीर निकटि जब आया।
तब बूँद-बूँद मिलि सहज समाया॥
नाना भेद भरम सब भागा।
तब दादू एक रंगै रँग लागा॥'[1]

स्पष्ट है कि भक्ति मिश्रित ज्ञान के आधार पर इन संतों ने सत्य को हृदयंगम किया था। इस साक्षात्कार से उनके अन्दर समन्वयात्मक दृष्टिकोण का उद्भव हुआ था। इसी प्रकाश में वंश, वर्ण और कुल का भ्रम समाप्त हो गया था। इसीलिये ये ललकार कर कह सके थे—

अलहराम छूटा भ्रम मेरा।
हिन्दू तुरक भेद कुछ नाहीं, देखौ दरसन तोरा।[2]

भ्रम-विमुक्त अवस्था में ये संसार के भेदभाव मिट जाते हैं और तदुपरान्त 'साईं के दीदार' के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहता है। वहाँ एक प्रकार से वह स्थित-प्रज्ञ बनकर मान और अपमान से मुक्त रहता है। उसे लोग ऊँच-नीच सब कुछ कहते हैं, पर वह निरभिमान होकर उसे सुन लेता है। सांसारिक व्यक्ति उसे ब्राह्मण, शूद्र और तपस्वी की संज्ञा दे सकते हैं, बुद्धिमान और ज्ञानी मान सकते हैं, कामी, कुटिल, अबुद्धि, अज्ञानी, अपकारी और अभिमानी कह सकते हैं। अर्थात् उस सन्त को प्रशस्ति और निन्दा परक अनेक स्वरूपों को झेलना पड़ सकता है। पर उसे न तो प्रशस्ति से प्रसन्न होना चाहिए और न निन्दा से अप्रसन्न। उसे तो जीवन में मध्यम मार्ग का

१—दादूदयाल की बानी—दूसरा भाग, पृ० २६।
२—दादूदयाल की बानी-दूसरा भाग—पृ० २६।

अवलम्बन करते हुए समदृष्टि का परिचायक होना चाहिए।[1] दादूपंथी सन्त जगजीवनदास कहते हैं—

'भाई रे पंथ पंथ का कहिये।
तजि बकवाद विषै विष बांणी, नाम निरन्तर गहिये।
प्रगट पंथ 'दादू' का कहिये तहां निगम गमि नांही।
पूरण ब्रह्म जगत को कर्ता, सो है दादू मांही।
जा पंथ ते प्रहलाद पारि गये, उधरे जनक बिदेही।
साधिक सिधक सकल मुनि तारे, ऐसा राम सनेही।
जाके पंथ सेव सुक संकर, मुनि जन मगन सरीरा।
सो पथ सरस सदा रस निरमल, पीवै प्रेम कबीरा।[2]

स्पष्ट है कि पंथ विशेष से व्यक्ति का कल्याण नहीं हो सकता। उसे तो उस चिरन्तन भक्ति पथ को ग्रहण करना चाहिए जिसके आश्रय से अनेक ऋषियों और मुनियों का उद्धार हो गया है। प्रश्न उठता है कि अन्य सब कुछ को निषिद्ध घोषित करके भक्तों ने इसी को क्यों मान्य ठहराया है। इसके उत्तर स्वरूप यही कहा जा सकता है ब्रह्म के विषय में 'नेति'-'नेति' की कल्पना ही अधिक उपयुक्त है। उसे 'वह यही है,' अथवा वह 'यह नहीं है' के द्वारा निरूपित नहीं किया जा सकता। 'वह तो है' अथवा सकारात्मक पक्ष और 'नहीं है' अर्थात् नकारात्मक पक्ष के मध्य की वस्तु है। इसीलिये सुन्दरदास कहते हैं —

'जो कुछ सुनिये देषिये, बुद्धि विचारै जाहि।
सो सब वाग विलास है, भ्रम करि जानहि ताहि।
यह अत्यन्ताभाव है, यह ई तुरियातीत।
यह अनुभव साक्षात् है, यह निश्चय अद्वीत।

१—योगी मानि अमानि न मानै।
नीच ऊंच कोऊ कहै कछू जन, उर अभिमान न आवै।
ब्राह्मण शूद्र कहै कोउ तापस, को बुधिवन्त को ज्ञानी।
कामी कुटिल अबुधि अज्ञानी, उपकारी अभिमानी।
कोऊ कहै जगदीस परायन, महापुरुष अधिकारी।
को अस्तुति सराहै कोऊ, को निन्दा को गारी।
भला अनेक बुरा कोउ भाखै, सुनि सुख करै न क्रोधा।
पूजा मानि करै सो तैसा, जैसा आनि विरोधा।
जोगी जुग में कबहुं न आवै, करहिं सो तैसा पावै।
ब्रह्मानंद मगन हरिमारग, जगन्नाथ जनभावै।
—नराणा दादू मंदिर में रखी हुई दादूपंथी पोथी के जगन्नाथ दास के पदों से उद्धृत-पृ० २७०।

२—जगजीवनदास-पृ० २२६।

नाहीं नाहीं करि कह्यो,–है-है कह्यो बपांनि।
नाहीं है के मध्य है, सो अनुभव करि जानि।
यह ई है, पर यह नहीं, नाहीं है-है नाहि।
यह ई यह ई जांनि तूं यह अनुभव या मांहि।
अब कछु कहिबे को नहीं, कहै कहां लौ बैन।
अनुभव ही करि जानिये, यह गूंगे की सैन।[1]

भक्ति ही इस अनुभव गम्य को सहजानुभूति अथवा स्वानुभूतिकी दशा में ले जाती है। इस स्थान पर यह अनिर्वचनीय वचनीय बन जाता है। पर इस अवस्था की प्राप्ति सरल नहीं। इसके लिये सर्वप्रथम तन-मन पर अधिकार करके उन्हें सहज दशा की ओर उन्मुख करना पड़ता है। इस सहजावस्था में त्रिगुणात्मिका वृत्ति जनित उद्वेग शान्त हो जाते हैं और साधक प्रेमरस का पान करने लगता है। यह साधना न तो कोरे योग का संबल ग्रहण करती है और न इसे किसी अन्य नाम से अभिहित किया जा सकता है। यह स्थिति 'मरजीवा' की स्थिति है। यह प्रेम का घर है। इसीलिये यहा 'सीस उतारे कर धरै सो पैठे घर मांहि' की कहावत चरितार्थ होती है। यहां आकर साधक को यह अनुभूति होने लगती है[2] उसका सब कुछ उसी ब्रह्म का है और वह चिरन्तन सत्ता मात्र उसकी है। अतएव उसके अन्तर्गत यह भाव उत्पन्न होता है कि 'तेरा मुझको सौंपता क्या लागे है मोर।' यही तादात्म्य भाव अथवा 'एकमेव ह्वै मिलि रह्यो' की स्थिति है। इसे ही लय योग की संज्ञा भी दी गई है। यही सहज समाधि भी मानी जा सकती है। दादूपंथ के समन्वय का सार निम्नांकित साखी मे निहित है —

आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निर्बैरी सब जीव सो, दादू यह मत सार॥

अपने पराये की भावना की समाप्ति, तन, मन के विकारों का त्याग तथा निर्वैर भाव और समत्व भाव का विरोध ही दादूपंथ के मत का सार है। यही समत्वभाव 'आत्म-दृष्टि' के नाम से अभिहित किया गया है।[3] पर द्रष्टव्य है कि आत्म दृष्टि ज्ञान की मुखापेक्षी है और ज्ञान प्राप्ति की कतिपय शर्तें हैं। यथा—

'ज्ञान तहाँ जहं द्वन्द्व न होई।
वाद विवाद नही काहू सौ गरक ज्ञान मैं ज्ञानी सोइ॥
भेदाभेद दृष्टि नहिं जाकै, अपं शोक उपजै नहिं नोई।
समताभाव भयौ उर अन्तर सार लियौ सब ग्रंथ बिलोई।'

१—सुन्दरग्रन्थावली–भाग १—पृ० ७६।

२—तन भी तेरा मन भी तेरा तेरा प्यंड परान।
सब कुछ तेरा, तू है मेरा, यह दादू का ज्ञान। साखी (३०—२१)

३—सब कोउ आप कहावत ज्ञानी।
जाकौ हर्ष शोक नहिं व्यापै, ब्रह्म ज्ञान की ये निसानी। —सुन्दरग्रन्थावली–भाग दो, पृ० ८३६।

स्वर्ग नरक संशय कछु नाहीं, मन की सकल वासना धोई।
वाही कै तुम अनुभव जानौ, सुन्दर उहै ब्रह्ममय होई ॥[1]'

वस्तुतः दादूपंथ में द्वन्द्वातीत स्थिति का विशेष वर्णन है। अपने समन्वय के सार को स्वयं दादू ने निम्नांकित पद में उद्धृत किया है :—

'भाई रे ऐसा पंथ हमारा।
द्वै पष रहित पंथ गहि पूरा, अबरण एक अधारा ॥
बाद बिबाद काहू सौं नाहीं, माहि जगत थैं न्यारा।
समदृष्टी सुभाइ सहज में, आपहिं आप बिचारा ॥
मैं तैं मेरी यहु मति नाही, निरवैरी निरविकारा।
पूरण सबै देखि आपा पर, निरालंभ निरधारा ॥
काहू के सँगि मोह न ममिता, सगी सिरजनहारा।
मनहीं मन सूँ समझि सयाना, आनँद एक अपारा ॥
काम कलपना कदे न कीजै, पूरण ब्रह्म पियारा।
इहि पंथ पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहजि सँभारा।[2]

'मधि कौ अंग' में प्रायः अधिकांश दादूपंथी सन्तों ने इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है। वस्तुतः यह समन्वय केवल लौकिक, पारलौकिक, अन्तर-बाह्य एवं घर-बन का समन्वय नहीं है, अपितु इसके अन्तर्गत सदाचार-दुराचार, मनोवेग, निर्वैरता और समत्वभावना पर भी विचार किया गया है। इसीलिये इसमें एक ओर आध्यात्मिकता की सतरंगी झाकी मिल जाती है तो दूसरी ओर सामाजिक आदर्शों के निर्वाह का प्रयत्न भी दृष्टिगोचर होता है।

निष्कर्ष

सन्त साहित्य (दादूपंथ) की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है। पर यह एकांगी नहीं है। इसमें समाज के कल्याण के भाव सुव्यवस्थित रूप से संग्रथित हैं। दादूपंथी सन्तों ने व्यष्टि के आध्यात्मिक उत्थान के सभी सोपानों की गवेषणा ही नहीं की अपितु उनका जोरदार निर्वचन भी किया। पर इनकी क्रान्तिकारी दृष्टि से समष्टि का उत्थान छिपा न रह सका। अतएव यह कहा जा सकता है व्यष्टि-समष्टि कल्याण के जितने भी साधन थे उनका इन्होंने उपयोग किया। दादूपंथी दृष्टि समाजहित से विशेष रूप से सम्बन्धित थी। इसीलिये कबीर की ही तरह स्पष्ट भाषा में इन सन्तों ने समाज की कुरीतियों पर कुठाराघात किया और उन्हें निर्मूल करने के लिए प्रयत्नशील हुए। व्यक्ति को सुषुप्ति से मुक्त करने अथवा उसकी चेतना को उद्बोधित करने के लिए जितने भी संभव प्रयत्न किये जा सकते थे, वह सब इस संप्रदाय के संतों ने किये। इस दृष्टि से इनकी लोक हितकारिणी दृष्टि से तत्कालीन समाज का ही कल्याण नहीं हुआ, अपितु वह किसी न किसी रूप में आज भी समाज-प्रेरक बनी हुई है।

१—सुंदर ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ८३७।
२—दादूदयाल की बानी, भाग २, पृ० २७।

: ६ : दादूपंथ-भाषा

भाषा

भाषा भावों, विचारों, कल्पनाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम है। इसी के द्वारा व्यक्ति अपनी अनुभूतियो को सप्रेषित करता है तथा विचार-विनिमय के आश्रय से सामाजिक कार्य-कलाप को सार्थक बनाता है। भाषा की लघुतम इकाई शब्द है और इन्हीं के सार्थक समुच्चय के आधार पर यह सुनिश्चित रूप धारण करती है। इस दृष्टि से इसमे शब्द एवं अर्थ का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित होता है। इसीलिए संभवतः पूर्ववर्ती मनीषियो ने काव्य की परिभाषा देते हुए 'शब्दार्थौसहितौ' वाक्यांश का प्रयोग किया गया है। भाषा सामाजिक घात-प्रतिघातो से निर्मित एवम् प्रभावित होती है। इसपर समाज के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। अपने मूल रूप में व्यक्ति के सापेक्ष्य होने पर भी इसके संगठन, नियोजन तथा नैरन्तर्य को सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक प्रभावों से विच्छिन्न नहीं माना जा सकता। भाषा एक ओर जहां लिपिबद्ध वाङ्मय के रूप में विद्यमान है वहीं दूसरी ओर विविध जागतिक विभेदों के कारण विभिन्न रूपों में सक्रिय है। इसके इस रूप को देखकर व्यक्ति के अन्तर्गत विभ्रम-सा उत्पन्न हो सकता है। पर द्रष्टव्य है कि लिपियों तथा रूपों की विभिन्नता के होते हुए भी संसृति के चिन्तनशील व्यक्तियों ने इसी के माध्यम से अपने ज्ञान के अक्षय भाण्डार को सुरक्षित रखने मे सफलता प्राप्त की है। यही उनके ज्ञान-विज्ञान से संबधित रागात्मक एवं बौद्धिक प्रवृत्तियों के क्रमिक विकास का प्रमुख प्रतिमान है। अभिव्यक्ति में मन के विचारों से लेकर आधुनिक व्यक्ति की अनुभूति के अन्तर्द्वन्द्वों का स्पष्ट चित्रण इसी के माध्यम से उपलब्ध होता है। इस तथ्य को दृष्टि में रखकर विद्वानों ने इसकी परिभाषा देने की चेष्टा की है। लुई एच० ग्रे[1] इसे मानव के भावनापूर्ण स्वरूप की अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन मानते हैं तो एम० एम० लेविस[2] इसे गत्यात्मकता से सम्बन्धित करते हैं। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध मत प्रचलित हैं। यहां हमारा विवेच्य यह नहीं है। केवल इतना कथन पर्याप्त है कि व्यक्ति की अनुभूति जन्म आवश्यकता और

१—In its broadest and most emotional sense, language may be said to be any means of expressing emotional and mental concept. Foundation of Language, p 13.

२—Language is an article of export—
M. M. Lewis–Language in Society, p. 46.

अभिव्यक्ति की आकुलता ने ही भाषा को जन्म दिया है। यह व्यक्ति के अन्तर्मंथन की प्रसव-वेदना की अनुपम प्रादुर्भूति है। इसीलिए यह स्वयं अपनी सीमा में कला होने के साथ ही विज्ञान की विशिष्टताओं से भी अलंकृत है। यह मनुष्य-सृष्टि की अनुपम कृति है। इसी भाषा के माध्यम से इसकी सभ्यता, संस्कृति, दर्शन, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था एवम् राजनीति के कतिपय अस्पष्ट सूत्र प्रतिच्छायित होते हैं। शब्द, वाक्यविन्यास, अभिव्यक्तिकौशल तथा लोकोक्तियों के निर्माण में इन विचार धाराओं के वैविध्य का अप्रतिम सहयोग भी पाया जाता है। इस सन्दर्भ में भाषा एवं उनके शब्द, उनकी वैचारिक पृष्ठभूमि और क्रिया-प्रणाली के साथ ही उनकी व्यावहारिक क्षमता के अनुपम परिचायक सिद्ध होते हैं। भाषा संस्कृति का अनुपम पत्रक है।

दादूपंथ की भाषा

दादूपंथ की भाषा के अध्ययन के विविध रूप हो सकते हैं। उदाहरण स्वरूप इसके भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन के साथ ही अन्यान्य स्वरूपों का उल्लेख भी किया जा सकता है। यहां इस पंथ के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन के पचड़े में अधिक न पड़कर इसके अन्यान्य स्वरूपों का ही अधिक विवेचन तथा विश्लेषण उपयोगी होगा। भाषा के दो पक्ष हैं। पहला भावपक्ष तथा दूसरा कलापक्ष। वस्तुतः ये दोनों अभिन्न रूप से संग्रथित रहते हैं। भावपक्ष कलापक्ष को सशक्त बनाता है और कलापक्ष भावपक्ष को मुखर करता है। इस दृष्टि से एक की अनुभूति में दूसरे की उपस्थिति की सार्थकता प्रमाणित होती है। अंग्रेजी के कवि वर्ड्सवर्थ ने कविता को भावों का स्वयं स्फुरित प्रवाह माना है। भारतीय शोक श्लोक-समीकरण भी इसी बात को प्रकारान्तर से प्रतिपादित करता है। अतएव सन्तों की अनुभूति के सन्दर्भ में 'घनानन्द' की ही उक्ति विशेष रूप से चरितार्थ होती दृष्टिगोचर होती है कि 'लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत।' सन्तों ने कविता नहीं की है, उनके उपदेशामृत और हृदय की तीव्र अनुभूति इसके माध्यम से स्वयं स्फुरित हुई है। उनका लक्ष्य कविता करना नहीं था, अपितु भक्त के रूप में पत्र लिखकर इस बात का विश्वास दिलाते हैं कि वे सांसारिकता से मुक्त होकर ब्रह्मोन्मुख होने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसी प्रयत्न की पूर्णता में उनका और संसार का हित निहित है।[1] इसीलिये वे कहते हैं कि—

अवधू उचरै निर्मल वांणी।
अमल मलिन दोऊ थिर रोपै, ब्रह्म अग्नि पर जारै प्राँणी।
काया पात्र माहिं समावे, गरु ग्यान गुड मेलैं।
विषय विकार काटकस सोई, गगन मण्डल में पैलै।

१—चिट्ठिकाटें पिव ना खिजो, कागर हू लिखि देऊं।
परिवारा सूं तोड़ि करि, बिलैं दोइ तुम लेऊं।
—गरीबदास की बाणी, सं० स्वामी मंगलदास, पृ० ४१।

नौसै द्वार निरति सौ मूंदै, सुमति सौ पोता फेरै।
सुरति छिद्र ह्वै अमी चुवावै, परगट हित सौ हेरै।
सो रस ले मतवाला अवधू, द्रिष्टि न दूजा आवै।
गरीबदास घट माहैं यहु गति, परचै होइ तौ पावै।[1]

उनका भावपक्ष उनके रागात्मक उद्वेलन की मधुर आँखमिचौनी से पूर्णरूपेण अभिषिक्त है। इसीलिए वे जिस निर्मल बाणी का प्रयोग करते हैं वह केवल आत्म-परिचय का ही साधन नही बनती अपितु 'पीव-पिछान' का सोपान भी सिद्ध होती है। वस्तुत: दादूपंथ के भावपक्ष का निखार पर्याप्त प्रांजल, व्यापक एवं मनोहारी है। इसमें दर्शन के साथ ही आत्म-निवेदन, आत्म-परिष्कार, आत्मनिग्रह और साधनात्मक रहस्य के अनुपम सूत्र संग्रथित हैं। व्यष्टि के समस्त उत्थान के साथ ही समष्टि जनित आदर्शों के मणिकांचन संयोग के कारण इसका स्वरूप कुछ विशेष महत्वपूर्ण बन गया है। सुन्दरदास ने अपने ज्ञान-समुद्र नामक ग्रंथ में वर्णन करते हुए लिखा है कि—

'है यह अति गम्भीर, उठति लहर आनन्द की।
मिष्ट सु याको नीर, सकल पदारथ मध्य हैं[2]।'

वस्तुतः उनकी यह उक्ति सन्त-साहित्य के भावपक्ष पर भी लागू होती है। सूक्ष्मता-पूर्वक विचार करने पर यह बात सरलता से स्पष्ट हो जाती है कि यह (दादूपथ) अपने तात्विक स्वरूप में अत्यधिक गम्भीर और व्यापक है। इसकी तुलना समुद्र से की जा सकती है। इसमें आनन्द की लहर उठती है और इसका जल भी मीठा है। संसार के सभी पदार्थ इसमें ही पाये जाते है।

सन्त-साहित्य वस्तुतः सोद्देश्य साहित्य है। अतएव इसका दृष्टिकोण धार्मिक और नैतिक आस्थाओ से अनुप्राणित है। इन आस्थाओं की उपस्थिति के कारण एक ओर यह साहित्य जहाँ जन-प्रिय बन गया है, वही दूसरी ओर इसकी भाषा और भाव-प्रवणता में अभूतपूर्व संजीवनी शक्ति का संचार हुआ है। साहित्य का सबसे बड़ा गुण उसकी संप्रेषणीयता (communicability) है।

दादूपंथी साहित्य उनकी अनुभूति का निश्चल उच्छलन है अतएव इसकी भाषा कुछ हद तक (कुछ स्थलो को छोड़कर) प्रसाद गुण सम्पन्न और प्रभावोत्पादक है। पवित्र अनुभूति में एक अद्भुत संचरणशीलता और संस्पर्श की क्षमता होती है। वह हृदय से सीधा संबंध स्थापित करती है। दादूपंथी भाषा का बाह्य कलेवर शब्दों का समुच्चय है। इसका स्वरूप स्पष्ट चिंतन के ऐसे संघात से निर्मित हुआ है कि इस परिवेश में उनका सभी विशृंखल ज्ञान सजीव एवं सतुलित ज्ञात होने लगता है। निर्माण स्वतः में आनन्द का जनक हुआ करता है। दादूपंथी सन्तों ने अपनी भाषा

१—गरीबदास की वाणी, सं० स्वामी मंगलदास, पृ० ६३।
२—सुन्दर ग्रन्थावली— भाग १—पृ० ५।

के माध्यम से अपनी चेतना का ही नव-निर्माण नहीं किया है अपितु सामाजिक उद्‌बोधन को भी उत्कर्ष प्रदान किया है। इन सन्तों की भाषा में धार्मिक, आध्यात्मिक एवं पारमार्थिक भाव-दशा का गुणात्मक निर्वचन हुआ है। इस विशिष्टता से अलंकृत होने के कारण यह मानव को जाग्रत करके उसे अभिनव सजीवता प्रदान करने में पूर्ण सफल है। इसके पठन से मानव का आत्मपरिष्कार होता है और उसके अन्दर धार्मिक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

सन्तों ने अपने उपदेशामृत को प्रायः गेय पदों में अभिव्यक्त किया है। गेयता व्यक्ति के आंतरिक समन्वय का पुंजीभूत रूप है, इसीलिए यह अन्य व्यक्तियों में सामंजस्य उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ होती है। सन्तों की 'सधुक्कड़ी भाषा' है। ये वस्तुतः 'भाव अनूठो चाहिए भाषा कैसेहु होइ' के समर्थक थे। इसीलिए इनकी रचनाओं में भाव के अनूठेपन का आधिक्य है, पर भाषा का अटपटा स्वरूप भी कम आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता।

सन्त दादू की भाषा

उदाहरण के लिए इस पंथ के प्रवर्तक तथा प्रमुख 'सन्त दादू' की भाषा को लिया जा सकता है। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह बात सरलता से स्पष्ट हो जाती है कि इनकी रचना में राजस्थानी बहुल प्रयोगों की भरमार है। इसके अतिरिक्त ऐसी अन्य भाषाओं के शब्दों की भी कमी नहीं है जो मूलतः राजस्थानी के निकटवर्ती हैं। राजस्थानी के अतिरिक्त मराठी, गुजराती, पंजाबी, सिन्धी, खड़ीबोली एवं ब्रजी आदि के शब्द भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। यथा स्थान संस्कृत एवं उर्दू तथा फारसी के शब्दों का प्रयोग भी दृष्टि-गोचर होता है। यह इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण है कि सन्तों ने उस व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया है जो सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा के अधिक निकट थी, और जिसका पिंगल तथा व्याकरण के नियमों से विशेष सम्बन्ध न था। 'दादू' ने अन्य सन्तों की भाँति अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए खिचड़ी भाषा का प्रयोग किया है। इसीलिये इनकी भाषा में तत्सम शब्दों के अनेक परिवर्तित स्वरूप तथा वर्ण-विपर्यय के अनेकानेक उदाहरण सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। 'दादू' के पदों और साखियों को व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करने की दृष्टि से पं० परशुराम जी का प्रयत्न विशेष स्तुत्य है। उन्होंने साखियो को ३५ अगों एवं पदों को २६ रागों में विभाजित किया है[1]। दादू की भाषा पर सूक्ष्मतापूर्वक दृष्टिपात करने से स्वर एवं व्यंजन विपर्यय के साथ ही संयुक्ताक्षरों मे विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों के प्रभूत उदाहरण उपलब्ध हो जाते हैं। यथा—

स्वर-विपर्यय

'दादू' ने अपनी रचना में 'अ' को 'इ' और कहीं कहीं 'उ' में परिवर्तित कर दिया है।

१—परशुराम चतुर्वेदी—दादूदयाल, पृ० ४२।

मूल शब्द	परिवर्तित रूप
तरना	तिराना
सयन	सयनि

अनेक स्थानों पर 'आ' को 'ए' में और 'इ' को 'अ' में बदल दिया गया है। उदाहरणस्वरूप 'दादू' ने 'किताब' के लिए प्रायः 'कतेब' शब्द का प्रयोग किया है। 'ऊ' के स्थान पर 'ओ' एवं 'उ' के बदले 'इ' का प्रयोग भी मिलता है। यथा—

मूल शब्द	परिवर्तित शब्द
दोनों	दुन्यूं
पंचो	पंचू
भूमि	भोमि
कौतुक	कौतिग

'ऋ' के बदले 'इ' या 'ए' अथवा 'इ' के बदले 'रि' के प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं। यथा—

हृदय	हिरदै
वृक्ष	बिरष
गृह	गेह
निर्गुण	नृगुण
निर्मल	नृमल

व्यंजन विपर्यय

'दादू' ने 'क' के स्थान पर 'ग' का प्रयोग भी किया है। उदाहरण स्वरूप इनके पदों में 'सेवक' के स्थान पर 'सेवग' तथा चातक के स्थान पर चात्रिग शब्द का प्रयोग मिल जाता है। 'ख' को सर्वत्र मूर्धन्य 'ष' से लिखा गया है। कतिपय स्थानों पर ज को झ का रूप प्रदत्त है। 'जूझै' के लिये 'झूझै' एवं 'सूर्य' के लिये 'सूरिज' शब्द भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर 'य' के लिये 'व' तथा 'व' के लिये 'य' का प्रयोग भी हुआ है। इस कारण 'वायु', 'वाव' बन गया, 'आयु' 'आव' हो गई है और आयुर्ध 'आवध' के रूप में प्रयुक्त है। व्यंजन-विपर्यय सम्बन्धी मूलभूत बातों को निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

मूल शब्द	परिवर्तित रूप	परिवर्तन
मुनिवर	मुनियर	व का य
विवेक	वमेक	व का 'म'

मूलशब्द	परिवर्तित रूप	परिवर्तन
गमन	गवन	म का व
संशय	संसा	श का स
जानै	जाणै	न का ण
हृदय	रिदै	हृ का रि
दुहना	दूझना	ह का झ
सिंह	सिंघ	ह का घ
लाभ	लाह	भ का ह
मेघ	मेह	घ का ह
क्रोध	कोह	ध का ह

इनकी रचनाओं में स्वर-व्यजन विपर्यय के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। यथा—

मूल शब्द	परिवर्तित रूप	परिवर्तन
पिण्ड	प्यंड	इ का य
बिंब	ब्यंब	इ का य
इक	हिक	इ का हि
मध्य	मधि	य का इ
यह	इह	य का इ
निश्चय	निश्चे	य का ए
भय	भै	य का ऐ
नयन	नैन	य का ऐ
ओर	वोर	ओ का वो
और	हौर	औ का हौ
झूठो ही	झूठोई	ही का ई
ऋषि	रिषि	ऋ का रि
निन्दा	निन्द्या	आ का या
दुविधा	दुविध्या	आ का या

दादू की रचना में कहीं-कहीं एक से अधिक शब्दों में परिवर्तन भी मिलता है। इसीलिये मानुष, माणस और 'होना' 'हूणै' बन गया है। यथास्थान दो अक्षर एक स्वर में परिवर्तित कर दिए गये हैं, अतएव 'लवण' का 'लूंण', अवधूत का 'औधू', प्रियतम का 'प्रीतम' तथा इन्द्रिय का 'इन्द्री' बन गया है। दिवस के लिये 'दौस' अथवा द्यौस शब्द का प्रयोग मिलता है। अमिल संयुक्ताक्षरों का परिवर्तन कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। यथा—

मूल शब्द	परिवर्तित रूप	परिवर्तन
कर्म	क्रम	अर् का र

समर्थ	सम्रथ	,, ,,
सर्प	स्रप	,, ,,
गर्व	ग्रब	,, ,,
श्रोता	सुरता	रो का उर
तत्व	तत्	व का लोप
द्वन्द्व	दंद	,, ,,
स्वाद	साद	,, ,,
स्कंध	कंध	स का लोप
स्थल	अस्थल	स के पूर्व अ का आगमन

दादूपंथ के दूसरे लब्धप्रतिष्ठ कवि श्री सुन्दरदास की भाषा के उच्चकोटि के मर्मज्ञ और श्रेष्ठ कवि हैं। उनके सवैया, अष्टक, पद, ज्ञान-माधुरी या ज्ञान-गरिमा के अद्भुत संकलन हैं। वाङ्मय के सिद्धहस्त एवं कुशल रचनाकारों में ये अग्रगण्य हैं। ये दादू-दयाल के के अन्तिम शिष्य हैं, फिर भी ज्ञान की गहनता एवं काव्य-गरिमा की दृष्टि से इनका स्थान सर्वोपरि है। इसीलिये राघवदास ने अपने भक्तमाल में इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है और इन्हे दूसरा शंकराचार्य बतलाया है[1]। चतुरदास ने अपनी टीका में इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

बारामासौ आयु भेद आत्मा विचार येही,
त्रिविधि अन्तःकरण-भेद उर धारिये।
बरवै पूरबी भाषा, चौबोला गूढ़ा अरथ,
छपै छंद गण अरु अगन बिचारिये।
नव-निधि अष्ट-सिधि सात बारहू के नांम,
बारामास हो कै बारै रासि सो उचारिये।
छत्रबंध कमल मध्यक्षरा कंकण-बंध,
चौकी-बंध जीनपोस बन्धक्र संभारिये।
चौपड़ि बिरक्ष-बंध दोहा आदि अक्षरीस।
आदि-अन्त-अक्षरी गोमुत्रि काज कीये हैं।
अंतर-बहरलापिका निमात हार-बंध,
जुगल निगड़-बंध नाग-बंध भीं ये हैं।
सिंघा अवलोकनी स प्रतिलोम अनुलोम,
दीरघ अक्षर पंच बिधानी सुनीये हैं।

१—भक्ति, ग्यान, हद सांखि लौं, सर्व साख्र पारहि गयौ।
संक्राचारय दूसरौ, दादू के सुन्दर भयौ।
जगत भगत विख्यात वै, चातुर जन ऐसैं कही।
सब कबियन सिरताज हैं, दादू सिष सुंदर मही।
—राघवदास का भक्तमाल—१९८।४११ तथा २००।४२७।

गजल सलोक और विविध प्रकार भेद,
पंडित कबीर सुरनि मांनि सुख लीये हैं[1]।

वस्तुतः इनकी उपर्युक्त प्रशंसा सर्वांशतः उपयुक्त है। दादूपंथ में सुन्दरदास की भाषा अत्यधिक परिष्कृत है। अनेक स्थानों के भ्रमण और विशेषतः काशी के विद्योपार्जन का इनपर स्पष्ट प्रभाव है। इन्होंने संस्कृत भाषा और रीति-ग्रंथों का अवलोकन किया था और वे उस परम्परा से पूर्ण अभिज्ञ भी थे। इसीलिये उनकी रचनाओं में आध्यात्मिक तत्वों की प्रधानता के बावजूद, हृदय को आकर्षित करने की अद्भुत क्षमता है। भाषा के संबंध में सुन्दरदास का एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। उनका कहना है —

'एक बांणी रूपवन्त भूषन वसन अंग,
अधिक विराजत कहियत ऐसी है।
एक बांणी फाटै टूटै अम्बर उढ़ाये आनि,
ताहू माहि विपरीति सुनियत तैसी है।
एक बांणी मृतकहि बहुत सिगार किये,
लोकनि कौ नीकी लगै संतनि कौं मै सी है।
सुन्दर कहत बांणी त्रिविधि, जगत मांहि,
जानै कोऊ चतुर प्रबीन जाकै जैसी है[2]।

सुन्दरदास परिडत और ज्ञानी थे। उनकी भाषा पर उनके पाण्डित्य की अमिट छाप थी। वे वस्तुतः कथन की उपयुक्तता और विवेकपूर्णता में विश्वास करते थे। उनका कहना था :—

'बोलिये तौ तब जब बोलिवे की सुधि होइ,
न तौ मुख मौंन करि चुप होइ रहिये।
जोरिये ऊ तब जब जोरिबौ ऊ जानि परै,
तुक छन्द अरथ अनूप जामैं लहिये।
गाइये ऊ तब जब गाइवे कौ कंठ होइ,
श्रवण कै सुनत ही मन जाइ गहिये।
तुकभंग छन्दभग अरथ मिलै न कछू,
सुन्दर कहत ऐसी बानी नहिं कहिये[3]।

और तो वचन ऐसे बोलत हैं पशु जैसे,
जिनके तौ बोलिवे मैं ढङ्ग हूं न एक है।

१—राघवदास का भक्तमाल, २०१।५५०-५१।
२—सुन्दर ग्रन्थावली—द्वितीय खण्ड, पृ० ४६६।
३—सुन्दरग्रन्थावली-द्वितीय खण्ड, पृ० ४६७।

कोऊ राति दिवस बकत ही रहत ऐसैं,
जैसी बिधि कूप मैं बकत मानौं मेंक हैं।
बिबिध प्रकार करि बोलत जगत सब,
घट घट मुख मुख बचन अनेक हैं।
सुन्दर कहत तातें बचन बिचारि लेहु,
बचन तौ उहै जामैं पाइये बिवेक हैं।[1]

स्पष्ट है कि इस प्रकार की उक्ति का लेखक अवश्य ही काव्य-कला निष्णात व्यक्ति होगा। सुन्दरदास अपने कौशल में पूर्ण थे। उनकी भाषा का प्रयोग 'जामें पाइये विवेक है' की उन्हीं की कहावत को चरितार्थ करता है। उनकी कृतियां अगाध समुद्र हैं और छन्द-प्रबन्ध के अनेक विधान और भाव भेद तथा रसभेद की प्रवृत्तियाँ ही सीप और मोती हैं। इनका अर्थ मोती की तरह एक विशिष्ट विच्छित्ति और लोकरंजकता से अलंकृत है। अभिधार्थ से उसे समझना दुष्कर कार्य है। उसे हृदयंगम करने के लिये तो व्यक्ति को 'मरजीवा' बनना पड़ता है।[2] इसी 'मरजीवा' के भाव में 'सुन्दरदास' ने अर्थ की अलौकिकता निहित की है। उनका कहना है :—

'जे गुरुभक्त विरक्त जगत सौं है जिन कै संतनि कौ भाव।
वै जिज्ञासु उदास रहत हैं गनत न कोऊ रंक न राव।
बाद-बिबाद करत नहिं कबहूं वस्तु जानिबे को अति चाव।
सुन्दर जिनकी मति है ऐसी, ते पैठहिंगे या दरियाव।[3]

सुन्दरदास महापण्डित थे। इस तथ्य का ज्ञान तत्कालीन सन्त मोहनदास और उनके बीच हुई वार्ता से भी होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि मोहनदास को अपने पिंगल-ज्ञान का बड़ा घमण्ड था। अचानक उनके समक्ष सुन्दरदास का 'ज्ञान-समुद्र' नामक ग्रन्थ आ गया। उसे देखने और सुन्दरदास से वार्तालाप करने पर उनका यह गर्व समाप्त हो गया। 'सुन्दरदास' ने मोहनदास से कहा था—

'पिंगल तुम कैसो पढ़े, सुद्ध न किये कवित्त।
कै ऐसै ही लिषि गये, कै थिर भयौ न चित्त।[4]

१—वही, पृ० ४६१।
२—जाति जिती सब छंदनि की सब सीप भई इहि सागर मांही।
है तिन मैं मुक्ताफल अर्थ, लहैं उनको हित सौं अवगाहीं।
सुन्दर पैठि सकै नहिं जीवत, दै डुबकी मरिजीवहि जाही।
जे नर जान कहावत हैं अति गर्व भरे तिनकी गमि नाहीं।
—सुन्दर ग्रन्थावली-भाग १, पृ० ६।
३—सुन्दरग्रन्थावली-प्रथम खंड, पृ० ७।
४—वही, जीवन चरित्र, पृ० ६५ से उद्धृत।

इसके प्रत्युत्तर स्वरूप मोहनदास ने कहा था—

पिंगल तो हम हैं पढ़े, ता महिं फेर न सार।
पै सुन्दर सुधा-समुद्र में, पुस्तक गल्यौ हमार[1]।

वस्तुतः सुन्दरदास में उच्चकोटि का काव्य-कौशल था और वे बहुमुखी प्रतिभा के कलाकार थे। इस बात को पूर्ण रूप से समझने में सुन्दरग्रन्थावली के छन्दों के निम्नांकित स्वरूप से पर्याप्त सहायता मिल सकती है।[2]

		१	२	३	४	५	६	७
सं०	छन्दनाम	ज्ञानसमुद्र	लघुग्रथ	सवैया	साखी	पद	फुटकर	जोड़
१	दोहा	७६	२६४	—	१३५१	—	७८	१७६६
२	सोरठा	१५	—	—	—	—	—	१५
३	चौपाई	३४	४१३	—	—	—	५	४५२
४	इन्दव	७	—	२२१	—	—	१०	२३८
५	सवैया	७	—	—	—	—	—	७
६	चौपाई	१८	८	—	—	—	१	२७
७	छप्पय	२०	२	—	—	—	३५	५७
८	त्रोटक	४	—	—	—	—	—	४
९	मनहर	७	—	२८६	—	—	६	३०५
१०	रोडा	१	—	—	—	—	—	१

१—सुन्दर ग्रंथावली, प्रथम खंड—जीवन चरित्र, पृ० ६५।
२—भूमिका का परिशिष्ट (ग), पृ० १६१—१६५।

सं०	छन्दनाम	१ ज्ञानसमुद्र	२ लघुग्रंथ	३ सवैया	४ साखी	५ पद	६ फुटकर	७ जोड़
११	पवंगम	३	३१	—	—	—	—	३४
१२	नन्दा	१	—	—	—	—	—	१
१३	अर्द्धभुजंगी	८	—	—	—	—	—	८
१४	पद्धड़ी	२७	—	—	—	—	—	२७
१५	बोधक	१	—	—	—	—	—	१
१६	गीतक	१०	१६	—	—	—	—	२६
१७	कुंडलिया	८	८	२	—	—	१	१९
१८	मालती	४						४
१९	चम्पक	१५	—	—	—	—	—	१५
२०	गीताछन्द	९	—	—	—	—	—	९
२१	मोतीदाम	८	—	—	—	—	—	८
२२	लीला	१	—	—	—	—	—	१
२३	हंसाल	३	—	६	—	—	—	९
२४	डुमिला	२	—	२	—	—	—	४

सं०	छन्दनाम	१ ज्ञानसमुद्र	२ लघुग्रंथ	३ सवैया	४ साषी	५ पद	६ फुटकर	७ जोड़
२५	कुण्डली[1]	१	—	—	—	—	—	१
२६	रासा	१	—	—	—	—	—	१
२७	नराय	३	—	—	—	—	—	३
२८	रंगिक्का	१	—	—	—	—	—	१
२९	बिज्जुमाला	२	—	—	—	—	—	२
३०	चन्दायां	१	—	—	—	—	—	१
३१	हरसंपायां	१	—	—	—	—	—	१
३२	चपट	१३	—	—	—	—	—	१३
३३	पायक्का	१	—	—	—	—	—	१
३४	त्रिभंगी	१	२२	—	—	—	—	२३
३५	साखी	—	१६५	—	—	—	—	१६५
३६	अर्थसवैया	—	३२	—	—	—	—	३२
३७	नीसानी	—	४०	—	—	—	—	४०

१—यह कुण्डलिया से भिन्न है।

०		१	२	३	४	५	६	७
सं०	छन्दनाम	ज्ञानसमुद्र	लघुग्रंथ	सवैया	साषी	पद	फुटकर	जोड़
३८	भुजंग प्रयात	—	१६	—	—	—	१ सं०	१७
३९	मोहिनी	—	१६	—	—	—	—	१६
४०	चामर	—	८	—	—	—	१	६
४१	झूलना	—	८	—	—	—	—	८
४२	रुचिरा	—	११	—	—	—	—	११
४३	अडिल्ला	—	३०	—	—	—	—	३०
४४	मडिल्ला	—	२०	—	—	—	—	२०
४५	बरवै	—	२०	—	—	—	—	२०
४६	किरीटसवैया	—	—	३	—	—	—	३
४७	वीरसवैया	—	—	३७	—	—	—	३७
४८	केतकीसवैया	—	—	२	—	—	—	२
४९	उल्लाला	—	—	—	—	—	२	२
५०	शार्दूलविक्रीडित		—	—	—	—	२ सं०	२
५१	अनुष्टुप	—	—	—	—	—	३ सं०	३
५२	पद	—	—	—	—	२१३	—	२१३
	जोड़	३१४	१२००	५६२	१३५१	२१३	१४८	३७८८

उपर्युक्त आँकड़े से स्पष्ट है कि सुन्दरदास का पिंगल-ज्ञान पूर्णतः विशद और शास्त्रीय था। उन्होंने गणागण विचार, दग्धाक्षर-विचार और काव्यालकारों का समुचित प्रयोग पिंगल शास्त्र के नियमों के अनुसार किया है। सुन्दरदास के सवैये तो अनुपम हैं और सन्त-साहित्य में इस दृष्टि से वे अद्वितीय माने जाते हैं। इनका इन्दव (मत्तगयन्द) भी विशेष महत्वपूर्ण है। सुन्दरदास में कारयित्री प्रतिभा की प्रचुरता थी। इनकी भाषा प्रसाद और माधुर्य गुणों से मण्डित है। इसमें भाव-निरूपण की चित्रोपमता और गहन विषयों को बोधगम्य बनाने की क्षमता अनुपम थी। सुन्दरदास ने अपनी भाषा के माध्यम से गम्भीर विषयों तथा ज्ञान, भक्ति एवं वैराग्य सम्बन्धी उपदेशों का मधुर और सुन्दर वाणी में निरूपण किया है।

'सुन्दरदास' की भाषा में ब्रजी और खड़ी बोली के साथ ही राजस्थानी का बाहुल्य है। फिर भी इनकी कृतियाँ मधुर, सहज और सरल हैं। इन्होने अन्य सन्तों की तरह साखियों का ढेर लगाना उचित नहीं समझा। इनकी साखिया की नगण्य संख्या देखकर ऐसा ज्ञात होता है कि इन्हें बाध्य होकर अथवा परम्परानुमोदन के लिये साखियों की रचना करनी पड़ी। इनकी रचनाओं में पदों का बाहुल्य है। सभी रचनायें मुक्तक छन्दों में लिखी गयी हैं। फिर भी अंगों के विवेचन को देखकर इनकी प्रबन्ध पटुता आंखों से ओझल नहीं की जा सकती। सुन्दरदास की प्रायः सभी रचनाओं में विशेष उद्देश्य निहित है। इनके दो ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं—ज्ञानसमुद्र और सुन्दर विलास। ज्ञान समुद्र का प्रमुख उद्देश्य वेदान्त की सर्वोच्चता का प्रतिपादन और साख्य तथा भक्ति को इसका अभिन्न अग घोषित करना है। सुन्दर-विलास साखियों के ढाँचे पर निर्मित है। दोनों ग्रन्थों का विवेच्य पर्याप्त दार्शनिक और व्यापक है, किन्तु सुन्दरदास के काव्य-कौशल, भाषा ज्ञान और उसपर अधिकार, प्रातिभ अनुभूति तथा काव्य-पटुता के कारण ये विवेचन भी पर्याप्त सरल और बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत किये गये हैं।

सन्त रज्जब की भाषा

दादूपंथ में सन्त रज्जब का विशिष्ट स्थान है। प्रचार की दृष्टि से भी इनकी वाणी सन्त-साहित्य में अधिक समादृत है। ऐसा माना जाता है कि 'दादू' और रज्जब एक दूसरे के अत्यधिक निकट थे। अतएव विचार, चिन्तन और भाषा की दृष्टि से 'रज्जब' पर उनका स्पष्ट प्रभाव मिलता है। इनकी रचनाओं में 'बानी' और 'सरवंगी' प्रमुख हैं। इन ग्रंथ के अवलोकन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि इन्होंने छप्पय, त्रिभंगी, सोरठा, चौपाई, अरिल्ल, दोहा तथा सवैया आदि छन्दों में भी रचना की है। रागों की दृष्टि से इनकी पुस्तकों में–राग माली गौड़ी, रागरामगिरि, राग गौंड़ी, राग गुड, रागमलार, राग टोड़ी, राग असावरी, राग केदारा, राग मारू, राग भैरू, रागललित, राग बिलावल रागसोरठ, राग बसन्त, राग कान्हरा, राग काफी, राग कल्यारा, राग नटनारायण, राग जयश्री तथा राग धनाश्री–आदि का प्रयोग हुआ है। इनकी रचना में साखियों की प्रधानता है। 'सबद' के अन्तर्गत पद भी लिखे गये

हैं, पर संख्या और परिमाण की दृष्टि से साखियों का अत्यधिक महत्व है। 'दादू' के प्रभाव के साथ ही जाति से मुसलमान होने के कारण इनकी भाषा का सूफियाना ठाट कुछ विशेष दर्शनीय है। फिर भी इनकी कृतियों में राजस्थानी की ही बहुलता है। छंदों की दृष्टि से रज्जब जी ने 'अरिल' का प्रयोग सफलतापूर्वक किया है। सब मिलाकर इनकी भाषा को 'सधुक्कड़ी' मानना ही अधिक उपयुक्त है। अर्थचमत्कार एवं शास्त्रीय छन्द-पद्धति की दृष्टि से इनका प्रयोग शिथिल है। इनकी भाषा यथास्थान तो सरल और लोकरंजक है, पर कहीं कहीं उसके ऐसे स्वरूप का परिचय भी मिलता है जिसे सरलतापूर्वक समझ पाना दुष्कर है। दर्शन और संगीत के मणिकांचन संयोग से इनके भावों को हृदयंगम करने में भले विशेष कठिनाई न हो, पर शब्दों की दृष्टि से अर्थ करके उसे समझना टेढ़ी खीर है। रज्जब की अनुभूति तीव्र रही है। अतएव अभिव्यक्ति निश्छल है। कतिपय स्थलों पर भाषा के अटपटे स्वरूप के कारण सम्पूर्ण भाव सरलता से समझ में नहीं आते। इनकी रचना में ब्रजी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, बंगला, खड़ीबोली, अवधी आदि के शब्द मिल जाते हैं। इन भाषाओं के अतिरिक्त इन्होंने उर्दू और फारसी का भी प्रचुर प्रयोग किया है।

दादूपंथ के अन्य सन्तों की भाषा

दादूपंथ की शिष्य परम्परा बहुत लम्बी है। साहित्य के दृष्टिकोण से भी इन रचयिताओं में करीब डेढ़ दर्जन से अधिक व्यक्ति हैं जिनका विशिष्ट महत्व है। 'दादू' रज्जब, और सुन्दरदास के साथ गरीबदास और वषना जी की वाणी प्रकाशित हो चुकी है, पर सन्तदास, जगजीवनदास और जगन्नाथदास जैसे महत्वपूर्ण सन्तों की कृतियाँ अभी प्रकाश में नहीं आ पाई हैं। अतएव उन्हें समझने के लिए नराणा के 'दादू-मंदिर' और मोती डूंगरी के 'दादू विद्यालय' में रखी हस्त-लिखित प्रतियों का ही सहारा लेना पड़ता है। इस दृष्टि से इन तीनों सन्तों की भाषा के विषय में भी हम यही कह सकते हैं कि वह सधुक्कड़ी और खिचड़ी भाषा है। 'जगन्नाथदास', जगजीवनदास और सुन्दरदास की भाषा में अद्भुत संप्रेक्षण-क्षमता और प्रभावोत्पादकता है। सिद्धांत निरूपण की दृष्टि से इनका स्थान भले महत्वपूर्ण न हो, पर भाषा के प्रयोग एवं सहज प्रभावोत्पादकता के विचार से इनके महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

'सन्त वषना' की वाणी मारवाड़ की बोलचाल की भाषा में है, अतएव वह हर व्यक्ति को सरलता से समझ में आ जाती है। कुछ ऐसे शब्द अवश्य मिलते हैं जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता। वर्ण-विपर्यय के उदाहरण भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। उदाहरण के लिए 'गर्व' के स्थान पर 'गंव' और 'संशय' के स्थान पर 'संसा' को ले सकते हैं। इनकी वाणी दो भागों में विभाजित है-(१) साखी भाग, (२) सबद भाग। संख्या की दृष्टि से साखियां कम हैं और पद अधिक। पदों में रूपकों का बाहुल्य है। योग-साधना सम्बन्धी शब्दों का अर्थ तो पूर्व परम्परा के संदर्भ से ज्ञात हो जाता है, पर अनुभूतिपरक शब्दों के अर्थ के लिए पर्याय खोज लेना दुष्कर है। उदाहरण के लिए उनके निम्नांकित पद रखे जा सकते हैं।

माडाला टट्टु की पीठि चांदी पडी छानि कै छेक लै वैर सार्‌या।
कौताली किरथि दुसार नीसरि गई, चौथि के चांद वाजिन्द मार्‌या॥

सामान्य व्यक्ति के लिए इस छोटे से पद में अनेक ऐसे शब्द मिल-जायेंगे, जिन्हें उसे समझ पाना कठिन ज्ञात होगा। उपर्युक्त रेखांकित शब्द इसके उदाहरण हैं। माडाला, छेक लै, कौताली, दुसार आदि शब्द सभवतः शुद्ध मारवाड़ी बोली के हैं। अतएव इन्हें समझने के लिए पर्याप्त प्रयत्न की आवश्यकता है। कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनका अर्थ ही नहीं मिलता; जैसे वरोंसा, तीधोघो निकुलन आदि शब्द। इस दृष्टि से बषना जी की भाषा कुछ दुरूह है, फिर भी उनके भावपक्ष का सगुम्फन कुछ ऐसा मनोहारी और आकर्षक है कि उसके प्रकाश में भाषा का अटपटापन बहुत कुछ दब जाता है।

सन्त गरीबदास दादू के अत्यधिक प्रिय एवं निकट रहने वाले शिष्यों में थे। आज भी राजस्थान के नराणा नामक स्थान में उनकी ख्याति और लोकप्रियता से संबन्धित अनेक दंतकथाएं प्रचलित हैं। नराणा के मंदिर में अब भी उनकी साधना की गुफा अक्षुण्ण है। 'दादू' के जीवनवृत्त पर दृष्टिपात करने से एक बात सर्वथा प्रमाणित हो जाती है कि उनके निवास-स्थलों में आमेर, खाटू, सांभर और नराणा आदि मुख्य हैं। अतएव उनकी और उनके अनुयायियों की भाषा में इस अंचल विशेष के शब्दों का पाया जाना स्वाभाविक है। तात्पर्य यह कि उनकी भाषा राजस्थानी मिश्रित हिन्दी है। उसमें यथास्थान अन्य भाषाओं के कतिपय शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त शब्द-विपर्यय के विविध रूप भी पाये जाते हैं। इन्होंने अपभ्रंश का भी प्रयोग यथास्थान किया है। कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग द्रष्टव्य है जिनका अर्थ सरलता से नहीं जाना जा सकता। उदाहरण के लिए जोट, विटुह, कामड़ा, हूंग, सीरक, हांथ आदि शब्द हैं। वस्तुतः इनका संबंध प्रमुख रूप से राजस्थान के बागड़ व मारवाड़ क्षेत्र से रहा है। अधिकाश दुरूह शब्दों का सम्बन्ध यहाँ की ग्रामीण बोली से है। अतएव उन्हें पूर्णरूपेण समझने के लिए उस अंचल विशेष की बोली को समझना अनिवार्य है। फिर भा सब मिलाकर गरीबदास की भाषा हिंदी के अधिक निकट है और अधिकांश पद प्रसाद गुण सम्पन्न हैं।

दादूपंथ के मोहनदास दफ्तरी, स्वामी मसकीनदास, दूजनदास, जनगोपाल प्रागदास विहाणी, टीलाजी, भीषजन, बालकराम, छीतरदास, खेमदास, वाजिद आदि कवियों का नाम उल्लेखनीय है। मोहनदास के विषय में जनश्रुति है कि ये 'दादू' के साथ रहते थे और उनकी बचनावली को लिपिबद्ध किया करते थे। अतएव इनपर दादू का स्पष्ट प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। भाषा की दृष्टि से प्रायः पूर्ववर्ती प्रवृत्तियाँ ही दृष्टिगोचर होती हैं। पिंगल की दृष्टि से कुछ बातें द्रष्टव्य अवश्य हैं। भीषजन की बावनी, बालकराम के कवित्त, छीतरदास के सवैये, खेमदास का रेखता, और वाजिन्द के अरिल का पिंगल की दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

दादूपंथ में विभिन्न भाषाओं और बोलियों के कुछ शब्द:

वस्तुतः यह शोध का स्वतंत्र विषय हो सकता है। दादूपंथ की रचनायें अनेक हैं। उनका आलोड़न करके विविध देशज एवं प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों को निकालना और उनकी तालिका तैयार करना एक महत्वपूर्ण पर कठिन कार्य है। यहाँ नमूने के लिये इसका एक प्रारूप प्रस्तुत किया जा रहा है। दादू के गुरुदेव के अंग में (साखी सं०४२) अरवाह[1] शब्द का प्रयोग हुआ है। अरवाह 'रूह' से बना है जिसका अर्थ जीवात्मा होता है। आत्म में अरवाह ब्रह्माण्ड का सूचक है। 'सदिके' शब्द का सन्तों ने बारबार प्रयोग किया है।[2] इसका अर्थ न्योछावर करना या उत्सर्ग होता है। मसीत[3] शब्द, मस्जिद का तद्भवरूप है। ऐसे ही 'ताजी' और ताजणा शब्द भी हैं। ताजी का अर्थ घोड़ा होता है। ताजणा शब्द मूलतः राजस्थानी है। इस प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त ऐसे पद भी मिलते हैं जो मूलतः अन्य प्रादेशिक भाषाओं मे लिखे गये हैं। उदाहरण के लिये दादू वाणी भाग दो के पद १२२ और १४१ को लिया जा सकता है। ये मूलतः सिंधी और गुजराती भाषा में लिखे गये हैं। सुन्दर ग्रन्थावली भाग दो के अन्तिम पृष्ठों में भी संस्कृत, गुजराती आदि में लिखे पदों का उल्लेख है और पंजाबी का एक अष्टक भी मिलता है।

इस प्रकार के शब्दों को निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

सिंधी भाषा के शब्द

(दादू)
असां (केदा० ५) हमारा
असाढ़ी (कना०४) हमारा
कनि (४–२१८) करता है
कड़ी (रा० मा०५) कब
केर (६–१३) कौन
गरेला (रा० मा०५) घर पर
गरेला (के० ५) गला
गल्हइ (रा० क०४) बोलो
गाल्ही (४–२१८) बातचीत
गाहीन (४–२२०) रहते हैं
गुझी (रा० क० ४) गुप्तभेद
गुझयूं (४–२१८) रहस्यपूर्ण, गुप्त
गूंझ (५–६) रहस्य
चाढ़ (२५–२६) चढ़ाई
छो (४–२१) क्यों
जाताअ (३१–६) जानपाया
जिदए (रा०मा०५) जीवनभर
जीला (के० ५) जिस प्रकार
जीला (रा० क० ४) तेरा
जैरों (१८–५) उजियाला, प्रकाश
झाती (६–१२) झाकी
डुबी (४–६४) डुबकी
डिठो (४–६४) दीख पड़ता है

१—जिन हम सिरजे सो कहा सतगुरु देहु दिखाय।
दादू दिल अरवाह का तहं मालिक ल्यो लाइ। ४२
२—सतगुरु के सदिकै किया–सं० ४४।
३—यह मसीत यह देहुरा–सं० ७५५।

डीदो (रा०मा०५) देगा
डीह् (रा०मा०५) दिन, दिवस
डीन्ह (४-२१६
५५-२६) देते हैं, करना है
डीहै (४-१६१) दिन में
डेई (४-६४) देकर, लगाकर
पसदो (६-१३) देखेगा
पसनि (४-२१७) देखता है
पसां (रा०क०४) देखूं
पसाइडे (रा०क० ४) दर्शन दे।
पसु (४-२४, ६-१२) देख
पसे (४-२१) देखे
पांधी (रा०क०२५-२६) पंथी, यात्री, पथिक
पाणाहै (३१-६) आपको
पाणे (६-१३) आप
पीरनि (४-३१) प्रियतम
पिरी (४-२३, ७-१८
६-१२, रा०क०४) प्रियतम
पोइ (६-१३) पीछे, रुकने पर

संस्कृत के तद्भव शब्द

अईया-अजा
अजा-बकरी
अज्या-बकरी
अप्रछन-छिपा हुआ
अस्त-अस्थि, हड्डी
अस्थन-स्तन
अषई-अक्षय
आवध-आयुध
उणहार-अनुसार, एकसमान
ऊरण-उऋण
कछिब-कछुए, अंतर्मुख, एकाग्र
करवतदेना-आरे से चीरना
कलिविष-अपराध
कुसमल-कश्मल, पाप, बुराई
गरवा-(गुरु) भारी
गहंण-(ग्रहण) पकड़ना
गारडी, गारडू-(गारुडी) विष उतारने वाला
जामंधे-(जात्यंध) जन्मान्ध
जाजंरी-जर्जर, फटी, फूटी
जाती-(यात्री) तीर्थयात्रा
ताती-(तप्त)
तिमर-तिमिर, अंधकार
दूप्या-दीक्षा-दीक्षा दी
दूतर-दुस्तर, कठिनाई से पार करने योग्य
दूभर-दुस्तर, कठिन
दूसण-दूषण
नृपष-निष्पक्ष
नौसत-नवसप्त, सोलह
पचसवादी-पंच स्वादी, ज्ञानेन्द्रियाँ
पछि-पथ्य, संयम के साथ
पयाल-पाताल
परकीरति-प्रकृति
परसग-प्रसंग, विषय
परापरी-परात्पर
परोहन-प्ररोहण
पसाव-प्रसाद, अनुग्रह
पारिष-परीक्षक
पिंजारा-धुनियाँ
प्रमल-परिमल
प्रसेद-प्रस्वेद
फटक-स्फटिक
पुनिग-पन्नग
बमेक-विवेक
बरतरफ-पृथक
बरदा-बरदह, दास
बाइ-वायु-हवा
बाकुला-वलकल, छाल
बाछ-वत्स, बच्चा

सुन्दरदास में कुछ संस्कृत के पद भी मिलते हैं। उनका उल्लेख इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

फारसी के शब्द

अबदाल—चमत्कार या सिद्धि
अफताब—आफ्ताब, सूर्य
अरदास—अर्जदाश्त, प्रार्थना
इगाना—यगानगी, अकेले
इबादीत—इबादत, पूजा
औजू—वजू, नमाज के पहले हाथमुँह धोना
औजूद—वजूद, भौतिक अस्तित्व
करम—दया, कृपा
करारे मकसूद—अंतिम लक्ष्य
करीमा—दयालु
कार—धंधा
किबर—अहंभाव
कुंज—कोना
कुनंद—करता है
गालिब—अर्जित
गुफम—कट रहा हूँ
गुसल—स्नान
गो—वीर
गुरमाल—गोशमाल, विरोध
चिकार—किस काम के
जमाती—गिरोह, जमायत
जानिब—निकट के
तनहा—अकेला
तसवी—माला
ताजना—चाबुक
ताजी—अरबी घोड़ा
ताजीर—ताड़ना, विरोध
तेग—तलवार
दरोग—झूठ
दाइम—दायम, सदा, हमेशा
दादनी—वरदान, इनाम
दाना—बुद्धिमान, ज्ञानी
दारू—दवा
दीदम—देखता हूँ
नेसें—नहीं है
पंद—उपदेश
फरमाख—आदेश
फरामोश—विस्मरण करने वाला
फरेस्ता—फरिश्तों का
फर्ज—कर्त्तव्य
फानी—नष्ट करके नाशवान
फारिक—फारिग, तटस्थ, दूर
फिल—बख्श दिया
फेल—कार्य
बद, बंदा—सेवक, आदमी
फेल—कार्य
बकसंद—क्षमा करने वाला
बाज—अभाव में
अजू—वजू

इनके अतिरिक्त नफ्स, कैद, आब, खाक, नूर, मुलक, गाफिल, हाजिर, हुजूर, मियां, दम, फिक्र, पीर, पैगम्बर, काजी, शाहजाद आदि भी फारसी के शब्द हैं।

उर्दू के शब्द

हुंनर—हुनर
जावेद—अमर
बंदा—सेवक
खुदा—ईश्वर

अरबी के शब्द

अकीन–यकीन	इखलास–सचाई
अजब, अजाइब–आश्चर्यजनक, आशा	ऐन–ठीक उस परमतत्व से ही
अजाब–पीड़ा, पाप	करीनै–ढंग से
अफताब–आफताब	गैब–गुप्त रूप से
अरवाह्–जीवात्मा	नाज़िर–द्रष्टा, निरीक्षक
अरस–अर्श, स्वर्ग	नूर–प्रकाश
अलह, अला–अल्लाह	फिल–ध्वंस
इलाही–परमात्मा	

राजस्थानी के शब्द

अंगनउ–स्वरूप	अजरण–अज्ञान
अंजन–(ज्ञानांजन)	अनत–अनंत, अनेक
अंतरपट–भीतर रहने पर	अपूण–पीछे की ओर

इसके अतिरिक्त राजस्थानी के अपणी, रीझ्या, मह्ड़ा, सुण्यो, गोव्यंद, चौगुणो, चर्यो, चुटायो, फूट्यूं, विण, म्हारो, थारा, जुडिगै, कदे, गैल, कांनी, पछेला म्हारो-थारो लार, जक आदि शब्द भी मिलते हैं।

गुजराती के शब्द

मारो, तमारो, पासे आदि गुजराती के शब्द हैं। इनके अतिरिक्त सुन्दरदास में तो इस भाषा के पूरे पद मिलते हैं। उदाहरण के लिए निम्नांकित उद्धरणों को लिया जा सकता है—

(१) भाई रे आपड़ पो जूं ज्यौ (राग विहागड़ो–पद ७)
(२) किम छै किम छै–(राग भैरू पद ५)
(३) जो वो पूरण ब्रह्म (पद १ राग काल्हेड़ो)
(४) कांइ अद्भुत बात (पद २–वही)
(५) लम्हें सांभलि ज्यो (पद ३–वही)
(६) जन्हे हृदये ब्रह्मानन्द (पद ४–वही)

पंजाबी के शब्द

उथो थे, उरही, ज़िद–ज्यूं दूं, डाकगर, ताल, दिहाड़ियां, दिहाड़े, दिलदा, दिलदी, तिस्नो, जिस हूं, मिठ्ठित, दिठ्ठे, तिणाहें, जित्थे, तित्थै, कप्पे, भुल्ला, उसदा, इत्थों, खुसन रूही, पलींदा, मीनदा आदि।

मारवाड़ी भाषा के शब्द

लौडै, हरिया, नाखौं, अडो, बीज, डावडा, कंथ हो, बूझि लै, पाद्या, भूद्य, चीचडी, बाट, बालम, थाघ, आदि शब्द ।

इस दृष्टि से वषना की भाषा द्रष्टव्य है। उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि सन्तों की भाषा मे विविध प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग हुआ था। इसका मूल कारण उनका बहु-भाषा ज्ञान नहीं, अपितु व्यापक परिभ्रमण था। तत्कालीन बोलचाल की भाषा में कुछ ऐसे शब्द आ भी गये थे जिनका मूल उक्त अन्य भाषाओं में था। सन्तों ने अपने भाव को अभिव्यक्त करने के लिये बेधड़क रूप से उन शब्दों का प्रयोग किया। उपर्युक्त तालिका से यह बात पूर्णरूपेण प्रमाणित हो जाती है कि इनकी भाषा "सधुक्कड़ी" या 'खिचड़ी भाषा' थी।

दादूपंथ की भाषा का जहां तक प्रश्न है, उसके विषय में यही कहा जा सकता है कि उनके शिष्यों की परम्परा पर्याप्त लम्बी थी। वे विभिन्न स्थानों के रहने वाले थे। इस के परिणाम स्वरूप उनकी भाषा में विभिन्न प्रान्तों के शब्द समाविष्ट हुए। फिर भी सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि अधिकांश सन्तों की भाषा राजस्थानी मिश्रित हिन्दी थी। उसमें यथास्थान, उर्दू, फारसी, मारवाड़ी आदि के शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। किन्हीं संतो में आंचलिक या विदेशी शब्दो का प्रयोग अधिक है तो किन्हीं में कम। उदाहरण के लिये दादू और रज्जब पर अरबी, फारसी, और उर्दू का प्रभाव अधिक पाया जाता है तो वषना पर मारवाड़ी का।

रस

निर्गुण सन्त कवियों ने भाव-भक्ति को परम उत्कृष्ट बतलाया है। इसी के द्वारा भक्त भगवान् से तादात्म्य स्थापित करता है। वह शुद्ध हृदय से भगवान् के समक्ष आत्मनिवेदन करता है। साधना की प्रगति के साथ साधक की इन्हीं भावदशाओं का उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है। इनमें शरणागत भाव, कान्ताभाव, पातिव्रतभाव, चातकभाव, अनन्यभाव, मधुराभाव, विशुद्ध प्रतीतिभाव और तन्मयभाव विद्यमान रहते हैं।

भारतीय साहित्य में रस की व्यापकता सर्वसिद्ध है। ऐसा माना जाता है कि इसकी चरम परिणति आनन्द है। आनन्द ऐन्द्रिय, भावात्मक और बौद्धिक तीन प्रकार का होता है। वैयक्तिक भाव सुखदुखात्मक होते हैं। वैयक्तिकता की इस सीमा का निरसन होने के पश्चात् भाव का स्वरूप सुखात्मक हो जाता है। 'भक्तिः-परानुरक्तिरीश्वरे' के अनुसार यह व्यक्ति की रागात्मिक वृत्ति का अनुपम उद्वेलन है। इस अवस्था में व्यक्ति 'स्व' की अपनी संकुचित सीमा से मुक्त होकर 'रसौ वै सः' की अनुभूति करने लगता है। यही रस दशा का लोकोत्तरी-करण अथवा उदात्तीकरण है। वस्तुतः काव्य रसात्मक होता है। इसमें इस विशिष्टता से संबंधित वह स्वरूप प्रस्तुत रहता है, जहाँ

पहुँचकर रागात्मक अनुभूति सहज आनन्द की उपलब्धि करती है। भक्त भगवान के रूप में आनन्द तत्त्व के शतशः विकीर्णरूप का दर्शन करता है। यही अध्यात्म संवलित आनन्द सन्तकाव्य का मूल प्राण-है। आरम्भ में साहित्य-शास्त्र मे आठ रसों को मान्यता मिली थी, पर बाद मे वात्सल्य और भक्ति को मिलाकर इनकी संख्या दस हो गई। सन्तकाव्य में प्रमुख रूप से शान्तरस को महत्त्व दिया गया है। शृंगार निर्वेद के प्रतिपादन में सहकारी है। आध्यात्मिक शृंगार की उपलब्धि मे माया-जनित विकार अवरोधक तत्त्व के रूप मे उपस्थित होते हैं। सन्त काव्य में रतिभावना और उसकी विभिन्न अवस्थायें आध्यात्मिक उद्बोधन मे सहायक हैं।

सन्तों के भक्तिरस के आलम्बन राम या ब्रह्म हैं। इन्हीं की विभिन्न झाँकियों से भक्ति पूर्णरूपेण अलकृत है। इसी ज्ञानमार्गीय निर्गुण-ब्रह्म के गुणात्मक रूपान्तर से भक्ति पूर्णरूपेण अनुप्राणित है। 'दादू' ने प्रेम के दरिया में आत्मा और परमात्मा को डूबते उतराते हुए चित्रित किया है और उनके मिलन में भक्तिरस की निष्पत्ति मानी है।[1] उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत सन्तों ने वैराग्य, निष्कलुष भाव और भजन आदि को प्रश्रय दिया है। सचारी या व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्तियाँ दो रूपों में मिलती हैं; प्रथम प्रत्यक्ष और द्वितीय प्रच्छन्न। प्रच्छन्नरूप में प्रतीकों के माध्यम से बडी महत्त्वपूर्ण उक्तियाँ प्रयुक्त की गई हैं। ऐसे प्रतीको के सन्दर्भ में आत्मा और परमात्मा के लिये पति-पत्नी का प्रतीक विशेष महत्त्वपूर्ण है। परमात्मा के सम्बन्ध में रति के उद्दीप्त होने पर अनुभाव का स्पष्ट रूप दृष्टिगोचर होता है। प्रेम-रस के परिपाक के साथ आलंबन की विभिन्न मुद्राओं में, रुदन, स्वेद तथा अटपटी वाणी के माध्यम से अनुभाव प्रस्तुत किया जाता है। अभिनव गुप्त ने शान्तरस की व्याख्या करते हुए वैराग्य के फलस्वरूप मोक्ष की चिन्ता को अनुभाव माना है और शम को स्थायीभाव। इस चिन्ता में सासारिक भय विभाव के अन्तर्गत आते हैं और निर्वेद, स्मृति, धृति, व्यभिचारी भाव के अन्तर्गत। शम उसका स्थायीभाव है।[2]

वस्तुतः अभिनवगुप्त के पश्चात् यह विवेचन और भी विवादास्पद रूप में सामने आया है और इस पर तब से लेकर अबतक के अनेकानेक विद्वानों ने अपना विचार व्यक्त किया है। आचार्य हेमचन्द्र का कहना है—

> "वैराग्यादिविभावो, यमनियमाध्यात्म शास्त्रचिन्तनाद्यनुभावो, धृत्यादि
> व्यभिचारी शमः शान्तः।

ऐसी ही मान्यता सुन्दरदास जी की भी है।[3]

१—दादू दरिया प्रेम का तामें झूलें दोय।
इक आत्मा परमात्मा एकमेक रस होय। सन्तसुधासार– पृ० ४६२।
आसिक मासूक ह्वै गया, इसक कहावै सोय।
दादू उस मासूक का, आलहि आसिक होय। दादू भाग १—पृ० ४४।

२—तस्य च वैराग्य ससार भीरुत्वादयो विभावा. मोक्षशास्त्र चिन्तादयोऽनुभावाः निर्वेद-स्मृति धृत्यादिर्व्यभिचारिण :। —अभिनवभारती, पृ० ३४०।

३—देखिये सुन्दरग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० १०३–४।

पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है—

'अनित्यत्वेन ज्ञानं जगदालम्बनम्। वेदान्त श्रवण तपोवन तापसदर्शनाद्युद्दीपनम्।
विषयारुचि शत्रुमित्राद्यौदासीन्यचेष्टाज्ञानिनासाग्रदृष्ट्यादयोऽनुभावाः।
हर्षोन्मादस्मृतिमत्यादयो व्यभिचारिणः।'

सुन्दरदास ने इसकी चर्चा अपनी रचनाओं में बराबर की है।[1]

विश्वनाथ कविराज का कहना है—

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तम प्रकृतिर्मितः।
कुन्देन्दु सुन्दरच्छायः श्री नारायण दैवतः।
अनित्यत्वादिनाशेषवस्तुनिःसारता तु या।
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालंबनमिष्यते।
पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः।
महापुरुषसंगाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः।
रोमांचाद्याश्चानुभावस्तथास्युर्व्यभिचारिणः।
निर्वेद हर्ष स्मरण मति भूतदयादयः।[2]

वस्तुतः उपर्युक्त उद्धरणों पर दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भक्तिरस में सभी रसोत्पादक सामग्रियाँ विद्यमान हैं। इसका आलम्बन संसार की असारता का ज्ञान और परमतत्त्व के चिन्तन से संबंधित है। इसके उद्दीपन के अन्तर्गत ऋषियों के आश्रम, पवित्र तीर्थ, सत्संगति आदि हैं। अनुभाव की दृष्टि से रोमांच संसारभीरुता और निदिध्यासन को लिया जा सकता है और संचारी भाव के रूप में निर्वेद हर्ष, स्मृति, सुमति का उल्लेख किया जा सकता है।

दादू पंथ के अधिकांश कवियों के रस-विवेचन को हम उपर्युक्त मानदण्ड के आधार पर प्रस्तुत कर सकते हैं। इस पंथ के सन्तों की बानियों में आत्मा और परमात्मा की आँख मिचौनी के अप्रतिम स्वरूप मिलते हैं। 'विरह के अंग' से संबन्धित विवेचन को हम विप्रलंभ शृंगार का उत्कृष्ट उदाहरण मान सकते हैं। इस संदर्भ में सन्तों ने अत्यंत मार्मिक प्रसंग प्रस्तुत किया है। दादू कहते हैं—

'रतिवंती आरति करै, राम सनेही आव।
दादू अवसर दूव मिलै, यहु विरहिनि का भाव।
पीव पुकारै विरहिनी, निसिदिन रहै उदास।
राम-राम दादू कहै, तालावेली प्यास।[3]

स्पष्ट है कि इस पद में आत्मा रतिवंती है और वह ब्रह्म (राम) से स्नेह करती है और उसी में तल्लीन रहती है। प्रिय का सम्मिलन न होने के कारण उसे विरह की दशा से गुजरना पड़ता है। मिलन की आकांक्षा ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, विरह की

१—सुन्दर ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ० १०४।
२—साहित्यदर्पण-सं० २४५–२४८।
३—पं० परशुराम चतुर्वेदी–दादूदयाल–विरह कौ अंग–पृ० २८।

आकुलता भी उतनी ही घनीभूत होती रहती है। यही विरह की भावना प्रेम को तीव्र और सजग बनाती है। पूर्वराग के कारण इसका उत्कर्ष अपने पूर्ण उन्मेष पर पहुंच जाता है। इसीलिये 'दादू' कहते हैं—

'पहिली आगम विरह का, पीछे प्रीति प्रकास।
प्रेम मगन लै लीन मन, तहां मिलन की आस।'[1]

प्रेम के सोपान का प्रथम अंग परिचय है। परिचय के अभाव में प्रेम कैसा ? यह परिचय तभी संभव है जब भक्त संसार के अन्य आकर्षणों से अपने को निर्लिप्त कर उन्मुक्तावस्था प्राप्त कर ले। यह अवस्था प्रेम की प्रतीति के लिये अनिवार्य है। इसी को सन्तों ने कौमार्यावस्था के नाम से अभिहित किया है। इसका एक निश्चित अर्थ है। सन्त मानते हैं कि आरम्भिक अवस्था (बाल्यावस्था) में हम संसार के खिलौनों में लिप्त रहते हैं, इसलिये यह अज्ञान की अवस्था होती है। इसके पश्चात् साधना के द्वारा ज्ञानोदय होता है और वह अवस्था आती है जिसमें प्रेम की प्रतीति होने लगती है। यहीं प्रिय के सौन्दर्यमय स्वरूप से परिचय होता है। इसीलिये सन्त कहते हैं—

प्रीति न उपजै बिरह बिन, प्रेम भगति क्यों होइ।
सब झूठे दादू भाव बिन, कोटि करै जे कोइ।[2]
जब लगि सु्ति सिमटै नहीं, मन निहचल नहिं होइ।
तब लगि पिव परसै नहीं, बड़ी बिपति यह मोंहि।[3]

परिचय प्राप्त होते ही मिलन की उत्कण्ठा जाग्रत होती है, पर वह साईं इतनी सरलता से मिलने वाला नहीं। इसके लिये विरह का प्रादुर्भाव आवश्यक होता है। सन्तों ने इस विरह-व्यथा का "विरह कौ अंग" में अच्छा वर्णन किया है। इस व्यथा की तीव्रता से ही विरह के लगन की ओर साधक उन्मुख होता है। इसमें भावोन्माद के कारण मन अस्थिर रहता है। परन्तु इसी अस्थिरता के पश्चात् तन्मयता का प्रादुर्भाव होता है। जिस प्रकार की एकोन्मुखता यहां पाई जाती है वह अप्रतिम है। सन्त कहते हैं—

'ज्यूँ चात्रिक के चित जल बसै, ज्यूँ पानी बिन मीन।
जैसे चन्द चकोर है, ऐसैं (दादू) हरि सौं कीन।
भँवरा लुबधी बास का, मोह्या नाद कुरंग।
यौं दादू का मन राम सौं, ज्यूँ दीपक जोति पतंग।'[4]

१—दादूदयाल की बानी, भाग १, पृ० ३६
२—वही, पृ० ३७।
३—वही, पृ० ३८
४—दादू दयाल की बानी, भाग १, पृ० ३८-३९

इस एकोन्मुखता की दशा में सन्त तन-मन-धन सर्वस्व न्योछावर करने अपने प्रियतम का सामीप्य लाभ करना चाहता है। प्रत्येक क्षण वह उसका दर्शन प्राप्त करना चाहता है। प्रियतम का वियोग उसे असह्य हो जाता है। परिणामस्वरूप उसकी दशा दयनीय हो जाती है।[1] फिर भी वह पीछे नहीं हटता। वह मौत से भी नहीं घबराता, और 'मरजीवा' बनने के लिये अपने सिर की बाजी लगा देता है।[2] इस विरहाग्नि से निरन्तर जलने के कारण उसकी आत्मा पवित्र हो जाती है और उसके अन्तर्गत ज्ञान का अभ्युदय होता है। इस ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होते ही उसे परात्पर सत्ता का संयोग प्राप्त हो जाता है।[3] यह सम्मिलन अद्वैत की स्थिति या 'एकमेव ह्वै मिलि रह्यौ'-का परिचायक है। यहाँ 'रसौ वै सः' की ही नहीं अपितु 'रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवति' की अवस्था रहती है। साधक निरन्तर आनन्द का उपभोग करता है। उसका मनरूपी भ्रमर इस सन्धान से पूर्ण तृप्त हो जाता है।[4] इस पृष्ठभूमि में यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि सन्तों का प्रमुख प्रतिपाद्य शान्तरस है। दादूपंथ के प्रमुख सन्त सुन्दरदास ने अपने सहजानन्द ग्रन्थ में शृङ्गार को निकृष्ट और लोकविरोधी तथा शान्त को उत्कृष्ट और लोक-कल्याणकारी सिद्ध किया है। इसका प्रमुख कारण है कि इस रस के माध्यम से देव-विषयक रति को प्रतिपादित करने में सरलता होती है। सन्तों में इसके साथ ही भक्तिरस विभावानुभाव का भी अच्छा उदाहरण मिलता है। सुन्दरदास का यह पद इस का उत्कृष्ट उदाहरण है—

कबहूँ कै हँसि उठै नृत्य करि रोवन लागय।
कबहूँ गदगद कंठ शब्द निकसै नहिं आगय।
कबहूँ हृदय उमंगि बहुत उच्चय स्वर गावै।
कबहूँ कै मुख मौंनि, मगन ऐसैं रहि जावै।
तौ चित्त वृत्य हरि सौ लगी, सावधान कैसैं रहै।
यह प्रेम लक्षणा भक्ति है, शिष्य सुनहिं सद्गुरु कहै।[5]

सन्तों का भक्ति रस से भी अटूट सम्बन्ध था—

'भक्ति विवाही सन्तजन, माया दासी संग।
जुवती सौ निशि दिन रमैं दासी सौं नहि रंग।[6]

१—जिस घट इस्क अलाह का, तिस घट लोहि न मास।
दादू जियरे जक नही, सिसकै सॉसै सॉस। दादूदयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ ३२

२—जब लग सीस न सौंपिये, तब लग इसक न होइ।
आसिक मरणै ना डरै, पिया पियाला सोइ। वही पृ० ३२

३—विरह अगिन तन जालिये, ज्ञान अगिनि दौं लाइ।
दादू नख सिख परजलै, तब राम बुझावै आइ। वही, पृ० ३३

४—अ—निरंतर पिउ पाइया जहँ आनँद बारह मास।
ब—भंवर कंवल रस बेधिया, अनत न भरमै जाइ।
—वही परचा को अंग, पृ० ४२।

५—सुन्दरग्रन्थावली—भाग १—पृ० २६।

६—वही, पृ० १६०।

शान्त और भक्ति रस के साथ ही कतिपय वीररसात्मक छन्द भी उपलब्ध हो जाते हैं। इसका प्रयोग 'सूरातन को अंग' में मिलता है। फिर भी रस की दृष्टि से सन्तों में भक्ति और शान्त रस की ही प्रधानता है। अन्य जो रस आये हैं उनका सन्त साहित्य में विशेष महत्व नहीं है।

दादूपंथी साहित्य में अलंकार का प्रयोग

कलापक्ष की दृष्टि से अलंकारों का विवेचन आवश्यक है। दादूपंथी सन्तों ने इसका प्रयोग भी किया है। वस्तुतः इसके दो कारण हैं। सूक्ष्मतापूर्वक दृष्टिपात करने पर यह बात सरलता से स्पष्ट हो जाती है कि इस संप्रदाय में सुन्दरदास और मोहनदास आदि ऐसे साधक थे जो पिंगल शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। परिणामस्वरूप उनकी कृतियों में कलात्मक रूपों की उद्भावना अनिवार्य थी। पर इसका एक दूसरा पहलू भी था। कुछ सन्त इस संप्रदाय में ऐसे हुये हैं जिन्होंने 'मसि कागद तो छुयौ नहीं' की बात चरितार्थ की है, पर उनकी कृतियों का गम्भीरतापूर्वक आलोड़न करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें भी अलंकार बिखरे पड़े हैं। प्रश्न उठता है कि इसका क्या कारण है ? इसके उत्तर स्वरूप यही कहना पड़ता है कि अलकार काव्य के शोभाकारक धर्म हैं और इस बात को भक्तिकाल और रीतिकाल के ही नहीं अपितु आधुनिक काल के विचारक भी स्वीकार करते हैं। पर इसके साथ ही इनका सम्बन्ध अनुभूति की तन्मयावस्था से भी होता है। शब्द केवल अभिव्यक्ति के साधन ही नहीं, अपितु व्यक्ति की मनःस्थिति के परिचायक भी होते हैं। गहन अनुभूति की काव्यात्मक अभिव्यक्ति कुछ क्लिष्ट और दुरूह होती है। इसको प्रकट करने के लिए व्यक्ति नाना प्रकार के साधनो का उपयोग करता है। ऐसी दशा में पिंगल शास्त्र के ज्ञान केअभाव मे अलकारो के स्वरूप का सन्निविष्ट हो जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार अलंकारों के प्रयोग को दृष्टि से दादूपथ मे दो प्रकार के सन्त दृष्टिगोचर होते हैं।

(१) पिंगल शास्त्र के ज्ञाता और अलंकार प्रयोग में पटु।

(२) अनुभूति की गहन अभिव्यक्ति में इनका अनायास प्रयोग करने वाले सन्त। सन्त सुन्दरदास प्रथमकोटि में आते हैं और 'दादू, रज्जब आदि द्वितीय कोटि में।

अलंकार

सांगरूपक

कोली साल न छाड़ै रे, सब घांवर काढ़ै रे। टेक ॥
प्रेम प्राण लगाई धागै, तत्त तेल निज दीया।
एक मना इस आरंभ लागा, ज्ञान राछ भरि लीया ॥
नाँव नली भरि बुणकर लागा, अंतर-गति रँग राता।
ताणै बाणै जीव जुलाहा, परम तत्त सौं माता ॥

सकल सिरोमणि बुनै बिचारा, सान्हा सूत न तोड़ै।
सदा सचेत रहै ल्यौ लागा, ज्यौं टूटै त्यौं जोड़ै॥
ऐसै तनि बुनि गहर गजीना, साँई के मन भावै।
दादू कोली करता के सँगि, बहुरि न इहि जुगि आवै॥[1]

रूपक

बेली आनँद प्रेम समाइ।
सहजैं मगन राम रस सींचै, दिन दिन बधती जाइ॥
सतगुर सहजैं बाही बेली, सहजि गगन घर छाया।
सहजैं सहजैं कूँपल मेल्है जाणै अवधू राया।
आतम बेली सहजैं फूलैं, सदा फूल फल होई॥
काया बाड़ी सहजैं निपजे, बूझै बिरला कोई।
मन हठ बेली सूकण लागी, सहजै जुगि जुगि जीवै।
दादू बेलि अमर फल लागै, सहजि सदा रस पीवै॥[2]

विभावना

जोगी जानि जानि जन जीवै।
बिनहीं मनसा मनहिं विचारै, बिन रसना रस पीवै॥
बिनहीं लोचन निरखि नैन बिन, स्रवण रहित सुनि सोई।
ऐसैं आतम रहै एक रस, तौ दूसर नाँव न होई॥
बिनहीं मारग चलै चरण बिन, निहचल बैठा जाई।
बिनहीं काया मिलै परस्पर, ज्यौं जल जलहि समाई॥
बिनहीं ठाहर आसण पूरै, बिन कर बेनु बजावै।
बिनही पाँऊँ नाचै निस दिन, बिन जिभ्या गुण गावै॥
सब गुण रहिता सकल बियापी, बिन इंद्री रस भोगी।
दादू ऐसा गुरू हमारा, आप निरंजन जोगी॥[3]

दृष्टांत

मोरा मोरी देखकर नाचे पंख पसार।
यों दादू घर आंगणे हम नाचे कै बार॥[4]

१—दादूदयाल की बानी, भाग २, राग सोरठ, पृ० ११८
२— ,, वही, राग रामकली, पृ० ८१
३—दादूदयाल की बानी, भाग २, पृ० ८५।
४—श्रीदादू वाणी, स्वामी नारायणदास-पुष्कर, पृ० २५० माया को अंग ११२.

अन्योक्ति

मोह्यो मृग देख वन अंधा, सूझत नाहीं काल के फंधा।
फूल्यो फिरत सकल वन माँहीं, शिर साधे शर सूझत नांहीं।
उदमद् मातो वन के ठाट, छाड चल्यौ सब बारह बाट।
फंध्यो न जाने वन के चाइ, दादू स्वाद बँधानो आइ।[1]

सुन्दरदास

विभावना

श्रवन बिना धुनि सुनय नैन बिन रूप निहारय।
रसन बिना उच्चरय प्रशंसा बहु विस्तारय॥
नृत्य चरन बिनु करय हस्त बिनु ताल बजावै।
अंग बिना मिलि संग बहुत आनन्द बढ़ावै॥
बिन सीस नवै तहँ सेव्य कौं सेवक भाव लिये रहै।
मिलि परमातम सौं आतमा पराभक्ति सुन्दर कहै॥[2]

सम्पूर्ण भ्रमरचरित्र भौंरे का रूपक है।

भीतरि रहिगा कंवल कै, अलि सुगन्ध लपटाइ।
मूरष मर्म न जानिया, काल पहूच्या आइ॥[3]

दृष्टांत

कनक पात्र मैं रहत है, ज्यौं सिंहनि कौ दुद्ध।
ज्ञान तहा ही ठाहरै, हृदय होइ जब शुद्ध॥[4]
दर्प्पन कौ आभास ज्यौं, कस पात्र मैं होइ।
त्यौं आतमा प्रकाश मन, देह मध्य है सोइ॥[5]

पर्यायोक्ति

निद्रा महिं सूती है जौलौं। जन्म मरण कौ अन्त न तौलौं।
जागि परैं तें स्वप्न समाना। तब मिटि जाइ सकल अज्ञाना॥[6]

१—श्री दादू वाणी स्वामी नारायण दास-पुष्कर पृ० ४८८ मृगीकि उपदेश ३२। १-२-३
२—सुन्दरदास ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड—ज्ञान समुद्र पृ० २८, छप्पय ५०।
३—वही, भ्रमरचरित्र, पृ० १२७
४—वही, उक्त मनूप, पृ० १७५, पद्द २०।
५—वही, अथ अद्भुत उपदेश, पृ० १७६, छन्द ४।
६—वही, ज्ञानसमुद्र, पृ० १४, छन्द ३५।

उपमा

इंद्रिनि के सुख मांनत है शठ याहित ते बहुते दुख पावै।
ज्यौ जल में झष मांस हि लीलत स्वाद बंध्यौ जल बाहरि आवै॥
ज्यौं कपि मूंठि न छाड़त है रसना बसि बन्दि पर्यौ बिललावै।
सुन्दर क्यों पहिले न संभारत 'जौ गुर षाइ सु कांन बिधावैं॥[1]

सांग रूपक

करम हिंडोलना झूलत सब संसार।
है हिंडोल अनादि कौ यह फिरत बारम्बार॥
दोइ षम्भ सुख दुख अडिग रोपे, भूमि माया मांहिं।
मिथ्यात ममता कुमति कुदया, चारि डांडी आहिं॥
पाप पटली पुन्य मरवा, अधो ऊरध जांहिं।
सत्व रज तम देहिं झोटा सूत्र पैंचि झुलाहिं॥
तहां शब्द सपरश रूप रस बन, गन्ध तरु बिस्तार।
तहां अति मनोरथ कुसम फूले, लोभ अलि गुंजार॥
चक्रवाक मोर चकोर चातक पिक अृषीक उचार।
तरल तृष्णा बहत सरिता महा तीक्षण धार॥
यह प्रकृति पुरुष मचाइ राष्यौ, सदा करम हिंडोल।
सजि विविध रूप बिकार भूषन, पहरि अंगनि चोल॥
एक नृत्यत एक गावत, मिलि परस्पर लोल।
रति ताल मदन मृदंग बजत, दुन्दु दुन्दुभि ढोल॥
यहि भांति सब ही जगत झूलै, छ रुति बारह मास।
पुनि मुदित अधिक उछाह मन मैं करत बिबिध बिलास॥
यौं झूलतैं चिरकाल बीत्यौ, होत जनम बिनास।
तिनि हारि कबहूं नांहिं मानी, कहत सुन्दरदास॥[2]

उपमा

नीर बिनु मीन दुखी क्षीर बिनु शिशु जैसें।
पीर जाकै औषध बिनु कैसै रह्यौ जात है॥
चातक ज्यौ स्वांति बूंद चंद कौं चकोर जैसैं
चंदन की चाह करि सर्प अकुलात है॥

१—सुन्दर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड सवैया, पृ० ४०१, छन्द १८।
२—वही, राग मल्हार पृ० ६१६, पद सं० ५।

निर्धन ज्यौं धन चाहै कामिनी कौं कन्त चाहै।
ऐसी जाकै चाह ताकौं कछु न सुहात है॥
प्रेम कौ प्रभाव ऐसो प्रेम तहां नेम कैसौ।
सुन्दर कहत यह प्रेम ही की बात है॥[1]

यमक

ऐसें रटि जैसें सारङ्गा। अनत न भ्रमि जैसें सारङ्गा।
रसिक होइ जैसें सारङ्गा। तौ सुन्दर पावै सारङ्गा॥[2]

इसमें प्रत्येक चरण में सारंगा का अर्थ क्रमशः पपीहा, मृग, भौरा तथा विष्णु है।

अनुप्रास

सरस इसक तन मन सरस। सरस नवनि करि अति सरस।
सरस तिरत भव जल सरस। सरस लगत हरि लइ सरस॥
सरस कथा सुनि कै सरस। सरस विचार उहै सरस।
सरस ध्यान धरिये सरस। सरस ज्ञान सुन्दर सरस॥[3]

रज्जब

दृष्टांत

विण घड़ि माला रहट की, जल आवै कछु नांहि।
त्यौं रज्जब चेतन विन चेला, रीता संगति मांहि॥[4]

रूपक

सेवक कुंभ कुभार गुरु, घड़ि घड़ि काढ़ै खोट।
रज्जब माहि सहाय करि, तब बाहिर दे चोट॥[5]

सांग रूपक

गुरु तरवर अंग डाल बहु, पत्र बैन फल राम।
रज्जब छाया में सुखी, चाख्यू सरै सुकाम॥[6]

अनुप्रास

रोगी वैद पिछाण ले, बूटी सत्य सुजाण।
विथा विलै होय परस तैं, रज्जब सो परिवाण॥[7]

१—सुन्दर ग्रंथावली—प्रथम खण्ड, ज्ञान-समुद्र, पृ० २६, छन्द ४३।
२—वही, अडिल्ल छन्द, पृ० ३५३, छन्द २४।
३—वही, द्वितीय खण्ड. फुटकर काव्य, पृ० ६६६, छन्द १०।
४—रज्जब बानी-गुरु का अंग, साखी १५३।
५—वही, गुरु-शिष्य कसौटी का अंग, साखी २।
६—वही, गुरुदेव का अंग, साखी ४६।
७—वही, गुरु सिष निदान निर्नै अंग, साखी ३०।

दादूपंथी साहित्य में उलटवाँसी

संत कवियों ने प्रायः निराले ढंग से अपने विचारों का कथन किया है। इस प्रकार के कथन का, प्रथम उद्देश्य विवेकशील व्यक्तियों को असाधारण रूप से अपनी ओर आकर्षित करना तथा उनकी उत्सुकता को जाग्रत करना है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह आवश्यक है कि किसी तथ्य को ऐसे रूप में रखा जाय कि उसके रहस्योद्घाटन के लिए बुद्धि अनायास ही प्रवृत्त हो। द्वितीय उद्देश्य यह भी हो सकता है कि श्रोता के मस्तिष्क पर वक्ता की सिद्धि तथा ज्ञान-चातुर्य का आतंक छा जाय। वह आतंकित होकर पराभूत हो जाय और बौद्धिक दृष्टि से वक्ता के वशीभूत होकर उसके कथन पर गंभीरता पूर्वक मनन करे। यह परम्परा पूर्णतः नवीन या संतों की मौलिक उद्‌भावना नहीं कही जा सकती। इस प्रकार के औत्सुक्यपूर्ण कथन वैदिक युग में भी उपलब्ध होते हैं। प्राकृतिक रहस्यों से चमत्कृत होकर आद्य ऋषियों ने चमत्कारपूर्ण शैली में अभिव्यंजना करने का प्रयास किया था।[1] इतना अवश्य था कि उन्होंने प्रतीकात्मक शैली अपनायी। इसी शैली के विकास के रूप में उलटवाँसियों का प्रादुर्भाव हुआ। सिद्ध और नाथ संप्रदाय के साधकों ने उलटवाँसियों के माध्यम से एक ओर अपने सिद्धांतों का प्रचार किया तो दूसरी ओर जन-साधारण पर अपनी सिद्धि तथा साधना का प्रगाढ़ प्रभाव भी स्थापित किया। उन्होंने परस्पर विपरीत अर्थ द्योतक उपमानों के आश्रय से चमत्कारपूर्ण शैली में अपने मंतव्यों को प्रकट किया है। इस शैली में कुछ बौद्ध सिद्धों ने भी अपने विचार प्रगट किये हैं।[2] सिद्ध और नाथों के माध्यम से यह परम्परा निर्गुण संतों तक पहुँची। जिन निर्गुण संतों की शिक्षा-दीक्षा या प्रतिभा उच्चकोटि की नहीं थी वे इसके प्रयोग में अधिक सफल नहीं हुए। उनकी रचनाएँ अव्यवस्थित प्रतीकों के प्रयोग के कारण अस्पष्ट एवम् दुरूह हो गयी हैं। उनका अर्थ समझना या लगाना टेढ़ी खीर है। हठयोगियों द्वारा इस पद्धति का प्रयोग बड़ी स्पष्टता एवम् सुबोधता के साथ हुआ है। वे बड़े व्यवस्थित ढंग तथा परिष्कृत रूप से इस शैली के प्रयोग में सफल सिद्ध हुए हैं। हठयोग प्रदीपिका में उक्त प्रकार की उलटवाँसियों के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित श्लोक यथेष्ट है।

> गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
> कुलीनं तमहमन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥[3]

इसका तात्पर्य यह है कि जो योगी नित्य गोमांस भक्षण करता है तथा प्रति दिवस अमर मदिरा का पान करता है उसको श्रेष्ठ कुलीन मानते हैं। अन्य सब कुल घातक हैं। किंतु अगले ही श्लोक में गोमांस तथा वारुणी का प्रतीकात्मक अर्थ देकर यथार्थ मंतव्य स्पष्ट कर दिया गया है।

१—डॉ० ब्रजलाल वर्मा-संत कवि रज्जब, पृ० ३०५।

२—डॉ० धर्मवीर भारती-सिद्ध साहित्य, पृ० ४६६।

३—हठयोग प्रदीपिका, ३।४७।

गो शब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांस भक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥[1]

यहाँ गो से तात्पर्य जिह्वा से है। तालु के समीप जो ऊर्ध्व छिद्र है उसमें जिह्वा का प्रवेश गोमांस-भक्षण है। यह गोमांस-भक्षण महापातकों को नाश करने वाला है। इस प्रकार तालु के ऊर्ध्व छिद्र में जिह्वा के प्रवेश से उद्भूत वह्नि (ऊष्मा) से उत्पन्न भृकुटियों के मध्य वाम भाग में स्थित चन्द्रमा से निर्झरित सार को अमर वारुणी कहते हैं।

जिह्वा प्रवेशसम्भूतवह्निनोपादितः खलु ।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः सस्यादमरवारुणी ॥[2]

जिस प्रकार जिह्वा को उलट कर साधक अमर वारुणी का आस्वादन करता है इसी प्रकार उलटवाँसियों को उलट कर अर्थ करने से उपदेशामृत का उपयुक्त आस्वादन हो सकता है। हठयोग प्रदीपिका का एक और उदाहरण विशेष द्रष्टव्य है।

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डातपस्विनी ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥[3]

इस श्लोक में गंगा और यमुना के बीच में एक बाल विधवा तपस्विनी का वर्णन है जिसके साथ बलात्कार करने से परमपद की प्राप्ति होती है। लोक में तो किसी बाल-विधवा तपस्विनी के साथ बलात्कार महापाप माना जाता है। पर यहाँ उसके साथ बलात्कार से परमपद की प्राप्ति उलटी बात है। पर आगे वाले श्लोक से स्पष्ट हो जाता है कि बाल विधवा कौन है और उसके साथ बलात्कार का क्या तात्पर्य है।

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ।
इडा पिंगलयोर्मध्ये, बाल रण्डा च कुंडली ॥

नाथ पंथियों में प्रमुख साधक गोरखनाथ जी की एक उलटवाँसी इस प्रकार है।

चलि रे अविला कोयल मोरी, धरती उलटि गगन कूं दौरी।
गइया बपड़ी सिंघ नैं वैरं, मृतक पसू सूद्र कूं उचैरं ॥
कार्टं ससम पूजैं देव, भूप करैं करसा को सेव।
दीपक वालि उजाला किया, गोरख के सिरि परवत दीया ॥[4]

उक्त उलटवाँसी का आशय इस प्रकार है। ग्राम माया है। जब यह माया रूपी ग्राम

१—हठयोग प्रदीपिका, ३।४८।
२—वही, ३।४९।
३—हठयोग प्रदीपिका, ३।१०९।
४—गोरखबानी, पृ० १५२।

फूलता-फलता है तब मनोवृत्ति रूपी कोयल आनंद के लिए उसके पास जाती है। किन्तु ज्ञानोदय के कारण परिस्थिति ठीक उलटी हो जाती है तब मन की बहिर्मुखी वृत्ति रुक जाती है और आभ्यतर में ही आनंद की खोज होने लगती है। यही कोयल का बौराना है। प्रथम बहिर्मुखी स्थिति में माया रूपी आम बौर रहा था और मनोवृत्ति रूपी कोयल ही बौरने लगी। अब ब्रह्मानन्दोपभोगी की मायापूर्ण प्रवृत्ति (आम्र भी) मन के पुष्पित होने से ब्रह्मानुभव से आनन्द प्राप्त करती है। गगन, आकाश या शून्य ही से यह सभी सृष्टि उत्पन्न होती है और शून्य मे ही विलीन हो जाती है। कुंडलिनी शक्ति धरती या सृष्टि का प्रतीक है उसका निवास मणिपूर चक्र में है। वह कुंडलिनी शक्ति योगाभ्यास से ब्रह्मरन्ध्र की ओर प्रबुद्ध होती है। अज्ञानी मनुष्य की बहिर्मुख अशान्त प्रवृत्ति ही सिंह है। वह सिंह अहकार आदि षट् रिपुओं के द्वारा उसकी शान्त सच्ची प्रकृति (गाय) को घेरे रहता है। परन्तु साधना में सिद्धि प्राप्त होने पर सिंह रूप मायिक प्रवृत्ति निर्बल पड़ गई है तथा आध्यात्मिकता के घेरे में फँस गई है। जो आत्मानुभूति विहीन हैं वे मृतक पशु के समान हैं। यमराज रूपी शूद्र उन्हें घसीटते हुए ले जाता है परन्तु वह मृतक पशु अब अपने आभ्यंतर के अहंकार रूपी पशुत्व को काटकर जीवन मृत (जीवन मुक्त) होकर यमराज को घसीटे ले जा रहा है। यमराज उसके बंधन में पड़ जाने से उसका कुछ नहीं कर सकता। ब्रह्मानुभूति के उपरान्त किसी देवता की पूजा की आवश्यकता नहीं रह गई। इसके स्थान पर लौकिक देवता उसकी पूजा करते हैं। इसका कारण यह है कि ब्रह्म सबसे श्रेष्ठ है तथा 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' के अनुसार ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्म एक ही हैं। अब बलि-पशुओं को काटने की आवश्यकता नहीं रह गई अपितु शस्त्र ही काटकर बेकार कर दिये गए। ढक्कनदार पात्र को उलट देने से पात्रगत वस्तु अवश्य गिर जायगी। उलटे पात्र के ऊपर आग जलने से भी कोई व्यंजन पक नहीं सकता। परन्तु यहाँ परिस्थिति विशेष है। विपरीतकरणी मुद्रा के द्वारा सिर रूपी ढक्कन को नीचे और कुण्डलिनी रूपी ज्वाला को ऊपर करने का उपदेश किया गया है। इससे अमृत रूपी महारस का क्षय होना रुक जायगा। इस प्रकार ज्योति (ब्रह्म) को दीप्त कर गोरखनाथ ने ज्ञान का प्रकाश किया। परन्तु इससे साधक के मस्तक का भार हल्का होने के स्थान पर बढ़ गया। उसके सिर पर पहाड़ ही रख दिया गया क्योंकि उसे जान पड़ा कि मैं स्वयं सृष्टि का मूल कारण परब्रह्म हूँ और स्वयं मुक्त हो जाने पर मुझे संसार को मुक्त करना है।

कबीरदास उलटवाँसी लिखने में बड़े कुशल माने जाते हैं। उनकी प्रसिद्ध उलटवाँसी यहाँ प्रस्तुत करने का उद्देश्य यह है कि दादू पंथी साधकों ने इसी परम्परा का विकास किया है।

> एक अचम्भा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंह चरावै गाई।
> पहले पूत पीछे भई माई, चेला के गुरु लागै पाई॥
> जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ बिलाई मुरगे खाई।
> बैलहिं डारि गूनि घरि आई, कुत्ता कूं लै गई बिलाई॥

तलि करि साखि ऊपर करि मूल, बहुत भांति जड़ लागे फूल।
कहे कबीर या पद को बूझे, ताकूं तीन्यूं त्रिभुवन सूझे॥

उक्त उलटबाँसी के आशय को समझने के लिए इनमें प्रयुक्त संकेतों का ज्ञान अनिवार्य है। ठाढ़ा सिंह का तात्पर्य स्थिर मन है। वह इन्द्रिय रूपी गाय को चराता है। पुत्र जीवात्मा है और माता माया के लिए आया है। गुरु माया को कहा गया है तथा शिष्य जीवन है। मछली संसार के विकारों में ग्रस्त आत्मा है। तरुवर ब्रह्म रन्ध्र अथवा ऊर्ध्वगति है। बिलाई माया को और मुरगा जीवात्मा को माना गया है। बैल जीवात्मा है, गूनि-लादी (बैल पर रखा जाने वाली काठी) है। कुत्ता आत्मा और बिलाई जीवात्मा है। मूल कुण्डलिनी और फल आनन्द पुष्प है।

दादूदयाल ने भी उलटबाँसियों की रचना उक्त प्रणाली पर की है। साधारणतः प्रतीत होता है कि दादूदयाल ने कबीर के समान उलटबाँसियों की रचना की है। पर अन्तर यह है कि इनकी उलटबाँसियाँ अधिक स्पष्ट एवम् सुबोध हैं। कबीर ने जहाँ अप्रस्तुत विधान का प्रयोग उलटबाँसियों में किया है वहाँ ये प्रस्तुत विधान का प्रयोग अधिक करते हैं। उद्धृत पद से यह तथ्य स्पष्ट परिलक्षित होता है।

ऐसा अचरज देखिया बिन बादल बरसै मेह।
तहँ चित्त चातक ह्वै रह्या दादू अधिक सनेह॥
ऐसी एकै गाय है दूझै बारह मास।
सो सदा हमारे सङ्ग है दादू आतम पास॥
तरुवर साखा मूल बिन रज वीरज रहिता।
अजर अमर अतीत फल सो दादू गहिता॥
दादू संषा शब्द है सुनहा सशा मारि।
मन मींडक सूं मारिये संका सर्प निवारि।[1]

मूनैं येह अचम्भौ थाये।
कीड़ी ये हस्ती बिडार्‌यो, तेन्हैं बैठी खाये॥
जाण हुतौ ते बैठौ हारे, अजाण तेन्हैं ता वाहे।
पांगुलौ उजाबा लाग्यौ तेन्हैं कर को साहे।
नान्हौ हुतौ ते मोटो थयौ, गगन मँडल नहिं माये।
मोटेरौ बिस्तार भणीजै, तेतौ केन्हे जाये॥
तें जाणै जे निरखी जोवै, खोजी ने बलि माहैं।
दादू तेन्हौ मरम न जाणैं, जे जिभ्या बिहूणौ गाये॥[2]

उपर्युक्त उलटबाँसी का अर्थ यह है कि मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि कीड़ी

1—दादू वाणी गिरार्थ प्रकाशित टीका, भूमिका पृ० १६।
2—दादू दयाल की वाणी, भाग २, बेलवेडियर प्रेस, पृ० ८५—८६ पद २१३।

रूपी आत्मा हाथी रूपी मन को पछाड़ कर उसे खा रहा है। अर्थात् मन भर गया है। उसका अस्तित्व समाप्त हो रहा है। जो जानकार था वह हार मान कर बैठ गया और जो अनजान था उसने उस जानकार को चकमा भी दे दिया अर्थात् सांसारिकता में अनुरक्त चतुर मन शिथिल पड़ गया विशुद्ध चित्तवृत्ति को मन की अपेक्षा अधिक सिद्धि प्राप्त हुई। इसी प्रकार पंगु ऊँचे चढ़ गया अब उसका हाथ भी कोई नहीं पा सकता। मन अब स्थिर होकर अत्यन्त उच्च दशा को प्राप्त हो चुका है जहाँ सांसारिकता की पहुंच नहीं है। जो छोटा था वह इतना बढ़ गया कि गगन मंडल में भी समा नहीं रहा है। सूक्ष्म आत्मा अब इतना विस्तृत हो गया है कि वह गगन मंडल (त्रिकुटी) में भी नहीं समा रहा है। इस मोटे (पुष्ट आत्मा) का विस्तार जितना कहा जाय उतना ही अधिक विस्तृत होता जाता है। इस रहस्य को वही जान सकता है जिसने प्रत्यक्ष अनुभव किया है। केवल खोज करने वाले के लिए यह दुर्गम है। दादू कहते हैं कि मैं जीभ बिना गाये जाने वाले परमेश्वर का रहस्य नही जानता। इसी प्रसंग में इनकी दूसरी उलटवाँसी का भी आस्वादन कीजिये।

जीवत मारे मुए जिलाये। बोलत गूँगे गूँग बुलाये॥
जागत निस भरि सेई सुलाये। सोवत रैनी सोई जगाये।
सूझत नैनहुं लोय न लीये। अंध बिचारे ता मुखि दीये॥
चलते भारी ते बिठलाये। अपंग बिचारे सोई चलाये।
ऐसा अद्भुत हम कछु पाया। दादू सतगुर कहि समझाया[1]॥

सुन्दरदास ने 'अथ बिपर्ज्जय को अंग' शीर्षक अध्याय में उलटवाँसियों की झड़ी-सी लगा दी है। इनमें से यहा केवल उन्हीं उलटवांसियों की चर्चा अभीष्ट है जो परम्परा, भावव्यंजकता तथा प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से सर्व श्रेष्ठ कही जा सकती हैं।

कीडी कूंजर कौ गिलै, स्याल सिंह को षाइ।
सुन्दर जल तै माछली, दौरि अग्नि मैं जाइ॥
समद समानौ बून्द मैं राई मांहैं मेर।
सुन्दर यह उलटी भई, सूर्य कियौ अन्धेर॥
मछली बगुला कौ ग्रस्यौ देषहु याके भाग।
सुन्दर यह उलटी भई मूसै षायौ काग॥
गुरु शिष के पायनि पर्यौ राजा हूवौ रंक।
पुत्र बांझ के पंगुल सुन्दर मारी लंक॥
कमल मांहि पांणी भयौ, पाणी मांहे मांन।
भान मांहि ससि मिलि गयौ सुन्दर उलटौ ज्ञान[2]॥

तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो सुन्दरदास की उलटवाँसियाँ गूढ़ार्थ-

१—दादूदयाल की बानी भाग २, पृ० ६३ पद २३४।
२—सुन्दर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ७४८-७४६ साषी सं० ४, ५, ६, ८ तथा ६।

बोधक तथा यथार्थ के स्पष्टीकरण में सर्वथा समर्थ हैं। अनेक साधकों की उलटवाँसियाँ समुचित अध्ययन तथा सम्यक् ज्ञान के अभाव में अस्पष्ट तथा दुरूह हो गयी हैं जिनका शब्दार्थ प्रगट हो जाने पर भी उक्ति की संगति ठीक नहीं बैठ पाती पर सुन्दरदास की उलटवाँसियाँ दर्पण की भाँति यथार्थता को चित्रोपम रूप से स्पष्ट प्रतिबिम्बित कर देती हैं। सुन्दरदास की उलटवाँसियों का सारांश यह है कि अतिसूक्ष्म विचारवाली शुद्ध ब्रह्मानन्द वाली बुद्धि माया रूपी हाथी को निगल गई। अपने स्वरूप को भूल जाने के कारण आत्मा स्यार जैसा दीन हो रहा था। पर ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति से वह मन के संशय रूपी सिंह को खा गया अर्थात् उसे नष्ट कर दिया। सांसारिक काया रूपी जल में जीवात्मा रूपी मछली अज्ञानवश प्रसन्न थी परन्तु ज्ञान प्राप्त करते ही वह ब्रह्माग्नि में जा पड़ी। अब वह ब्रह्मानन्द की अनुभूति में निमग्न हो गई। बूँद रूपी जीव में समुद्र रूपी ब्रह्म समा गया। राई सी सूक्ष्म ब्रह्माकार वृत्ति में अति विशाल मिथ्या जगत रूपी मेरु छिप गया। ब्रह्मज्ञान रूपी सूर्योदय होते ही अभाव रूपी अँधेरा छा गया। सूर्य का यह उत्पात हुआ कि उदय होते ही भासमान संसार को मिटा दिया। मनसा रूपी मछली ने दंभ रूपी बगुला को खा लिया। शुद्ध मन से जगत् की भ्रान्ति मिट गई। सदा चंचल मन रूपी चूहे ने अपने भक्षक कामक्रोधादि रूपी कौवे का भक्षण कर लिया। चित्त रूपी शिष्य मन रूपी गुरु का चेला था। किन्तु चित्तवृत्ति शुद्ध होने पर गुरु मन, शिष्य चित्त के सामने नतमस्तक हो गया। वह चित्त के आश्रित हो गया। रजोगुण का अभिमानी राजा मन जीव को अज्ञानावस्था में अपने वश में रखता था किन्तु ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् जीव मन पर ही शासन करने लगा। इस प्रकार मन दीन प्रजा हो गया और जीव उसका राजा बन बैठा। बाँझ बुद्धि रूपी सात्त्विकी नारी को ज्ञान रूपी पंगु बेटा हुआ। वह पंगु इसलिए कहा गया है कि मन की चपलता रूपी उसके पैर टूट गये हैं। ऐसे पंगु पुत्र ने संसार रूपी लंका पर विजय प्राप्त कर ली। हृदय कमल में भक्ति रूपी निर्मल जल उत्पन्न हुआ। उस भक्ति से ज्ञानरूपी सूर्य का उदय हुआ। उस सूर्य के द्वारा त्रिविध ताप मिट गए और ब्रह्मानन्द रूपी शशि की शीतलता उत्पन्न हुई।

रज्जब की उलटवाँसियों के भी कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

सन्तो मीन गगन में गाज्यो।
निर्मल ठौर निशान धजाये, सौ जलनिधि सों भाज्यो।
चकवा चकवी रैन मिले हैं, चातक चिता समाना॥
माखी सो मकड़ी मिलि बैठी, पीवै अमृत पाना।
पर्वत ऊपर पुहुप प्रकास्यो, ओला अवनि जमाया॥
आभों ऊपर तिनका उग्या, गुर मुख सो निरताया।
दादुर खियो दामिनी सूती, सुनि सतगुरु की बानी॥
जन रज्जब यह उलटी रचना, बिरलै पुरुषों जानी[1]।

१—संत कवि रज्जब, संप्रदाय और साहित्य, पृ० १०३।

उक्त उलटवाँसी में प्रयुक्त शब्दों का तात्पर्य निम्नलिखित हैं :

मीन—जीवात्मा, कुण्डलिनी
गगन—ब्रह्मरन्ध्र, उर्ध्व स्थान
निर्मल ठौर—ब्रह्मस्थल
जलनिधि—संसार सागर
चंकवा—जीवात्मा
चकवी—परमात्मा
रैन—माया ग्रस्त दशा
चातक—तृषित जीवात्मा
चिंता—ब्रह्माग्नि, ब्रह्मज्योति
माखी—जीवात्मा
मकरी—माया
पर्वत—जड़माया
पुहुप—आनन्दपुष्प, प्रसन्न आत्मा
ओला—माया
अवनि—जीवात्मा
आभों—माया
तिनका—जीवात्मा
दादुर—मन
दामिनी—संसार का चाकचिक्य एवं चंचलता

इससे भी अधिक विलक्षण विपर्यय निम्नलिखित उलटवाँसी में प्राप्त होती है।

संतो यहु गति उलटी जानी।
मूरति माहिं देहुरा आया, सुनि सतगुरु की बानी॥
बीरज माहै वृक्ष समानी, हाड़ी कण मे पाकी।
कूँआ भरै कुंभ में पानी, कहत न आवै ताकी॥
ब्रह्म बूंद में घटा समानी, बाइ बीजुली सेती।
अवनि अकाश गए ताहीं में, चपल चातकहि लेती॥
अक्षर माहै पोथी बैठी, बंचक बीज बिलाना।
जन रज्जब यहु अगम अगोचर, गुरु मुखि मारग जाना[1]॥

इस उलटवाँसी में प्रयुक्त शब्दों का आशय इस प्रकार है :

मूरति—जीवात्मा
देहुरा—माया ग्रस्त ब्रह्माण्ड
हाड़ी—माया
कण—जीवात्मा
बीज—जीवात्मा
वृक्ष—संसार या माया
कुआं—माया
कुंभ—घट
ब्रह्मबूंद—जीवात्मा
घटा—माया
बाइ—प्राणवायु
बीजुली—मन की चंचलता
अवनि—जड़माया
आकाश—आत्मा
चातक—तृषित मन
अक्षर—जीवात्मा
पोथी—मायाच्छादित विश्व
बंचक—माया तथा
बीज—जीवात्मा

उलटवाँसी साहित्य को ध्यानपूर्वक देखने से विदित होता है कि इसमें प्रायः

1—संत कवि रज्जब सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० २०४।

आत्मा, परमात्मा, माया, ज्ञानाग्नि, ब्रह्मानन्द, मन की चंचलता, काम क्रोधादि मायाभूत शत्रुओं के विनाश, संसार की असारता परमपद का स्थायित्व आदि प्रसंगों को लेकर अधिकांश रचनाएँ की गई हैं। इसीलिए प्रतीकात्मक शब्द प्रायः रचनाओं में समान ही मिलते हैं। इन उलटवाँसियों के द्वारा सिद्धान्त का प्रचार तथा उसके प्रति जनमानस का आकर्षण बढ़ता है। वक्ता के प्रति श्रोता के मन में प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है और वह वक्ता के महत्त्व तथा गुरुत्व से अनायास ही पराभूत हो जाता है। आजकल अंग्रेजी के 'सिम्बालिज्म' को हिन्दी में प्रतीकवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। पर सन्तों ने प्रतीक-पद्धति का अनुसरण किसी 'वाद' विशेष के चक्कर मे पड़कर नहीं किया है। अतः वे प्रतीकवाद के आधुनिक अर्थ में प्रतीकवादी नहीं कहे जा सकते। कुछ विद्वानों ने प्रतीकवाद को जीवन की कटुता, कुरूपता एव अप्रिय निष्ठुरता से पलायन माना है। उनकी धारणा यह भी है कि जीवन के उक्त पक्षों से विमुख हो कर रचनाकार काल्पनिक संसार का निर्माण करते हैं। इसके विपरीत सन्त जीवन की कटुताओं, कुरूपताओं तथा निष्ठुरताओं के निर्मूलन के लिये सदैव जागरूक रहे हैं। वे कल्पना के मोहक तथा आकर्षक लोक में विचरण करने वाले प्राणी नहीं। अतः निराश प्रतीकवादी की भाँति वे जीवन के यथार्थ स्वरूप की उपेक्षा नहीं करते अपितु जीवन की वास्तविकता का अभिव्यंजन ही अपना प्रधान उद्देश्य तथा कर्तव्य समझते हैं।[1] प्रतीकों का आश्रय लेने का उनका लक्ष्य केवल यही रहा है कि गूढ़ातिगूढ़ दार्शनिक तथ्यों अथवा विश्व की रहस्यात्मक समस्याओं का रहस्योद्घाटन हो सके। अतः यह सुनिश्चित है कि रहस्यवाद तथा प्रतीक-विधान अथवा प्रतीकवाद एवं रहस्यात्मकता में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसी तथ्य के आधार पर सम्भवतः कहीं कहीं प्रतीकों के माध्यम से निरपेक्ष सत्य के उद्घाटन की प्रवृत्ति को ही रहस्यवाद मान लिया गया है।[2] पर रहस्यवाद प्रतीकवाद नहीं है और न प्रतीकवाद को हम रहस्यवाद की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। प्रतीकों के माध्यम से रहस्यों का उद्घाटन अथवा स्वरूप-कथन सरल एव सुबोध हो जाता है। प्रतीक मूल की बोधगम्य व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए उपयोगी साधन है। उदाहरण के लिए प्रतीक के रूप में ज्योति को ले सकते हैं। सन्त प्रायः ज्योति को ब्रह्म का प्रतीक मानते हैं। इस कथन का आशय यह कदापि नहीं है कि वह वस्तुतः प्रकाश है। ब्रह्म में ज्योति की प्रकृति है जिससे विश्व की सभी वस्तुएँ प्रकाशित तथा ज्योतियाँ द्योतित होती हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश से संसार की सभी वस्तुएँ प्राकाशितहोती हैं उसी प्रकार ब्रह्म से सारा ब्रह्माण्ड गतिशील एवं प्रतिभासित रहता है। वास्तव में ब्रह्म (परमतत्व) और ज्योति दोनों में प्रभाव साम्य है इसीलिए इस प्रतीक के द्वारा ब्रह्म की अभिव्यक्ति उपयुक्त है। मूलतया प्रतीक में प्रभाव की समता के कारण स्वरूप की समता तथा सादृश्य की उद्भावना स्वाभाविक है।

दादूपंथ में प्रतीक-प्रयोग

संत साहित्य में निरपेक्ष सत्य को प्रतीकों के माध्यम से अनेक स्थलों पर उपस्थित

१—डा० रामखेलावन पाडेय, मध्यकालीन संत साहित्य, पृ० २५६।
२—क्रिश्चियन मिस्टीसिज्म, पृ० २५० पर अभिव्यक्त रिसीनेक का मत।

किया गया है। ये प्रतीक अथवा सांकेतिक प्रयोग संतों द्वारा अनेक दुरूहताओं को सामान्य पाठको के लिए प्रेषणीय एवम् बोधगम्य बनाने के उद्देश्य से प्रयुक्त हुए हैं। अमूर्त का मूर्त विधान करके बिम्ब-ग्रहण कराना भी प्रतीक पद्धति का लक्ष्य रहता है। दिव्य रहस्यात्मक अनुभूतियों को प्रतीक-पद्धति से अभिव्यक्त किया जाता रहा है। प्रायः सभी दादूपंथी कवियो ने परमतत्व के सदर्भ में उसी के शक्ति-सौन्दर्य, व्यापकता आदि को परिपुष्ट करने वाले प्रतीक-चिह्नों का प्रयोग किया है। इस प्रकार के प्रतीकों के माध्यम से व्यजित अर्थ ही प्रधान होता है। इस व्यजना-वृत्ति द्वारा दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन करना मुख्य उद्देश्य रहता है। कभी-कभी इस प्रकार की पद्धति अन्योक्तियों के आश्रय से भी अपनायी गई है। इस पद्धति मे परम्परा का मुख्य स्थान है। अतएव सतों ने रूप-परम्परागत प्रतीकों को ही अपनाया है। समर्थ एवम् साकेतिक प्रतीकों में समर्थ प्रतीक उक्त रूढ़िगत प्रतीकों से सबंधित है। इसमें उपासना पद्धतियों, धार्मिक सामान्य तत्वज्ञान संबंधी प्रचलित एवम् विशिष्ट प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। इस संदर्भ में कतिपय प्रतीकों की चर्चा वांछनीय है।

दार्शनिक शब्दावली के विवेचन के सन्दर्भ में इस प्रकार के शब्दों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है अतएव यहाँ उनके पुनर्विवेचन की कोई आवश्यकता नहीं। इनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे शब्द हैं जो प्रतीक रूप मे प्रयुक्त होते हैं।

यथा— पिता—परमात्मा | जोलहा—सृष्टिकर्ता
बूंद—जीवात्मा | समुद्र—परमात्मा
खसम, कंत—परमात्मतत्त्व
पिया, पुरुष—परमात्मा | बाजीगर—सृष्टिकर्ता

जीवात्मा के लिये निम्नांकित प्रतीकों का प्रयोग किया गया है—

पूत, हंस, नलिनी, सिंह, घरनि, चातक, चकवा, चकवी, हिरणी, सुन्दरी, मछली, सूवा, पक्षी, व्यभिचारिणी, तथा पतिव्रता।

माया के लिये प्रयुक्त प्रतीक —

नारी, बिलाई, महतारी, डाइन, ठगिनी, कामिनी, नागिन, तथा नटनी।

संसार के लिये प्रयुक्त प्रतीक—

चौहटा, परदेश, तथा आरण्य।

शरीर के लिये प्रयुक्त प्रतीक—

माटी के कोट, नाव, चदरिया, पुर, सरोवर, गुफा, चरखा, जंत्र, कायेबासन, पिंजरा, कोट, तथा गढ़।

इसके अतिरिक्त निम्नांकित शब्द भी प्रतीक अर्थ में प्रयुक्त हैं—

गंगा—इड़ा
यमुना—पिंगला
सरस्वती—सुषुम्ना
सखी-सहेली—इन्द्रिय
पांचचोर—कामक्रोध
मेघ—करुणा
अहेरी, पारध—साधक
आगन—अंतःकरण

सहस्रार—गगन, स्वयंभदुआर या औंधाकुआँ

उपर्युक्त प्रतीकों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि इनमें से अधिकाश या तो पूर्ववर्ती परम्परा से ग्रहीत हैं अथवा इनका प्रचलन समय की गति के साथ हुआ है। वस्तुतः संत साहित्य मे प्रतीको का विशद प्रयोग हुआ है। इनके माध्यम से सतों ने अपनी अभिव्यक्ति को सुगम और सरल बनाने का प्रयत्न किया है।

वस्तुतः संस्कृत साहित्य में शब्द के अर्थ का ज्ञान कराने वाली तीन शब्द शक्तियों का उल्लेख है। इन्हें हम अभिधा, लक्षणा और व्यंजना कहते हैं। कुछ लोग अभिधा के स्थान पर व्यंजना का महत्व प्रतिपादित करते हैं। व्यंजना में अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ का त्याग करके, इनसे भिन्न विशिष्ट अर्थ ग्रहण किया जाता है। प्रतीकों का इस व्यजना शब्द शक्ति से कुछ साम्य है।

दादूपंथ के प्रतीक नये नहीं हैं। अभिव्यक्ति की सरलता, स्पष्टता और बोधगम्यता के लिये प्राय: पूर्वप्रचलित परम्परा का ही अनुगमन किया गया है।

लोकोक्ति तथा मुहावरा

भाषा में लोकोक्ति तथा मुहावरा का विशिष्ट स्थान है। लौकिक अनुभव तथा मान्यताओं के आधार पर इनकी रचना जनसाधारण द्वारा अपने आप हो जाती है। मानव प्रकृतितः संक्षेप में अभिव्यंजना का प्रयत्न करता है किन्तु इसके साथ ही उसकी आकांक्षा यह भी दृग्गोचर होती है कि उसकी अभिव्यंजना अथवा कथन का प्रभाव भी उच्चकोटि का हो। कभी-कभी उसके समक्ष ऐसे अवसर भी उपस्थित होते हैं जब वह किसी चर्चा का विस्तार वांछनीय नहीं समझता था सकेत द्वारा अपनी उक्ति का आशय प्रकाशन अभीष्ट मानता है। उक्त परिस्थितियों में उसे लोकोक्ति अथवा मुहावरा का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। लोकोक्तियों के प्रयोग से जहाँ एक ओर भाषा में सौन्दर्य तथा चमत्कार आता है तो दूसरी ओर उसकी आवश्यकता, भावगम्यता, बोधत्व, प्रभाव तथा संप्रेषणीयता में आशातीत वृद्धि होती है। इस दशा में इनके प्रयोक्ता के ज्ञान, अनुभव तथा कौशल का ज्ञान तो होता ही है श्रोता तथा वक्ता अथवा पाठक एवं रचयिता आनन्द सागर में निमग्न हो कृतार्थ हो जाते हैं। अतः लोकोक्ति तथा कहावत युक्त भाषा का विशेष गौरव तथा महत्व स्थापित हो जाता है।

जिस प्रकार अलंकार भाषा की श्रीवृद्धि के मूलाधार हैं उसी प्रकार लोकोक्ति तथा मुहावरे भाषा का अनुपम रंग उपस्थित करते हैं। जिन कवियों अथवा लेखकों का भाषा पर जितना अधिक अधिकार रहता है उनकी रचनाओं में उतनी ही सफलता

के साथ इनका प्रयोग मिलता है। प्रतिभा-सम्पन्न, विज्ञ तथा प्रकृत पण्डितों की भाषा में लोकोक्तियाँ तथा मुहावरे सहज प्रवाह में अयत्नज रूप में प्रयुक्त होते हैं। भाषा में इनके दो रूप उपलब्ध होते हैं। एक तो सभ्य तथा सुसंस्कृत समाज में प्रयुक्त होने वाली लोकोक्तियों का रूप है दूसरा रूप जनसाहित्य में उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए गोस्वामी तुलसीदास की यह अर्धाली ली जा सकती है—

क्षुद्र नदी भरि चलि उतिराई। जिमि थोरे धन खल बौराई॥

यह क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई सुसंस्कृत तथा विद्वत्समाज में प्रयुक्त रूप हुआ तो इसी आशय का जन-साहित्य का रूप हुआ—'अध भरि गगरी छलकत जाय'।

दादूपंथी रचनाकार संतो की शिक्षा-दीक्षा प्रायः साधारण रही है। उनमें प्रतिभा तथा कवित्व शक्ति के दर्शन मिलते हैं। उनकी ये शक्तियाँ स्वाभाविक हैं। उन्हें यत्नज नहीं कहा जा सकता। उनका कार्य-क्षेत्र सामान्य जनता में ही रहा है अतः जन-साधारण से ही उनका संपर्क हुआ। उन्होंने रचनायें भी कीं तो उनमें अपने सिद्धांतों के प्रचार की दृष्टि रखी। इस स्थिति में दादूपंथी सन्तो की वाणी में लोकोक्तियों तथा मुहावरों का वही रूप उपलब्ध होता है जिसका प्रचार एवं प्रसार सामान्य जनता के बीच अत्यधिक रहा है। यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि सुन्दरदास जैसे सिद्ध भाषा-विज्ञ तथा शास्त्रवेत्ता की रचनाओं मे लोकोक्तियों का अत्यंत सफल एवं सुसंस्कृत स्वरूप मिलता है जो भाषा में चार-चाँद लगा देने की पूर्ण-क्षमता सम्पन्न है। यहाँ प्रमुख रचनाकारों की कृतियों में प्रयुक्त कुछ लोकोक्तियों तथा मुहावरों की चर्चा अप्रासंगिक न होगी। सावन की हरियाली को लक्ष्य कर लोकोक्ति का प्रयोग कितना आकर्षक एवं स्पष्ट रूप में किया गया है।

सावणि हरिया देषिए, मन चित ध्यान लगाइ।
दादू केते जुग गये, तौ भी हर्‌या न जाइ॥[1]

इसी प्रकार मगहर के ऊसर में बोए गये बीजों की व्यर्थता का संकेत करते हुये वे कहते हैं—

दादू माया षेत पर सद्‌गति कदे न होइ।
जे वंचहि ते देवता, राम सरीषे सोइ॥[2]

'गूँगे का गुड़' अत्यंत प्रचलित लोकोक्ति है। इसका प्रयोग साहित्य तथा लोक दोनों में मिलता है। भक्तवर सूरदास ने इसका प्रयोग थोड़े परिवर्तन के साथ किया है। 'ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अंतर्गत ही भावे'।

इसके माध्यम से अनुभूति की अनिर्वचनीयता का अत्यन्त सटीक चित्रण होता है। दादू ने 'हैरान को अंग' मे इसका प्रयोग किया है।

१—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, दादूदयाल, पृ० १२२, मन कौ अंग साखी ६७।
२—वही, १२२, माया कौ अंग साखी ४६।

गूँगे का गुड़ का कहूँ मन जानत है खाइ।
त्यौं राम रसाइण पीवतॉ, सो सुख कह्या न जाइ ॥[1]

जीव ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्ममय हो जाता है। उसका अस्तित्व कहीं दृष्टिगत नहीं होता। इसी तथ्य के आधार पर भारतीय मनीषियों ने 'अहं ब्रह्मास्मि' अथवा 'सोऽहं' की घोषणा की है। इस तथ्य को दादू अत्यन्त सरल एवं लोकप्रिय लोकोक्ति के माध्यम से अभिव्यंजित कर श्रोता या पाठक के हृदय मे चित्रमय स्वरूप उपस्थित कर देते हैं।

दादू ज्यूॅ जल पैसे दूध मैं त्यूॅ पाणीं मे लूॅण।
अैसे आतम राम सौ, मन हठ साधै कूॅण।[2]

इसके अनंतर सन्त सुन्दरदास द्वारा प्रयुक्त लोकोक्ति तथा मुहावरो की छटा का अवलोकन आवश्यक है।

मनुष्य संसार मे अपने कर्म के द्वारा ही उपलब्धि करता है। जो व्यक्ति जैसा दुष्कर्म या सुकर्म करता है उसी के अनुसार उसे फल मिलता है। देवता के वरदान महात्मा के आशीर्वाद अथवा धर्म-समम्त क्रिया-कलाप के सम्पादन मात्र से किसी का उद्धार नहीं हो सकता। भवसागर से वही व्यक्ति पार हो सकता है जो स्वयं अपेक्षित कर्म करे। इस आशय का उद्घाटन संक्षेप में इस लोकोक्ति के द्वारा अत्यत उपक्युत ढंग से होता है कि 'अपनी करनी पार उतरनी'। इस लोकोक्ति का प्रयोग संत सुन्दरदास ने 'विवेक चितावनी' में बड़ी कुशलता से किया है।

भोजन करै तृपति सो होई। गुरु शिष्य भावै किन कोई।
अपनी करनी पार उतरना। संमुझि देषि निश्चै करि मरना ॥[3]

मकड़ी अपने ही तने हुए जाल में फॅस जाती है। इसी प्रकार जब जीव अपने ही बनाये हुए मायाजाल में फॅस जाता है तो उसकी दशा अत्यंत दयनीय हो जाती है। मकड़ी की भाँति वह भी मायाजाल का उच्छेदन करने में असमर्थ हो जाता है। जीव अपनी मक्कारी से उस जाल को अपेक्षाकृत अधिक जटिल बनाता जाता है। इसके लिए कल्याण का एकमात्र मार्ग यही है कि वह अपनी मक्कारी छोड दे और मायाजाल से निकल जावे। 'मकड़ी के जाले' का प्रयोग कर सुन्दरदास ने जीव की मुक्ति का सुन्दर उपाय बतलाया है।

अहपुहि जाल किया ज्यौ मकरी। पीछै फिर्या लाठि ज्यौ मकरी।
अजहूं संमुझि देषि कछु मकरी। सुन्दर मकर छाड़ि दै मकरी ॥[4]

१—दादू दयाल की बानी, (वेलवेडियर प्रेस) पहिला भाग, पृ० ७६ साखी १४।
२—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी—दादूदयाल, पृ० २२, सुमिरण कौ अंग, साखी ७०।
३—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम भाग, पृ० ३३६ विवेक चितावनी, छंद सं० ३०।
४—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खंड पृ० ३४२ अडिल छन्द सं० १८।

सुन्दरदास जी दर्शन के प्रगाढ़ पंडित तो थे ही वे साहित्य के भी कुशल मर्मज्ञ थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में पिंगल तथा भाषा का अपूर्व चमत्कार समाविष्ट कर दिया है। इनका मुहावरो का प्रयोग भी अनुपम है। किसी-किसी पद में उन्होंने लोकोक्तियों की माला सी पिरो दी है। इस प्रकार के प्रयोग में वही कवि सफल हो सकता है जिसका भाषा तथा भावों पर सिद्ध अधिकार हो। यहाँ ऐसा ही एक सवैया उद्धृत किया जा रहा है।

ज्यौं कपरा दरजी गहि ब्यौतत, काष्टहि कौ बढ़ई कसि आनैं।
कंचन कौं जु सुनार कसै, पुनि लोह कौ घाट लुहार हि जानैं॥
पाहन कौं कसि लेत सिलावट, पात्र कुम्हार कै हाथ निपानैं।
तैसैंहि शिष्य कसै गुरुदेव जु, 'सुन्दरदास' तबै मन मानै॥[1]

इसके प्रायः सभी चरणों मे लोकोक्ति का प्रयोग हुआ है। इसी विशेषता से युक्त कतिपय छंद 'उपदेश चितावनी के अंग' में भी प्राप्त होते हैं।

बालू मांहि तेल नहिं निकसत काहू विधि
पाथर न भीजै बहु बरषत घन है।
पानी के मथे तें कहुं घीव नहिं पाइयत
कूकस कै कूटे नहिं निकसत कन है॥
शून्य कूँ मूठी भरे तें हाथ न परत कछु
ऊसर के बाहें कहा उपजत अन है।
उपदेश औषध कवन विधि लागै ताहि,
सुन्दर असाध्य रोग भयौ जाके मन है॥[2]

इन्द्रिनि के सुख मानत है शठ याहि ते बहुते दुख पावै।
ज्यौं जल मैं झष मांसहि लीलत स्वाद बंध्यौ जल बाहरि आवै॥
ज्यौ कपि मूँठि न छाड़त है रसना बसि बंदि पर्यौ बिललावै।
सुन्दर क्यों पहिले न संभारत 'जो गुर खाइ सु कांन बिंधावै॥[3]

इनके प्रायः सभी ग्रन्थो में लोकोक्तियों तथा मुहावरों का यथास्थान उचित प्रयोग हुआ है। इससे एक ओर तो विचारों की स्पष्टता प्रगट होती है तो दूसरी ओर कथन की प्रभाव व्यंजकता तीव्र होती है।

१—सुंदर ग्रंथावली, द्वितीय खंड पृ० ३८६, तथा सुन्दरविलास 'गुरुदेव को अंग' सवैया १०।
२—सुन्दर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड,पृ० ३९७, तथा सुन्दरविलास, उपदेश चिंतामणि को अंग,छन्द सं० ८।
३—वही, पृ० ४०२ छन्द १८।

निष्कर्ष

१—दादूपंथी साहित्य में सधुक्कड़ी और खिचड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

२—इसमें भावपक्ष पर्याप्त सबल है।

३—कलापक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अलंकारों का यथोचित प्रयोग हुआ है। कुछ पिंगल शास्त्री आचार्यों ने उसका विशिष्ट प्रयोग किया है, पर अन्य सभी लेखकों में अनुभूति की तीव्रता के कारण ये विद्यमान हैं।

४—शान्त और भक्ति रस का प्रतिपादन किया गया है।

५—प्रतीकों का प्रयोग प्रायः पूर्वप्रचलित अर्थ में ही हुआ है।

६—राग-रागिनियों की दृष्टि से भी अभिव्यक्ति सफल है। इनकी शास्त्रीय पद्धति के स्थान पर लोक सामान्य के प्रयोग और समझ को दृष्टिपथ में रखा गया है।

७—यथास्थान लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग किया गया है।

: ६ : 'भक्ति साहित्य' में दादूपंथी साहित्य का योगदान

भक्ति

'भज सेवायाम्' धातु से 'स्त्रियांक्तिन्' (पा० सू० ३।३।९४) इस सूत्र के अनुसार 'क्तिन्' प्रत्यय लगानेपर 'भक्ति' शब्द बनता है। वस्तुतः 'क्तिन्' प्रत्यय भाव-अर्थ में होता है—'भजनं भक्तिः।' परंतु वैयाकरणों के यहाँ कृदन्तीय प्रत्ययों के अर्थ-परिवर्तन एक प्रक्रिया के अंग हैं। अतः वही 'क्तिन' प्रत्यय अर्थान्तर में भी हो सकता है।

'भजनं भक्तिः' 'भज्यते अनया इति भक्तिः' भजन्ति अनया इति भक्तिः—इत्यादि 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्तियाँ की जा सकती हैं।

'भक्ति' शब्द का वास्तविक अर्थ 'सेवा' है। वह सेवा अनेक प्रकार से सम्पन्न होती है। जिसमें किसी भी प्रकार की भक्ति है, उसे 'भक्त' कहते हैं। भक्ति तथा भक्त के अनेक भेदोपभेद शास्त्रो में कहे गए हैं।

भगवान में चित्त की स्थिरता को भक्ति कहते हैं।
'भगवति मनः स्थिरीकरणं भक्तिः।
मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है।
द्रवीभाव पूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पवृत्तिर्भक्तिः।

देवर्षि नारद ने परमेश्वर के प्रति होनेवाले परम प्रेम को भक्ति की संज्ञा दी है।[1] शाण्डिल्य ने ईश्वर के प्रति परम अनुराग को भक्ति कहा है।[2]

श्रीमद्भागवत् में भक्ति उस वृत्ति को कहते हैं जिससे सांसारिक विषयों का ज्ञान प्रदान करने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्ति निष्काम भाव से भगवान में लग जाय।[3] भागवत पुराण में यह प्रेम निर्हेतुक निष्काम और निरन्तर होता है।[4] जब भक्ति किसी हेतु से की जाती है तब उसका कुछ न कुछ व्यापारिक स्वरूप हो जाता है। ऐसी भक्ति को 'राजस भक्ति' कहते हैं। निष्कपट और सच्चे भाव से प्रेम पूर्वक ईश्वर की

१—'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा, अमृत स्वरूपा च, नारदभक्ति सूत्र—२-३
२—'सा परानुरक्ति रीश्वरे' (शाण्डिल्य भक्तिसूत्र १।१।२)
३—स वै पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्य प्रतिहता यथाऽऽत्मा संप्रसीदति। भागवत १—२—६
४—'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे' (भाग ३—२९—१२)।

जिज्ञासा करना ही भक्ति है। प्रीति इसका आदि मध्य और अन्त है। प्रारम्भ में प्रेम अस्थिर और क्षणस्थायी होता है परन्तु इसी प्रेम से उत्पन्न हुई उन्मत्तता ही शाश्वत मुक्ति की जननी है। विषय वासना के रहते इस प्रकार का प्रेम नहीं उदित होता। भक्ति का कोई काम्य नहीं है। भक्ति कर्म ज्ञान और योग से श्रेष्ठतर है। कर्म, ज्ञान और योग किसी साध्य के साधन हैं परन्तु भक्ति साधन और साध्य दोनों है। ज्ञानी तो भक्ति को मुक्ति का उपाय मानते हैं परन्तु भक्त के लिए भक्ति उपाय और उद्देश्य दोनो है। भक्ति जब साधन रहती हैं तो उसका स्वरूप छोटा रहता है और उपासना में लगने से भक्ति उच्चतम भाव पर प्रतिष्ठित हो जाती है। पूर्ण भक्ति के उदय के साथ ही साथ ज्ञान की उपलब्धि अपने आप होने लगती है। सच्चे ज्ञान से सच्ची भक्ति पृथक नही है भगवान शकर ने कहा है कि अमुक राजा का भक्त है, अमुक गुरु का भक्त है या पतिव्रता स्त्री अपने पति के ध्यान में निमग्न है। इस प्रकार का ध्यान या प्रेम या भक्ति शकर के मत से भक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

रामानुज के मत से एक पात्र से दूसरे पात्र मे गिरती हुई अविच्छिन्न तैलधारा की तरह निरन्तर तल्लीन होने का नाम ध्यान है।[1] इस प्रकार का ध्यान या स्मृति भी भक्ति ही है। जो हमारा प्रिय है यदि वह दूर चला जाय तो हम उसे स्मृति या ध्यान द्वारा ही स्मरण करते हैं। भक्त भी बारम्बार परमात्मा का स्मरण ही तो करता है। "ईश्वर प्रणिधानद्वा" सूत्र की व्याख्या करते हुए 'भोज' ने कहा है कि प्रणिधान वह भक्ति है, जिसमें फल की इच्छा का त्याग करके समस्त कर्मों को परमात्मा के चरणों में अर्पित कर दिया जाय। प्रह्लाद ने भी भक्ति का जो लक्षण दिया है वह इस प्रकार है "प्रभो जिस दृढ़ता और आग्रह से संसार के अविवेकी जन इन्द्रियों की विषय-वासनाओं की इच्छा करते हैं, वैसे ही मैं तुम्हारा स्मरण किया करूँ।"[2] जब मानव हृदय मे भक्ति का विकास होता है तो उसमें सभी प्राणियों के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है। उसका भीतर और बाहर सर्वदा सात्विक प्रसन्नता से भरा रहता है। परमेश्वर का अनुभवात्मक ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। यह अनुभव बिना निर्हेतुक भक्ति के सम्भव नहीं है।' ज्ञान और कर्म दो निष्ठाएँ है जहाँ ज्ञान अव्यक्तोपासना के मार्ग से ईश्वर को जानने का प्रयास करता है और कर्म अथवा योग चित्त शुद्धि का साधन मात्र बनता है वहाँ भक्ति अव्यक्त को व्यक्त करते हुए उसे प्राप्त कर लेती है। भक्ति का अन्तिम उद्देश्य ईश्वर प्राप्ति है जो भक्ति द्वारा अत्यन्त सरलता एवं स्वाभाविकता से उपलब्ध होती है। विदेशी विद्वानों ने भी भक्ति के प्रसंग में अनेक चर्चाएँ की हैं। डॉ ग्रियर्सन भक्ति को 'डिवोशनल फेथ' कहते हैं। 'डिवोशन' और 'फेथ' दोनों के योग से भक्तितत्व को निष्पन्न मानते हैं। 'डिवोशन' उपासना का तथा 'फेथ' शब्द प्रतीति का पर्याय स्वीकार किया जाय तो भक्ति

१—ध्यानं च तैलधारा वदविच्छिन्न स्मृति संतानरूपा ध्रुवास्मृतिः।
—ब्रह्म सूत्र—रामानुज भाष्य प्रथम सूत्र

२—या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥ विष्णु पुराण १।२०।१९।

वह भाव है जिसकी निष्पत्ति उपासना और पूर्ण प्रतीति की निष्पत्ति हो जाने पर होती है। परन्तु[1] ग्रियर्सन ने प्रतीति के आलम्बन के लिए सगुण ईश्वर की आवश्यकता स्वीकार की है।

भक्ति के भेद

भक्ति के भेद-प्रभेद के प्रसंग में कई विचार धाराएँ प्रचलित हैं कुछ लोग यह मानते हैं कि भक्ति के दो भेद हैं। प्रथम रागात्मिका भक्ति और द्वितीय अहेतुकी भक्ति। अभिलषित वस्तु में सरस हृदय के अत्यन्त गाढ़ आवेग का नाम राग है। इसी रागमयी भक्ति को रागात्मिक भक्ति कहते हैं। यह रागात्मिका भक्ति अत्यन्त सहज एवं सरल है। जैसे सरिता की गति सिंधु की ओर स्वाभाविक एवं सहज है उसी प्रकार बिना किसी प्रयत्न या चेष्टा के आपसे आप चित्त का ईश्वर के लिए व्याकुल होना रागात्मिका भक्ति का लक्षण है। शाण्डिल्य के 'अनुरक्ति' शब्द की व्याख्या करते हुए भाष्कर स्वप्नेश्वर कहते हैं "उसका अर्थ है 'अनु' याने पश्चात् 'रति' याने आसक्ति। अर्थात् वह आसक्ति जो भगवान के स्वरूप और उनकी महिमा के ज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होती है।[2]

सब अभिलाषाओं से रहित होकर भगवान के सिवा और कुछ भी न चाहे यह 'अहेतुकी भक्ति' है। ऐसे भक्तों के सामने मोक्ष भी तुच्छ है। जबतक उच्च भाव का आविर्भाव न हो जाय तबतक अहेतुकी भक्ति की साधना करनी चाहिए। धीरे-धीरे यही अहेतुकी भक्ति रागात्मिका भक्ति का रूप धारण कर लेती है। ऐसे ही भक्त को आत्मानुभूति प्राप्त होती है। यह आत्मानुभूति भी न तो नाना प्रकार की विद्याओं से हो सकती है न बुद्धि से हो सकती है और न वेदाध्ययन से। केवल श्रवण, मनन, और निदिध्यासन से आत्मानुभव उपलब्ध नहीं किया जा सकता। जो इस आत्मा से अत्यन्त प्रेम करता है वही आत्मा का प्रिय पात्र बनता है। भगवान कृष्ण ऐसे ही सतत युक्त प्रेमपूर्वक भजन करने वाले को बुद्धियोग प्रदान करते हैं।[3] इसीलिए कहा गया है कि जिसे यह प्रत्यक्ष अनुभवात्मक स्मृति अत्यन्त प्रिय है उसी को परमात्मा वरण करते हैं और वही परमात्मा को प्राप्त करता है।[4] आध्यात्मिक अनुभूति के लिए किए जाने वाले मानसिक प्रयत्नो की परम्परा ही

१—नाथ और सन्त साहित्य—नगेन्द्र नाथ उपाध्याय-पृ०। १०२

२—भगवन्महिमादिशानादेनु पश्चाज्जायमानत्वादनुरक्तिरित्युक्तम्।
शाण्डिल्य सूत्र, स्वप्नेश्वर टीका, ११२

३—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येनमामुपयान्ति ते।—गीता—१०।१०

४—'नापमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया, न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्' इति अनेन केवल श्रवण मनन निदिध्यासनानामात्मप्राप्तुपायत्वमुक्त्वा यमैवेष आत्मो वृणुते लभ्युं इत्युक्तम्। प्रियतम एव हि वरणीयो भवति, यस्यायं निरतिशयप्रियः स एवास्य प्रियतमो भवति। —ब्रह्मसूत्र, रामानुजभाष्य, प्रथम सूत्र का भाष्य।

भक्ति है, जिसका प्रारम्भ साधारण पूजा-पाठ से होता है और अन्त ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ एवं अनन्य प्रेम में।[1]

श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अध्याय २९ में मानवी वृत्तियों के अनुसार भक्ति के चार भेद किये गये हैं :—

१—सात्विकी भक्ति जिसमें मुक्ति की कामना रहती है।

२—राजसी भक्ति जिसमें सांसारिक ऐश्वर्य की कामना रहती है।

३—तामसी भक्ति जिसमें दूसरों के अहित और शत्रुओं के विनाश की कामना रहती है।

४—निष्काम भक्ति जिसमें कोई कामना नहीं रहती है।

भागवतकार ने प्रथम तीन को काम्या भक्ति और अंतिम को वास्तविक भक्ति की संज्ञा से अभिहित किया है। भगवान की निष्काम उपासना को वास्तविक भक्ति स्वीकार करते हुए सांसारिक कामनाओं का त्याग भक्ति के लिए अनिवार्य बताया है।

श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन से चार प्रकार के भक्तों की चर्चा की है :—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरार्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।

इस प्रकार ज्ञानी भक्त ही श्रेष्ठ अहेतुक भक्त है क्योंकि ज्ञान भी असकृत उपासना से अभिन्न है। निरन्तर स्मरण के अर्थ में ही ज्ञान अभिप्रेत है। चारो प्रकार के भक्तों में सबसे उत्तम ज्ञानी, उससे हेय जिज्ञासु, जिज्ञासु से हेय आर्त्त और सबसे हेय अर्थार्थी भक्त होता है। यहाँ ज्ञानी भक्त का आशय ज्ञानमार्गी भक्त से नहीं है वरन् ज्ञानी उसे कहते हैं जो निष्काम भाव से भगवान की भक्ति में लगा रहता है। आर्त भक्त दुःख से प्रपीड़ित होकर भगवान को भजता है और पीड़ा से मुक्ति चाहता है; जिज्ञासु ज्ञान-प्राप्ति के लिए आकांक्षा रखता है; अर्थार्थी द्रव्यादि काम्य वासनाओं की प्राप्ति के लिए भगवान को भजता है और ज्ञानी निष्काम भाव से भगवान का स्मरण करता है। ज्ञानी को श्रीकृष्ण ने इसलिए सर्वोत्तम नही कहा है कि उसे आत्मा, परमात्मा का तत्वतः बोध है परन्तु इसलिए श्रेष्ठ कहा है कि ज्ञानी भक्त सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण करके अपने अंतःकरण को परमात्मा मे ही लगाकर सबकी एकता के सर्वोत्तम भाव में स्थित रहता है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मा बुधा भावसमन्विताः ॥१०-८॥
तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञान दीपेन भास्वता॥ वही—११॥

"यह जानकर कि मैं सबका उत्पत्तिस्थान हूँ और मुझसे सब वस्तुओं की प्रवृत्ति होती है, ज्ञानी पुरुष भावयुक्त होते हुए मुझको भजते हैं। उन पर अनुग्रह करने के

१—भक्तियोग—स्वामी विवेकानन्द, पृष्ठ १४।
गीता—१२।१३-२०।

लिए ही मैं उनके आत्मभाव अर्थात् अन्तःकरण में पैठकर तेजस्वी ज्ञानदीप से उनके अज्ञानमूलक अन्धकार का नाश करता हूँ।"

गीता के बारहवें अध्याय में भक्त के लक्षणों का पूर्ण विवेचन किया गया है। संक्षेप में निम्नलिखित लक्षण महत्वपूर्ण हैं।

१—सभी जीव जन्तुओं से निष्काम प्रेम रखने वाला।
२—सांसारिक माया-मोह से मुक्त और कामना का परित्याग करने वाला।
३—हानि-लाभ, सुख-दुख, मान-अपमान को समान दृष्टि से देखने वाला।
४—मन और इन्द्रियों का निग्रह करने वाला।
५—क्षमाशील, शांत, दयालु, अहंकार रहित और द्वेष रहित व्यक्ति।
६—कर्मों और कर्म फलों को भगवतार्पण करने वाला।
७—श्रद्धालु।

गीता के १८वें अध्याय में भी भक्त के लक्षणों का परिचय मिलता है।

"अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह अर्थात् पाश को छोड़कर शान्त एवं ममता से रहित मनुष्य ब्रह्मभूत होने के लिए समर्थ होता है। ब्रह्मभूत हो जाने पर प्रसन्न-चित्त होकर वह न तो किसी की आकांक्षा ही करता है और न किसी से द्वेष ही करता है तथा समस्त प्राणि मात्र मे सम होकर मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर लेता है। भक्ति से उसे मेरा तात्विक ज्ञान हो जाता है कि मैं कितना हूँ और कौन हूँ। इस प्रकार मेरी तात्विक पहचान हो जाने पर वह मुझमें ही प्रवेश करता है। मेरा आश्रय प्राप्त कर लेने पर, सब प्रकार के कर्म करते रहने पर भी उसे मेरे अनुग्रह से शाश्वत एवं अनुग्रह स्थान प्राप्त होता है।[1]"

अर्जुन को अन्तिम उपदेश देते हुए गीता में सम्पूर्ण गीता शास्त्र का भक्ति प्रधान उपसंहार प्रस्तुत किया गया है। "अन्त की एक बात और सुन जो कि सबसे गुह्य है। तू मुझे अत्यन्त प्रिय है इसलिए मैं तेरे हित की बात कहता हूँ। मुझमें अपना मन रख, मेरा भक्त हो, मेरा भजन कर और मेरी वन्दना कर, मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि ऐसा करने से तू मुझमें ही आ मिलेगा, तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। सब धर्मों को छोड़कर तू केवल मेरी शरण में ही आ जा, मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा, डर मत।"[2]

१—अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोध परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१८।५३
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥५५

२—सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४

इस प्रकार कृष्ण ने अर्जुन को अन्त मे निमित्त बनाकर यह आश्वासन दिया है कि मेरी दृढ़ भक्ति करके मतपरायण बुद्धि से स्वधर्मानुसार प्राप्त होने वाले कर्म करते जाने पर कल्याण होगा। इस प्रकार गीता के कर्मयोग का और ज्ञानयोग का भी पर्यवसान भक्ति प्रधान है।[1]

भेद और अभेद भक्ति—

कहीं-कहीं भक्ति के प्रसंग में भेद भक्ति और अभेद भक्ति की चर्चा की गई है। पर वस्तुतः जिसे हम ज्ञानयोग कहते हैं वही अभेद भक्ति है और जिसे हम भक्तियोग कहते हैं वही भेद भक्ति है। भेद भक्ति में साधक प्रारम्भ मे अपने को भगवान से पृथक मानता है क्योंकि प्रारम्भिक स्थिति में उसे भगवान के सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं रहता। ऐसी स्थिति में वह केवल यह निश्चय करता है कि मैं केवल भगवान का हूँ—'तस्यैवाहम्'। उसके बाद सारे चराचर में एक ही सत्ता का अनुभव करता है और भगवान को अपने समक्ष देखकर कहता है कि हे भगवन! मै तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो— तवैवाहम्'। अन्त में भाव-परिपाक के उपरान्त पराभक्ति का उदय होता है और भक्त भगवत् रूप हो जाता है और तब वह कह उठता है—'त्वयेवाहम्'। इस प्रकार भेद भक्ति की साधना से भक्त भगवान के साथ अपना अभेद अनुभव करने लगता है।

ज्ञानमार्ग तो प्रारम्भ से ही अभेद होता है क्योंकि साधक पहले ही यह निश्चय कर लेता है कि सब ब्रह्म स्वरूप है। तत्पश्चात् स्वयं भी ब्रह्म रूप हूँ ऐसा निश्चय करता है। इसी भाव को स्व स्वरूप स्थिति या ब्रह्मनिष्ठा कहते हैं। श्रुति में अभेदभक्ति का इस प्रकार दृष्टान्त मिलता है।

"जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याद्यौ प्रपचो यः प्रकाशते।[2]
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वपाशैः प्रमुच्यते ।।"

जाग्रत स्वप्न या सुषुप्ति में जो प्रपञ्चात्मक अनुभव होता है वह सभी ब्रह्म रूप है। इस प्रकार का निश्चय साधक को हो जाना चाहिए। यह जानने के बाद वह भी मुक्त हो जाता है क्योंकि जब सभी कुछ ब्रह्म स्वरूप है तो वह स्वयं ब्रह्म से पृथक कैसे रह सकता है। अभेद भक्ति का साधक विचार का आश्रय लेता है। वह यह निश्चय

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसिऽमे ॥६५
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्या मोक्षयिष्यामि माशुचः ॥६६
गीता १८।६४।६५।६६ः

१—"य इदं परमं गुह्य मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८
गीता १८।६८

२—कल्याण, भक्ति-अंक, पृष्ठ ७१

करता है कि मैं सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा हूँ। मैं सत् हूँ क्योंकि त्रिकालाबाधित एवं जन्म-मरण से मुक्त हूँ। मै चित् हूँ इसलिए ज्ञान स्वरूप हूँ। मैं स्वयं में आनन्द स्वरूप हूँ इसलिए मुझे सुखपाने की कोई आकांक्षा नहीं है। मैं शरीर नहीं हूँ, न इंद्रिय हूँ और न अन्तःकरण ही हूँ। इसलिए जन्म-मृत्यु, जरा आदि मुझे पीड़ित नही कर सकते। विषयों के भोगसे उत्पन्न दुःख-सुख मुझे नहीं व्यापते और शोक-मोह, राग-द्वेष, कर्ता-भोक्ता आदि अन्तःकरण के धर्म मेरे पास पहुँच ही नही सकते। इस प्रकार शान्त चित्त से भावपूर्वक और प्रेमपूर्वक विचार करते-करते साधक कृत-कृत्य हो जाता है।

भेदभक्ति का साधक भी यह मानता है कि जगत में जो भी रूप दिखलाई पड़ते हैं वे सब भगवान के ही हैं। अर्थात् भगवान ही अनन्त रूपों मे प्रकट हो रहे हैं। जा कुछ सुनने में आता है वह भगवान के ही नाम हैं और जो, कुछ अनुकूल या प्रतिकूल अथवा शुभाशुभ व्यवहार होता दिखलाई पड़ता है वह सब भगवान की लीला है। इस प्रकार का अनुभव करते-करते भक्त कृत-कृत्य हो जाता है। परन्तु वस्तुतः भक्ति और ज्ञान परस्पर उपकारक हैं और दोनों का एक ही फल है भगवत्-प्राप्ति। ज्ञान और मुक्ति अथवा पराभक्ति या भगवत्-प्राप्ति दोनों एक ही हैं।

साधक भक्तियोग, ज्ञानयोग या अष्टांगयोग में से किसी की भी साधना करता हो पर सभी का लक्ष्य एक ही है। जिस चेतन सत्ता को भक्त भगवान कहता है उसी चेतन सत्ता को अष्टांगयोगी परमात्मा कहता है, वेदांती ब्रह्म कहता है और सांख्य योग वाले उसे ज्ञान या ज्ञान स्वरूप कहते हैं। भक्त जिसको भगवत्प्राप्ति कहता है योगी उसे आत्मा और परमात्मा का मिलन कहता है। वेदान्ती उसे ब्रह्मभूत होना कहता है और ज्ञानी इसे स्वरूप में स्थिति मानता है। भक्त साधन काल में दासोऽहं कहता है पर जब पराभक्ति का उदय होता है तो केवल सोऽहं कहता है।

इस प्रकार भक्ति और ज्ञान परस्पर समन्वित एवं भगवत्प्राप्ति के अव्यक्त साधन हैं। भगवान को प्राप्त करने के लिए अनन्य भक्ति से युक्त होकर बुद्धि का लय करना पड़ेगा, बुद्धि लय होने पर भक्ति के साधक तद्बुद्धि होते हैं। तद्बुद्धि होने पर ही भक्त भगवान को वे जैसे जो कुछ हैं तत्व से जानता है।

अनन्यभक्त्या तद्बुद्धिर्बुद्धि लयादत्यन्तम्।

परा विद्या और पराभक्ति

उपनिषदों में परा और अपरा दो प्रकार की विद्याएँ जानने योग्य हैं। अपरा विद्या के अन्तर्गत ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आदि आते हैं तथा परा विद्या द्वारा अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है।[1]

१—द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवपरा च तत्रापरा ऋगवेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।
मुण्डकोपनिषद् १।१४-५

इस प्रकार परा विद्या ही ब्रह्म विद्या है। एक वर्तन से दूसरे वर्तन में तेल डालने पर जिस प्रकार तैलधारा लगातार गिरती रहती है उसी प्रकार मन जब भगवान के सतत् चिन्तन में लगा रहता है तो पराभक्ति की अवस्था प्राप्त होती है।[1] दूसरे सब प्रकार की भक्ति इस पराभक्ति (रागानुगामिनी भक्ति) की प्राप्ति के लिए केवल साधन स्वरूप हैं। ऐसे रागानुगामी भक्त के लिए अनुष्ठान पद्धति, प्रतिमा, शास्त्र और मत-मतान्तर गौण हैं। केवल प्रेम करना उसका स्वभाव है। सच्चे भक्त के इस दैवी प्रेम का अन्य कोई हेतु नहीं रहता है। भक्त भगवान से केवल इसलिए प्रेम करता है कि भगवान प्रेम स्वरूप हैं। भिखारी की भाँति गिड़गिड़ाना प्रेम की भाषा नहीं है। यहाँ तक कि भक्त मुक्ति के लिए भी आकांक्षा नहीं रखता। ऐसा भक्त केवल देता है, लेता नहीं। इस प्रकार की भक्ति में भय के लिए कोई स्थान नहीं होता। जो लोग दंड के भय से भगवान का स्मरण करते हैं वे अविकसित हैं। उन्हें इस बात का भय रहता है कि ईश्वर अशुभ कर्मों के लिए दड देता है। इसलिए वे निरन्तर भगवान से भयभीत होकर आराधना करते हैं परन्तु ऐसी उपासना निम्न कोटि की है। जब तक हृदय में भय बना है तब तक प्रेम के लिए स्थान कैसे सम्भव है? भय तो इस स्वार्थ भावना से है कि मैं संसार से अलग हूँ। जो व्यक्ति सारे संसार को भगवानमय समझकर व्यवहार करता है उसके लिए भय का कोई स्थान नहीं। ऐसे प्रेम का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता। प्रेमी का आदर्श ईश्वर है—जिसमें सौन्दर्य, महानता और शक्ति के उच्चतम आदर्शों का योग है—ऐसे उच्चतम आदर्श पर प्रतिष्ठित ईश्वर के प्रेम में प्रतिस्पर्धा के लिए कोई स्थान नहीं। ऐसे प्रेमी का, जो स्वार्थ और भय से विमुक्त है और जिसे फल की कोई आशा नहीं है, क्या आदर्श हो सकता है? ऐसे प्रेमी का आदर्श सार्वभौमिक, अनन्त और असीम प्रेम ही है जिसके लिए किसी प्रतिमा या प्रतीक की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार के एक सार्वभौमिक आदर्श की आदर्श रूपसे उपासना सबसे ऊँचे प्रकार की परा भक्ति है।[2] ऐसे आदर्श मार्ग पर चलने पर कभी सफलता मिलती है तो कभी असफलता। साधनावस्था में साधक एक के बाद दूसरी वस्तु को ग्रहण करता चलता है परन्तु इन वस्तुओं से केवल आदर्श की ओर बढ़ने में सहायता ही मिलती है। क्रमशः ये सारी बाह्य वस्तुएँ इस सतत विस्तारशील आदर्श को प्रकाशित करने के लिए अनुपयुक्त सिद्ध होती हैं। इसलिए स्वभावतः एक-एक करके उनका त्याग करता हुआ साधक संपूर्ण और सर्वोच्च निर्विशेष भावापन्न सूक्ष्म आदर्श की अन्तर में ही जीवन्त और सत्य रूपसे अनुभव करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। ऐसे साधक के लिए भगवान- प्रेममय हैं और उसके लिए उसके मनमें तर्क-वितर्क के लिए कोई स्थान नहीं होता। प्रेमी भक्त के हृदय में अपने प्रेमास्पद के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। प्रेम के क्षेत्र को मर्यादित या सीमित कर लेना ही भ्रम है। भूमा में ही सुख है। यह

१—चेतसी वर्तनञ्चैव तैल धारा समं सदा। देवी भागवत, ७।३७।११

२—भक्तियोग—स्वामी विवेकानन्द—पृ० १०४

समष्टि ही भक्त का भगवान है। उपनिषदें इन्हीं भावों को व्यक्त करती हैं। वह सच्चिदानंद-घन परब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकार से सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उसी परब्रह्म से पूर्ण है क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार पर-ब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह पर-ब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण निकाल लेने पर भी पूर्ण ही बच रहता है।[1]

जो कुछ भी इस अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड में चराचरात्मक जगत देखने और सुनने में आ रहा है वह सबका सब सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्व कल्याण गुण-स्वरूप परमेश्वर से व्याप्त है। ऐसा समझकर ही ईश्वर का निरन्तर स्मरण करना चाहिए। जैसे समुद्र-तरंगों में स्थित जल की इच्छा नहीं करता वैसे ही आनन्द स्वरूप हो जाने पर भक्त को विषयो के आनन्द की इच्छा नहीं होती। जैसे सम्पत्तिवान पुरुष को दरिद्रता की आशा नहीं होती वैसे ही ब्रह्मानन्द में निमग्न आत्मज्ञानी भक्त को विषय-वासनाओं की आकांक्षा नहीं सताती। विष और अमृत में से बुद्धिमान व्यक्ति अमृत को ग्रहण कर लेता है और विषका त्याग कर देता है वैसे ही पराभक्ति का साधक परमात्मा को देखकर अनात्मा (विषयों) का त्याग कर देता है।[2] इस प्रकार की पूर्णता को उपलब्ध कर लेनेवाला भक्त अपने भगवान को मन्दिरों, मसजिदों और गिरजों में खोजने नहीं जाता, उसके लिए तो ऐसा कोई स्थान ही नहीं होता जहाँ उसका भगवान न हो। साधु की साधुता में, दुष्ट की दुष्टता में भी वह उनके दर्शन करता है, क्योंकि उसने तो उस महिमा-मय प्रभु को पहले से ही अपने हृदय-सिंहासन पर बिठा लिया है, और वह जानता है कि वे एक सर्व शक्तिमान एवं निरन्तर आलोकित परम ज्योति के रूप में उसके हृदय में सदा प्रकाशमान हैं और सदा से वर्तमान हैं। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति—इस श्रुति के अनुसार आत्मा ही परम प्रेमास्पद है। इसी आत्मान्वेषण को स्वरूपावस्थिति कहते हैं। पराभक्ति स्वरूपानुसंधान है और अपराभक्ति देवादि विषयिणी है। इसीलिए भगवान के दिव्य मंगल-विग्रह के दर्शन से, उनकी लोकातीत लीलाओं के श्रवण से तथा परम प्रेमास्पद भक्तजनों के हृदय को आह्लाद प्रदान करने वाली कथाओं के कथोपकथन से द्रवीकृत चित्तवृत्ति को भक्ति कहा गया है। शंकराचार्य ने भी अधिकारी भेद से पूज्य वर्ग में अनुराग से लेकर स्वरूपानुसंधान तक की चर्चा की है।[3] सर्वत्र आत्मदर्शन में ही उनकी एकमात्र निष्ठा थी यही भक्ति का परम प्रयोजन है और इसी से जीवन की सार्थकता हैं।

१—ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। ईशावास्योपनिषद्-शान्ति पाठ
ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥ वही १

२—तरङ्गस्थं द्रवं सिन्धुर्नवाञ्छति यथा तथा। विषयानन्दवाञ्छा में मा भूदान्दरूपतः॥
दरिद्र्याण यथा नास्ति संपन्नस्य तथा मम। ब्रह्मानन्दे निमग्नस्य विषयाशा न तद्भवेत॥ आत्मप्रबोध।
विषं दृष्ट्वामृतं दृष्ट्वा विषं त्यजति बुद्धिमान्। आत्मानमपि दृष्ट्वाहमनात्मानं त्यजाम्यहम्॥ १५-१७.

३—स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते, कल्याण भक्ति विशेषांक, पृ० ५

कुछ लोगों ने भक्ति के दो भेदरसरूपा और भावरूपा माना है। उन्होंने भगवत् विषयक रति को रसरूपा और देव विषयक रति को भावरूपा भक्ति कहा है। विषय और आश्रय दोनों में से यदि एक भी रस विषयक होगा तो भक्ति रसरूपा होगी। आत्मा और परमात्मा दोनों ही जहाँ रस स्वरूप है वहाँ भक्ति रसरूपा ही होगी और उद्दीपन की सारी सामग्री भी रसरूपा ही होगी। जहाँ हृदय में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि आनन्द से ही अखिल भूत निकाय का प्रादुर्भाव हुआ है, आनन्द से ही इसकी स्थिति है और आनन्द में यह सब लय हो जाता है वहाँ समस्त प्रपंच ही परमानन्द स्वरूप हो जाता है। अतएव भक्ति भी रसरूपा ही हो जाती है।[1] देवताओं के प्रति भय, लोभ अथवा कृतज्ञता के भाव से जो उपासना की जाती है उसका ध्येय केवल देवताओं का अनुग्रह प्राप्त करना होता है। यह भावरूपा भक्ति है। आदिम वैदिक काल में द्रव्यज्ञ द्वारा जो पूजा निष्पन्न होती थी वह भावरूपा ही थी। सूफियों का रहस्यवाद भी पं० रामचन्द्र शुक्ल के मत से भावात्मक है। उनके अनुसार सूफियों में प्रकृति के प्रति जो भावात्मकता दिखलाई पड़ती है उसमें परमात्मा का सूक्ष्म रूप प्रतिबिम्बित होता है। दृश्य जगत तथा परजगत की सारूप्य-भावना का उल्लेख करते हुए सूफी रहस्यवाद की रमणीयता को शुक्लजी ने भावरूपा भक्ति के अंतर्गत ही माना है।

'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतियों का तात्पर्य रसात्मक परब्रह्म में ही पर्यवसित होता है। आत्मप्रेम और भगवत्प्रेम दोनों अभिन्न हैं। सुख आत्म से भिन्न दूसरी वस्तु है यह कहना उचित नहीं है। स्वानुकूल विषय की प्राप्ति में अन्तःकरण की वृत्ति अन्तर्मुख, शांत और अचंचल हो जाती है। यहाँ पर आत्म शब्द से तात्पर्य प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्म ही है। इस प्रकार आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द, रसानन्द तथा परमानन्द सभी एक ही हैं। कुछ व्यक्ति यह कह सकते हैं कि फिर तो आलम्बन और आश्रय एक ही हो गया। यहाँ यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वर तथा जीव का भेद तो बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से बना ही रहता है। व्यक्तियों के रूप में भिन्न-भिन्न व्यवहार करने वाले जीव भी एक ही अनन्त सत्ता से शक्ति, चेतना और आनन्द प्राप्त करते हैं जिस प्रकार बीज पंच भूतों से रस, उष्णता तथा प्रकाश आदि लेकर जीवन धारण करते हैं। ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान से भी भक्ति की कोई हानि नही है क्योंकि ज्ञान से केवल अविद्या की निवृत्ति होती है, भान अथवा व्यवहार की नहीं। जिस उपाधि के कारण भेद की प्रतीति होती है वह उपाधि जब तक रहेगी तब तक उसके गुण-धर्म भी रहेंगे। जब उपाधि निःसकल्प होकर अपने आश्रय में स्थित रहती है तब वह शान्तरस है। जब वह कर्म परायण होती है तब दास्यरस है। जब वह सभी जीवों के प्रति सद्भाव से युक्त है तब सख्यरस है। जब वह ध्येय रूप से अपने उत्संग में केवल चेतन को ही अपना विषय बनाती है तब वात्सल्य रस होता है और जब वह आश्रय और विषय के रूप में स्थित अद्वितीय चैतन्य का आलिंगन करती अथवा आलिंगित होती है तब मधुररस होता है। साधारण रति और

१—आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनंदं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तैत्तरीयउपनिषद् षष्ट अनुवाक।

भगवत रति में केवल इतना ही अन्तर है कि साधारण रति में आश्रय और आलम्बन दो स्वतन्त्र सत्ता हैं जबकि भगवत् रति में आत्मा और ब्रह्म दोनों अद्वितीय सत्ता हैं जिसमें द्रष्टा और अधिष्ठान में भेद-बुद्धि रहने तक ही उपाधि सत्य जान पड़ती है। भेद-बुद्धि के निवृत्त होते ही उपाधि (आत्मा) भी ब्रह्म रूप ही हो जाती है क्यो कि अधिष्ठान से अध्यस्त तथा प्रकाशक से प्रकाश्य भिन्न नहीं होता। फिर तो यही मानना पड़ेगा कि भक्ति ब्रह्म रूप ही है। आत्मा और परमात्मा के एक होने के कारण आत्मरति और भगवद्भक्ति एक ही स्थिति की वाचक हो जाती है। ऐसी स्थिति को ही ब्राह्मी स्थिति कहते हैं।

चैतन्य महाप्रभु के मत से भक्ति वैधी और रागानुगा दो प्रकार की होती है। जिस भक्ति में शास्त्रों के विधि-विधान के कारण प्रवृत्ति होती है वह वैधी है। जिसकी बुद्धि तर्कशील है, जिसे शास्त्र का ज्ञान है, जिसका विश्वास दृढ़ है और जिसकी वैष्णवधर्म में निष्ठा है वही वैधी भक्ति का अधिकारी है। रागानुगा भक्ति शुद्ध प्रेमा भक्ति है। राधा जी का श्री कृष्ण के प्रति प्रेम रागानुगा है।

इसी प्रकार भक्ति रसामृत सिन्धु के रचयिता रूप गोस्वामी के मत से भक्ति के तीन भेद हैं—साधनभक्ति, भावभक्ति और प्रेमाभक्ति। साधनभक्ति के लिए विभिन्न प्रकार के साधनों की आवश्यकता होती है। भावभक्ति अथवा साध्य-भक्ति नैसर्गिक भावावेश की भक्ति है। इस प्रकार की भक्ति में साधन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सच्चा भाववेश उत्पन्न नहो किया जाता। वह तो पहले से ही हृदय में विद्यमान रहता है। वह समय और परिस्थिति प्राप्त होने पर व्यक्त हो जाता है।

रागात्मिका अथवा प्रेमाभक्ति स्वाभाविक आसक्ति का नाम है। भाव ही प्रगाढ़ होकर प्रेम का रूप धारण कर लेता है। भक्त के लिए कोई बाह्य उद्देश्य नहीं होता है वह तो जो भी कार्य करता है उन सभी का लक्ष्य केवल ईश्वरोन्मुख होता है। भक्त प्रेम के शाश्वत बन्धन द्वारा अपने व्यक्तित्व को स्वतन्त्र बनाये रखता है। उसका आराध्य ईश्वर है जो उससे भिन्न है वह उससे एकता प्राप्त नहीं करना चाहता वरन् भक्ति को निरंतर बनाये रखना चाहता है। ऐसा भक्त केवल प्राकृत गुणधर्मों से युक्त होकर अनन्त काल तक भक्ति रसमें निमग्न रहना चाहता है। चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—"ईश्वर के प्रति हमारे मन की अविच्छेद स्वाभाविक अनुरक्ति ही प्रेमा-भक्ति है। यह पाँच प्रकार की होती है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। सच्ची भक्ति की भावना का उदय होने पर भक्त सब प्रकार की इच्छाओं और काम-नाओं को, सब प्रकार की बाह्य पूजा को तथा सारे ज्ञान और कर्म को त्यागकर, बस, एकमात्र श्रीकृष्ण में ही अनुरक्त हो जाता है। किसी प्रकार के विधि-विधान का अनुष्ठान भक्ति की पूर्णता के लिए आवश्यक नहीं है। भक्ति-मार्ग में तो भगवान के नाम और गुणों का स्मरण, श्रवण और संकीर्तन ही एक मात्र कर्तव्य है। भक्ति तो स्पष्टतः अतीन्द्रिय व्यापार है। ईश्वर स्वयं सब गुणों से परे है अतः ईश्वर के साहचर्य अथवा ईश्वर में भक्ति का अर्थ भी अनिवार्यतः गुणातीत स्थिति ही है।" भक्ति को

स्वयं मोक्षरूपा कहा गया है। सच्चा आध्यात्मिक ज्ञान भी भक्ति का आनुषंगिक फल है। ईश्वर तीन शक्ति रूपों में उपलक्षित होता है :—स्वरूपाशक्ति, तटस्थाशक्ति और मायाशक्ति। स्वरूपाशक्ति ब्रह्म की, तटस्थाशक्ति परमात्मा की और मायाशक्ति भगवान की मानी गयी है। ईश्वर इन शक्तियों से भिन्न और अभिन्न दोनों है। केवल ज्ञान से आत्मसाक्षात्कार नहीं होता भक्ति द्वारा ही ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान, अनुभूति और साक्षात्कार सम्भव है।

भागवत में सगुण और निर्गुण भेद से भक्ति के दो विभाग किए गए हैं। सगुण-भक्ति सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकार की होती है। दूसरे का अहित करने के लिए अथवा हिंसा करने के अभिप्राय से अथवा दंभ, ईर्ष्या या क्रोधवशभेददर्शी लोग जो अर्चन-पूजन करते हैं वह तामसी भक्ति है। ऐश्वर्य के लिए या विषयभोग की तृप्ति के लिए ईश्वर की अर्चना राजसी भक्ति है। पापकर्मों के क्षय के लिए अथवा समर्पण के लिए या यज्ञादि अनुष्ठान के लिए जो उपासना की जाती है—वह सात्त्विकी है। परन्तु ये सभी प्रकार की भक्तियाँ गौणी भक्ति के अन्तर्गत ही आती हैं क्योंकि इन तीनो प्रकार की भक्ति में भेदज्ञान का प्राबल्य होता है। यद्यपि सात्त्विकी भक्ति उत्तम कोटि की है परन्तु इसमें भी मोक्ष आदि की कामना बनी रहती है।

निर्गुण भक्ति में किसी प्रकार की कामना नहीं है इसमें साधक का एकमात्र काम्य भगवान ही है जो सब जीवों के आत्मस्वरूप मे विराजमान है। वह तो भेद दर्शन विहीन होकर सर्वभूतों में आत्मा रूपी भगवान का दर्शन करता है तथा आत्मा रूपी भगवान के भीतर सर्वभूतों को देखता है।[1] भागवत में निर्गुण भक्तियोग का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

> मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
> मनोगति रविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
> लक्षणं भक्ति योगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
> अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥ (३।२६।११।११)

'सागर में स्वतः प्रवाहित गङ्गा के जल की धारा के समान जो मनोगति मेरे गुण-श्रवण मात्र से फलानुसधानरहित तथा भेद दर्शन-विहीन होकर सर्वान्तर्यामी मुझ पुरुषोत्तम में अविच्छिन्न भाव से निहित होती है, वह मनोगतिरूपा भक्ति ही निर्गुण भक्ति योग का स्वरूप है।'

१—सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मन.।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥ भागवत—११–२–४५
ईश्वरं सर्वभूतानां जगतः प्रभवाप्ययम्।
भक्ता नारायणं देवं दुर्गाण्य तितरन्ति ते। (शान्तिपर्व ११० अध्याय दुर्गातितरण)

जो समस्त प्राणियों के स्वामी तथा जगत् की उत्पत्ति और प्रलय के हेतु भूत भगवान् नारायण में भक्तिभाव रखते हैं वे दुस्तर दुःखों से तर जाते हैं। —ज्ञान लक्षण-अनुशासन पर्व–६०१० पृष्ठ

भक्ति के साधनों में नौ प्रकार के साधनों का उल्लेख मिलता है—

(१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चना, (६) वन्दना, (७) दास्य, (८) सख्य, (९) आत्म-निवेदन या शरणागति।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥
(श्रीमद्भा० ७।५।२३।२४)

श्रवण कीर्तन और स्मरण के द्वारा नाम की महिमा प्रतिपादित होती है पादसेवन, वंदन और अर्चन द्वारा मूर्ति उपासना होती है। दास्य सख्य और आत्म निवेदन से श्रद्धा उत्पन्न होती है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी मानस में श्री रामजी के मुखकमल द्वारा सबरी से कही गयी नवधा-भक्ति का वर्णन इस प्रकार किया है—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान॥
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान।
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरन्तर सज्जन धरमा।
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मो तें संत अधिक करि लेखा॥
आठवं जथालाभ सतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोषा।
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

गरुड़-पुराण में निम्नांकित आठ प्रकार की भक्ति का उल्लेख है—

(१) भगवान के नाम एवं लीलाओ का कीर्तन करते-करते अश्रुपात करना।
(२) भगवान के युगल चरणों को ही एक मात्र आश्रय समझ कर अनुष्ठान करना।
(३ भक्तिपूर्वक भगवत् सम्बन्धी शास्त्रों का पठन-पाठन करना।
(४) भगवान के भक्तवात्सल्य भाव का अनुमोदन।
(५) भगवत् लीला उनकी कथा सुनने में रुचि।
(६) भगवत् भाव विशिष्टता।
(७) भगवत् पूजा।
(८) भगवान् ही मेरे उपजीव्य हैं यह ज्ञान।

प्रसिद्ध वैष्णव-ग्रन्थों में शान्त, सख्य, दास्य, वात्सल्य और मधुर इन पाँच प्रकार की भक्ति के भावों का सविस्तार वर्णन प्राप्त होता है। इन पाँचो भक्ति-भावों के और भी भेद-प्रभेद मिलते हैं।

नारद ने अपने भक्तिसूत्र मे प्रेमरूपा भक्ति के प्रसग में इन ग्यारह प्रकार की भक्ति-दशाओं का वर्णन किया है। १—गुण माहात्म्य मे आसक्ति २—रूपासक्ति ३—पूजा-सक्ति ४—स्मरणासक्ति ५—दास्यासक्ति ६—सख्यासक्ति ७—कान्तासक्ति ८—वात्सल्या सक्ति ९—आत्मनिवेदनासक्ति १०—तन्मयतासक्ति ११—परमविरहासक्ति।[1]

भक्ति का विकास

भक्तिआन्दोलन—भारतीय धर्म साधना में अपना विशिष्ट धार्मिक, साहित्यिक तथा सामाजिक महत्व रखता है। इस आन्दोलन को दार्शनिकों, धर्माधिकारियों, साहित्यकारों तथा समाजसेवियों द्वारा निरन्तर सहयोग प्राप्त हुआ है। कर्ममार्ग की अनुपयुक्तता एवं ज्ञानमार्ग की जटिलता के समक्ष समाज ने भक्तिमार्ग की उपयुक्तता एवं सरलता समझकर इसे अगीकृत किया। ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में भक्तिपरक साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हो चुका था और परवर्ती काल में संस्कृत साहित्य के साथ साथ देशज भाषाओं में भी भक्ति-साहित्य का प्रसार एव प्रचार हुआ। सम्पूर्ण भारतीय भाषासाहित्य एवं लोकसाहित्य में अन्य साधनामार्गों की अपेक्षा भक्तिमार्ग को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। भक्तिआन्दोलन के इस महत्त्व ने इतिहास के पंडितों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया और यही कारण है कि भक्ति आन्दोलन के इतिहास पर उन्नीसवीं शताब्दी में महत्वपूर्ण कार्य किए गए। डॉ० भण्डारकर ने अपनी पुस्तक 'वैष्णविज्म शैवविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स', विलियम्स ने 'इण्डियन विजिडम' कीथ ने 'माइथोलाजी आव आल रेसेज़' फर्कूहर ने 'रीलिजस क्वेस्ट आव इण्डिया', विलसन ने 'रिलिजस सेक्स आव हिन्दू' और मैक्सवेबर ने 'दी रिलिजन आव इण्डिया' आदि ग्रथों का प्रणयन करते हुए भारतीय भक्ति-आन्दोलन के प्रसंग में ऐतिहासिक महत्त्व की सामग्री प्रस्तुत की। डॉ० हेमचन्द राय चौधरी ने अपनी पुस्तक 'मैटिरियल फार द स्टडी आफ अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सेक्ट' मे वैदिक उपासना और परवर्ती भागवत-धर्म का अन्तर स्पष्ट करते हुए जो धर्म सम्बन्धी समीकरण प्रस्तुत किया है उससे पता चलता है कि उन्होंने एक प्रकार से डॉ० भण्डारकर के मत का ही समर्थन किया है। चौधरी महोदय ने छान्दोग्यउपनिषद् के कृष्ण और गीता के कृष्ण की एकता सिद्ध की है। जिससे भागवत धर्म की तिथि निश्चित करने में सहायता मिलती है। इस आधार पर भागवत धर्म का उद्‌भव ईसा को पाँचवी और छठीं शताब्दी पूर्व हो जाना सिद्ध होता है। उनका मत है कि भागवत धर्म का उदय मथुरा में हुआ जिसके संस्थापक यादव वशी वृष्णि या शाश्वत गोत्रीय कृष्ण थे। उनके गुरु सूर्योपासक अंगिरस थे। अब तक भक्ति भावना के उद्‌भव से लेकर हिन्दी साहित्य में भक्तिआन्दोलन के विकास की प्रत्येक अवस्था का तथा ऋग्वैदिक युग से लेकर उपनिषद् महाभारत, गीता,

---

१—गुणमाहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्या-सक्त्यात्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परमविरहासक्ति रूपा एकधाप्येकादशधा भवति।

नारदभक्ति सूत्र—८२

वैष्णवपुराणों, पाँच रात्र-संहिताओं, ब्रह्म सम्प्रदाय एवं गौड़ी सम्प्रदाय के अनेक ग्रंथों तथा हिन्दी साहित्य में भक्ति-आन्दोलन और सम्प्रदायों पर लिखे गए खोजपूर्ण निबन्धों पर जो कार्य किए गए हैं उनसे भक्ति-आन्दोलन के विभिन्न सोपानों एवं अवस्थाओं पर प्रकाश पड़ता है।

भक्ति आन्दोलन का क्रमबद्ध सांस्कृतिक इतिहास हिन्दू सभ्यता में कब से प्रारंभ हुआ है यह निर्णय कर पाना अत्यन्त कठिन है। ऋग्वैदिक युग से पूर्व प्रकृतिपूजा प्रचलित थी और भारतीय धार्मिक साहित्य में कुछ विद्वान सिन्धु-सभ्यता के युग में भक्ति के स्वरूप को खोज करते हैं। ऋग्वैदिक युग में भक्ति का स्वरूप खोजने का प्रयास भी निरंतर होता रहा है। उपासनापरक ऋचाओं में अभ्युदय निःश्रेयस प्रदाता देव के रूप में भगवान के दिव्यतम गुणों का वर्णन पाया जाता है।[1]

कतिपय विद्वानों की धारणा है कि सारे वेदवाङ्मय मे कहीं भी भक्ति का पोषण या भक्ति के संबध मे स्पष्ट आदेश नही मिलता। डॉ० सम्पूर्णानन्दजी ने भक्ति के प्रसग में जो मत व्यक्त किया है उससे इसी की पुष्टि होती है। उन्होंने लिखा है "जहाँ तक मैं देख पाया हूँ किसी भी संहिता की किसी भी शाखा में यह शब्द नहीं मिलता और यदि कहीं आ भी गया होगा तो उसका व्यवहार उसी अर्थ में नही होगा जिस अर्थ में हम आजकल उसका प्रयोग करते है। अब 'ब्राह्मण' को लीजिए। उपनिषद् भाग को छोड़कर 'ब्राह्मणों' का शेष अश तो कर्मकाण्डपरक है। उसमे भक्ति की बात हो नहीं सकती।"[2]

उसी प्रकार उपनिषदों के प्रसंग मे भी वे लिखते हैं, "मोक्ष के उपाय सभी उपनिषदों मे बताये गए हैं किन्तु कहीं भी इस प्रसंग में भक्ति की चर्चा नहीं आती।[3]" डॉ० सम्पूर्णानन्द जी के मत से भक्ति मोक्ष के लिए कोई साधन नहीं है। वह या तो ईश्वर प्राणिधान का नाम है या योगाभ्यास की क्रिया का नाम। परन्तु उन्होंने जो मत व्यक्त किया है वह भक्ति को योग की दृष्टि से देखने का प्रयास है। इतना तो उन्होंने अपने लेख मे स्वीकार ही कर लिया है कि योगी और ज्ञानी दोनों के लिए पतन की आशंका रहती है परन्तु भक्तिमार्ग मे इस प्रकार के स्खलन की संभावना नहीं पायी जाती।

जिन विद्वानों ने वेदो में भक्ति के तत्वों को प्रमाणित करने की चेष्टा की है उन्होंने भी जहाँ कहीं देवता विषयक रागात्मक तत्वों की झलक पायी है उसे भक्ति के प्रसंग में प्रमाण स्वरूप उपस्थित कर दिया है। यहाँ तक कि नवधा भक्ति का मूल भी

१—ॐ शं नो अज एकपाद देवो अस्तु,
शं योऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।
शं नो अपानपात् पेरुरस्तु,
शं नः पृश्निलभवतु देवगोपा ॥ ऋग्वेद मं० ७।३५।१३ ;
देव ! संस्फान ! सहस्रापोषस्येशिषे। तस्य नो रास्व, तस्य नो धेहि, तस्य ते भक्तिवांसः स्याम ॥ अथर्व सं० ६।७९।३

२—कल्याण भक्ति विशेषांक पृष्ठ १०६

३—वही „ „ „ पृष्ठ ११०

ऋग्वेद में ढूँढने का प्रयास किया गया है। श्रद्धा शब्द को लेकर बड़ी खींचातानी की गई है। श्रद्धा शब्द पूरे वैदिक साहित्य में सत्य अथवा विश्वास के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। विश्वास के बिना भक्ति असम्भव है पर वैदिक श्रद्धा को ही भक्ति का पर्याय मान लेना उपयुक्त नहीं है। वास्तव मे वैदिक काल में 'भक्त' शब्द उपासना करने वाले के लिए प्रयुक्त हुआ है। गीता मे 'भज्' धातु को लेकर इसका जो अर्थ किया गया है वह वैदिक काल की अर्थवत्ता से भिन्न है। यहाँ तक कि भगवान ने अर्जुन से कहा जैसा तू ने मुझे देखा है, वैसा मुझे वेदों से, तप से, दान से अथवा यज्ञ से भी कोई देख नहीं सकता। हे अर्जुन! केवल अनन्य भक्ति से ही इस प्रकार मेरा ज्ञान होना, मुझे देखना, और मुझमें प्रवेश करना सम्भव है।[1]

कहने का आशय यह है कि वैदिक साहित्य में प्रयुक्त 'भक्ति' न तो प्रेमरूपा है और न अनुरक्तिरूपा। इसका प्रेममूलक अर्थ पाणिनि तथा यास्क के समय से आरम्भ हुआ। प्रायः सभी प्राचीनतम मानव-सभ्यताओं के आदि धर्म में प्रकृति-पूजा ही बहुदेववाद अथवा एकेश्वरवाद के रूप मे प्रचलित दृष्टिगोचर होती है।

सिन्धु, सुमेरियन, असीरियन, बेबीलोनियन आदि सभ्यताओं में यह पूजा, पलायन, सवेदन, जिज्ञासा, भय, दुःख, आश्चर्य आदि भावों से युक्त दिखलाई पड़ती है। कभी-कभी देवताओ और उपासकों क मध्य यत्र-तत्र रागात्मक तथा भावात्मक सम्बन्धों का छटा भी दृष्टि में आ जाती है। भारतवर्ष में भक्ति का रागात्मक विकास उपनिषद्काल में प्रारम्भ होता है। उसका चरम विकास मध्यकाल म दृग्गोचर होता है। यही कारण है कि वैदिककाल के विष्णु, मध्यकालीन विष्णु से भिन्न हैं। पौराणिक या महाभारतकाल म विष्णु या रुद्र नये रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। वैदिक जीवन का लक्ष्य ज्ञान-संधान अथवा यज्ञीय कर्मकाड ही था। ऋग्वेद से सम्बन्धित 'ऐतरेयब्राह्मण' में विष्णु को श्रेष्ठ देवता के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।[2] तथा 'शतपथ ब्राह्मण' मे ऋग्वैदिक विष्णु का अन्य देवताओं से अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। 'ब्राह्मणों' मे ऐसे भी प्रसंग आये हैं जिनसे परवर्तीकाल के पुराण रचयिताओ एव शास्त्रकारों को कथाविस्तार करने की प्रेरणा मिली है। वामन, नृसिंह, वाराह, परशुराम, दाशरथिराम तथा वासुदेव कृष्ण के अवतारों का परवर्ती पुराणों में विस्तारपूर्वक जो वर्णन मिलता है उस पर 'शतपथ ब्राह्मण' एवम् तैत्तरीय संहिता का प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रकार 'ब्राह्मण' तथा 'आरण्यकों' के पश्चात् उपनिषदों के युग तक आते-आते भक्ति-भावना का सूत्रपात होने लगा है। डॉ० भडारकर का भी ऐसा मत है कि उपनिषदों के सार गीता में भागवत धर्म के भक्ति का स्रोत मिलता है, उपनिषदों मे ईश्वर की सर्वव्यापकता और आत्मा तथा परमात्मा की

१—नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ गीता, अध्याय ११ श्लोक ५३-५४

२—अग्निर्वै देवानाम् अवमः विष्णुः परमः तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।

अभिन्नता को अक्षुण्ण रखा गया है परन्तु साथ ही साथ जनसाधारण के लिए उपनिषदों मे ही अवतारवाद की स्थापना भी की गयी है, जो पौराणिक काल में आकर विकसित हुई।[1]

उपनिषदों ने कर्मकांड की उपेक्षा करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से परवर्तीकाल में विकसित होनेवाली भक्ति के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। उपनिषदो की भक्ति में अन्तः-साधना पर बल दिया गया है, सत्यान्वेषण की जिज्ञासा है और शरणागति का भी भाव है। कठोपनिषद्, मुण्डक उपनिषद्, श्वेताश्वतर उपनिषद् आदि में अव्यक्त और निर्गुण की उपासना के स्थान पर सगुणोपासना की अप्रत्यक्ष झलक दृष्टिगोचर होती है जिस में सृष्टिकर्ता परमेश्वर की गुणात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त होती है।

उपनिषद्काल में विशुद्ध ज्ञानमार्गी शाखा वालों ने कर्म से पूर्ण विरक्ति दिखलाते हुए केवल चिन्तन और मनन का ही मार्ग स्वीकार किया। वृहदारण्यक, कठोपनिषद् आदि में इस प्रकार के विशुद्ध ज्ञानपक्ष का प्राबल्य दिखलाई पड़ता है। कर्मों का सर्वथा त्याग, रागों से वैराग्य और इन्द्रियों का दमन इनकी साधना के प्रमुख सोपान हैं। दूसरी ओर ईशावास्य उपनिषद ज्ञानके साथ-साथ कर्म पर भी बल देता है। इस प्रकार निवृत्तिमूलक ज्ञानमार्ग और कर्म प्रधान प्रवृत्तिमूलक ज्ञानमार्ग का बँटवारा हुआ। प्रवृत्तिमूलक ज्ञान-मार्ग के द्वारा ही आगे चलकर भक्ति का विकास हुआ। इसी काल में ब्रह्म के दो स्वरूपों का भी विभाजन हुआ। जहाँ विशुद्ध निर्गुण रूप का ब्रह्म अनिर्वचनीय दिखाई पड़ता है वहाँ वह अव्यक्त, अशब्द, अगोचर, अग्राह्य और अखण्ड है और जहाँ ब्रह्म के आनन्द-स्वरूप एव व्यापक स्वरूप की कल्पना हुई है वहाँ निषेधात्मक शब्दो के स्थान पर गुणात्मक शब्दो के संधान द्वारा उसे मनोमय, आनन्दस्वरूप, सत्यसंकल्प, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमानं, आकाशात्मा आदि वाचक शब्दों से अभिहित किया गया है। उपनिषदों के मतानुसार व्यक्त, अव्यक्त का ही प्रतीक है और सर्वदेव एक ही ब्रह्म के प्रतीक हैं। इसके साथ ही साथ इस काल में वैदिक काल की याज्ञिक पूजा, जो भय, लोभ या कृतज्ञता के भाव से की जाती थी, उपासना का नया रूप लेकर उपस्थित हुई, जिसमें ब्रह्म के स्वरूप बोध या दर्शन की जिज्ञासा प्रकट होती है। इस बोधमय स्वरूप में ही रागात्मक वृत्ति का सम्मिलन हुआ। इसी सम्मिलन में बुद्धिपक्ष के साथ-साथ हृदयपक्ष की प्रधानता स्थापित हुई। पं० रामचन्द्र शुक्ल इसी स्थल पर भक्ति मार्ग का आरम्भ मानते हैं।

कर्म की प्रधानता का पूर्ण परिपाक गीता में आकर अत्यन्त पुष्ट रूप में विकसित हुआ। गीता में कहीं तो भेदोपासना का वर्णन है और कहीं अभेदोपासना का। गीता

१—But for ordinary people an adorable object with a more distinct personality than that which the theistic portions of the Upanishadas attributed to God was necessary and the philosophic speculations did not answer practical needs Thus some of the old Vedic gods and others, which were new, became the object of worship.

Vaisnavism, Saivism and Minor Religious Systems by R. G. Bhandarkar. Page 2.

के प्रारम्भिक छः अध्यायों में कर्मयोग और अन्तिम छः अध्यायों में ज्ञानयोग की जहाँ प्रधानता है वहीं सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक भक्तियोग की ही प्रधानता दिखलाई पड़ती है। इन छः अध्यायों के दो सौ नौ श्लोकों मे सगुण साकार और सगुण निराकार तथा निर्गुण निराकार की उपासना का उल्लेख मिलता है। जिन अध्यायों में कर्म और ज्ञानयोग की प्रधानता है उनमें भी भक्ति के वर्णन यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं, जैसे दूसरे अध्याय के इकसठवे श्लोक में भगवत् शरणागति का भाव स्पष्ट ही दिखलाई पड़ता है। इसी प्रकार तीसरे अध्याय के तीसवें श्लोक में भगवत् समर्पण का भाव स्पष्ट है।[1] इसी प्रकार चौथे अध्याय के छठवे, आठवें और ग्यारहवें श्लोक मे, पाँचवें अध्याय के उन्नीसवे श्लोक में, तेरहवे के दसवें श्लोक में, चौदहवें के छब्बीसवें; पद्रहवें के चौथे एव उन्नीसवे श्लोक में, सोलहवें के पहले में और अठ्ठारहवे के छियालिस, बावन, छप्पन, सत्तावन, अठ्ठावन, बासठ, तिरसठ, चौसठ, छाछठ आदि श्लोकों में भक्तियोग का ही निरूपण हुआ है।

मनुस्मृति

इतिहास-पुराणों और मनुस्मृति से ज्ञात होता है प्रत्येक मन्वन्तर अथवा युग-प्रलय के बाद 'मनु' नामक अधिकारी मनुष्य लोक में अवतीर्ण होता है और पूर्व युग के धर्म, कर्म एव नियमों का स्मरण करके उन्हीं के आधार पर, युगानुरूप जगत की परिवर्तित अवस्थाओं के अनुरूप नयी पद्धति से दूसरी नवीन 'स्मृति' का विधान करता है। उन्हीं मनुओं की परम्परा से मानव-धर्मशास्त्र आज तक प्रवाहित होता आया है। आदिम 'मनु' (जिन्हें हम 'स्वयभुव मनु' कहते हैं) से प्रणीत और अनन्तरीय मनुओं के द्वारा प्रत्येक युग में, यथा प्रयोजन, अपेक्षित संशोधित परिवर्धित और परिष्कृत होकर मनुस्मृति रूप में प्राप्त है।[2] वेद सर्व ज्ञानमय है, और 'मनु' सभी वेदों के ज्ञाता हैं अतएव उनकी मनुस्मृति भी सर्ववेदमय है। यद्यपि उपनिषदों का अलग प्रचार और प्रसार हुआ है, परन्तु मूलतः वे भी वेदों की संहिताओं, ब्राह्मणों और अरण्यकों की ही उपज हैं। द्वैत, अद्वैत, द्वैताऽद्वैत, विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत आदि वेदान्त-प्रस्थानों के सम्प्रदायाचार्यों ने उपनिषदों को ही अपना आधार बनाया है। वेद शब्द ज्ञानार्थक है अतएव ज्ञानरूप वेद से जितने भी शास्त्र प्रणीत हुए हैं वे सभी मूलतः ज्ञानमय ही हैं।

१—तानि सर्वाणि सयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ गीता अध्याय २।६१
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यास्याध्यात्मचेतसा।
निराशार्निर्ममों भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वर। गीता अध्याय ३।३०

२—'तत्प्रवाह क्रमात्प्राप्त' धर्मशास्त्र' तु मानवम्, नृणा पित्र्यमुपादेयं पौरुषार्थिककर्मणे'
(मानवधर्मशास्त्र-मनुस्मृतेरुपादेयता—पृ० २ इन्दिरा रमण)
यद्वेऽध्वर्युरिव ह्यस्ति मनुर्मन्वन्तरे सदा।
प्रतिमन्वन्तरं चैव स्मृतिरन्या विधीयते। (तन्त्रवार्तिके —१, ३, २)

वेद के उपाङ्गों में पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्म शास्त्र आते हैं। उपनिषदों के काल तक भक्ति का स्वरूप गौण रहा और ज्ञान की प्रधानता बराबर बनी रही परन्तु पौराणिक काल में भक्ति का प्राधान्य हो गया। स्वयं पुराण कर्ता व्यासगण देव माने जाते हैं। मत्स्य, मारकण्डेय, भविष्य, भागवत, ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, वामन, विष्णु, वाराह, अग्नि, नारद, पद्म, लिंग, गरुड़, कूर्म और स्कन्द पुराणों में यद्यपि वेद का उपबृंहण ही हुआ है तथापि वेद के ज्ञान और कर्मकांडकी प्रधानता पुराणो के काल तक आते-आते भक्तिपरक रूप मे परिवर्तित हो गयीं। मत्स्यपुराण में तो यहाँ तक कहा गया है कि वेदों और सभी शास्त्रों से पहले ही पुराण की उत्पत्ति हो गयी थी। पुराण में ही इतिहास और उपपुराणों का भी अन्तर्भाव हो गया है। इसीलिए इतिहास पुराण को पचम वेद भी कहा गया है। ऐसा वर्णन मिलता है कि मत्स्य, पद्म और शिव पुराणादि के अनुसार ब्रह्मा ने सब शास्त्रो से पहले पुराणों को ही याद किया और बाद में उनके मुँह से वेद निकले।[1] परन्तु यह मत मीमांसकों आदि को मान्य नहीं है। पुरा का अर्थ प्राचीन ओर 'न' अथवा 'आन' का अर्थ नवीन अथवा आनीत है। तात्पर्य यह हुआ कि सनातन इतिहास का सस्कृतवाङ्मयप्रस्थानविशेष अत्यन्त प्राचीन है फिर भी वह नवीन युगों (द्वापर आदि में) में नये-नये रूपों में व्यक्त होता रहता है। पुराणों के रचयिता स्वयं भगवान विष्णु ही हैं जिन्होंने व्यास का अवतार लेकर पुराणों की रचना की। महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने जनता के कल्याणसाधन के लिये वेदों में निहित आध्यात्मिक निगूढ़ तत्वराशि को पुराणों में विस्तृत रूप से नाना प्रकार के आख्यान-उपाख्यानों द्वारा प्रकाशित किया क्योंकि "स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा" के अनुसार जनसमाज का बहुत बड़ा वर्ग कल्याण-साधन उपलब्ध करने से वचित हो रहा था।[2] मत्स्य पुराण में, शिव पुराण में और पद्म पुराण में किञ्चित पाठान्तर से इसी प्रकार की कथा का उल्लेख मिलता है। पुराण में चार लाख श्लोकों में अठारह पुराणो की संख्या का उल्लेख हैं। चतुर लक्षा का दूसरा अर्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष भी हो सकता है। भारतीय आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में कर्म, ज्ञान और भक्ति विविध साधन के रूप में स्वीकृत होते चले आ रहे हैं। साधकगण अपनी-अपनी रुचि और अधिकार भेद से इनमें से किसी एक या इनकी समन्वित साधना का अवलम्बन लेकर

१—'पुराण सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतं, नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटिमविस्तरम्:।'
अनन्तर च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृता; मीमासा, न्यायविद्याश्च प्रमाणाष्टकसंयुताः॥

मानव धर्मशास्त्र—उपक्रम—पृ० ४७

२—मन्वतरेषु सर्वेषु द्वापरे द्वापरे युगे।
प्रादुष्करोति धर्मार्थी पुराणानि यथाविधि॥
द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यास रूपेण सर्वदा।
वेदमेकं स बहुधा कुरते हितकाम्यया॥
अल्पायुषोऽल्प बुद्धिश्च विप्रान्ज्ञात्वा कलावथ।
पुराण संहिता पुण्यां कुरतेऽसौ युगे युगे॥
स्त्रीशूद्र द्विज बन्धूनां न वेद श्रवणं मतं।
तेषामेव हितार्थाय पुराणानि कृतानि च। देवी भागवत—१,३।

निश्रेयस् पथ पर अग्रसर होते हैं। पुराणों में कर्म, ज्ञान और भक्ति की शिक्षा होने पर भी भक्तिमार्ग सबके लिए खोलकर उसे गणतान्त्रिक रूप प्रदान किया गया है। पुराणों में यहाँ तक घोषित किया गया है कि चाण्डाल-भक्त भक्ति-विहीन ब्राह्मण से श्रेष्ठ है।[1] जिस परमतत्व को वेदों ने नेति-नेति कहकर इन्द्रिय, मन, और बुद्धि के लिए अगम्य घोषित कर दिया था तथा जो केवल उच्चाधिकारी ज्ञानी साधकों के लिए ही ज्ञानगम्य था, पुराण ने उसी दुर्विज्ञेय परमतत्त्व को भक्तिमार्ग की साधना के द्वारा भक्त-जनों की सारी इन्द्रियों के लिए गोचर कर दिया। पुराणों के भगवान केवल ज्ञेय ब्रह्म ही नहीं हैं, केवल निर्गुण निर्विकार अद्वितीय चित्त स्वरूप ही नहीं हैं, वे केवल जीव-जगत के मूल कारण और अधिष्ठान ही नहीं है वरन् वे प्रत्यक्ष उपास्य, भक्त के आराध्य, प्रेम-घनमूर्ति, सौंदर्य-माधुर्य-निकेतन तथा अशेष कल्याण-गुणों के आकर हैं। वे परमेश्वर भक्तों के लिए करुणासागर, पतित-पावन तथा शरणागत, दीन, और आर्तजनों के परित्राण-परायण हैं। पुराण की घोषणा है कि ज्ञानमार्ग के द्वारा निर्गुण, अक्षर और अव्यक्त ब्रह्म की उपासना देहाभिमानी जीव के लिए सुगम नहीं है। भक्तियोग में सगुण उपासना के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करना सहज-साध्य है। पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में भगवान शंकर ने भगवान श्रीराम को उत्तर दिया कि 'हे महाबाहो ! सुनो, पहले सगुण उपासना के द्वारा चित्त को एकाग्र करके स्थूलसौराम्भिका न्याय के अनुसार मेरे निर्गुण स्वरूप में चित्त को लगाओ।[2]

भक्तवत्सल भगवान साधु और भक्त साधको की उपासना के निमित्त निराकार होकर भी उनके उपास्य देवता के रूप में आविर्भूत होते हैं तथा उनके लिए उपकारक होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्वर्ग फल को प्रदान करते हैं।[3]

विष्णुपुराण मे भी भक्ति का निरूपण किया गया है जिसमें चित्तवृत्तियो को भगवान का स्मरण करने के लिए विशेष बल दिया गया है। श्रीमद्भागवत पुराण भक्ति-सिद्धान्त के प्रतिपादक ग्रथों में अग्रणी है और परवर्ती भक्ति-सम्प्रदायो के आचार्यों ने भागवत का बारम्बार उल्लेख किया है। कपिल' और 'देवहूत' के सम्वाद में भक्ति की व्याख्या प्रतिपादित की गई है। अनन्य भावपूर्वक भगवान के प्रति उन्मुख स्वाभाविक प्रवृत्ति ही भक्ति है। जिस प्रकार गगा की धारा अजस्र रूप से समुद्र की ओर प्रवाहित होती रहती है उसी प्रकार भक्त की भावधारा और मनोगति भगवान की ओर अविच्छिन्न

१—चाण्डालोऽपि मुनिश्रेष्ठ विष्णुभक्तो द्विजाधिकः।
विष्णुभक्ति विहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधिक ॥ (बृहन्नारदीय पुराण ३२।३९)

२—शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि तत्रोपायं महाभुज।
सगुणोपासनाभिस्तु चित्तैकाग्र्यं विधाय च ॥
स्थूलसौराम्भिकान्यायात् तत्र चितं प्रवर्त्तयेत् ॥

(पद्मपुराण, शिवगीता १४।५)

३—साधूनामप्रमत्ताना भक्तानां भक्तवत्सलः।
उपकर्त्ता निराकारस्तदाकारेण जायते ॥
कार्यार्थं साधकाना च चतुर्वर्गफलप्रदः। (अग्निपुराण)

रूप से लगी रहती है। ऐसी भक्ति अहेतुकी होती है। भक्ति सिद्धान्त के जितने भी बाह्य विधान हैं, वे सब गौण हैं और साधन मात्र हैं। भगवान मे मन का स्थिरीकरण ही भक्ति है।

शांडिल्य ने अपने भक्तिसूत्र में प्रेम और भक्ति में अभेद बतलाते हुए अनुरागरूपाभक्ति पर विशेष बल दिया है और उनका 'सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे'सूत्र को तो सभी लोगों ने भक्ति के प्रसंग में उद्धृत किया है। उन्होंने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि भक्ति यज्ञादिक कर्मों की भाँति प्रयत्नसापेक्षा और प्रेमरूपा नहीं है। परन्तु यह भक्ति निष्क्रिय नही है। भक्ति भावरूपा, विधिरूपा तथा निष्ठा-मूलक है। निष्क्रिय ज्ञानमे निष्ठा अनिवार्य तत्त्व नही है और न तो ज्ञान के लिए राग ही आवश्यक है। भक्ति में निष्ठा और राग दोनों आवश्यक हैं। शांडिल्य का मत है कि ज्ञान भक्ति का एक साधन मात्र है। भक्ति साध्य और साधन दोनों हैं। भक्ति श्रद्धा भी नहीं है वरन् श्रद्धा भक्ति का ही एक अंग है और भक्ति अंगी है। वह स्वतन्त्र है।

पातजल योगदर्शन में भी भक्ति की चर्चा की गई है। ईश्वर की भक्ति अर्थात् शरणागति का नाम ईश्वर प्रणिधान है।[1] ईश्वर के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण और प्रभाव आदि का श्रवण कीर्तन और मनन करना, समस्त कर्मों को भगवान को समर्पित करना, अपने को भगवान के हाथ का यंत्र बनाकर जिस प्रकार वह नचावे उसी प्रकार नाचना और उसी में अनन्य प्रेम करना—ये सभी ईश्वर प्रणिधान के अंग हैं। ईश्वर की शरणागति से योग-साधन में आने वाले विघ्नों का नाश हो जाता है और समाधि की सिद्धि हो जाती है।[2] साधनपाद में ईश्वर प्रणिधान का कई प्रसंगों में उल्लेख मिलता है परन्तु पातंजल योगदर्शन में 'भक्ति' समाधि के लिए साधन रूपमे ही स्वीकृत है। योग-साधक के चित्त में विक्षेप उत्पन्न करने वाले नव प्रकार के विघ्नों का नाश ईश्वर के भजन और स्मरण से अपने आप हो जाता है और अन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान होकर कैवल्य अवस्था उत्पन्न हो जाती है, अतः वह निर्बीज समाधि की प्राप्ति का बहुत ही सुगम उपाय है।[3]

वेदों और उपनिषदों के अतिरिक्त दो प्राचीन महाकाव्य रामायण और महाभारत में भक्तिपरक जो सामग्री उपलब्ध होती है उससे भी भक्ति के क्रमिक विकास का परिचय प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त तत्कालीन सूत्र ग्रंथों में (बौधायनसूत्र, गौतम-सूत्र, वशिष्ठसूत्र तथा आपस्तम्बसूत्र) वैखानस और भिक्षुओं का जो वर्णन मिलता है उसी के आधार पर आगे चलकर पाँचरात्रिक तत्वों का विकास हुआ। इन्हीं सूत्रों के आधार पर वैदिक कर्मकांडी ब्राह्मणसमाज के नियमन की व्यवस्था हुई। ई० पू०

१—ईश्वर प्रणिधानाद्वा ॥२३॥ पातंजल योग-दर्शन

२—समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात ॥

पातंजल योग दर्शन—४५

३—ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावाश्च ॥वही—२६॥

छठी शताब्दी से छठवी शताब्दी तक का वैदिक काल ब्राह्मण धर्म के लिए उथल-पुथल का समय रहा है। आगम ग्रंथों के प्रभाव तथा तांत्रिकों एवं शाक्तों के प्रचंड आघात को इन पांचरात्रिक सूत्रों ने यदि न रोका होता तो भारतीय भक्ति आन्दोलन का एक नया रूप हो गया होता।

महाभारत और रामायण मे कौन प्राचीन है इसका निराकरण न करते हुए यहाँ केवल इतना ही विचार प्रासंगिक है कि महभारत के अन्तर्गत आने वाली अनेक कथाओं का विकास ईसा से हजारों वर्ष पूर्व लोकगाथाओं से प्रारम्भ होता हुआ चला आ रहा था और 'पतजलि' के महाभाष्य के समय तक (दूसरी शताब्दी पूर्व) इसका पूर्ण विकास हो गया था। महाभारत में ही सर्व प्रथम भारतीय वैष्णव धर्म को लौकिक भक्ति-परम्परानुमोदित रूप में व्यवस्थित किया गया। महाभारत में प्रयुक्त वैष्णव शब्द किसी सप्रदाय विशेष का वाचक नही है परन्तु भागवत शब्द सम्प्रदाय विशेष का वाचक है। वैष्णवधर्म विषयक प्रश्नों का उत्तर देते हुए श्री कृष्ण ने युधिष्ठिर को जो उपदेश दिया है उसका यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्म-साधना में कर्म, ज्ञान तथा भक्ति को जो महत्व प्रदान किया गया था वह भारतीय परम्परा में हजारों वर्ष की साधना का परिणाम था।

जन्मान्तर सहस्त्रेषु तपसा भावितात्मनाम्।
भक्तिरुत्पद्यते तात मनुष्याणा न सशयः॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने भक्ति के विभिन्न साधनों—श्रवण, कीर्तन, वन्दनादि का जो उल्लेख किया है वह सब पाचरात्रशास्त्रों की उपज है। भागवत सम्प्रदाय के विकास में पांचरात्र संहिताओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। पांचरात्र शब्द शतपथ ब्राह्मण में भी प्राप्त होता है परन्तु इस शब्द की पूर्ण व्याख्या महाभारत के 'नारायणीयोपाख्यान' में उपलब्ध होती है। इन्द्र के आदेश से राजा 'उपरिचर' जो पांचरात्र धर्म के प्रथम आश्रयदाता थे, सात्वत विधि से भगवान नारायण का पूजन करते थे और यज्ञों में पशु-बलि के विरोधी थे। राजाश्रय प्राप्त कर भागवत धर्म दक्षिण के कलिंग और दक्षिणात्य राज्यों तक विस्तृत हुआ। महाभारत में उपरिचर और उनके बाद चित्रशिखण्डियों का जो वर्णन उपलब्ध होता है उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जनता वैदिक आडम्बरों से ऊबकर कहीं अन्य धर्मों के प्रभाव में न आ जाय इसलिए भागवत धर्म में महत्वपूर्ण संवर्धन किया गया और यज्ञों का विधान बदल कर उसे जनसाधारण के लिए सुलभ कर दिया गया। यज्ञ और तप की उपेक्षा तो नहीं की गयी परन्तु भक्ति को अधिक महत्व प्रदान किया जाने लगा। पांचरात्र आगम का प्रमुख स्थान श्वेतद्वीप था जहाँ चित्रशिखंडियो ने पांचरात्र शास्त्र के अनुसार प्रवृत्तिमार्गी उपासना प्रारंभ की। पांच-रात्र में परब्रह्म को नारायण नाम से अभिहित किया गया है। अहिर्बुधसंहिता में उसे सब द्वन्द्वों से मुक्त, सभी उपाधियो से वर्जित, सभी कारणों का कारण और षड्गुण्यरूप

कहा गया है। वह न भूत है, न भविष्य, न वर्तमान, न ह्रस्व है न दीर्घ, न तो उसका आदि है, न मध्य है और न अन्त ही है। वह सगुण और निर्गुण दोनों है। प्राकृत गुण से अयुक्त होने से निर्गुण और षड्गुण से युक्त होने से सगुण है। इसी प्रकार सृष्टि के लिए ब्रह्म (नारायण) को लक्ष्मी की आवश्यकता पड़ती है जैसा कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में महाभूतों की रचना के लिए प्रकृतिरूपी मूलशक्ति की आवश्यकता बताई गयी है। इस प्रकार संहिताओं ने लक्ष्मी रूप को शक्ति रूप में स्वीकार करके नारायण से उसकी पृथक् सत्ता उपस्थित की जिससे आगे चलकर सगुण उपासना के अभीष्ट की सिद्धि हुई। लक्ष्मी के दो रूप हैं—१-क्रियाशक्ति रूप २-भूत रूप। सृष्टि के निर्माण की संकल्पात्मक इच्छा क्रियाशक्ति है और जगत की परिस्थिति मूलशक्ति है। लक्ष्मी के विभिन्न नामों आनन्दा, स्वतंत्रा, श्री, पद्मा आदि में इन्ही शक्तियो की व्यंजना हुई है। षड्गुणों के अतिरिक्त महाभारत की भांति व्यूह-रूपों की उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त पांचरात्रों में भी मिलता है। इन्हीं व्यूहों का आगे चलकर विस्तार होता गया और ये ही अवतारवाद के विस्तार के कारण बने। पाचरात्रिको ने भगवान की अनुग्रहशक्ति की महान एवं भव्य कल्पना की है। पांचरात्र आचारों का विस्तृत वर्णन जयाख्य संहिता में उपलब्ध होता है। पांचरात्र का प्रभाव ३री शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक भारतीय भक्तिआंदोलन पर पड़ता रहा। महाभारत से जो विवरण प्राप्त होता है उससे पता चलता है कि सर्वप्रथम भगवान ने नारद को अपने चार स्वरूपों, नर, नारायण, हरि और कृष्ण का परिचय दिया और इसके उपरान्त पांच-रात्र सिद्धान्तों की शिक्षा दी। इसके अतिरिक्त इस धर्म की शिक्षा ब्रह्मा ने चन्द्रमा से, सुपर्ण ने नारायण से और वायु ने सुपर्ण से प्राप्त की। इसी तरह अनेक युगों में यह धर्म लुप्त होता रहा है और पुनः नारायण के माध्यम से यह किसी न किसी को प्राप्त होता रहा है। अन्त मे सातवीं बार ब्रह्मा से दक्ष ने तथा दक्ष से उनके नाती आदित्य ने, आदित्य से विवस्वान ने, विवस्वान से मनु ने और फिर मनु से उनके पुत्र इक्ष्वाकु ने इसकी शिक्षा ग्रहण की। अन्त में देवर्षि नारद ने नारायण से इस धर्म की शिक्षा प्राप्त की। आरम्भ में वासुदेव, विष्णु और कृष्ण चाहे भिन्न-भिन्न रहे हों परन्तु परवर्ती काल तक इनमे एकता स्थापित हो गयी। इन नामों को लेकर भंडारकर, डा० हेमचन्द्राय चौधरी, मैकडोनल, कीथ प्रभृति विद्वानों ने अपनी पुस्तकों में विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। वैदिक विष्णु, परवर्ती नारायण तथा वासुदेव का संबध देवकी पुत्र कृष्ण के साथ क्रमशः स्थापित होता गया तथा भागवत, वासुदेवक और सात्वत धर्म एक ही धर्म के द्योतक बने। पांचरात्र वैदिक थे या अवैदिक इस पर भी बड़ा विवाद है। परन्तु इतना निश्चित है कि महाभारत काल में सांख्य, योग, पाशुपत तथा पांचरात्रिक मत प्रचलित थे और साथ ही वेद मत भी चल रहा था। जनमेजय ने वैशम्पायन से पूछा है कि सांख्य, योग, पांचरात्र तथा वेदारण्यक का लोकों में प्रचार है तो इन सबका लक्ष्य क्या है?

सांख्यं योगः पांचरात्र वेदारण्यकमेव च।
नानान्येतानि ब्रह्मर्षे लोकेषु प्रचरन्ति ह॥

जिसके उत्तर में वैशम्पायन ने कहा—

सांख्य योगः पांचरात्र वेदाः पाशुपतं तथा ।
नानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै ॥
सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः सउच्चयते ।
हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातन ॥

इस प्रकार महाभारत काल मे वैष्णव साधना सार्वजनिक, सार्वदेशिक और सार्वकालिक रूप ग्रहण करती है जिसका द्वार सभी वर्णों, यहा तक कि पतित, अधम और अयोग्य सभी के लिए खुला है। नारायण नाम का तात्पर्य निखिल जीव का परम आश्रय है और इसी नारायण के चरणों का आश्रय लेकर वैष्णव भावधारा मानव मात्र के कल्याण के लिये उत्तरभारत से सुदूर दक्षिणी सागरतट तक फैली। इस प्रकार प्राचीन दार्शनिक मतवादों की अभिनव-योजना करके वैष्णवधर्म समृद्ध हुआ था। महाभारतकाल में ही अवतारवाद की प्रतिष्ठा हुई। साधक की जो भावना भगवान के प्रति भक्ति का विकास करती है वही साथ ही साथ भगवान के व्यक्त रूप की कल्पना करने की प्रेरणा भी प्रदान करती है।

इसी प्रकार रामायण में, जो एक विशुद्ध काव्य है, राम का जो रूप चित्रित है वह पूर्ण मानवीय और पूर्ण दैवी गुणो से सम्पन्न है। बाल्मीकि ने अवतारी राम में मानवीय रूप चित्रित करके जिस पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा की है वह अपूर्व है। मानवीय आधारशिला में दैवी गुणों का चित्रण ही बाल्मीकि की सफलता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में ईश्वर की भावना पुरुष रूप में की गयी थी परन्तु वह भावना उपास्य रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो पायी, क्योंकि वह सहृदयता और भावुकता से सपृक्त न थी। सगुण ब्रह्म की रूपाभिव्यक्ति अन्तस्सत्ता के बाहर बाह्य जगत में देखने का विधान वाल्मीकि ने किया। ब्रह्म की पूर्णोपासना ब्रह्म को बाहर और भीतर दोनों ओर देखने में ही है और यही पूर्णोपासना की पद्धति भारतीय भक्तिमार्ग में 'राम' के रूप में विकसित हुई। नराकार रूप में ब्रह्म की उपासना उपास्य के सान्निध्य की उत्कंठा का परिणाम है। पूर्णोपासना के लिए राम के जिस रूप की प्रतिष्ठा हुई वह ब्रह्म के मूर्त-अमूर्त, व्यक्त-अव्यक्त और सगुण-निर्गुण उभयात्मक स्वरूप ग्रहण करके चला। पूर्ण ब्रह्म न केवल सगुण है और न केवल निर्गुण। अनुराग के लिए व्यक्त रूप और सम्यग्दर्शन के लिए अव्यक्त रूप रामायण मे स्वीकृत हुआ और यही भक्ति का वास्तविक सिद्धान्त पक्ष भी है। भक्ति मार्ग में मनुष्य की स्वाभाविक रागात्मिका वृत्ति, साधन रूप मे ग्राह्य हुई जिसमें प्रेम, अनुराग, स्नेह, आसक्ति आदि व्यक्त होती है। दृश्य और अदृश्य, व्यक्त और अव्यक्त मे सारूप्य भावना और प्रेमयोग की प्रतिष्ठा इसी भक्ति पद्धति पर भारतीय जीवन में विकसित हुई। अव्यक्त की ही अभिव्यक्ति यह व्यक्त और दृश्य जगत है और दोनों अभिन्न हैं, यही धारणा भक्ति मार्ग की आधारशिला है। उपास्य में भावात्मक अथवा रसात्मक विकास की दृष्टि से ही राम के स्वरूप की प्रतिष्ठा की गयी जो वाल्मीकि की देन है। ज्ञान की महत्ता प्रतिपादित करने वाले उपनिषदों से निश्चयात्मिका बुद्धि प्रतिष्ठित हुई परन्तु भक्ति के लिए सकल्पात्मक

अनुभूति की प्रतिष्ठा आवश्यक है, जो ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को समान रूप से सुलभ हो, वाल्मीकि ने इसी प्रकार की संकल्पात्मक अनुभूति की प्रवृत्ति पर उपास्य राम की प्रतिष्ठा की। रामोपासना की पद्धति भारतवर्ष में कब से आरम्भ हुई इसका निराकरण ऐतिहासिक दृष्टि से अभी तक नहीं हो पाया है। भंडारकर महोदय का मत है कि जनार्दन या वासुदेव-कृष्ण की भाँति राम की मूर्ति या पताका इत्यादि का पता प्राचीन वैष्णव मंदिरों में नहीं मिलता। यद्यपि रामायण के कई श्लोकों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि राम विष्णु के अवतार हैं और अत्यन्त प्राचीन युग से समाज में इस अवतार की मान्यता है परन्तु विष्णु के २४ अवतारो में रामावतार की कोई चर्चा नही की गयी है। 'नारायणीय' में राम के संबध में जो चर्चा की गयी है और पुराणों में उनका जो उल्लेख मिलता है वह संदिग्ध है। रघुवंश के १०वें अध्याय में राम के अवतारग्रहण का विस्तृत उल्लेख मिलता है। वायु पुराण में राम की महत्ता का वर्णन प्राप्त होता है। इन सबसे सिद्ध होता है कि ईसा की पहली शताब्दी मे राम की प्रतिष्ठा हो गयी थी। लेकिन पतंजलि और अमर-सिंह के ग्रन्थों में राम को देवता रूप में या विष्णु के अवतार के रूप में कहीं स्थान नहीं दिया गया है। इसमें सदेह नहीं कि भारतीय समाज में राम की प्रतिष्ठा व्यापक रूप से मिलती है परन्तु यह प्रतिष्ठा कब हुई यह निर्णय कर पाना कठिन है। ऐसा उल्लेख मिलता है कि सन् १२६४ ई० में मध्व अथवा आनन्दतीर्थ ने दिग्विजयराम की प्रतिमा बद्रिकाश्रम से लाकर नरहरितीर्थ जगन्नाथ में भेजा।[1] भंडारकर महोदय ने अंतिम निष्कर्ष यह निकाला है कि ११वीं शताब्दी में राम की पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा हुई।[2]

कामिल बुल्के ने अपनी पुस्तक 'राम-कथा' (उत्पत्ति और विकास) में ऋग्वैदिक काल से राम के विभिन्न स्वरूपो का विकास दिखाते हुए लिखा है कि 'ऋग्वेद' में इक्ष्वाकु, दशरथ और राम तीनो का एक एक बार उल्लेख हुआ है। इनका पारस्परिक संबंध असम्भव ही है क्योंकि इसका कोई निर्देश नहीं मिलता। ऋग्वेद में सीता का भी एक बार उल्लेख हुआ है लेकिन इस सीता का रामायण के अन्य ऐतिहासिक पात्रों से कोई संबंध नहीं है। ब्राह्मणों से राममार्गवेय, रामऔपतस्विनी तथा राम क्रातुजातेय का जो परिचय मिलता है उसका रामायण से कोई संबध नहीं है। उपनिषदों के जनक और अश्वपति का भी संबध रामायण के जनक से है इसका भी कोई उल्लेख वेदो में नहीं मिलता।[3] सीता का जो व्यक्तित्व ऋग्वैदिक युग से गृहसूत्रों के युग तक दिखाई पड़ता है वह कृषि करने वाली आर्य जाति की चेतना का ही प्रतीक है। यद्यपि महाभारत के द्रोणपर्व आदि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रामकथा वाल्मीकि के पूर्व प्रचलित रही होगी परन्तु प्राप्य आख्यानों के आधार पर वाल्मीकि-रामायण की ही कथा प्राचीनतम व्यवस्थित रचना सिद्ध होती है। रामायण का रचनाकाल भी विवादास्पद है।

१—वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टेम—भंडारकर पृ० ४७।

२—The cult of Ram, therefore, must have come into existence about the 11th century. वही।

३—रामकथा (उत्पत्ति और विकास) रेवरेंड फादर कामिल बुल्के—पृ० २५

श्लेगेल ११वीं शती ई० पू०, गोरोसियों १२वीं श० ई० पू०, याकोबी पहली अथवा दूसरी शताब्दी ई० पू० और मोनियेर विलियम्स पाँचवीं श० ई० पूर्व को रामायण का रचनाकाल मानते हैं। विष्णु पुराण, मत्स्यपुराण, स्कन्दपुराण और देवीभागत आदि में रामायण तथा वाल्मीकि के सम्बन्ध में अनेक कथाओं का विकास मिलता है। महाभारत में शान्तिपर्व, आरण्यकपर्व, द्रोणपर्व आदि में भी राम की कथा मिलती है। बौद्धों की अनेक जातक कथाओं मे राम की कथा के विभिन्न रूप पाये जाते हैं। जैन धर्म-ग्रन्थों में भी राम (पद्म), लक्ष्मण और रावण को त्रिषष्टि महापुरुषों में रखा गया है। जहाँ बौद्ध महात्मा बुद्ध को राम का पुनरवतार मानते है वहाँ जैनी ग्रथों में राम-कथा के पात्रों को धर्म में एक महत्व पूर्ण स्थान दिया गया है। विमल सूरि ने 'पउम चरियं में लोकप्रिय रामकथा को धार्मिक स्वरूप प्रदान किया है। इसी प्रकार गुण भद्रकृत 'उत्तरपुराण' में रामकथा का दूसरा रूप मिलता है जो वाल्मीकि और विमलसूरि के कथानक से भिन्न है।

दशरथ जातक में, जो तीसरी शताब्दी ई० पू० की रचना है, मगध देश में पाली भाषा में लिपिबद्ध 'जातकट्ठवण्णना' के अन्तर्गत रामकथा मिलती है। डा० वेबर ने इस कथा के प्रसंग में विस्तार पूर्वक विचार व्यक्त किया है। 'अनामक जातकम्' नामक ग्रन्थ में, जिसका चीनी अनुवाद भी हुआ है, रामकथा मिलती है। अनेक असंगतियो के विद्यमान होते हुए भी वाल्मीकि रामायण का प्रभाव इन कथाओं मे विकृत रूप में मिलता है। दिनेशचन्द्र सेन का अनुमान है कि जातक कथाओं के आख्यानों के आधार पर वाल्मीकि ने रामायण की रचना की है। परन्तु पाली गाथाओं में प्राप्य सामग्री इतनी अल्प है कि उसके अन्तर्गत रामायण का आधार ढूँढ़ना व्यर्थ है। इसी प्रकार ह्वीलर साहब भी रामायण का सम्बन्ध बौद्धों से जोड़ते हैं और जाबाली बौद्धधर्म के अनेक उद्धरणों से अपने मत की स्थापना करते हैं। कोशल में बौद्धधर्म का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। यह हो सकता है कि वाल्मीकि पर परोक्ष रूप से बौद्धदर्शन का भी प्रभाव पड़ा हो परन्तु प्रत्यक्ष रूप से ऐसा कोई प्रभाव दिखाई नहीं पड़ता। दक्षिण भारत में आल्वारों ने रामकथा सम्बन्धी आख्यानों पर आधारित काव्यों की रचना की हैं। कुलशेखर आल्वार ने (नवीं० श० ई० पूर्वार्द्ध) में रामभक्ति का प्रौढ़ निरूपण किया है।[1] पौराणिक साहित्य में हरिवंश-पुराण, विष्णुपुराण, वायुपुराण, भागवतपुराण, कूर्मपुराण, अग्निपुराण, गरुड़-पुराण, स्कदपुराण आदि मे राम कथा का उल्लेख है। अनेक साम्प्रदायिक रामायणों में अध्यात्मरामायण सबसे महत्वपूर्ण है जिसकी रामानन्द सम्प्रदाय में बड़ी प्रतिष्ठा है। इसका प्रभाव आनन्दरामायण, रामचरितमानस और एकनाथ के मराठी रामायण पर प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है। राम भक्ति के विकास मे इस ग्रन्थ का अधिक महत्व है।[2] राम कथा पर संस्कृत में अनेक महाकाव्यों की रचना हुई है। वाल्मीकिरामायण

१—राम-कथा (उत्पत्ति और विकास)—पृष्ठ—१५४
२—वही पृष्ठ—१७१

की कथा के आधार पर रघुवंश की कथा का निर्माण हुआ है। महाराष्ट्र प्राकृत में लिखित 'रावणवह' पर भी यही प्रभाव मिलता है। भट्टिकाव्य, जानकी हरण, अभिनंदकृतरामचरित, रामायणमंजरी' दशावतारचरित, उदारराघव आदि में रामकथा का निरन्तर विस्तार होता गया है। इसके अतिरिक्त उदात्तराघव, कुन्दमाला, अनर्घराघव, बालरामायण, हनुमन्नाटक, आश्चर्यचूड़ामणि, प्रसन्नराघव, उल्लाघराघव आदि काव्यों में भी रामकथा मिलती है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में तमिल रामायण, तेलगू का रंगनाथरामायण, मलयालम का रामचरितम्, कन्नड़ का तोरवेरामायण आदि रामाख्यानक काव्य लिखे गये हैं। इसी प्रकार असमिया में माधव कंदली का, बंगाली में कृत्तिवास का तथा उड़िया में बड़ रामदास का रामायण मिलता है।

इस प्रकार राम कथा का विकास विविध रूपों में सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति में व्याप्त है। इस कथा में जो लोकसंग्रही स्वरूप मिलता है उसी का परिणाम है कि भारतीय मनीषी और कवि इससे प्रभावित हुए।

वैष्णवधर्म का प्रभाव समस्त भारतीय साहित्य पर बड़ा गहरा तथा तलस्पर्शी पड़ा है। राम और कृष्ण दोनों अवतारों का प्रभाव और उनकी प्रधानता सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य में उपलब्ध है। एक ओर जहाँ रामचन्द्र में सामाजिक मर्यादापूर्ण ऐश्वर्य का भाव विद्यमान है वहाँ लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र में माधुर्यभाव की प्रधानता है। राम मर्यादा-पुरुष हैं तो कृष्ण लीलापुरुष। राम का लोकसंग्रही रूप और कृष्ण का लोकरंजक रूप भारतीय जीवन की रागात्मिका वृत्तियों को अनुप्राणित करता रहा है। भक्ति-भावना की विभिन्नता में भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना के मूल आधार विष्णु ही हैं। इसलिए इसका साधक वैष्णव माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से भक्ति-आंदोलन का अभ्युदय काल १५०० ई० पू० से प्रारंभ होता है। इसके प्रथम उत्थान का काल ५०० ई० तक माना जाता है। वेदों से लेकर पौराणिक युग तक भक्तिविकास के जो विभिन्न रूप मिलते हैं उनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अब संक्षेप में उन वैष्णव संप्रदायों की भी चर्चा प्रासंगिक है जो ७०० ई० से १४०० ई० तक अस्तित्व में आये हैं। वैष्णव आचार्यों का प्राधान्य दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश में प्राप्त होता है। दक्षिण में वैष्णव संप्रदाय के दो प्रमुख स्रोत आलवार तथा आचार्य हैं। 'आलवार' शब्द वैष्णव-संतों का सामान्य अभिधान है जिसका अर्थ होता है 'भगवद्भक्ति में रसलीन व्यक्ति'। आलवारों ने द्रविड़ भाषा में भक्तिरससिक्त पदावली का प्रचार किया और भक्ति का विस्तृत क्षेत्र तैयार किया। आचार्यों ने, जो संस्कृत के विद्वान् थे, भक्ति आन्दोलन को शास्त्रीय पाठ पर प्रतिष्ठित किया। दक्षिण में आलवारों की प्रमुखता उस समय बढ़ी जब उत्तर भारत में ब्राह्मणधर्म प्रबल हो रहा था।[1] आचार्यों के चार संप्रदायों की प्रतिष्ठा हुई। प्रथम निम्बार्क संप्रदाय (सनकादि संप्रदाय), द्वितीय श्री संप्रदाय, तृतीय माध्व संप्रदाय तथा चतुर्थ रुद्र संप्रदाय थे।

आलवार—आलवार भक्तों का जीवन अत्यंत सरल और पवित्र था। ब्राह्मण-शूद्र

१—वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, पृ० ५०

पुरुष-स्त्री एवं बालक-वृद्ध सभी को भक्ति में समान अधिकार स्वीकृत हैं। आलवारों की संख्या बारह मानी जाती है। इनकी स्तुतियों का संग्रह 'नालायिर-प्रबन्धम्' के नाम से विख्यात है। ये संग्रह वेदों के समान पवित्र माने जाते हैं। भक्तिसार, शठकोप, मधुर कवि, कुलशेखर, गोदा, विप्रनारायण, मुनिवाहन, नीलन प्रभृति आलवार भक्तों का उल्लेख भागवत संप्रदाय में प्रमुख रूप से किया जाता है जिनकी पदावलियों से भक्तिरस नैसर्गिक झरने की भाँति प्रवाहित होता है।

रामानुजाचार्य—वैष्णव आचार्यों के शिरोमणि रामानुजाचार्य थे। उनका जन्म सम्वत् १०१७ ई० में तेरूकुदूर नामक स्थान में हुआ था। इनके पिता का नाम केशव भट्ट था जो इनकी बाल्यावस्था में ही स्वर्गवासी हो गये थे। कुछ दिनों तक इन्होंने कॉंची में जाकर यादवप्रकाश नामक विद्वान् से अद्वैती वेदान्त का अध्ययन किया। तदुपरान्त यादवप्रकाश का साथ छोड़कर इन्होंने वैष्णव-शास्त्र का अनुशीलन करना प्रारम्भ किया। तदनन्तर ये यामुनाचार्य का आश्रय स्वीकार करके श्रीरंगम् में निवास करने लगे। रामानुज के गुरु महात्मा नाम्बि ने इन्हें गुरु मंत्र के रूप में 'ॐ नमो नारायणाय' की दीक्षा दी। शैवमतावलम्बी चोल राजा के भय से इन्हें श्रीरंगम् छोड़ना पड़ा। कहा जाता है कि इन्होंने उत्तरी भारत के प्रमुख तीर्थों की भी यात्रा की थी इन्होंने पाँचरात्र आगम के आधार पर उपासना पद्धति चलायी।

इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं वेदार्थसंग्रह, वेदान्तसार, वेदान्तदीप, गद्यत्रय, गीताभाष्य और श्रीभाष्य। श्रीभाष्य ब्रह्म सूत्र का पांडित्यपूर्ण भाष्य है। इनके प्रमुख आठ मठ हैं।

रामानुज के सिद्धान्त

इनके मत से पदार्थ तीन हैं—चित्, अचित् तथा ईश्वर। भोक्ता जीव चित् है, जगत अचित् है और अन्तर्यामी परमेश्वर ही ईश्वर है। जीव और जगत दोनों नित्य पदार्थ हैं परन्तु दोनो के भीतर ईश्वर अन्तर्यामी रूप में विद्यमान हैं। जीव तथा जगत दोनों ईश्वर के अधीन हैं। चित् और अचित् ईश्वर के शरीर या प्रकार हैं। रामानुज के मत से ईश्वर सदैव सगुण है और संसार के सभी पदार्थ गुण विशिष्ट ही हैं। ईश्वर में प्राकृत तथा लौकिक गुणों का अभाव है परन्तु वह अनन्त ज्ञानानन्द स्वरूप और सृष्टि की स्थिति संहारकर्ता है। ईश्वर के समान कोई दूसरा सजातीय या विजातीय नहीं है। उभय भेदों से शून्य होने पर भी स्वगत् भेद शून्य नहीं है। ईश्वर समस्त जगत का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी। जगत की सृष्टि भगवान की लीला है। उसकी एक विशेष सत्ता है। चित् और अचित् इसी ईश्वर के दो विशेषण हैं और उसी के अंगभूत है। इसी वैलक्षण्य के कारण यह सम्प्रदाय विशिष्टाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है। ईश्वर दो प्रकार का है, कारणावस्थ और कार्यावस्थ है। सृष्टिकाल में जगत की स्थूल प्रतीति होती है तब वह कार्यावस्थ होता है। वही प्रलय काल में सूक्ष्म रूप से अवस्थान करता है और कारण ब्रह्म कहलाता है। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए वह पाँच रूप धारण करता है—(१) पर (२) व्यूह (३) विभव (४) अन्तर्यामी (५) अर्चावतार। चित्त का अभिप्राय जीव है, जो

देह-इन्द्रिय-मन-प्राण और बुद्धि से विलक्षण है और जो आनन्द अव्यक्त, नित्य, अणु, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार तथा ज्ञानाश्रय है। जीव का विशेष गुण है अधीनत्व। वह अपने समस्त कार्य-कलाप के लिए ईश्वर के अधीन है। इसीलिए उसे शेष कहा जाता है और ईश्वर को शेषी। जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध अग्नि और चिनगारी की भाँति है। जीव अचित्, ज्ञान शून्य और विकारास्पद है। इसके तीन भेद हैं (१) शुद्ध सत्व (२) मिश्र सत्व (३) सत्व शून्य। इसी को माया, अविद्या या प्रकृति कहते हैं। सत्व तेजरूप द्रव्य है—भगवान के व्यूहादिक रूप इसी से बने हुए हैं। कुछ लोग सत्व को भी जड़ मानते हैं, कुछ इसे चित् रूप मे स्वीकार करते हैं। शंकराचार्य ब्रह्म को अखण्ड, अद्वितीय और त्रिविध भेद से शून्य मानते हैं। रामानुज ब्रह्म को एक तथा अद्वितीय तो मानते हैं परन्तु स्वजातीय तथा विजातीय भेद के अभाव में भी स्वगत भेद युक्त मानते हैं। इसी प्रकार से शंकर का ब्रह्म निर्गुण और शुद्ध चैतन्य है परन्तु रामानुज का ब्रह्म न निर्गुण है न निर्विशेष। वह ज्ञान, आनन्द, दया आदि सद्गुणों का पुंज है इसलिए वह निर्गुण नहीं हो सकता है। रामानुज का जगत भी मिथ्या नहीं है, माया ब्रह्म की ही शक्ति है अतः वह अनिर्वचनीय नही है। शंकर मत में ब्रह्म और जीव की एकता है और ब्रह्म के समान ही वह नित्य और मुक्त है। परन्तु रामानुज के मत में जीव ब्रह्म का वैसा ही अंश है जैसा चिनगारी अग्नि का अंश है। ब्रह्म है विभु, व्यापक तथा महान और जीव है अल्प, अणु और क्षुद्र। ऐसी दशामें दोनो की अभेद कल्पना नितान्त असम्भव है। शंकर के अनुसार बुद्धि रूपी उपाधि नष्ट होने पर जीव ब्रह्म के साथ मिलकर एकाकार बन जाता है। रामानुज जीव को ब्रह्म का अंश मानते हैं और संसारी दशा में जिस प्रकार जीव ब्रह्म से पृथक है मुक्त दशा में भी वह वैसा ही रहता है। केवल मुक्त दशा में वह ब्रह्मानंद का अनुभव करता है। शंकर के मतानुसार माया अविद्या तथा अज्ञान तीनों एक ही है। परन्तु रामानुज माया को भगवत्‌शक्ति और ब्रह्म के आश्रित मानते हैं। अज्ञान अल्पज्ञ जीव को ही मोहित कर सकता है। ज्ञानी जीव को अज्ञान संसार में नहीं बाँध सकता। रामानुज भक्ति को ही ज्ञान का एकमात्र साधन मानते हैं। शंकर का 'तत्त्वमसि' अभेद का प्रतिपादक है और रामानुज का स्वामी सेवक-भाव का प्रतिपादक। शंकर का जीव ब्रह्मसाक्षात्‌कार होने पर जीवन मुक्त हो जाता है जब कि रामानुज देह रहते मुक्ति को असम्भव मानते हैं। वे जीवन मुक्ति के स्थान पर विदेह मुक्ति ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि देहपात होने पर जीव ब्रह्म से पृथक ही रहता है। वह केवल ब्रह्मानन्द का अनुभव ही कर सकता है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकारी वही होता है जो कर्म तथा कर्मफल की अनित्यता को जान लेता है।[1] इनके मत में नारायण के चरणारविन्द मे आत्मसमर्पण करने के अतिरिक्त अन्य कोई महान साधना नहीं है। इनकी भक्ति का सार है—प्रपत्ति। प्रपत्ति के भी तीन प्रकार हैं—(१) अनन्य साधनत्व (२) अनन्य भोगत्व और (३) अनन्य शेषत्व। निष्कर्ष यह है कि भगवत्-प्राप्ति में प्रपन्न जीव के लिए भगवत् कृपा ही एकमात्र उपाय है।

१—भागवत सम्प्रदाय—बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ २१६

माध्वमत

रामानुज की मृत्यु के सौ वर्ष के उपरान्त दक्षिण भारत में आचार्य मध्व के नाम पर यह मत अवतीर्ण हुआ। आचार्य मध्व या आनन्दतीर्थ ने इस वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना ब्रह्मसम्प्रदाय के नाम पर की। इन्होंने अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए द्वैत मत का प्रतिपादन किया। मध्वाचार्य का जन्म ११९९ ई० विजयदशमी के दिन बेलीग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम मध्यगेय भट्ट और माता का नाम वेदवती था। इन्होंने ग्यारह वर्ष की उम्र में ही सन्यास ग्रहण कर लिया। सन्यास की अवस्था में इनका नाम पूर्णप्रज्ञ रखा गया। वेदान्त में पारंगत होने पर उन्हें आनन्द-तीर्थ नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। उन्होंने उत्तरभारत की भी यात्रा की तथा बद्रिकाश्रम गए। इन्होंने लगभग ३० ग्रंथों की रचना की है। उनके प्रमुख ग्रंथों में गीता-भाष्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, अनुभाष्य अनुव्याख्यान, दशोपनिषद्भाष्य, गीतातात्पर्य-निर्णय, भागवत्-तात्पर्य-निर्णय, महाभारत-तात्पर्यनिर्णय आदि प्रमुख हैं।

मध्वाचार्य का मत शुद्ध द्वैतवादी है। विष्णु ही सर्वोच्च तत्व है। उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध और मोक्ष इन आठों के कर्त्ता भगवान ही हैं। वे जड़ प्रकृति और चेतन जीव से भिन्न हैं। जीव और ईश्वर दोनो चेतन हैं और दोनों सच्चिदानन्दात्मक भी हैं, परन्तु जीव मायाबद्ध होने के कारण अज्ञत्व और अणुत्व आदि धर्मों का आश्रित है जब कि ईश्वर सर्वज्ञ अनन्तशक्तिमय और अपरिमित, अप्रकृति गुणों का निधान है। जगत सत्य है क्योंकि वह भगवान के सत्य संकल्प द्वारा निर्मित है। भेद वास्तविक हैं, जो पाँच प्रकार के हैं (१) ईश्वर का जीव से भेद (२) ईश्वर का जड़ से भेद (३) जीव का जड़ से भेद (४) एक जीव का दूसरे जीव से भेद (५) एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद। समस्त जीव हरि के अनुचर हैं और उन्हीं की अधीनता में रहते हुए नाना प्रकार के कार्य करते हैं। उत्तम, मध्यम और अधम अथवा मुक्त, नित्य और तमोगुणी जीव गुणों की भिन्नता के कारण परस्पर भिन्न हैं। दुःख का क्षय मुक्ति नहीं है, अपितु परमानन्द स्वरूप का बोध ही मुक्ति है। मोक्ष के चार प्रकार हैं:—(१) कर्मक्षय (२) उत्क्रान्ति (३) अचिरादि (४) भोग। भोग भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य चार प्रकार का माना गया है। इनमें सायुज्य सर्वश्रेष्ठ है। भगवान में प्रवेश कर उन्हीं के शरीर से आनन्द भोग करना सायुज्य है। मोक्ष दशा में भी जीवों में तारतम्य बना रहता है। अहैतुकी और अनन्या भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ भक्ति है। वेदो का समस्त प्रतिपाद्य विष्णु ही है और वेदों में वर्णित नाना देवता हरि के ही अवस्थानुसारी रूप है।

माध्वमत का विशेष प्रचार दक्षिण भारत के कर्नाटक और महाराष्ट्र प्रान्त में हुआ। कई शताब्दियों के अनन्तर इस सम्प्रदाय का केन्द्र बंगाल और ब्रजमण्डल हुआ। बंगाल का गौणीय वैष्णव सम्प्रदाय सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

निंबार्क

निम्बार्क के देश, काल, जन्मस्थानादि के सम्बन्ध में किसी निर्णय पर अभी तक नहीं पहुँचा जा सका है। इनके अनुयायी उन्हें वेदव्यास का समकालीन बतलाते हैं। इनके जीवन के सम्बन्ध में एक घटना की सर्वत्र प्रसिद्धि है। कहा जाता है कि इनका जन्म गोदावरी तटपर स्थित वैदूर्यपत्तन के निकट अरुणाश्रम में अरुण मुनि की पत्नी सुश्री जयन्ती देवी के गर्भ से हुआ। इनका प्रथम नाम नियमानन्द था। इनका नाम निम्बार्क कैसे हुआ इस प्रसंग में भी एक विचित्र चर्चा मिलती है। एक बार ब्रजक्षेत्र में यमुना तट पर स्वामीजी के पास कोई सन्यासी आया। आध्यात्मिक चर्चा में संध्या हो गई। सन्यासी के लिए संध्या के उपरान्त भोजन निषिद्ध होने के कारण उसका आतिथ्यसत्कार सम्भव नहीं था। इससे स्वामी जी को बड़ी ग्लानि हुई परन्तु इसी बीच एक विचित्र घटना घटी। सन्यासी अतिथि ने देखा कि आश्रम के निकट निंब (नीम) वृक्ष के ऊपर सूर्य भगवान चमक रहे हैं। स्वामी जी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई और उन्होंने अतिथि को भोजन कराया। तभी से इनका नाम निम्बादित्य या निम्बार्क पड़ गया। गोवर्धन के निकट आज भी वह स्थान निम्बग्राम के नाम से प्रसिद्ध है। भण्डारकर महोदय ने इनका समय ११६२ ई० के आसपास माना है। इनके चार प्रमुख शिष्य थे—(१) श्री निवासाचार्य (२) औदुम्बराचार्य (३) गौरमुखाचार्य (४) लक्ष्मण भट्ट। निम्बार्काचार्य द्वारा निर्मित प्रसिद्ध ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

(१) पारिजातसौरभ (२) दशश्लोकी (३) श्रीकृष्णस्तवराज (४) मन्त्ररहस्यषोडशी (५) प्रपन्नकल्पवल्ली (६) गीतावाक्यार्थ (७) प्रपत्ति-चिन्तामणि (८) सदाचारप्रकाश।

इस सम्प्रदाय में अनेक आचार्य, व्यास और शिष्य-प्रशिष्य हुए जिनका उल्लेख यहाँ अप्रासांगिक है। निम्बार्काचार्य ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध में भेदाभेद या द्वैताद्वैत के प्रतिपादक हैं। जीव अवस्थाभेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी। परमार्थजगत रूप में नाना रूपों में है परन्तु ब्रह्मरूप में एक है। काम वासनादि जीव के धर्म हैं। अतएव जीव का नानात्व औपाधिक नहीं, वास्तविक है। जिस प्रकार समुद्र एक है परन्तु उसमें निकलने वाली तरंगें, बुद्बुद् आदि भिन्न २ हैं उसी प्रकार ब्रह्म एक है परन्तु जीव अनेक। ब्रह्म के परिणाम तीन हैं। (१) अंतर्यामी (जीवरूप में) (२) अव्याकृत (विराट तथा देवता रूप में) (३) जाति तथा पिंड रूप में। जीव और जगत की सत्ता काल्पनिक न होकर वास्तविक है। जीव ज्ञान का आश्रय और ज्ञाता दोनों है। जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय है और प्रकाश का आश्रय भी है। जीव कर्ता भी है इसीलिए मुक्तदशा में भी यह कर्तृत्व सत्ता आत्मा-आत्मा में विद्यमान रहती है। परन्तु ज्ञान एवं भोग की प्राप्ति में जीव स्वतन्त्र नहीं है वरन् ईश्वर पर आश्रित रहता है। ईश्वर नियन्ता है और जीव नियम्य। मुक्त दशा में भी वह ईश्वराधीन रहता है। ईश्वर अंशी है और जीव उसका अंश। अंश का अर्थ उसका शक्ति ग्रहण करना

चाहिए। माया से आवृत होने के कारण जीव का धर्मभूत ज्ञान संकुचित हो जाता है। सच्चा ज्ञान ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है।

अचित् पदार्थ चेतनाहीन पदार्थ को कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है—(१) प्राकृत-जिसमें महत्तत्व से लेकर महाभूत तक प्रकृति से उत्पन्न जगत सम्मिलित है (२) अप्राकृत-प्रकृति के सीमा के बाहर का जगत (३) काल—यह अखण्ड रूप है। स्वरूप से वह नित्य है परन्तु कार्य रूप से अनित्य है।

निम्बार्क के मत में ब्रह्म सगुण है उसमें अशेष ज्ञान, बल और कल्याणकारी गुणों की राशि है। जीव और ब्रह्म में भेदाभेद सम्बन्ध स्वाभाविक और नियत है।[1] प्रपत्ति के द्वारा ही जीव का उद्धार होता है। भक्तों के लिए भगवान् का अनुग्रह ही सर्वस्व है। निम्बार्कमत के आराध्यदेव हैं श्री कृष्ण। साधक की अभिरुचि के अनुसार पाँच भावों से उनकी भक्ति की जाती है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा उज्ज्वल। सर्वेश्वर कृष्ण की ही भाँति उनकी आह्लादिनी शक्ति राधा हैं। वे ही सर्वेश्वरी हैं। अपनी क्रीड़ा के निमित्त एक ही ब्रह्म के दो विग्रह उत्पन्न हुए—राधा और कृष्ण। राधा आत्मा और कृष्ण आत्माराम हैं। दोनों में अभेद है।[2] इस मत में राधा की कल्पना स्वकीया के रूप में की गई है। उपरोक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि रामानुज के सिद्धान्तों के आधार पर ही निम्बार्काचार्य ने अपनी भक्ति-साधना का विकास किया। केवल एक मौलिक अन्तर दोनों की साधना में दिखलाई पड़ता है। उसका उल्लेख भण्डारकर महोदय ने इस प्रकार किया है—जहाँ रामानुज नारायण और लक्ष्मी (भू और लीला) तक ही सीमित हैं वहाँ निम्बार्क ने कृष्ण और उनकी राधा के साथ-साथ हजारों सखियों को भी सम्मिलित कर लिया है और माधुर्यरस की उत्तमता सिद्ध करने का प्रयास किया है।

निम्बार्क मतावलम्बी सारे उत्तर भारत में अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं में फैले हुए हैं। सखीसम्प्रदाय निम्बार्क मत की ही एक अवान्तर शाखा है जिसका विस्तार वृन्दावन में हुआ। निम्बार्क की साधनापद्धति सनकसम्प्रदाय के नाम से अभिहित की जाती है। प्रेमलक्षणा रागात्मिका पराभक्ति ही इनकी साधना में ग्रहीत हुई और माधुर्य उपासना की ओर इसके साधकों का झुकाव रहा है।

वल्लभाचार्य

वृन्दावन की पुण्यभूमि में पनपने वाला दूसरा वैष्णव संप्रदाय वल्लभ का शुद्धाद्वैती संप्रदाय है। वल्लभाचार्य विष्णुस्वामी द्वारा प्रवर्तित रुद्र संप्रदाय के प्रमुख प्रतिनिधि

१—स्वभावतोऽपास्त समस्त दोषमशेष कल्याणगुणैं कराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥ —दशश्लोकी ४।

यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥५॥

सिद्धान्त जाह्नवी पृ० ५१ पर उद्धृत।

२—राधया सहितो देवो माधवेन च राधिका।
योऽनयोर्भेदं पश्यति स संसृतेर्मुक्तो न भवति॥ भागवत सम्प्रदाय पृ० ३४६।

हैं। इसीलिए वल्लभसंप्रदाय 'रुद्रसंप्रदाय' कहा जाता है। विष्णुस्वामी के देश-काल, जन्म स्थान आदि का निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। वैष्णवसंप्रदाय में विष्णुस्वामी द्रविड़ देश के क्षत्रिय राजा के ब्राह्मण मंत्री की सन्तान माने जाते हैं। विष्णुस्वामी का समय विक्रम पूर्व पाँचवीं शताब्दी था और इनके संप्रदाय में त्रिलोचन, नामदेव, ज्ञानदेव आदि विख्यात संत पैदा हुए। विल्वमंगल आचार्य ने स्वप्न में वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी की शरण में जाने का आदेश दिया। नाभादास के मत से विष्णुस्वामी का समय तेरहवीं शताब्दी के आस-पास होना चाहिए। डा० भण्डारकर ने वल्लभाचार्य के जीवन के संबंध मे लिखा है कि वे तैलंग ब्राह्मण लक्ष्मण-भट्ट के पुत्र थे। एक बार जब वे तीर्थयात्रा पर काशी जा रहे थे तो मार्ग में वैसाख कृष्ण एकादशी संवत् १५३५ में उनको पुत्र रत्न प्राप्त हुआ। उसका नाम वल्लभ रखा गया। वल्लभाचार्य कभी वृन्दावन और कभी मथुरा में रहने लगे। उसी समय गोपाल कृष्ण 'देवदमन' अथवा 'श्रीनाथजी' के रूप मे गोवर्धन पर्वत पर प्रकट हुए और उन्होंने वल्लभ को स्वप्न में दर्शन देकर अपने पास बुलाया। उन्होंने यह भी कहा कि पूर्व जन्म के उनके साथी भी वहाँ मौजूद हैं। वल्लभ वहाँ गये और उनके आदेश से पुष्टिमार्ग का प्रचार शुरू किया।[1]

इसके अतिरिक्त अन्य बहुत सी कथाएँ वल्लभाचार्य के सम्बन्ध में मिलती हैं, जैसे वल्लभाचार्य का कृष्णदेवराय की सभा में नास्तिकों को पराजित करना आदि। ५२ वर्ष की अवस्था में इन्होंने काशी में अपना शरीर त्याग किया। इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की। इनमे मुख्य हैं—(१) अणुभाष्य (२) पूर्वमीमांसा भाष्य (३) तत्त्वदीप-निबंध (४) सुबोधिनी (५) षोडश ग्रंथ।

इनका सिद्धान्त शुद्धाद्वैत के नाम से विख्यात है। अद्वैत सिद्धान्त में माया से युक्त ब्रह्म जगत का कारण माना जाता है परन्तु वल्लभाचार्य नितान्त शुद्ध, माया से अलिप्त ब्रह्म को जगत का कारण मानते हैं। शंकराचार्य के मत का खण्डन करते हुए वल्लभाचार्य ने घोषित किया कि माया सम्बन्धों से रहित शुद्ध ब्रह्म ही जगत का कार्य-कारण रूप है।

माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारण रूपं हि शुद्धब्रह्म न मायिकम्॥

ब्रह्म के तीन भेद हैं—(१) आधिभौतिक (२) आध्यात्मिक (३) आधिदैहिक। यही क्रमशः जगत, अक्षरब्रह्म तथा परब्रह्म है। अक्षर ब्रह्म में सच्चिदानन्दब्रह्म के आनन्द अंश का पूर्ण विकास नहीं होता। परब्रह्म में ही आनन्द का पूर्ण विकास होता है। अक्षर ब्रह्म तो ज्ञान द्वारा ज्ञेय है। परब्रह्म को उपलब्ध करने का एकमात्र साधन अनन्य भक्ति है। भगवान ही अपने आनन्द आदि अंशों को तिरोहित कर रमण की इच्छा से जीव रूप ग्रहण करता है। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दीनता उत्पन्न होती है। यश

१—वैष्णविज्म-शैविज्म—भंडारकर—पृ० ७७

के तिरोधान से सर्वहीनता का, श्री के तिरोधान से वह समस्त आपत्तियो का भाजन बनता है और ज्ञान के तिरोधान से देहात्मक बुद्धि का पात्र बनता है। जब ईश जीव भाव को प्राप्त करता है तो आनन्द अंश का तिरोभाव प्रथमतः ही सम्पन्न होता है।[1] सच्चिदानन्द भगवान के अविकृत सत् अंश से जड़ का निर्गमन होता है और चित् अंश से जीव का। अविकृत का तात्पर्य उन्होंने उदाहरण से दिया है जैसे सोने से कुण्डल बनने में केवल रूप परिवर्तित होता है। सोने में कोई विकार नहीं आता। उसी प्रकार जगत या जीव रूप में ब्रह्म के परिवर्तित होने पर ब्रह्म मे कोई विकृति नहीं आती। वल्लभाचार्य संसार और जगत में भी सूक्ष्म भेद मानते हैं। सदंश से प्रादुर्भूत पदार्थ जगत है और अविद्या के कारण जीव द्वारा कल्पित ममता रूप पदार्थ संसार है।

अविद्या के नाश होने पर तथा ज्ञान के उदित होने पर संसार स्वयं नष्ट हो जाता है।

पुष्टि-मार्ग

आचार्य ने प्राणियों के अनुसरण योग्य तीन मार्गों का निर्देश किया है—(१) पुष्टि-मार्ग, (२) प्रवाहमार्ग (३) मर्यादामार्ग। भक्तिमार्ग ही पुष्टिमार्ग है। वेद प्रतिपादित कर्मज्ञान का सम्पादन मर्यादामार्ग है और ससार के प्रवाह में पड़ कर सुख तथा भोग के लिए प्रयत्न करना प्रवाहमार्ग है। प्रवाहमार्ग संसारी होने के कारण त्याज्य है। मर्यादा-मार्ग वेदविहित है तथा अक्षर ब्रह्म की वाणी से प्रादुर्भूत हुआ है। मर्यादामार्ग का साधक ज्ञान द्वारा सायुज्यमुक्ति प्राप्त करना चाहता है। पुष्टिमार्ग साक्षात पुरुषोत्तम के शरीर से निसृत है। इसका साधक आत्मसमर्पण तथा रागात्मक प्रीति की सहायता से भगवान का अनुग्रह प्राप्त करना चाहता है। भक्ति भी दो प्रकार की होती है। इन्हें मर्यादाभक्ति और पुष्टिभक्ति कहते हैं। मर्यादाभक्ति में फल की अपेक्षा रहती है। वह साधन-सापेक्ष्य होती है। पुष्टिभक्ति में फल की आकांक्षा नहीं होती और वह साधन-निरपेक्ष होती है। वह भगवान् के अनुग्रह से ही प्राप्त होती है। यह अनुग्रह भगवान् की लीला का अन्यतम विलास है। अनुग्रह की दशा में भगवान् स्वय अपने आनन्द स्वरूप में जीव के देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण में प्रगट होते हैं। ऐसी स्थिति में जीव मुक्त होकर स्वयं आनन्दमय हो जाता है। यद्यपि वल्लभ को नवधा भक्ति मान्य है परन्तु यह भक्ति भी साधन भक्ति है जो मर्यादामार्गीय जीव के लिए ही मान्य है। पुष्टिमार्गीय भक्तों को पूर्ण निष्ठा से भगवान् का सर्वथा तथा सर्वदा भजन करना चाहिए।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मोहि नान्यः क्वापि कदाचन॥ चतुःश्लोकी, श्लोक १

भगवान् से प्रेम करने के लिए आतुरता होनी चाहिए। इसीलिए भक्त भगवान् के वियोग में अत्यंत विह्वल रहता है। इस विरह भावना की पुष्टि के लिए सन्यास तथा

१—भागवत सम्प्रदाय—पृ० ३८१

गृह-त्याग का समर्थन आचार्य ने किया है। प्रेम की तीन अवस्थाएँ स्नेह, आसक्ति और व्यसन हैं। जब भगवान् से स्नेह होता है तो संसार से विराग हो जाता है। आसक्ति की स्थिति में घरबार के कामों से अरुचि हो जाती है। जब व्यसन हो जाता है तब जीव कृतार्थ हो जाता है। व्यसन में निरन्तर प्रेमभाव बना रहता है।[1] पुष्टि-मार्ग के कवियों में अष्टछाप के कवि प्रसिद्ध हैं। इनमें सूरदास जी सर्वश्रेष्ठ हैं।

भक्ति के उत्थान का तृतीय सोपान उत्तरी भारत में १५वीं शती से प्रारम्भ हुआ। इस युग की दो शाखायें प्रमुख हैं—राम भक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा। अब तक कृष्ण भक्ति शाखा के विकास का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। राम भक्ति शाखा का अभ्युदय भारतीय भक्ति-साहित्य में महती धार्मिक क्रांति है। 'रामानन्द' इस क्रान्ति के प्रवर्तक हैं जिन्होंने भक्ति के भव्य द्वार को सभी वर्गों, जातियों और संप्रदायों के लिए उन्मुक्त कर दिया। ऐसा कथन है कि रामानन्द राघवानन्द जी के शिष्य थे। वास्तव में राघवानन्द ही दक्षिण तथा उत्तर भारत के भक्तिआन्दोलन के संयोजक हैं। इन्होंने रामानन्द जी को मृत्युयोग से बचाया था। नाभादास के भक्तमाल से विदित होता है कि इन्होंने चारों वर्णों और आश्रमों के लिए भक्ति का द्वार खोल दिया था। यह हरियानन्द के शिष्य थे। उनकी किसी विशिष्ट रचना का पता नहीं चलता। नागरी प्रचारिणी सभा में एक पुस्तिका संग्रहीत है जिसका नाम 'सिद्धान्ततन्मात्रा' है। इसमें योग और भक्ति का समन्वित रूप मिलता है। रामार्चन पद्धति के अनुसार रामानन्द रामानुज की चौदहवीं पीढ़ी में आविर्भूत हुए। ऐसी प्रसिद्धि है कि रामानन्दजी सिकन्दर लोदी के समय विद्यमान थे और अन्य प्रमाणों के द्वारा भी रामानन्द का १५वीं सदी के अन्तिम भाग में होना सिद्ध होता है।[2] इनका जन्म कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम पूर्णसदन तथा माता का नाम सुशीला था। इनको बचपन में ही वैराग्य उत्पन्न हुआ और ये काशी-चले गए। वहाँ ये राघवानन्दजी के शिष्य हो गए। स्वामी रामानन्दजी के सिद्धान्तों का एकमात्र संग्रह 'वैष्णव मताब्ज भाष्कर' उपलब्ध है। रामानन्दजी रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुयायी हैं। अन्तर केवल इतना है कि वैष्णवों के द्वादशाक्षर मन्त्र के स्थान पर रामानन्दी वैष्णव राम षडाक्षरमन्त्र की मान्यता देते हैं। उनका मन्त्र है ॐ राम रामाय नमः। रामानन्दी वैष्णव अपने को वैरागी वैष्णव कहते हैं। रामानन्द के सम्प्रदाय का 'तत्त्वत्रय' ग्रन्थ रामानन्दी वैष्णवों का सर्वोत्तम मान्य ग्रंथ है, जो सुरसुरानन्द की जिज्ञासा शान्त करने के लिए लिखा गया था।

तत्व तो चिदचिद्विशिष्ट रूप से एक ही है परन्तु नाम तथा पदार्थ भेद से तीन प्रकार का है (१) चित् (चेतन) (२) अचित् (अचेतन)

१—व्यावृत्तो ऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत् सदा।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च तथा भवेत् ॥३॥
स्नेहाद् रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद् गृहारुचिः ॥४॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते।
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥५॥ —भक्तिवर्धिनी

२—भागवत सम्प्रदाय पृ० २४६-२५०

(३) ईश्वर। चित् और अचित् से विशिष्ट होने के कारण ईश्वर चिदचिद-विशिष्ट है। ईश्वर ही जगत का कारण है और कार्य भी। चित् तथा अचित् की सत्ता ईश्वर से भिन्न नहीं है अन्तर केवल स्थूल तथा सूक्ष्म रूप का ही होता है। ये तीनों तत्व नित्य हैं इसीलिए इनको तत्वत्रय कहा जाता है। रामानन्दजी ने राम, लक्ष्मण और सीता की त्रिमूर्ति-उपासना तत्त्वत्रय के ही आधार पर की है। सीता प्रकृति, लक्ष्मण जीव और राम ईश्वर तत्व के द्योतक हैं। मुक्ति का साधन भगवान् राम की भक्ति है जिसके सात उपाय हैं। (१) विवेक (२) विमोक (३) अभ्यास (४) क्रिया (५) कल्याण (६) अनवसाद और (७) अनुद्धर्ष। सात्विक आहार का विवेचन विवेक है और अनासक्ति विमोक है। भगवान रामचन्द्र का सतत अनुशीलन अभ्यास है तथा पंच महायज्ञों का विधान क्रिया है। सत्य, आर्जव, दया आदि की गणना कल्याण में होती है। अध्यात्ममार्ग पर उत्साह सम्पन्न होना अनवसाद है। सांसारिक अभिलाषाओं की उपलब्धि पर जो हर्ष होता है उसके विपरीत भाव होना अनुद्धर्ष है। उनका सम्प्रदाय रामावत सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इनके शिष्यों की बड़ी लम्बी तालिका है। इनमें बारह शिष्यों की चर्चा प्रमुख रूप से होती है। (१) सेननाई (२) कबीर (३) पीपाजी (४) रैदास (५) धन्नाभगत (६) अनन्तानन्द (७) सुरसुरानन्द (८) नरहरियानन्द (९) योगानन्द (१०) सुखानन्द (११) भवानन्द (१२) गालवानन्द। रामानन्दजी ने रामानुज के सिद्धान्तो का ही अनुसरण किया है। अन्तर केवल इतना है कि वैष्णवों के आराध्य लक्ष्मीनारायण के स्थान पर रामानन्द ने सीता और राम को अपना आराध्य और इष्टदेव स्वीकार किया तथा क्षीरसागर मे शयन करने वाले लक्ष्मीनारायण के स्थान पर मर्यादापुरुषोत्तम राम के लोकरंजक शील, शक्ति और सौंदर्य से युक्त रूप की प्रतिष्ठा की। जहाँ वैष्णव आचार्यगण संस्कृत के माध्यम से उपदेश दिया करते थे वहाँ स्वामी रामानन्द ने हिन्दी को माध्यम बनाया। रामानन्दी वैष्णवों ने हरि-भक्त होने के लिए वर्णाश्रम के नियमों और विधानो के बंधन को अस्वीकार किया। महाकवि वाल्मीकि ने जिस रामकथा की प्रतिष्ठा रामायण मे की वह कथा प्राचीन युग से आरम्भ होकर आधुनिक युग तक अबाध गति से चल रही है और भारत की लगभग सभी प्रादेशिक भाषाओं मे किसी न किसी रूप में काव्य की उपजीव्य बनी हुई है।

निराकार तथा साकार उपासनापद्धति को लेकर वैष्णव कवियों ने जिस साहित्य का सृजन किया वह सगुण और निर्गुण के साथ ही साथ कृष्णकाव्य और रामकाव्य नाम की दोधाराओं में विभाजित है। जिन क्षेत्रो में कृष्णोपासक आचार्यों का प्रभाव था वहाँ कृष्णकाव्य और जहाँ रामोपासकों का प्राबल्य था वहाँ राम-काव्यों का प्रणयन हुआ। वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत और अनेको सम्प्रदाय पल्लवित और पुष्पित हुए। हितहरिवंशजी का राधावल्लभीयसम्प्रदाय, चैतन्य महाप्रभु का सहजिया सम्प्रदाय, समस्त बंगाल और उड़ीसा को भक्तिरस से आप्लावित करने वाला चैतन्यमत और उनके पंचसखा, असम का महापुरुपिया सम्प्रदाय तथा महाराष्ट्र के महानुभाव, वारकरी, रामदासी और हरिदासी पंथ वैष्णव सम्प्रदाय के ही विकसित रूप हैं।

वैष्णव साधना और सिद्धान्तों को लेकर इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत विकसित

होने वाले विभिन्न सम्प्रदायो में मतभेद और वैषम्य के रहते हुए भी कतिपय ऐसे तथ्य हैं जिनकी सत्यता में प्रायः प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायी विश्वास रखते हैं।

१—वैष्णवमत में भगवत्-प्राप्ति भक्ति से ही होती है। कर्म से ज्ञान उद्बुद्ध होता है और ज्ञान से भक्ति।

२—जीव संसार से मुक्त होकर उत्क्रमण काल में माया के आवरण को भेदकर महामाया के प्रदेश में विचरण करता है। वैकुंठ और गोलोक त्रिपादविभूति में स्थित हैं और शुद्धतत्व से निर्मित हैं। मुक्त जीव भी शुद्ध तत्व से निर्मित देह धारण कर लेता है परन्तु वह योग माया के लोक का अतिक्रमण नहीं करता है और न तो उसे पूर्ण अहं की स्थिति ही प्राप्त होती है। भगवान शेषी और जीव शेष, अणु तथा दास है।

३—वैष्णवों का भगवत्तत्त्व सगुण तथा साकार है जिसकी पृष्ठभूमि में निर्गुण तथा निराकार ब्रह्म सदा विराजमान रहता है। भगवान निर्गुण होकर भी (ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज) इन छः गुणों से युक्त विग्रह धारण करता है। अप्राकृतिक गुणों से हीन होने से वह निर्गुण और विग्रहीरूप से सगुण है।

४—भक्ति साधन और साध्य दोनों है।

५—वैष्णवों की आस्था विदेहमुक्ति में है, जीवनमुक्ति में नहीं।

६—मुक्तदशा में भी जीव सेवा के देह को धारण करता है। जीव का पृथग्भाव बराबर बना रहता है।

७—रस, भाव की ही एक दशा है। रस आन्तरिक है और भाव बाह्य। रसोन्मीलन के लिए भाव ही मुख्य आधार है। चित्त को स्निग्ध बनाने वाली भक्ति ही भाव है। स्वरूपतः शुद्ध चित् ही भाव है। इसका आविर्भाव तभी होता है जब मन रज तथा तम से निवृत्त होकर शुद्ध सत्त्व में प्रतिष्ठित होता है। कृष्णरति ही स्थायी भाव है। चित्त भेद से यह रति, शांति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य अथवा प्रिय पाँच प्रकार की है।

८—गोपी भाव की आंतरिक अनुभूति होना। समग्र स्वत्व को कृष्णार्पण करना, एक क्षण के लिए भी कृष्ण की विस्मृति से व्याकुल होना, कृष्ण का माहात्म्य-गान करते रहना और कृष्ण ही के सुख में अपना सुख मानना गोपीभाव के चार परिचायक गुण हैं।

९—राधा और कृष्ण रससागर विष्णु के दो रूप हैं। शक्ति तथा शक्तिमान में सर्वथा ऐक्य है।

१०—भगवान कृष्ण सदा किशोर वय में रहते हैं और भगवान की लीला भी उन्हीं के समान नित्य, अनन्त और चिन्मय है।

शैव मत

वैष्णव सम्प्रदाय के समानान्तर ही शैव सम्प्रदाय का विकास और विस्तार हुआ है। शैव मत के प्रसङ्ग में अनेक ग्रन्थों में विचार किया गया है। जैसे 'वैष्णविज्म और शैविज्म' के लेखक भण्डारकर' रिलिजेज़ आव् इन्डिया' के लेखक वार्थ, 'ओरिजिन एण्ड अर्ली हिस्ट्री आफ शैविज्म इन साउथ इंडिया' के लेखक सी० वी० एन० अय्यर और

एन्थ्रोपोलोजिकल रिलिजन' के लेखक मैक्समूलर आदि ने शैवमत और उसकी उत्पत्ति के विभिन्न श्रोतों के सम्बन्ध में विवेचन किया है।

भगवान शिव के दो मुख्य स्वरूप सर्जनात्मक और संहारात्मक प्रारम्भ से ही दिखलाई पड़ते हैं। वैदिक रुद्र प्रारम्भ में विद्युत और अग्नि तथा झंझावात के प्रतीक थे और उनमें विनाशकारी तथा हिंसक शक्तियाँ पायी जाती थी। इससे प्रकट होता है कि प्रकृति की विनाशकारी तथा संहारकारक शक्तियाँ रुद्र के रूप में प्रतिष्ठित थीं। अथर्ववेद के काल में रुद्र व्याधियों के देवता हो गए जिनकी स्तुति इसलिए की जाने लगी कि उनका प्रकोप न हो। अथर्ववेद के पन्द्रहवें मण्डल में रुद्र का सम्बन्ध व्रात्यों से मिलता है जो आर्येतर जाति थी। यज्ञों में रुद्र के लिए भी आहुति का विधान किया गया है। यजुर्वेद में रुद्र के स्वरूप में पर्याप्त विकास हुआ। रुद्र से प्रार्थना की गई है कि वे अपने भक्तों को कल्याण के मार्ग पर ले चलें। यजुर्वेद में ही रुद्र को भिषक रूप और पशुपति रूप भी प्राप्त हुआ। 'त्र्यम्बकहोम' और शतरुद्रिय सूक्तों में रुद्र के साथ एक देवी का भी वर्णन मिलता है जिसका नाम अम्बिका है। रुद्र को कृत्तिवासा की उपाधि भी दी गई है। बहुत सम्भव है कि आर्येतर जातियों की मान्यताओं को भी आत्मसात करके आर्यों ने 'त्र्यम्बकहोम' में रुद्र को एक नया रूप प्रदान कर दिया हो। कृत्तिवासा बनचर जातियों के देवता थे जो चर्मवस्त्र धारण करते थे। ब्राह्मणग्रन्थों में त्रिनेत्र रूप की भी कल्पना मिलती है। हो सकता है कि यह त्रिनेत्र अग्नि (जा पृथ्वी आकाश और द्यु में व्याप्त है) का ही पर्याय हो अथवा त्र्यम्बक का ही दूसरा रूप हो। ब्राह्मण ग्रन्थो में रुद्र का आतंक बढ़ा हुआ मिलता है और देवता भी उनसे डरते हैं। यहाँ रुद्र को घोर और क्रूर कहा गया है। ब्राह्मणग्रन्थों तक आते-आते रुद्र का देवमण्डल से पृथक कर दिया गया और उनका स्वतन्त्र विकास और इतिहास मिलने लगता है। रुद्र कभी भी विशुद्ध कर्मकाण्ड के देवता नहीं थे। परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों मे रुद्र को ऋत का देवता माना गया और उन्हें गौरावास्पद पद प्राप्त हुआ। उन्हें देवाधिपति और ईशान तथा महादेव विशेषणों से विभूषित किया गया। ऐतरेय ब्राह्मण में प्रजापति और सरस्वती की कथा में रुद्र की जो महत्ता प्रतिपादित की गई है उससे पता चलता है कि रुद्र का स्थान अन्य देवताओं से अधिक महत्वपूर्ण था। 'ब्राह्मणों' के काल तक आते-आते अग्नि और रुद्र का तादात्म्य हो गया। कौशीतकी ब्राह्मणों मे रुद्र का जन्म अग्नि, वायु, आदित्य और चन्द्रमस् के बीज से बताया गया है। शतपथब्राह्मण में इनका जन्म सम्वत्सर और उषा के योग से बताया गया है। इस प्रकार प्राचीन वैदिक साहित्य से ब्राह्मणकाल तक आते-आते रुद्र के रूप का उत्कर्ष दिखलाई पड़ता है और रुद्र एक सजीव तथा शक्तिशाली देवता बन गए। कुछ लोगों ने अश्वमेध यज्ञों से लिंग-पूजा का सम्बन्ध स्थापित किया है परन्तु लिंग-पूजा का कोई ठोस वैदिक प्रमाण इस काल में नहीं मिलता। हो सकता है कि प्राक लोगों मे प्रजनन-शक्ति के प्रतीक के रूप मे जो लिंगमूर्ति की उपासना प्रचलित थी उनका प्रभाव वैदिक आर्यों पर पड़ा हो अथवा आर्येतर जातियो मे लिंगपूजा की उपासना प्रचलित रही हो। ऋग्वेद में दो स्थलों पर शिश्नदेवाः (लिंग को देवता मानने वाले) की चर्चा मिलती है। ऐसा अनुमान है कि सिन्धुघाटी के लोग लिंगोपासक थे। इसे आर्यों ने आत्मसात कर

लिया होगा। सिन्धुघाटी के लोगों के कारण ही मन्दिरों और मूर्तियों की भी स्थापना होने लगी क्योंकि वैदिक धर्म मे इनका विधान प्रारम्भ में नहीं था। यद्यपि सिन्धुघाटी की खुदाई में देवी की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं परन्तु कोई देवालय भी था, अभी तक इसका पता नहीं चला है।

उपनिषदों मे 'श्वेताश्वतर-उपनिषद्' के तृतीय अध्याय में जो वर्णन उपलब्ध होता है उससे पता चलता है कि 'रुद्र' अपने विविध शासन-शक्तियों द्वारा सब लोगों पर शासन करते हैं और नियमानुसार उनका संचालन करते हैं। यही रुद्र परमदेव हैं और इन्ही को कैलाशवासी गिरिशन्त और सब धर्मों का आश्रय कहते हैं।[1] इसी अध्याय में उनसे यह भी प्रार्थना की गई है कि वे जो हिंसक बाण धारण किए हुए हैं उसे जगत के कल्याणमय स्वरूप में परिणित कर दें और जगत को कष्ट न दें तथा उसका विनाश न करें। इससे पता चलता है कि 'श्वेताश्वतर-उपनिषद्' में शिव को उपासना के लिए पर-ब्रह्म परमेश्वर के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया, साथ ही साथ उनकी संहारक-मूर्ति को कल्याणमयी सौम्यमूर्ति में उपस्थित किया गया। रूद्र इसी उपनिषद् में भक्ति के देवता माने जाने लगे।

श्रउत-सूत्र, धर्म-सूत्र, गृह-सूत्र और शांखायन श्रउत-सूत्र में भी रुद्र के गुणों के स्वरूप में विकास हुआ है। इन सूत्रो में रुद्र के पत्नी तथा पुत्र का उल्लेख किया गया है। शिव-लिंग और शिव-मूर्तियों का भी विवरण उपलब्ध होता है। रुद्र की पत्नी के रूप में जिस देवी को स्थान मिला है उन्हीं का विकास शक्ति की अधिष्ठात्री के प्रतीक के रूप में परवर्ती काल में दुर्गा, महाकाली, महायोगिनी और शंखधारिणी आदि रूपों में हुआ। इसी काल में विनायक का भी प्रादुर्भाव दिखलाई पड़ता है जो आगे चलकर गणेश का रूप धारण करते हैं। प्रारम्भ में विनायक और रूद्र एक ही थे जो परवर्ती काल में दो स्वतन्त्र देवता बन गए हैं और गणेश रुद्र के पुत्र माने जाने लगे। वैदिक युग समाप्त होते-होते रुद्र के स्वरूप में आमूल परिवर्तन हो गया और रुद्र का नाम भी शिव हो गया। बौद्ध साहित्य, पाणिनि और कौटिल्य के ग्रथों में भी रुद्र का उल्लेख मिलता है। पाणिनि के समय में माहेश्वर-सूत्रों के द्वारा शिव के विकसित रूप का पता चलता है। रामायण और महाभारत काल में आकर रुद्र के स्वरूप का अत्य-धिक विकास हुआ। महादेव, महेश्वर और शकर नामो का प्रचार बढ़ गया और शिव एक लोकप्रिय देवता के रूप मे प्रतिष्ठित हो गए। इस काल में शिव का यौगिक स्वरूप भी उपलब्ध होता है। रुद्र-पत्नी का नाम उमा अथवा हेमवती रूप में प्रसिद्ध हो गया। इसी काल में शिव और पार्वती के विभिन्न आख्यानों का भी प्रचार हो गया। शिव आर्य और आर्यतर दोनों जातियों के लोकविश्वासों में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। रामायण

१—एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमॉल्लोकानीशत ईशनीभिः ॥ २ ॥
या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ ५ ॥
यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे
शिवां गिरत्र तां कुरु मा हिंसी पुरुषं जगत् ॥ ६ ॥ तृतीय अध्याय, श्वेताश्वतरोपनिषद्।

में शिव को दो नई उपाधियाँ मिलीं —'हर' और 'वृषध्वज'। 'हर' वैदिक काल में अग्नि की उपाधि थी जो रुद्र और अग्नि के तादात्म्य के कारण रुद्र के साथ जुट गई। संहिताओं में वृष जहाँ वर्षा का प्रतीक था वहाँ 'वृषभ' अथवा बैल शिव का वाहन हो गया। परन्तु इन सब स्वरूपों के विकास में दार्शनिक रूप में शिव परब्रह्म ही बने रहे। यद्यपि शिव और विष्णु के दल अलग अलग हो गए परन्तु दोनों के मूल में एकेश्वर-वादी स्थिति ही थी। जहाँ एक ओर विष्णु को योगेश्वर कहा गया वहीं शिव को महायोगी भी कहा गया है। इससे पता चलता है कि महाभारतकाल आते-आते उपासना में योगाभ्यास का भी समावेश हो गया था। भक्ति के विकास के साथ-साथ शिव और पार्वती के रूप का भी मानवीकरण हुआ और अनेक सुखद और सुन्दर रूपों में इनकी कल्पना की गई। इस प्रकार लोक-प्रचलित स्वरूप में शिव के दो रूपों की प्रतिष्ठा हो गई-एक 'सौम्य' तथा दूसरा 'भयंकर'। इसके अतिरिक्त विभिन्न समुदायों में भी शिव की कल्पना अनेक रूपों में की गई जिसमें कापालिक रूप भी दिखलाई पड़ता है। यह कापालिक रूप पिशाचों, डाकिनियों और इसी प्रकार के दूसरे अमंगल रूपों के अधिष्ठान के कारण हैं। यह रुद्र के भयानक रूप का ही परिणाम है। कहीं-कहीं शिव को मद्य-प्रिय और माँस खाने वाले रूप में उपस्थित किया गया है। अर्जुन के समक्ष भगवान् शिव 'किरात' के रूप में प्रकट हुए हैं। महाभारत में ही शिव को स्कन्द का पिता कहा गया है। महाभारत में जो त्रिपुर-ध्वंस की कथा मिलती है—यह ऐतरेय ब्राह्मण की कथा का ही विकास है। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत सी कथाएँ महाभारत में उपलब्ध होती हैं। पातंजल महाभाष्य में भी शिव के नाम का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त चाँदी, ताँबे और अन्य सिक्कों में जो वृषभ मूर्तियाँ मिलती हैं उनमे भी पता चलता है कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी आते-आते शैवधर्म का प्रचार सम्पूर्ण भारतवर्ष में हो चुका था।

राजा कनिष्क के समकालीन अश्वघोष ने अपने 'बुद्धचरित' में शिव का कई बार उल्लेख किया है। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' नामक रूपक में शैवधर्म का उल्लेख है। नाट्य-शास्त्र में शिव के नटराज रूप की चर्चा मिलती है और साथ ही उन्हें महान् योगाचार्य भी बताया गया है। कुशान राजाओ के सिक्कों मे शिव का चित्र अंकित है। गुप्तकाल में भी शैव धर्म के उत्कर्ष का पता चलता है। 'कुमारसम्भव' और 'मेघदूत' काव्यों में शिव के विभिन्न रूपों का वर्णन मिलता है। यशोधर्मा के लेख में, जो ६वीं शताब्दी का है, मंगल श्लोक में शिव की स्तुति की गयी है।

पुराणों के काल में आकर शैवधर्म का पूर्ण विकास हुआ। यहाँ भी हमको शैव-धर्म दार्शनिक और लोक प्रचलित दो रूपों में दिखाई देता है। दार्शनिक दृष्टि से शिव परब्रह्म है, आत्मा है, असीम है, और शाश्वत है। वह स्वयंभू है जो विश्व का सृजन पालन और संहार करता है। इस प्रकार पुराणों में जो पद विष्णु का प्राप्त था वही स्वरूप शिव को भी प्राप्त था। यद्यपि विष्णु और शिव के उपासक अलग अलग थे और अपने-अपने ढंग से आराध्यदेव को अलग-अलग मार्गों से ईश्वर के रूप में उपासना के लिए ग्रहण करते थे परन्तु दोनों में ऐसे बुद्धिजीवी भी थे जो दोनों देवताओं में समन्वय हेतु

प्रयत्नशील थे। वायु पुराण, शौर पुराण, मत्स्य पुराण और वराह पुराण आदि में विष्णु और शिव में ऐक्य का उद्घोष मिलता है। त्रिमूर्ति में (ब्रह्मा-विष्णु और महेश) समन्वय करके एक ही देव में जहाँ सृष्टि की भी सृजन, पालन, और संहार की भावना समन्वित हुई है वहाँ शिव को प्राधान्य मिला है। इसके अतिरिक्त 'वायुपुराण' में शिव को यति, आत्मसंयमी, ब्रह्मचारी, ऊर्ध्वं, महायोगी तथा सांख्यपुरुष की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

लोक-प्रचलित रूप में भी अब शैवधर्म अधिक व्यापक हो चला था और शिव की सर्वश्रेष्ठता के साथ-साथ पार्वती की सह उपासना भी प्रचलित हो गई थी। उपासना के लिए भक्तजन शिव को कल्याणकारी और कृपालुदेवता के रूप में ग्रहण करते हैं। भक्त की भक्ति पर अधिक जोर दिया गया है। बाह्य आडम्बर और तर्क से भक्ति को श्रेष्ठ बताया गया है। भक्ति का महत्त्व यहाँ तक बढ़ गया कि देवता और साधारण मनुष्य तो शिव का दर्शन स्थूल रूप में ही कर पाते हैं परन्तु भक्त भगवान के सूक्ष्म रूप का दर्शन करता है। शिव के साथ ही साथ पार्वती में विश्वमाता, आदिशक्ति और जगत का नियन्त्रण करने वाली महामाया शक्ति की प्रतिष्ठा हुई। शिव और पार्वती के अभेद को प्रतिपादित करने वाले अर्धनारीश्वर रूप की कल्पना भी इसी काल की देन है। शिव का यह अर्धनारीश्वर रूप बड़ा लोकप्रिय हुआ। इसी काल में शिव की विभिन्न मूर्तियाँ मन्दिरों में स्थापित हुई और लिंगमूर्तियों का भी भगवान शिव के प्रतीक के रूप में बड़ा विस्तार हुआ। लिंग-पुराण में तो इसी प्रकार की मूर्तियों का बड़ा विशद वर्णन है। 'मत्स्यपुराण' में इन मूर्तियों के निर्माण के सम्बन्ध में बड़ा विस्तृत वर्णन मिलता है। पुराणों में शिव के कपाली रूप का भी बड़ा विस्तृत वर्णन किया गया है। जब वे भीषण रूप धारण करते हैं और वस्त्रहीन रहते हैं तो दिगम्बर कहे जाते हैं। इस समय वे श्मशान में विहार करते हैं, सारे शरीर में भस्म रमाते हैं और नरमुण्डों की माला धारण करते हैं। शिव की इस रूप में उपासना जनसाधारण में प्रचलित नहीं थी। केवल योगियों में और तांत्रिकों में इस कपालिन रूप का प्रचार मिलता है। ब्रह्माण्ड पुराण में शिव अपने कपालिन रूप के सम्बन्ध में व्याख्या करते हैं कि भस्म अग्नि में तप्त होने से परिष्कृत है इसलिये भस्म शरीर को पवित्र करता है, नग्नता में आत्मसंयम की परीक्षा होती है, आत्मसंयमी का बाह्य वस्त्रों से कोई सम्बन्ध नहीं होता और श्मशान भूमि में विचरण करने से प्राकृतिक भावनाओं पर नियंत्रण रखा जाता है। कहीं-कहीं पुराणों में शिव के कामुक रूप का वर्णन मिलता है परन्तु यह लोक प्रचलित नहीं है। पुराण काल मे शैव और वैष्णवों में साम्प्रदायिक द्वन्द्व भी दिखाई पड़ता है। शैव शिव की सर्वश्रेष्ठता और वैष्णव विष्णु की श्रेष्ठता सिद्ध करने में तत्पर दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार पुराण काल में संगठित सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई और सम्प्रदायिक संघर्ष की नींव भी पड़ी। बौद्ध और जैनमतों के विरुद्ध ब्राह्मणधर्म की रक्षा करने में शैवधर्म अग्रणी रहा और निरन्तर युद्ध में रत रहा। इसी का परिणाम था कि बौद्ध धर्म तो भारत से लुप्त हो गया तथा जैन धर्म ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध खड़ा भी नहीं हो सका।

पुराणोत्तर काल मे शैवमत के अन्तर्गत ही विभिन्न सप्रदायों की उत्पत्ति हुई। छठवीं शताब्दी से लेकर १३वी शताब्दी तक के विशाल साहित्य मे और पुरातत्व सम्बन्धी अभिलेखों में शैव मत के विभिन्न सम्प्रदायो का विस्तृत इतिहास उपलब्ध है। उत्तर और दक्षिण भारत में दो सुस्पष्ट रूपों में इसका विकास दिखाई पड़ता है। छठवी और सातवी शताब्दी के शिलालेखों में यशोधर्मा का शिलालेख, राजा आदित्यसेन का 'अपसाढ़' शिलालेख, अनन्तवर्मा का नागार्जुन पर्वत का गुफालेख, प्रवरसेन द्वितीय के काल के ताम्रपत्र में 'भारशिव' का वर्णन आदि महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है। उसी प्रकार दण्डी और बाण के काव्यों में भी शैव मत का रूप विस्तार दिखाई पड़ता है। ह्वेनसाँग की भारत-यात्रा के वर्णन में शैव मन्दिरों और प्रस्तर मूर्तियों का उल्लेख मिलता है। खजुराहो के शिलालेखों में भगवान शिव को एकेश्वर मानकर उपासना करने की पद्धति का पता चलता है। इस प्रकार सारे उत्तर भारत में शैव मत का विस्तार दिखाई पड़ता है। उत्तर भारत में शैव-मत का रूप पौराणिक ही रहा परन्तु दक्षिण भारत में शैव मतवलम्बियों की धारणा उत्तर भारत से भिन्न थीं और उनका विकास भी भिन्न रूप मे हुआ। सातवीं शती में दक्षिण में दो प्रसिद्ध शैव सत हुए—'सम्बन्दर' और अप्पर। इनके जीवन-वृत्तों से पता चलता है कि उस समय जैनों के साथ इनका संघर्ष चल रहा था और 'सम्बन्दर' ने जैनियो को पराजित किया। 'अप्पर' सत होने के साथ ही विद्वान और कवि भी थे। इन दोनों सतों के संघर्ष में जैनियों के पैर उखड़ गये। इन दोनों सतों के अतिरिक्त तीसरे संत 'मणिक-वासगर' हुए जिन्होंने बौद्धों को पराजित किया। पाँचवी शताब्दी में सन्त तिरुमूलर ने सस्कृत आगमों का तमिल में अनुवाद किया। यद्यपि प्राचीन शैवों का वैष्णवों से कोई मतभेद नहीं था और आलवार सतो ने विष्णु के साथ ही शिव की भी उपासना को अंगीकृत किया था परन्तु तिरुमूलर के काल से वैष्णव और शैव मतावलम्बियों का सघर्ष प्रारम्भ हो गया। परन्तु यह सघर्ष व्यापक नहीं था क्योंकि शिलालेखों और ताम्रपत्रों में जो लेख उपलब्ध है उनमें शिव और विष्णु को समान रूप में आदर प्राप्त है। दक्षिण के शैव संप्रदाय में भक्ति की प्रतिष्ठा महत्वपूर्ण है। एक बार भी जो अपने को शैव घोषित कर देता है उसका उद्धार हो जाता है। इस भक्तिवाद के कारण ही शैव सम्प्रदाय का द्वार आचार-विहीन व्यक्तियो के लिए भी खुला था। 'पेरिय पुराण' में दिगम्बर शैवों का उल्लेख मिलता है। ऐसा लगता है कि यद्यपि जैनियो के साथ शैवों का सघर्ष था फिर भी उनपर दिगम्बर जैनियों के सिद्धान्तो का प्रभाव पड़ा।

शैव सम्प्रदायों में शैव भागवतो का उल्लेख पातजलमहाभाष्य में मिलता है। इससे पता चलता है कि शैव भागवत सबसे प्राचीन थे। परन्तु इस सम्प्रदाय का लोप हो गया। उसी प्रकार पाशुपतों का उल्लेख शान्तिपर्व से ही मिलने लगता है। पाशुपत-शैवों का उद्भव प्रायः उसी समय हो गया जब पाँचरात्र सम्प्रदाय का उद्भव और विकास हुआ था। इस मत के प्रचारक लकुलीन थे। 'सर्वदर्शनसंग्रह' नामक ग्रंथ में पाशुपत-सम्प्रदाय का संस्थापक लकुलीन को माना गया है। नवीं शताब्दी तक आते-आते शैवों के अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हो गये थे। आनन्दगिरि के 'शंकरविजय' नामक ग्रन्थ से पाशुपत, शैव, रौद्र, उग्र, कापालिक, भट्ट और जंगम सम्प्रदायो का पता चलता है।

कर्णाट देश में ऐसे लोगों का वर्णन मिलता है जो शिव के भैरव और कापालिक रूप की उपासना करते थे। भैरव तन्त्र इनका प्रामाणिक ग्रन्थ है।

प्रबोध चन्द्रोदय नाटक में, जो कृष्णमिश्र द्वारा ११वीं शती में लिखा गया है, पाशुपतों, भैरव और कापालिकों का उल्लेख है। इन सम्प्रदायो के अतिरिक्त लिंगायत और वीरशैव सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव भी हुआ जिनका आगे चलकर बड़ा महत्व बढ़ा। लिंगायत सप्रदाय शैवों में सुधारवादी है और लिंगायत सम्प्रदायी आत्मसंयम और आध्यात्मिक शुद्धता के पक्षपाती हैं।

शैव मत के लोक-प्रचलित रूप के विकास के साथ-साथ उसके दार्शनिक रूप का भी विकास होता गया। अंत में उसने स्वतंत्र दर्शन का रूप धारण कर लिया जो शैव-सिद्धान्त के नाम से प्रचलित हुआ। शैव आगमों मे इन सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् का जो दार्शनिक स्वरूप है वही समस्त शैवदर्शन का बीज है। इस दर्शन में शिव परम सत्य और स्रष्टा है। वह अपनी माया से, जिसे शक्ति या प्रकृति भी कहते हैं, सृष्टि का कार्य सम्पन्न करता है। जीवात्मा को भी अमर माना जाता है और परमात्मा में विलीन होने पर उसका मोक्ष होता है। उपनिषदों का अद्वैतवाद एक तो विशुद्ध अद्वैतवाद के रूप में विकसित हुआ दूसरा मार्ग विशिष्ट अद्वैतवाद के रूप में इनका उल्लेख पिछले पृष्ठों में हो चुका है।

पुराणों में वैष्णव और शैव दोनों मतों ने विशिष्ट अद्वैतवादी स्थिति को ही ग्रहण किया। इस प्रकार अद्वैत के दो अंग हो गये। एक शुद्ध तथा दूसरा विशिष्ट के नाम से अभिहित किया गया। शैव मत पर सांख्य सिद्धान्तों का भी प्रभाव पड़ा था। शिव के साथ शिव की सहचरी शक्ति अथवा माया उसकी समवर्तिनी हो गई। विश्व की सृष्टि-प्रक्रिया में यही शक्ति प्रमुख है। शिव तो केवल द्रष्टामात्र हैं। शैव एवं शाक्त आगमों में शिव को सर्वश्रेष्ठ सत्य माना गया है। शिव की शक्ति उससे अभिन्न है। अपनी शक्ति द्वारा शिव समस्त विश्व में व्याप्त हैं। शिव में ही सारे विश्व का अस्तित्व है। परन्तु शिव विश्व से परे भी हैं। विशुद्ध अद्वैत के अनुसार विश्व ब्रह्म से पृथक् नहीं है। विश्व के नाम तथा रूप की अनेकता केवल माया है। परन्तु शैव-सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा असंख्य तथा शाश्वत हैं। वे परमशिव के ही अंश हैं परन्तु उससे सर्वथा अभिन्न नहीं हैं। जिस प्रकार ज्वाला से ताप भिन्न नहीं है उसी प्रकार जीवात्मा में परमात्मा सदैव निवास करता है। जीवात्मा कुछ काल के लिए भौतिक शरीर धारण करता है जो स्वयं अचेतन है। इस प्रकार के शरीर में प्रवेश कर अविद्या काम और माया के त्रिविध बन्धन में जीवात्मा आबद्ध हो जाता है। परम-शिव के अनुग्रह से ही वह मुक्ति प्राप्त कर सकता है। शैव सिद्धान्त में कर्मसिद्धान्त भी निहित है। स्थूल तत्व-मय जगत में ही मानव मोक्ष-प्राप्ति का प्रयास करता है। उसका यह प्रयास कर्म-सिद्धान्त के नियम से नियन्त्रित रहता है। आत्मा का कर्म-बन्धन ही पाप है। परम शिव की कृपा से ही इस बन्धन से मुक्ति मिल सकती है। विमुक्त आत्मा आवागमन के चक्कर से छूट कर शिव समान हो जाता है और उन्हीं के सान्निध्य में रहते हुए परमानन्द की स्थिति प्राप्त करता है। इस प्रकार शैव सिद्धान्त में आत्मा का शिव से तादात्म्य नहीं होता।

अपितु आत्मा शिव के समक्ष या समीप एक आदर्श अवस्था मे रहता है। परमशिव का प्रकाश उसे ज्योतिर्मय बनाये रखता है। जबकि विशुद्ध अद्वैत के अनुसार मोक्ष प्राप्ति होने पर जीवात्मा परमात्मा मे पूर्णतया विलीन हो जाता है। स्वामी शकराचार्य ने, जो स्वय शैव थे, विशुद्ध अद्वैत का प्रचार किया जो आगमिक सिद्धातों के अनुकूल नहीं था। शंकराचार्य के जीवन-काल में तो शैव मतावलम्बी चुप रहे परन्तु उनके दिवगत होने पर शैवों ने उनका विरोध करना प्रारम्भ किया। दक्षिण मे मेयकन्द देवुर ने ११वीं शती में शैव सिद्धात पर बारह अनुष्टुप छन्दों में शैव सिद्धात पर 'शिवज्ञान-बोधम्' लिखा। यही शैव सिद्धांत का अन्तिम मौलिक ग्रन्थ भी है। इसी प्रकार उत्तर भारत में कश्मीर शैव धर्म का केन्द्र बना। वसुगुप्त के समय (८वीं शताब्दी) में शैव आगमों की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। वसुगुप्त ने 'शिवसूत्रों' की रचना की। उनके शिष्य कल्लक ने 'स्पन्दकारिका' लिखी। इनके अतिरिक्त वसुगुप्त के ही शिष्य सोमानन्द ने 'शिवदृष्टि' नामक ग्रन्थ रचा। सोमानन्द के पश्चात् उनके शिष्य उत्पल ने 'प्रतिभिज्ञा-सूत्रों' की रचना की। शकर के समय मे अद्वैतवादी शैव सिद्धात सर्वमान्य हो गया। स्वयं शकर कश्मीर गये थे। उनका प्रभाव उत्पल के शिष्य अभिनवगुप्त पर पड़ा। उन्होंने 'परमार्थसार' नामक ग्रंथ निर्मित किया। तत्पश्चात् अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज ने 'शिवसूत्रविमर्शिणी,' 'प्रतिभिज्ञाहृदय', 'स्पन्दसन्दोह' 'स्पन्दनिर्णय' आदि ग्रन्थों की रचना की। कश्मीरी शैवमत में शक्ति परमशिव की अभिव्यक्ति मात्र है। उसका निवास परमशिव में ही है। वह उनकी संयमशक्ति है। वह चित्शक्ति, आनन्दशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति इन पाँच रूपों में उपलब्ध होती है। शक्ति का विकास ही सृष्टि का कार्य है जिसे आभास कहते हैं। वेदान्त की माया न सत् है न असत्। वह अनिर्वचनीया है। किन्तु प्रतिभिज्ञादर्शन में अनेकरूपता को सत् माना गया है। जीवात्मा परमशिव की अभिव्यक्ति है जो माया द्वारा सीमित है। माया परमशिव के तिरोभूत हो जाने की शक्ति है। इस तिरोभाव में परमशिव अपने आपको काल, नियति, राग, विद्या और कला के पंचविध बन्धन में सीमित कर लेते हैं। जीवात्मा सद्ज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरात परमशिव के साथ सम्बन्ध स्थापित करता हुआ बन्धन-मुक्त हो जाता है। उस दशा मे वह परमशिव का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार प्रतिभिज्ञा-दर्शन वेदान्त की मोक्षावस्था के अनुकूल है जिसमें मोक्ष प्राप्त होने पर जीव ब्रह्म मे विलीन हो जाता है।

मध्ययुगीन शैव परम्परा के सम्बन्ध में फर्कूहर ने अपनी पुस्तक "ऐन आउट लाइन आव दि रिलिजस लिटरेचर आव इंडिया" में जो विवरण दिया है उसके अनुसार शैवों के दो प्रमुख सम्प्रदाय थे—पाशुपत और आगम। पाशुपतों के लकुलीश, कापालिक, नाथ, गोरक्षनाथी और रसेश्वर नामक उप संप्रदाय थे और आगमों के अन्तर्गत शैव-सिद्धान्त, तमिलशैव, कश्मीरशैव, और वीरशैव नामक उप-सम्प्रदाय थे। बाणभट्ट और ह्वेनसांग दोनों ने 'पाशुपतों' को अपने समय का मुख्य संप्रदाय घोषित किया है। शंकराचार्य ने पाशुपतों की इसीलिए निंदा की है कि वे उपनिषदों की मान्यता के विपरीत ईश्वर को जगत का निमित्त कारण मानते हैं। 'ब्रह्मविद्याभरण' में पाशुपत

दर्शन के मूल सिद्धान्तों में कारणपति, कार्यपशु, यौगिक क्रियाओ, विधि, और दुःखान्त नाम ५ मुख्य सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन मिलता है।

लकुलीशमत गुजरात में फैला था। गुजरात के कारपट्टन नामक स्थान में लकुलीश की मूर्ति मिली है। भंडारकर महोदय पाशुपत का ही दूसरा नाम लकुलीश मानते हैं। कापालिक केवल योगियों का पंथ रहा और उनके आचार वाममार्गी योगियों की ही भाँति थे। कापालिकों का कोई साहित्य नहीं मिलता है। कश्मीर का शैव मत पहले द्वैतपरक था परवर्ती काल में आगमो के कारण वह अद्वैत-परक हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय भक्ति-आंदोलन की दृष्टि से शैव संप्रदाय का महत्व सातवीं और आठवीं शताब्दी में संपूर्ण भारत मे व्याप्त था। शैवागमों के प्रति जनता में अभिरुचि थी और शैवाचार्यो का समाज में बड़ा सम्मान था। अधिकांश क्षत्रिय नरेश शैव मतावलम्बी थे। उन्होंने देश में अनेक शिवालयों का निर्माण किया और शिवोपासना को प्रश्रय दिया। दसवीं शताब्दी मे तो शैव संप्रदायों की बाढ़-सी आ गयी। शैव-स्पर्धा में किसी प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय टिका रह गया इसका कारण यही था कि वैष्णव सम्प्रदाय शैवों की अपेक्षा अधिक सहिष्णु, विनम्र और मधुर माना जाता था।

बौद्धमत

वैष्णव और शैव सम्प्रदायों के अतिरिक्त बौद्ध धर्म और दर्शन की परम्परा पर भी इस प्रसंग में विचार करना आवश्यक है। बौद्धधर्म मध्यम मार्गी है। किसी भी प्रकार की अति इस धर्म में वर्जित है। सांसारिक सुख की आसक्ति और कठोर तपश्चर्या दोनों की अतियों का विरोध करते हुए महात्मा बुद्ध ने 'बहुजनहिताय' और 'बहुजनसुखाय' के उद्देश्य से मध्यम मार्ग को ग्रहण किया जिसकी आधारशिला पंचशील है। देवत्व और दानवत्व से मनुष्यता अधिक श्रेष्ठ है। यही इस धर्म की आधारभूत मान्यता है। पंचशील पर प्रतिष्ठित व्यक्ति ही चित्त और प्रज्ञा के द्वारा निर्वाण प्राप्त कर सकता है। हिंसा न करना, चोरी न करना, काम भोगों में मिथ्या आचार न करना, मृषा न बोलना और मादक द्रव्यों का सेवन न करना पंचशील है। इस धर्म में दुःख, दुःख की उत्पत्ति, दुःख का निरोध और दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग ये चार आर्य सत्य हैं। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि ये आठ अष्टांगिक मार्ग हैं जिन्हें इस मध्यम मार्ग में सम्मिलित किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश एवं अन्य लोक सम्बन्धी व्यर्थ विवादो में न पड़कर लौकिक चिन्ताओं को छोड़कर केवल तृष्णा के क्षय में ही लग जाने का उपदेश महात्मा बुद्ध ने दिया। उन्होंने जाति, लिंग, देश आदि के भेदभाव से दूर रहने की शिक्षा दी। आत्मशुद्धि और परसेवा व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है। पूर्णकर्म ही उसके जीवन के लोक-परलोक के आधार हैं। काल को व्यर्थ न गँवावें आदि उपदेश सूत्र हैं जो महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों को दिया।

संसार को बन्धन-मुक्त करने वाली प्रज्ञा है। 'शील, समाधि (चित्त) और प्रज्ञा' बौद्ध-चिन्तन के तीन प्रधान मार्ग हैं। प्रतिमोक्ष संवरशील, इन्द्रिय-संवरशील, आजीव-परिशुद्धि-शील और प्रत्यय सन्निश्रितशील चार प्रकार के शील हैं। कुशलचित्त की एकाग्रता ही समाधि है। आवास, कुल, लाभ और काम तथा मार्ग एवं ज्ञाति, रोग, ग्रंथ, और ऋद्धि, समाधि की दस बाधाएँ हैं इनका त्याग करना चाहिए। समाधि के दो प्रकार—उपचार-समाधि तथा अर्पणा-समाधि हैं। कुशल चित्त से सम्प्रयुक्त विपश्यना ज्ञान को प्रज्ञा कहते हैं। भली प्रकार से जानना प्रज्ञा का कार्य है। शील-विशुद्धि और चित्त-विशुद्धि प्रज्ञा की दो मूल विशुद्धियाँ हैं। प्रज्ञा से अविद्यारूपी अन्धकार दूर हो जाता है। चार स्मृतिप्रस्थान, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रिय, पाँच बल, सात बोध्यंग और अष्टांगिक मार्ग ये सैंतीस बोधि-पाक्षिक धर्म हैं। व्यक्ति के सारे आश्रव क्षय हो जाने पर तृष्णा का उन्मूलन होता है तथा मानसिक दुःखो का निरोध हो जाता है और निर्वाण की प्राप्ति होती है। जब रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये पंच-स्कन्ध छिन्न-भिन्न हो जाते हैं उस समय महापरिनिर्वाण प्राप्त होता है। सदाचार बौद्धधर्म की आधारशिला है। शील समस्त धर्मों का आधार है। अहिंसा से ही नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास होता है। अहिंसक किसे कहते हैं भगवान बुद्ध ने संयुक्त निकाय में कहा है—

> यो च कायेन वाचाय मनसा च न हिंसति।
> सवे अहिंसको होति यो परं न विहिंसति॥

अर्थात् जो शरीर, वचन और मन से किसी की हिंसा नहीं करता तथा दूसरो को कष्ट नहीं पहुँचाता वही अहिंसक है। निर्वाण उस अवस्था का नाम है जिस अवस्था में सारे दुःखों का निरोध हो जाता है और भवाभव का संसरण रुक जाता है। पंच स्कन्ध के रहते हुए भी शरीर में तृष्णा का नाश 'सोपादिशेष निर्वाण है और स्कन्धों को भेद के साथ जब तृष्णा का विनाश होता है तो 'अनुपादिशेष महापरिनिर्वाण' प्राप्त होता है। चार आर्य सत्य हैं जो बौद्ध दर्शन के मूल आधार हैं। यही चार आर्य सत्य धर्मचक्र भी हैं। दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद ये चार आर्य सत्य हैं। इन्हीं चार आर्य सत्यों पर सर्वास्तिवाद, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और माध्यमिक चार दार्शनिक विभाग प्रचलित हुए। वर्तमान समय में भी चतुरार्य सत्य ही बौद्ध समाज में प्रचलित हैं। महात्मा बुद्ध ने कर्म की प्रधानता स्थापित करते हुए ईश्वर की गुलामी और आत्मा के नित्य और शाश्वत होने की मिथ्या धारणा को त्यागने का उपदेश दिया है।

> सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
> सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥

सारे पाप कर्मों का न करना, पुण्यों का सञ्चय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध करना—यह उनकी शिक्षा है। संसार अनादि है और इसके आरम्भ का पता नहीं चलता। संसार शाश्वत है या अशाश्वत, जीव और शरीर एक है अथवा भिन्न, आत्मा मरता है अथवा अमर है इन विभिन्न दृष्टिवादों अथवा मतवादों से दूर रहने की शिक्षा महात्मा बुद्ध ने दी है।

महात्मा बुद्ध के उपदेशों का प्रचार भारतवर्ष की सभी तत्कालीन जनभाषाओं में हुआ। मागधी, पालि, और अपभ्रंश भाषाओं में त्रिपिटक धम्मपद और निकाय-ग्रंथ लिखे गए। महात्मा बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् ईसवी पूर्व ५४३ के पश्चात् राजगृह में अजातशत्रु के संरक्षण में पहला संगायन हुआ। इसमें महात्मा बुद्ध के सम्पूर्ण वचनों का संकलन तीन पिटको में हुआ जिसे त्रिपिटक कहते हैं। दूसरा संगायन सौ वर्ष के उपरान्त वैशाली मे हुआ। तीसरा सगायन पाटलिपुत्र में महात्मा बुद्ध के निर्वाण के २१८ वर्ष के पश्चात् हुआ जिसमें सम्पूर्ण त्रिपिटक का संशोधन किया गया। इसी काल में अशोक ने अनेक विहारों और स्तूपों का निर्माण कराया। उसी समय धर्म प्रचार के लिए भिक्षुओ को विदेशों में भेजा गया। चौथा संगायन कश्मीर में महाराज कनिष्क की संरक्षता में हुआ। इस संगायन में कनिष्क ने त्रिपिटक का भाष्य कराया जिसका अनुवाद आज भी चीनी भाषा मे उपलब्ध है।

अजातशत्रु के पश्चात् अनेक निकायों का जन्म हुआ। दूसरी शताब्दी में ही बौद्धधर्म के भिक्षु स्थविर तथा महासांघिक नामक दो निकायों मे बँट गए और इन्हीं दो सम्प्रदायों मे से अनेक उपाशाखाओं का विकास हुआ।

हीनयान तथा महायान

हीनयान तथा महायान शब्दों का प्रयोग सर्व प्रथम महायान सूत्रों में हुआ। इन शब्दों की तुलनात्मक व्याख्या अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुंडरीकसूत्र, लंकावतारसूत्र आदि के अतिरिक्त आचार्य नागार्जुन और असङ्ग आदि के ग्रन्थों में मिलती है। 'महायान' से तात्पर्य प्रशस्त, वृहत्, गम्भीर, उत्तम और आध्यात्मिक मार्ग से है। 'हीनयान' का अभिप्राय तुच्छ, लघु, संकुचित, निम्नस्तरीय तथा प्रारम्भिक धर्मपथ है। यदि हीनयान दूध के समान है तो महायान नवनीत के समान। पहला साधारण लोगों के लिए है तो दूसरा विकसित बुद्धिवालो के लिए। महायान के अभ्युदय की शास्त्रीय परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितने प्राचीन स्वयं बुद्ध। भगवान बुद्ध ने सारनाथ के निकट 'मृगदाव' में प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन द्वारा हीनयान की देशना की थी। इसके अतिरिक्त निर्वाण-प्राप्ति के सोलह वर्ष पूर्व उन्होंने राजगृह के निकट बोधिसत्वों की सभा मे महायान का उपदेश दिया था। आचार्य नागार्जुन के अनुसार बुद्ध ने दो प्रकार के उपदेश दिए—गुह्य और व्यक्त। व्यक्त उपदेश हीनयान और गुह्य उपदेश महायान थे। ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध साहित्य, पालित्रिपिटक आदि में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जो उपरोक्त कथन को पुष्ट कर सके। अधिकांश विद्वानों का मत है कि महायान अभ्युदय का सम्बन्ध नागार्जुन से है जो ईसा की पहली अथवा दूसरी शताब्दी में हुए थे। निकायों में महायान और बौद्ध धर्म के ५०० वर्षों का विकास संग्रहीत है। प्रज्ञापारमितानय अथवा महायान का उदय उत्तर पश्चिम में न होकर दक्षिण भारत में हुआ।

बुद्ध के निर्वाण के बाद पहली शताब्दी में वैशाली में बौद्ध संगति (सभा) में बौद्ध मतावलम्बी बुद्धशासन और भिक्षु-संघ दो निकायों में विभक्त हो गये थे। इनका ही

नाम क्रमशः स्थविरवाद और महासांघिक पड़ा। पहला कट्टर और रूढ़िवादी तथा दूसरा लोकतांत्रिक, उदार और आदर्शवादी था। महासांघिक विचारधारा से ही महायान शाखा का विकास हुआ होगा। ऐसा अनुमान है कि चौथी शताब्दी में महासांघिकों से लोकोत्तर-वादी, फिर लोकोत्तरवादी से वैतुल्यक की शाखा और इससे महायान शाखा का विकास हुआ होगा। ये लोग यह मानते थे कि बुद्ध का जन्म मनोमय है। उनकी सभी क्रियायें लोकोत्तर हैं। इनके कई जन्म होते हैं। इनका हृदय करुणा से ओत-प्रोत है।

ब्राह्मी अभिलेखों से पता चलता है कि महायान का विकास श्री पर्वत पर हुआ।

महायान सूत्रों का नाम प्रज्ञापारमिता सूत्र है जो प्रथम शताब्दी ई० पू० का है। इन्हीं सूत्रों का विकास नागार्जुन ने किया।

महायान की विशेषताएँ :—

१. बुद्धों की विपुल संख्या और उनकी लोकोत्तर सत्ता।
२. बुद्धों के प्रति श्रद्धा और भक्ति और बुद्धमूर्ति की उपासना।
३. बोधिसत्व का आदर्श—सामर्थ्य और उनकी अगणित संख्या।
४. बोधिसत्वचर्या के रूप में बोधिचित्त (महाकरुणा) योग, परिमिताओं आदि का विधान।
५. पुद्गल शून्यता के साथ-साथ धर्म शून्यता।
६. बुद्धों और बोधिसत्वों के साथ अनेक देवी देवताओं की उपासना।
७. महायान सूत्रों का पारायण।
८. सूत्रों, शास्त्रों, तथा भाष्यों की रचना।
९. दार्शनिक चिंतन।
१०. बौद्धेतर विचारों का खण्डन।

इस धर्म का प्रज्ञापारमिता साहित्य अत्यन्त विशाल है। महायान सूत्रों में नौ धर्म विख्यात हैं। ये नौ महायान सूत्र हैं। ललितविस्तर, लङ्कावतार, अष्टसाहस्रिका, समाधिराज, सद्धर्मपुण्डरीक, गण्डव्यूह, दशभूमिक, सुवर्णभास, और तथागतगुह्यक सूत्र।

महायान में त्रिविध दार्शनिक परम्परायें हैं।[1]

१—माध्यमिक दर्शन (नागार्जुन)—शून्यवादी।
२—विज्ञानवाद दर्शन—(मैत्रेयनाथ)।
३—तर्कशास्त्रीय परम्परा—दिङ्नाग की परम्परा—न्याय और तर्कशास्त्र)

बौद्ध धर्म ने अनात्मवाद की चरम अभिव्यक्ति शून्यवाद में की। नागार्जुन के शून्यवाद ने भारतीय चिन्तनधारा में एक नवीन क्रान्ति ही उपस्थित कर दी। परवर्ती काल में बौद्धों के वज्रयान और सहजयान सम्प्रदायों की प्रतिक्रिया नाथपंथियों में दिखलाई

१—बौद्ध-दर्शन तथा साहित्य—भिक्षुधर्म रक्षित।

पड़ती है। बौद्धधर्म की महायान शाखा का 'मंत्रयान' मत ही 'वज्रयान' कहलाता है। कर्म को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने के लिए महायान शाखा ने धर्म का सरलीकरण किया। प्रारम्भ में वज्रयान में मन्त्र, मुद्रा, मण्डल तथा अभिषेक पर ही बल दिया जाता रहा। बाद में पञ्च मकारों की योजना हुई। यद्यपि इन पंच मकारो की व्याख्या विभिन्न रूपों में प्रस्तुत की गई। जैसे ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्रदल कमल से निकलने वाला अमृत ही मद्य है, ज्ञानरूपी खड्ग से पाप और पुण्य को काटना अथवा वाणी का सेवन करना मांसाहार है, इड़ा और पिंगला नाड़ियो में प्रवाहित होने वाला श्वास-प्रश्वास ही मत्स्य है, सत्संग-सेवन ही मुद्रा है तथा सुषुम्ना और प्राण का संगम ही मैथुन है। इन्हीं बातों को प्रतीकात्मक शब्दों में योगिनीतंत्र, कुलार्णवतन्त्र, विजयतन्त्र, मेरुतन्त्र, आगमसार आदि ग्रन्थों में उपस्थित किया गया है। सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय पर वज्रयान या सहजयान शाखा का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। सहजिया सम्प्रदाय की सहजावस्था, निर्वाण, महासुख और परमपद के नामों से अभिहित की गयी है। गुरु की कृपा से ही इस स्थिति का बोध होता है। गुरु में प्रज्ञा और उपाय दोनों का युगनद्ध रूप मिलता है। शून्यता और करुणा के अभेद को ही 'महामुद्रा' कहा गया है। शैव तथा शाक्तों का मैथुन या कामकला और वज्रयानियों का युगनद्ध मिलता-जुलता है। इस प्रकार सहजयानियों ने मध्यम मार्ग द्वारा महासुख की प्राप्ति को सम्भव कहा है। तांत्रिक शब्दावली में यही प्रज्ञा—ललना तथा चन्द्र है और उपाय—रसना तथा सूर्य है। ललना और रसना के मध्य में अवधूती मार्ग है। इस अवधूती मार्ग का प्रचार पूर्व मध्यकाल में हुआ है। सहजयान में अवधूती, चाण्डाली, डोंबी शक्तियों की कल्पना की गई है। सहजयान में राग के परिशोधन के लिए ही मुद्राओं का विधान किया गया है।

यद्यपि सहजयान सम्प्रदाय परवर्तीकाल में व्यभिचार के गर्त में गिर गया था परन्तु इनमें बहुत से ऐसे सफल साधक भी विद्यमान थे जो साधना के सच्चे स्वरूप का बोध रखते थे। वे सिद्ध कहे जाते थे। ऐसे चौरासी सिद्धों का वर्णन इस सम्प्रदाय में है। इन सिद्धों का कहना था कि सहज सिद्धि, सहज साधना द्वारा उपलब्ध हो सकती है। यह साधना ऐसी होनी चाहिए कि चित्त क्षुब्ध न हो।[1] इन साधकों ने वज्रयान तथा मंत्रयान की बाह्य साधनाओं की उपेक्षा करते हुए मानसिक शक्तियों के विकास की ओर ध्यान दिया। वज्र शब्द का अभिप्राय उन्होंने 'प्रज्ञा' माना और उससे ही महासुख प्राप्त करने का प्रयत्न किया। वज्रयान तथा सहजयान दोनों का लक्ष्य महासुख, पूर्णआनन्द अथवा समरस ही है। इसी को इन्होंने सहज रूप में ग्रहण किया। इस सम्प्रदाय के सरहपा आदि सिद्धों ने प्रचलित वैष्णवों और शैव पद्धतियों की कटु आलोचना की और सुरति-विलास साधना का प्रचार किया। वज्रयानियों ने कमल और कुलिश के संयोग को साधना का आधार माना। कमल (स्त्रीन्द्रिय) और कुलिश (पुरुषेन्द्रिय) के संयोग से जो साधना की जाती थी वह 'सुरति-विलास' नाम से अभिहित की गई। यह सुरति विलास जब वासना की वृद्धि का

१. तथातथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु नैव सिद्धिः कदाचन ॥ प्रज्ञोपाय-विनिश्चय-सिद्धिः,—श्लोक ४०, पृ० २४

का साधन बना तो वज्रयानियों का पतन हो गया। वस्तुतः यह सुरति-विलास 'रागमार्ग' है। यही रागमार्ग 'योगिनी मार्ग' था जो वैराग्यमार्ग के सर्वथा विपरीत था।[1] इन सिद्धों ने चित्तशुद्धि के द्वारा 'सहज' को जानने का प्रयास किया। यह सहज ही सहजयानियों के द्वारा बोहि (बोधि), 'जिणरअण' (जिनरत्न), 'महासुह' (महासुख) 'अणुत्तर' (अनुत्तर), 'जिनउर' (जिनपुर) और धाम जैसे नामों से अभिहित किया गया है। यह 'सहज' निर्वाण है जो निषेधार्थक नहीं है। शून्य शब्द भी निषेधवाची नहीं है। सत् और असत् से परे 'सहज' बोध होना ही निर्वाण है।

बद्धचित्त द्वारा बंधन और मुक्तचित्त द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है। चित्त में अनेकानेक सकल्प उत्पन्न होते रहते हैं तो चित्त अधकार में पड़ा रहता है परन्तु जब वही सभी कल्पनाओं से मुक्त हो जाता है तो प्रकाशमय होकर रागादि से मुक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का प्रश्न भी समाप्त हो जाता है और निर्वाण प्राप्त हो जाता है।[1] 'खसम' सर्व रूप का पर्याय है। 'ख' का अर्थ आकाश और सम का अर्थ समान है शून्य स्वभाव ग्रहण करना और अ-मन होना ही सहज रूप है। 'बोधिचर्यावतार' और 'दोहाकोश' आदि में अनेक उद्धरणों द्वारा इसी स्थिति का वर्णन मिलता है।

बौद्धधर्म और बुद्ध-पूजा

यद्यपि महात्मा बुद्ध बाह्य कर्मकांड और पूजा-पाठ में विश्वास नहीं करते थे और अपने शिष्यों से आन्तरिक शुद्धि पर ही बल देते रहे। उनका यही उपदेश था कि वन, पर्वत, उद्यान, वृक्ष, चैत्य तथा मूर्तिपूजा और देवताओं की शरण में जाने से किसी प्रकार की मगल-कामना करना व्यर्थ है, आराधना से मुक्ति नहीं मिलती, केवल कुशल चेतना द्वारा उपार्जित आत्म-शक्ति से ही अमृत-तत्व प्राप्त होगा, परन्तु तथागत के प्रति श्रद्धा रखने वाले उनके जीवन काल मे ही उनके लिए पत्र, पुष्प, माला, गन्धादि लेकर उनके समक्ष जाते थे और उनके श्रीचरणों पर रखकर अभिवादन एवं प्रदक्षिणा करके बैठ जाते थे। इन पुष्पों का ढेर लग जाता था और कुटी के बाहर इन्हें फेकने से गंध उत्पन्न होती थी। इसीलिए इनकी कुटी 'गंधकुटी' कहलाती थी। उनके जीवन काल में इस प्रकार की परिशुद्ध श्रद्धा अपने शास्ता के प्रति श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने के भव्य, निर्मल और शुद्ध भावना को प्रकट करती थी। उनके महापरिनिर्वाण के उपरात उनकी अस्थियों पर स्तूपों का निर्माण हुआ। स्वयं भगवान बुद्ध ने सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, बाहिय-दारु-चीरिय आदि स्थविरों के निर्वाण के पश्चात् उनके गुणों के स्मरण हेतु स्तूपों का निर्माण करवाया था। स्वयं बुद्ध ने तथागत, प्रत्येक बुद्ध, श्रावक और चक्रवर्ती राजा की अस्थियों पर स्तूप बनाकर उनके गुणों का स्मरण करने का जो विधान बताया था उसके ही अनुसार उनके महापरिनिर्वाण

---

1. उत्तरी भारत की संत-परंपरा—पृ० ६८

के उपरांत उनकी अस्थियों पर स्तूपों का निर्माण हुआ। अशोक के काल तक ऐसे स्तूपों की संख्या ८४ हजार तक पहुँच गयी थी।

मूर्तियों का निर्माण

प्राचीन पालि ग्रन्थों में तो मूर्तिपूजा का कोई उल्लेख नहीं मिलता। कनिष्क के पूर्व तक अस्थि, त्रिरत्न, धर्मचक्र आदि रूपों में उपासना होती रही परन्तु कनिष्क के समय में तथागत की बत्तीस महापुरुष-लक्षणों एवं अस्सी अनुव्यञ्जनों से युक्त प्रभामंडल सहित मूर्ति का निर्माण प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे बौद्धधर्म में मूर्ति-पूजा का प्राबल्य होने लगा और उसे शास्त्रानुमोदित करने के लिए अनेक पूजा-प्रयोजनों और प्रमाणों से संपृक्त किया गया। 'मिलिन्दपञ्ह' नामक ग्रन्थ में, जो राजा मिलिन्द और भदन्त नागसेन के प्रश्नोत्तर के रूप मे लिखा गया है, महापरिनिर्वाण प्राप्त करने वाले मुक्त महापुरुषों की पूजा के औचित्य पर प्रकाश डाला गया है। यथोक्त विश्वास के साथ संसार के प्रायः सभी बौद्ध मतावलंबी बुद्धप्रतिमा की पूजा करते हैं और आराधना को परिशुद्धि का साधन मानते हैं। तिब्बती बौद्ध तो उसे मंजूषा में रख कर कमर में लटकाये रहते हैं और 'ओम मणि पद्मे हुँ' का जप करते रहते हैं। घी के दीप मन्दिरों में रात-दिन जला करते हैं। नैपाली बौद्ध अक्षत, पैसा, जल आदि से पूजा करते हैं और वर्मा के लोग सोना चढ़ाते हैं। चीनी लोग विशेष प्रकार की घंटी बजाते हैं, और जापानी डमरू बजाकर पूजा करते हैं। इसी प्रकार कोरिया, मंगोलिया, खम्, लद्दाख, लाहुल आदि स्थानों में बुद्धप्रतिमा की पूजा की जाती है।

> 'वन्दामि चेतिय सब्ब, सब्ब-ठानेसु पतिट्ठित।
> सारीरिक-धातु-महाबोधि, बुद्ध-रूप सकलं सदा ॥'

'मैं सब स्थानों में प्रतिष्ठित, सारे चैत्य, शारीरिक धातु (अस्थि), महाबोधि और संपूर्ण बुद्ध मूर्ति को सदा नमस्कार करता हूँ।' इसी भाव से पूजा का प्रचार है।

इस प्रकार बौद्ध धर्म जो प्रारम्भ में अनात्मवादी और कर्मकांडविरोधी था वही परवर्ती काल में उपासनापरक हो गया। बारहवी शताब्दी तक इस धर्म का व्यापक प्रसार सारे उत्तर भारत में हो गया था जिसमें विहार, उज्जैन, श्रावस्ती, मथुरा, वृन्दावन, राजगृह, कुशीनगर और काशी आदि स्थल इस धर्म के सांस्कृतिक केन्द्र थे।

जिस प्रकार वैष्णव और शैव सम्प्रदायों के मन्दिरों में विष्णु तथा शिव की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित थीं तथा मन्दिरों की दीवारों पर उनके चरित्र के चित्रों का अंकन हुआ था। उसी प्रकार गौतम बुद्ध के प्रति श्रद्धा तथा निष्ठा प्रकट करने के लिए बौद्ध मन्दिरों में उनकी मूर्तियाँ स्थापित की गई और उनकी दीवारों पर चित्रो का अंकन किया जाने लगा। उन मन्दिरों के कारण वे स्थल परवर्ती काल में बौद्ध तीर्थ बन गये। प्रत्येक देश के बौद्ध मतावलम्बी उन तीर्थों की यात्रा करते हैं। उनकी यह तीर्थ-यात्रा उसी प्रकार उनकी श्रद्धा एवं निष्ठा की प्रतीक है जिस प्रकार वैष्णवों अथवा शैवों की तीर्थ यात्रा।

जैन धर्म

वैदिक धर्म के समान ही जैन धर्म के विकास का भी इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। इस धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ हैं। जैन सम्प्रदाय मे ६३ महापुरुष हुए हैं जिन्हें शलाका पुरुष अथवा गणनीय पुरुष कहते हैं। इनमें २४ तीर्थंकर १२ चक्रवर्ती ६ बल-भद्र, ६ वासुदेव तथा ६ प्रतिवासुदेव हैं।[1] जैन पुराणो में ऋषभदेव के जीवन, तपस्चर्या और कैवल्यज्ञान के सवध में अनेक कथाओं का विवरण मिलता है। वैदिक साहित्य के स्वयभू मनु की पाँचवी पीढ़ी में इनकी गणना की जाती है। वे नग्न रहते थे और घोर तपस्चर्या द्वारा उन्होंने कैवल्य की प्राप्ति की थी। इनके पिता का नाम 'नाभि' और माता का नाम 'मरु' देवी था। उन्होंने कर्नाटक प्रदेश तक भ्रमण किया और कुटलाचल पर्वत पर बाँस की रगड़ से उत्पन्न अग्नि मे अपने शरीर को भस्म कर डाला। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से आख्यान जैन पुराणों में मिलते हैं। ऋग्वेद के केशी, वातरसना आदि शब्दों के आधार पर ऋषभदेव के सबधों का सूत्र ऋग्वैदिक काल से जोड़ा जाता है। वेदकालीन इस ऋषभनाथ से तेईस तीर्थंकरों की परम्परा में ४ प्रमुख तीर्थंकरो का उल्लेख है। २१वें तीर्थंकर 'नमिनाथ' मिथिला के राजा थे जो निष्णात साधक एव विदेह (जीवन-मुक्त) थे। शौरीपुर के यादव राजा अंधक वृष्णी के ज्येष्ठ पुत्र समुद्रविजय से २२वे तीर्थंकर 'नेमिनाथ' उत्पन्न हुए। कहा जाता है कि वे वासुदेव कृष्ण के चचेरे भाई थे। इन्हीं के द्वारा श्रमण परम्परा स्थापित हुई। २३वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ बनारस के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। इनका निर्वाण भगवान महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व हो गया। अंतिम तीर्थंकर 'भगवान महावीर' हैं। इनका जन्म वैशाली के समीप वासुकुण्ड नामक स्थान में हुआ था। जैन आगमों के अनुसार उनके पिता कुण्डपुर के राजा सिद्धार्थ थे। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में इनके जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। दिगम्बरों के अनुसार वे अविवाहित रहे और ३० वर्ष की अवस्था में प्रव्रजित हुए। श्वेताम्बरो के अनुसार उनका विवाह हुआ था और उन्हे एक पुत्री भी उत्पन्न हुई थी। बारह वर्ष तक साधना-रत रहने के उपरान्त उन्हें ऋजुकूला नदी के तट पर केवल ज्ञान प्राप्त हुआ और तीस वर्षों तक वे देशाटन करते रहे। इन्होने पावा नामक स्थान में ७२ वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान महावीर ने अपने शिष्यो को चार भागों मे विभाजित किया था मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका। प्रथम दो परिव्राजक थे और अंतिम दो गृहस्थ। यही उनका चतुर्विध-संघ था। इन्होंने धर्म का मूलाधार 'अहिंसा' बताया और अहिंसा, असूपा, अचौर्य, अमैथुन तथा अपरिग्रह इन पाँच व्रतों को धारण करने का उपदेश दिया। मुनियों के लिए इन्होंने महाव्रत और गृहस्थों के लिए अणुव्रत का विधान किया। उनके द्वारा उपदिष्ट तत्वज्ञान संक्षेप में इस प्रकार हैं।

1—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—डा० हीरालाल जैन—पृ० १०, वही—पृ० २०

जड़ और चेतन (जीव और अजीव) परस्पर सम्बद्ध हैं। कर्म-सम्बन्धों के आधार पर चेतन की मन-वचन और काया सम्बन्धी क्रियायें होती हैं। इसे ही 'कर्माश्रव' कहते हैं। संयम और साधना से ही कर्म-बन्धनों को काटा जा सकता है और 'कर्मास्रव' की परम्परा रोकी जा सकती है। चेतन का लक्ष्य है कि जड़ से विमुक्त होकर अनन्त ज्ञानयुक्त दर्शनात्मक स्वरूप को प्राप्त करे। इसी अवस्था में पहुँच कर निर्वाण प्राप्त होता है और जन्म-मृत्यु की परम्परा का विच्छेद होकर मुक्ति मिलती है।

महावीर का निर्वाण ५२७ ई० पूर्व हुआ। जैन धर्मावलंबी इस निर्वाण दिवस को दीपमालिका उत्सव द्वारा मनाते हैं। उनके निर्वाण के उपरान्त उनके तीन शिष्यों—गौतम, सुधर्म और जंबू ने जैन संघ के नायकत्व का भार ग्रहण किया। परन्तु इनकी मृत्यु के कुछ ही कालोपरांत श्वेताम्बर और दिगम्बर समूहों में मत वैभिन्य के परिणाम स्वरूप यह धर्म अनेक शाखाओ में विभाजित हो गया। 'उत्तराध्ययन' सूत्र के 'केसी-गोयम-सवाद' में इसकी झलक मिलती है। दिगम्बरों में तीन केवली, पाँच श्रुतकेवली, एग्यारह दशपूर्वी, पाँच एकादश अंगधारी तथा चार एकांगधारी आचार्यों की परम्परा मिलती है। उसी प्रकार श्वेताम्बरों में स्थान-भेद और गोत्र-भेद के आधार पर उच्चा-नगरी, विद्याधर, बज्री एवं माध्यमिका नाम की चार शाखाएँ तथा बह्मलीन, वस्थालीन, वाणिज्य और पराहवाहणक नामक चार कुलों का विकास हुआ। इसके बाद इन्हीं शाखाओं से अनेक उपशाखाओं का उद्भव हुआ। 'श्रवणवेल गोला' से प्राप्त हुए ५०० शिलालेखों से पता चलता है कि मूलधर्म चार शाखाओं सेन, नदि, देव और सिंह में विभाजित था। इसके अतिरिक्त अनेक संघों, गणों और गच्छों आदि का भी उल्लेख मिलता है। स्वयं महावीर ने अपने जीवन-काल में इस धर्म का मगध, विदेह, अंग, वंग, कोशल और काशी में प्रचार एवं विस्तार किया था। नन्द राजाओं ने जैनधर्म स्वीकार कर लिया था। ई० पू० १५० में नन्द राज ने जैन प्रतिमा की स्थापना की थी। कलिंग में जैनधर्म विहार से ही गया था। मानभूमि के ब्राह्मणों में जैन मताव-लम्बी 'पच्छिम ब्राह्मणों' का कुल आज भी विद्यमान है। ये अपने को आर्यवंशज मानते हैं। समस्त मगध प्रदेश में जैन पुरातत्व की सामग्री बिखरी हुई है। पावा, राजगिरि, पार्श्वनाथ, मानभूमि और सिंहभूमि के विभिन्न स्थानों में जैन मंदिर और मूर्तियाँ उप-लब्ध होती हैं जो ११वीं शताब्दी से पूर्व की हैं। मथुरा की खुदाई से जो सामग्री उप-लब्ध हुई है उससे पता चलता है कि ई० पूर्व कुछ शताब्दियों से दशवीं शताब्दी तक मथुरा जैन धर्म का प्रधान केन्द्र रहा। मथुरा के स्तूपों में कुछ को तो लोग महावीर के पूर्व का निर्मित हुआ मानते हैं।[1] कुछ जीर्ण स्तूपों का उद्धार अकबर के शासनकाल में टोडरमल ने कराया है। गुप्तों के काल में अनेक प्रतिमाओं और स्तम्भो का निर्माण कुमार गुप्त और स्कन्दगुप्त द्वारा कराया गया है। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के काल में यह धर्म दक्षिण भारत में फैला। मैसूर प्रान्त में यह कथा प्रचलित है कि श्रवणवेल

१—जैन धर्म का उद्गम और विकास—(भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान नामक पुस्तक) लेखक—डा० हीरा लाल जैन—पृ० १४

गोला की चन्द्रगिरि पहाडी की गुफा में प्रसिद्ध जैन आचार्य भद्रबाहु ने तपस्या की थी। कई ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि तमिल प्रदेशों मे जैन धर्म का प्रवेश ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे हो गया था। सुप्रसिद्ध राजवंश कदम्ब, गंग, राष्ट्रकूट, चालुक्य और होयसल के नरेशों ने जैन धर्म को सरक्षण प्रदान किया था। उन्होंने जैन कवियों को प्रोत्साहित कर साहित्य सृजन कराया तथा जैन मंदिरों की स्थापना कर शैल स्तम्भों का भी निर्माण कराया। ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी मे ही गुजरात जैन धर्म का केन्द्र बन गया था। गिरनार और काठियावाड़ की गुफाओं, जूनागढ की प्राचीन गुफाओं और क्षत्रप वंशी राजाओ के शिलालेखो, स्वस्तिक चिह्नों तथा प्रतिमाओं से पता चलता है कि काठियावाड़ से लेकर गुजरात और तमिलनाड प्रदेशो तक इस धर्म का व्यापक प्रसार था। गुजरात मे महावीर के निर्वाण के ९८० वर्ष उपरान्त 'क्षमाश्रमण देवर्द्धिगणि' की अध्यक्षता में जैन मुनियो का विशाल सम्मेलन हुआ था जिनमें जैन आगमों के ४५ ग्रंथों का सकलन किया गया। ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रामाणिक ग्रंथ माने जाते हैं।

जैन सघों में जो भेदोपभेद, सम्प्रदाय व गण गच्छादि रूप, समय-समय पर उत्पन्न हुए उनसे जैन धर्म की मान्यताओ मे कोई विशेष आचारगत परिवर्तन नहीं हुआ। सातवीं और आठवीं शताब्दी में आकर दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायो के वस्त्र, कोपीन चिह्न और मूर्तियों में अवश्य अनेक भेद प्रचलित हुए। पृथक-पृथक चैत्यों का निर्माण भी हुआ। जैन श्रमण अब तक एक स्थान पर नहीं रहते थे। धीरे-धीरे वे मठो में निवास करने लगे। इन मठों में जैन मत से सम्बन्धित साहित्य का संकलन भी होने लगा। १५वीं और १६वीं शताब्दी में जैन सम्प्रदाय में एक नवीन विचार का जन्म हुआ जो मूर्ति पूजा का विरोधी था। यह सम्प्रदाय 'ढूढिया' सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने मन्दिरों के स्थान पर स्थानकों का निर्माण कराया। इसी सम्प्रदाय मे आगे चलकर 'तेरापंथ' की स्थापना हुई जो अणुव्रती है। दिगम्बर सम्प्रदाय में तारणपन्थी भी मूर्तिपूजा के विरोधी हैं।

जैन दर्शन

जैन दर्शन का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है। विश्व के मूल में जीव और अजीव दो मुख्य तत्त्व हैं। इनमें परस्पर सम्बन्ध है। सम्पर्क दशा में जीव अनेक बन्धनों से आबद्ध होता रहता है। यदि जीव को इस सम्पर्क से मुक्त कर दिया जाय तो जीव शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाय। जैन दर्शन के सात तत्व हैं इनके नाम हैं जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव और अजीव का निरूपण तत्व ज्ञान है, आस्रव और बंध का विवेचन कर्म-सिद्धान्त है, संवर और निर्जरा आचार है तथा मोक्ष समस्त धार्मिक क्रिया का अन्तिम लक्ष्य है।

... का मुख्य लक्षण उपयोग है जो दो भागों में विभा-

सम्बन्धी व्यवस्थित

ज्ञान। जैन सिद्धान्त में जीव के दर्शन का अर्थ होता है आत्म चेतना। सत्ता का अनुभव होना दर्शन है और बाह्य पदार्थों को जानने तथा समझने की शक्ति का नाम ज्ञान है। इस प्रकार जीव का निश्चित लक्षण चैतन्य है। जीव पञ्च इन्द्रियो, तीन बलों (मन, वचन, काय) तथा श्वास एवं आयु इन दस प्राण-लक्षणों से युक्त है। जीव में कर्तृत्त्व शक्ति भी है और उपभोग सामर्थ्य भी। जीव अमूर्त होते हुए भी जिस शरीर में रहता है उसके समस्त अंग-प्रत्यंगों में वह व्याप्त रहता है। जीवो की संख्या अनन्त है।

जैन-दर्शन मे जीवों को दो भागों में विभाजित किया गया है। साधारण और प्रत्येक। उसी प्रकार जीवों के शरीरों को भी सूक्ष्म और स्थूल दो प्रकार से बाँटा गया है। समस्त संसारी जीवो की चार गतियाँ हैं। मनुष्य-गति, तिर्यक-गति, देव-गति और नरक-गति। इसके अतिरिक्त एक आहारक शरीर की भी कल्पना की गई है। अजीव द्रव्यों के पाँच भाग हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। पुद्गल रूप दृश्य है और अन्य अदृश्य। धर्म दूसरा अजीव द्रव्य है। यह समस्त लोक में व्याप्त है। जिसके कारण जीव और पुद्गल एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करते हैं। अधर्म द्रव्य चलायमान पदार्थ को रोकते हैं। आकाश द्रव्य का काम है कि जीव आदि अन्य द्रव्यों को अवकाश प्रदान करे। पाँचवाँ अजीव द्रव्य काल है इसी के द्वारा पदार्थों में कालकृत परिवर्तन होता है। जैन-दर्शन के अनुसार समस्त सत्तात्मक पदार्थों का निर्माण जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामक छः मूल द्रव्यों से हुआ है। द्रव्य की अपनी अलग-अलग सत्ता है। इन सत्तात्मक द्रव्यों मे नित्य परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक द्रव्य गुणों और पदार्थों से युक्त है। गुण स्थायी हैं और पदार्थ परिवर्तनशील।

आश्रय और बंध तत्त्व हैं जिनके द्वारा जैन कर्म-सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। इसे जैन मनोविज्ञान कह सकते हैं। आत्मा का पुद्गल परमाणुओं से सम्बन्ध होना आश्रव है। आत्मा के संसर्ग मे आनेवाले परमाणुओं की संज्ञा कर्म है। कर्म परमाणुओं का आत्म-प्रदेशो के साथ सम्बन्ध होना ही कर्मबन्ध है। जैन-कर्म-सिद्धान्त से यह स्पष्ट होता है कि वह नियतिवादी न होकर स्वच्छन्दतावादी है। कर्म की अनेक प्रवृत्तियाँ है जिनके प्रकृतियों का विशद विवेचन जैन ग्रंथों में मिलता है। संक्षेप में जैन-कर्म सिद्धांत का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है।

कर्मबन्ध का कारण जीव की कषायात्मक प्रवृत्तियाँ हैं। पाप और पुण्य दोनों ही प्रवृत्तियाँ कर्मबन्ध उत्पन्न करतो हैं। दोनों से मुक्त होने पर जीव की शुद्धावस्था होती है। कर्म ही प्रधान है और कर्मानुसार व्यक्ति को फल प्राप्त होता है। कर्म का कर्ता मनुष्य ही है। जैन दार्शनिको के अनुसार कर्तृत्त्व से ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य स्वयं अपने कर्मो का कर्त्ता एवं भोक्ता है, जीवों में ही संसार से निकलकर मोक्ष प्राप्त कर लेने की शक्ति है, जो इस शक्ति का प्रयोग योग्यतापूर्वक करते हैं वे भव्य हैं और जो सामर्थ्यहीन है वे अभव्य। इस प्रकार कर्म की प्रधानता जैन-दर्शन की एक महती उपलब्धि है। जैन-दृष्टि से जीव को शरीर से भिन्न एक शाश्वत तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है और उसका लक्ष्य मोक्ष माना गया है। प्रत्यक्ष सुखदायी पदार्थों और

प्रवृत्तियो को महत्व न देते हुए परोक्ष मोक्ष-सुख पर बल देने का कारण यह है कि सांसारिक सुख चिरस्थायी न होकर अल्पकालिक होता है सांसारिक तृष्णा को त्यागे बिना सुख की प्राप्ति सम्भव नही है। मोक्ष की उपलब्धि शुद्ध दर्शन, शुद्ध ज्ञान, और शुद्ध चरित्र से होती है।

जैन दर्शन में जीव जैसे चेतन द्रव्य के लिए महान चेतन द्रव्य 'ईश्वर' की कोई कल्पना नहीं दिखाई पड़ती। जीव और ईश्वर की दोहरी कल्पना के स्थान पर जीव को ही अनादिकाल से संसार में विद्यमान रहने की कल्पना कर ली गयी है। वैदिक और औपनिषदिक ईश्वर की भाँति जैन-धर्म में ईश्वरीय सत्ता का अभाव होने के कारण कुछ लोग जैन-धर्म को नास्तिक मत मानते हैं। जैन सिद्धात के अनुसार जीव की शाश्वत और भिन्न सत्ता है जो शरीर से भिन्न है। उसका अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष है। इन मान्यताओं के कारण जैन-धर्म नास्तिक नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त अवस्था भेद से आत्मा की शक्ति के तीन रूप भी मिलते हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। परमात्मा आत्मा की ही विशिष्ट स्थिति का नाम है। जैन कवियों ने आत्मा के प्रसंग में जो वर्णन किया है उससे ऐसा लगता मानो वे वेदान्त के आत्मा और आत्मतत्व का ही प्रतिपादन कर रहे हों। उनके अनुसार आत्मा शरीर में रहते हुए भी शरीर से भिन्न है, उसका न कोई रूप है न वर्ण है और न आकार। आत्मा न तरुण है, न वृद्ध; न पण्डित है, न ज्ञानी, न श्वेतांबर है और न दिगम्बर। वह शाश्वत आनन्दमय और निरजन है। शरीर का सँवारना निरर्थक है। आत्म स्वरूप को जानने के लिए बाह्य आचारों की आवश्यकता नहीं है। सम्यक्ज्ञान और शुद्ध चित्त से ही उसका बोध हो सकता है। इन वर्णनों से उनके विचारों में वैदिक आत्मतत्व का निरूपण ही झलकता है। उसी प्रकार शिव और शक्ति के मिलन से द्वैत भाव की समाप्ति और सामरस्य की उपलब्धि आदि का विस्तृत वर्णन इस बात के प्रमाण हैं कि जैन-धर्म में वर्णित आत्म-तत्व एवं शैव तथा वैष्णव मत की अनेक धारणाएँ मूलतः एक ही हैं।[1]

"सिव विण्णु सत्ति ण वावरइ, सिवु पुणु सत्ति विहीणु।
दोहि मि जाणहि सयलु जगु, बुज्झइ मोह विलीणु॥

मोक्ष

जैन धर्म में आत्मा ही परमात्मा माना गया है। जीव अपने स्वरूप को भूलकर कर्म-बन्धन के कारण भटकता रहता है। जीव को बन्धन में फँसाने वाले आठ कर्म हैं—

१—ण वि गोरउ ण वि सामलउ ण वि तुहु एक्कु वि वण्णु।
ण वि तणु अंगउ थूलु, ण वि एहउ जाणि सवण्णु॥
वण्ण विहूणउ णाणमउ जो भावइ सब्भाउ।
संतु गिरजणु सो जि सिउ तहिं किज्जइ अणुराउ॥
—दोहापाहुण—।१० और १८।

(१) ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध (२) दर्शनावरण कर्म (३) मोहनीय कर्म (४) अन्तराय कर्म (५) वेदनीय कर्म (६) आयु कर्म (७) गोत्र कर्म (८) नामकर्म।

ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान-गुण को आच्छादित करके जीव के मति ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय-ज्ञान और केवल-ज्ञान को आवृत्त कर देता है। दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के चैतन्य गुण को ढँक देता है। मोहनीय कर्म जीव के रुचि और चरित्र में अविवेक जाग्रत कर विपरीत दोष उत्पन्न कर देता है। अन्तरायकर्म जीव के पराक्रम और पुरुषार्थ मे विघ्न-बाधा उत्पन्न करता है। वेदनीय कर्म दुःख और सुख रूप वेदना उत्पन्न करके जीव को नाना कर्मों मे लिप्त रखता है। आयु कर्म के उदय से जीव की देव, नरक, मनुष्य और तिर्यक गति में आयु का निर्धारण होता है। गोत्रकर्म से ऊँच-नीच परम्परा में जीवो का बँटवारा होता है। ज्ञानकर्म मानसिक विकारों को जन्म देता है। उपरोक्त कर्म बंधनों से जीव कषायात्मक होकर सांसारिक आसक्तियों और मायाचारों में लिप्त रहता है। जीव को इन कर्म बन्धनों से मुक्त करके विरक्ति परायण बनाने के लिए सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र नामक रत्नत्रय जैनधर्म के तीन अंग हैं। मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होने के लिए पहला पग सम्यग्दर्शन है। सच्ची धार्मिक दृष्टि श्रद्धावान होने पर उपलब्ध होती है। मिथ्यात्व के निवारण और जीव-ग्रन्थिभेद के लिए यह दृष्टि आवश्यक है। विपरीत, एकान्त, संशय, विनय और अज्ञान मिथ्यात्व के पाँच लक्षणों से मुक्त होने पर ही सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है। सम्यग्ज्ञान दूसरा सोपान है। सम्यग्दृष्टि उपलब्ध होने पर ज्ञानोपासना करनी पड़ती है। दर्शन आत्मा की सत्ता का भान कराता है और ज्ञान वाह्य पदार्थों का बोध उत्पन्न करता है। चैतन्य अवधान परपदार्थ ग्रहण के लिए विशेष इन्द्रियों की मानसिक वृत्तियो को जाग्रत करता है। चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन नामक चार दर्शनों से ज्ञेय पदार्थों को ग्रहण किया जाता है। आत्मावधान रूप दर्शन के लिए ज्ञान के पाँच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-ज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान। उसी प्रकार ज्ञान के साधनों में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द चार प्रमाणों को भी न्याय दर्शन की ही भाँति जैनधर्म ने भी मान्यता प्रदान की है। ज्ञानोपलब्धि के प्रसंग में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों और निक्षेपों की प्रणाली जैनचार्यों ने ग्रहण करते हुए सम्यग्ज्ञान दृष्टि प्राप्त करने का प्रयत्न किया है।

नय-द्वय—जैन दर्शन में व्यवहारनय और निश्चय नय आत्मतत्व के मूल्यांकन की दो दृष्टियाँ हैं। व्यवहार नय के कारण जीव नाना प्रकार के कर्मों मे लिप्त रहता हैं परन्तु निश्चयनय से आत्मा सभी कर्मों से निर्लिप्त रहता है। व्यवहार नय अपूर्ण है परन्तु निश्चयनय पूर्ण सत्य का प्रतीक है। ज्ञान की उपलब्धि के लिए व्यवहार नय निश्चयनय का पूरक है। धर्म-साधना के लिए साधन रूप में व्यवहारनय की भी आवश्यकता है। तीसरा मोक्ष का सोपान सम्यक्-चरित्र है। हिंसा, प्रमाद, असत्य, अतिचार, कामादि दोषों से जीव की मुक्त के लिए अहिंसा, श्रावक धर्म, सत्यांणुव्रत, ब्रह्मचर्याणु व्रत, मैत्री आदि चार भावनाएँ, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, श्रावकों की विभिन्न प्रतिमाएँ तथा मुनिधर्म आदि का विशद विवेचन जैनधर्म में किया गया है।

संस्तारक प्रकीर्णक की गाथाओं में और देवेन्द्र स्तव प्रकीर्णक की गाथाओं में बत्तीस देवेन्द्रों के नाम, आवास, स्थिति, भवन, विमान, नगर, परिवार, श्वासोच्छ्वास, अवधिज्ञान आदि सम्बन्धी गाथाओं का उल्लेख मिलता है। श्रमण की मुक्ति के लिए मरण समाधि के चौदह द्वारो का विवेचन मिलता है।

जैनधर्म वैदिकधर्म से भिन्न रूप में विकसित हुआ है। जैन मतावलम्बी जैन साहित्य को वैदिक साहित्य से अधिक सुसस्कृत मानते हैं। इस कथन में अतिशयोक्ति होते हुए भी यह निर्विवाद है कि जैन-साहित्य अत्यन्त समृद्ध और शक्तिशाली है। वैदिक देवों के रूप और जैनों के आराध्य देवों के रूप मे मौलिक अन्तर है। वैदिक इन्द्रादि देवता क्रोध, राग, द्वेष आदि वृत्तियों से पूर्ण दिखाई पड़ते हैं जब कि जैनों के आराध्य मे इन वृत्तियों का अभाव है। वैदिक देवताओं में भय का प्राधान्य है और शक्ति की सम्पन्नता है वहाँ जैनों के आराध्य में अनुग्रह और निग्रह शक्ति तथा बीत-रागता की प्रधानता है। जैनों के भूदेव बीतराग मानव के रूप में कल्पित है जिनके जीवन मे कर्म का आधार तपश्चर्या, ध्यान, अहिंसा और अनशन है। जहाँ वैदिक देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञादिक कर्मो का एवं पशुबलि आदि देने का विधान है वहाँ जैन देवों को प्रसन्न करने की कोई बात नहीं दिखाई देती है। केवल भौतिक उन्नति के लिए जैनधम देवताओं की न तो कल्पना करता है और न तो उनके आराध्य मनुष्येतर रूप में ही कल्पित किए गए हैं आत्मिक उन्नति की ही आवश्यकता पर बल प्रदान करते हुए उन्होने वीतराग मानव की प्रतिष्ठा आराध्य देव के रूप में की है। जैन किसी देवता या ईश्वर को सृष्टि का निर्माता या नियन्ता नहीं मानते। जैनियों की दृष्टि मे सृष्टि अनादि है और उसका नियन्त्रण तथा सर्जन प्राणियों के कर्म से होता है। विश्व के मूल में एक तत्व की प्रधानता के प्रति जो वैदिक निष्ठा देखी जाती है उस विषय में जैनों का स्पष्ट मत है कि विश्व के मूल में एक तत्व के स्थान पर नाना तत्वों का प्राधान्य है। वैदिक धर्म में जहाँ ब्राह्मण-काल में यज्ञ विधान आदि के लिए पुरोहित वर्ग का एकाधिपत्य था और किसी भी यज्ञादिक अनुष्ठान के लिए उनकी अनिवार्यता थी वहाँ जैनियों में वही व्यक्ति गुरुपद पर प्रतिष्ठित हो सकता था जो बीत रागी, त्यागी, एवं तपस्वी होता था चाहे वह शूद्र ही क्यों न हो। इस प्रकार जैनधर्म में मानव मात्र के लिए विकास का द्वार खुला हुआ था। जहाँ वेदों मे वैदिक मन्त्रों की पवित्रता के कारण पदों का महत्त्व था वहाँ जैनों में पद के स्थान पर पदार्थ का महत्व था। यही कारण है कि जैन मतावलम्बी लोकभाषा प्राकृत को महत्व देते थे। जैनधर्म में ब्राह्मणों के स्थान पर क्षत्रियों का प्राधान्य था।

जैनधर्म वैदिकधर्म का विरोध करने के लिए खड़ा होने वाला कोई नया धर्म नहीं था सच तो यह है कि यहाँ के मूल सस्कृति में आर्यो के पूर्व जो संस्कार थे वे ही जैनधर्म के उदय के कारण थे। सिन्धुघाटी की खुदाई में भारतीय संस्कृति की जो-झलक मिलती है उससे बहुत से विद्वानों ने यह मत व्यक्त करना शुरू किया है कि वैदिक संस्कृत के अतिरिक्त वेद-पूर्वकाल में भारतीय संस्कृति का एक प्राचीन रूप भी रहा होगा। मोहन जोदड़ो और हरप्पा की खुदाई में प्राप्त अवशेषों का अध्ययन करने पर वैदिक-संस्कृति

से भिन्न जो प्राचीन संस्कृति दिखलाई पड़ती है उससे एक बात का पता चलता है कि योग का महत्त्व इस संस्कृति में रहा होगा। भाषा के सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नहीं है परन्तु चित्र लिपियों में जो आकृतियाँ दिखलाई पड़ती है उनसे विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि तत्कालीन संस्कृति मे योग का अवश्य स्थान था। हो सकता है इसी संस्कृति से जैनधर्म का विकास हुआ हो क्योंकि बौद्धधर्म और जैनधर्म में यज्ञ का विरोध था और योग का महत्त्व था।

ऐसा पता चलता है कि वेदों के अनुगामी आर्यो का जैसे-जैसे पूर्व की ओर बढ़ाव हुआ होगा वैसे-वैसे उनका संघर्ष ऐसे लोगों से हुआ होगा जिनकी संस्कृति आर्यों से भिन्न थी। ऐसी संस्कृति में प्रचलित मान्यताओं का प्रभाव आर्य संस्कृति पर पड़ा होगा और आर्य संस्कृति के उच्च संस्कारों का प्रभाव इन पूर्ववर्ती संस्कृतियो पर पड़ा होगा। वैदिक संस्कृति वालो का संघर्ष मुनियों और यतियों से हुआ है और इन्द्र ने अनेकों मुनियों और यतियो का बध किया है इसका उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है।[1] बहुत अधिक संभव है कि मुनियों और यतियों की परम्परा ही श्रमण परम्परा के रूप में जैन धर्म में विकसित हुई हो। यह 'यति' और मुनि धर्म ही परवर्ती काल में अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं म विभक्त हो गया और हो सकता है जैन धर्म के विकास में इसी मुनि धर्म का योगदान रहा हो। ऋग्वेद के वातरशना मुनि (नग्न मुनि), उपनिषदों के तापस और श्रमण और बौद्धों द्वारा वर्णित श्रमण जिन्हें निर्ग्रन्थ कहते थे प्राचीन यती अथवा मुनि परम्परा की प्रामाणिकता ही सिद्ध करते हैं। जैन शास्त्रो में पाँच प्रकार के श्रमणों का उल्लेख मिलता है।[2]

जैन धर्म मे तीर्थंकरो की परम्परा वैदिक अवतारवाद से मिलती है। जैन परम्परा में सम्पूर्ण कालचक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी मे विभक्त है। प्रत्येक में ६ आरे होते हैं। अनादिकाल से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का कालचक्र चल रहा है। उत्सर्पिणी में सभी भावों की उन्नति और अवसर्पिणी में सभी भावों का ह्रास होता है। दोनो कालों में तीर्थंकरों का जन्म होता है। इनकी संख्या २४ मानी गयी है। अवसर्पिणी के अन्तिम तीर्थंकर ही महावीर हुए हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभ थे जो पौराणिक काल की संस्कृति के प्रतीक थे। कुछ विद्वानों ने शिव और ऋषभ के एकीकरण की भी चर्चा की है। इस प्रकार तीर्थंकरों की परम्परा का विकास वैदिक अवतारवादी परम्परा से मिलता जुलता है। जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर भले ही भिन्न-भिन्न हो परन्तु उनके उपदेशों में साम्य है और जिस काल में जो तीर्थंकर होता है उसी का उपदेश और शासन आचार के लिए स्वीकार किया जाता है। जैन आगमो मे भगवान महावीर के उपदेशों का संग्रह है। समय के प्रवाह से आगमो की संख्या में भी उसी प्रकार वृद्धि हुई जैसे पुराणों की संख्या बढ़ी। अनेक बुद्धों का जन्म और उनका उपदेश अनेक आगमों में संनिविष्ट किए गये हैं। आगमों की संख्या ८५ तक पहुँच गयी है परन्तु सामान्यतया श्वेतांबरों के मूर्तिपूजक

१—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १—अंग आगम् पृ० २० लेखक पं० बेचरदास दोशी
२—वही—पृ० २१

सम्प्रदाय में ४५ आगमों की संख्या मानी जाती है और तेरापंथ तथा स्थानकवासियों में ३२ की संख्या स्वीकृत है। आगमों में क्रमिक विच्छेद की परम्परा भी उसी प्रकार विकसित हुई है जैसे त्रिपिटक में विच्छेद की चर्चा की गयी है। उसी प्रकार बौद्धावतारों की भाँति श्रुतावतारों की परम्परा श्वेताबरों और दिगम्बरों दोनो में एक सी मान्य है। तीर्थंकर 'अर्थ' का उपदेश देते हैं। वे सूत्रों की रचना नहीं करते। सूत्रों की रचना गणधरों द्वारा की जाती है। महावीर के निर्वाण के एक हजार वर्ष बाद विक्रम की चौथी और पाँचवीं शताब्दी में आगमों को पुस्तकाकार रूप में लिपिबद्ध किया गया अन्यथा इससे पहिले के आगम श्रुत रूप में मिलते हैं। इस प्रकार वैदिक परम्परा की स्मृति और श्रुति जैन परम्परा की श्रुति से मिलते-जुलते शब्द हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि वैदिक 'श्रुति' शब्द वेदों के लिए प्रयुक्त होता है और जैनियो का श्रुति शब्द जैन परम्परा के सभी शास्त्रों के लिए रूढ़ हो गया है। जैनियो में भी मंदिरों का निर्माण और उपासना-पद्धति का विकास परवर्ती काल में उसी प्रकार हो गया जैसा वैष्णवो और शैवों में। जैन मन्दिरो मे भी आरतो, पूजन, अर्चन और नैवेद्य आदि का विधान उसी प्रकार है जैसा वैदिक सम्प्रदाय और परम्परावाले मन्दिरों में।

इस प्रकार वैदिक सस्कृति तथा बौद्ध और जैन संस्कृति के विकास में उपासना, श्रद्धा और भक्ति का सतत् प्रवाह अनादि काल से प्रवहमान होता रहा है और भक्ति साहित्य के आविर्भाव में इन तीनो संस्कृतियों का समन्वित रूप भारतीय सस्कृति की मूल चेतना में व्याप्त होकर भावात्मक धरातल पर स्वान्तः सुखाय और बहुजन हिताय बनकर निःसृत हुआ।

मुस्लिम धर्म-साधना

भारतीय धर्मसाधना के साथ भारतवर्ष में इस्लामी धर्मसाधना का भी मुसलमान शासकों ने प्रचार एव प्रसार करना शुरू किया। मोहम्मद साहब का एकेश्वरवाद भारतीय ब्रह्मवाद से भिन्न है। यह धर्मसाधना स्थूल दृष्टि से निर्गुण उपासना है परन्तु इस उपासना पद्धति में भी नमाज़, रोजा, जकात, नबी पर विश्वास आदि इसके आवश्यक अंग हैं। पाप-पुण्य के अनुसार इस धर्म में भी नरक और स्वर्ग का विधान है। प्राचीन अरब देश में जहाँ हजरत मोहम्मद का जन्म हुआ अनेक देवी एव देवताओं की उपासना प्रचलित थी। सच पूछा जाय तो इस एकेश्वरवाद में अल्लाह के साकार (तश्बीह) और सगुण (तशबीह) स्वरूप की कल्पना ओत-प्रोत है। 'कुरान' में प्राप्त विवरणों के अनुसार ईश्वर के मूर्त रूप और उसकी शक्ति का विशद विवरण मिलता है। अल्लाह जगत का निमित्त कारण है जो कठोर शासक होते हुए भी दयालु और कृपालु है। वह अपने भक्तों से प्रेम करता है और वह स्वयम्भू है, रब्ब है, रहीम है, ग़नी है, नित्य है, अद्वितीय है और कर्त्ता है। शून्य से उसने वस्तुओं का निर्माण किया है। वह सभी वस्तुओं के चतुर्दिक छाया रहता है। इस प्रकार भारतीय धर्मसाधना को इस विजातीय धर्मसाधना से टक्कर लेनी पड़ी। भारतीय धर्मसाधना इस्लाम को आत्म-

सात नहीं कर सकी। मुस्लिम शासकों ने बड़ी लम्बी अवधि तक भारत पर शासन किया है और साथ ही साथ अमीर खुसरो से लेकर अकबर और औरंगजेब के काल तक इस धर्म का पक्षपात पूर्ण प्रचार होता रहा है। भारतवर्ष में इस्लाम के प्रसार के कई कारण थे—राज्य शासन में अधिकार प्राप्ति की लिप्सा, शासकों की सेवा का भाव, हिन्दू समाज की संकुचित धारणाएँ, न्यायालयों का पक्षपात आदि-आदि। यद्यपि इस्लाम धर्म सम्पूर्ण भारत को मध्य एशिया के अनेक भूखण्डो की भाँति इस्लामी बनाने में असमर्थ रहा फिर भी हिन्दू धर्म के समानान्तर इस धर्म का भी व्यापक प्रसार भारतवर्ष में हुआ।

सूफीमत जो इस्लाम की कट्टरपन्थी विचारधारा के विरोध में उदारवादी दर्शन लेकर अरब में प्रवर्तित हुआ फारस में जाकर विकसित हुआ। सूफी मत का इतिहास छ सौ तेइस ईस्वी से प्रारम्भ होता है। पहले इस्लामी मान्यताओ के आधार पर ही इसका दर्शन आधारित था परन्तु धीरे-धीरे इस दर्शन में ऐसे व्यक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होने इसे आत्मचिन्तन और प्रेमदर्शन के आधार पर प्रतिष्ठित किया। बसरा के अल्हसन, अयाज़ और राबिया के नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। 'राबिया' ने प्रेम-भावना को महत्त्व प्रदान करते हुए खुदा से प्रेम करने पर बल दिया। इस प्रकार माधुर्य भावना को जन्म देने का श्रेय राबिया को है जिसने ईश्वरोपासना में किसी मध्यस्थ की अनावश्यकता बताते हुए सूफी मत को नया मोड़ दिया। आगे चलकर जुनद् शिबली और मंसूर जैसे सूफियों ने कुरान के विपरीत भारतीय आध्यात्मिक दर्शनों से प्रभावित होकर 'अहम् ब्रह्मास्मि' की भाँति 'अन-हल-हक' का प्रचार किया जिसके लिए उन्हें शूली पर चढ़ना पड़ा।

सूफी सम्प्रदाय पर भारतीय चिन्तनधारा का व्यापक प्रभाव पड़ा जिसके परिणाम-स्वरूप सूफी दर्शन का दो स्वरूप हो गया एक इस्लाम विरोधी और दूसरा इस्लाम परस्त। मसूर आदि का दर्शन, जिसे बेशरा कहते हैं भारतीय चिन्तन-धारा से प्रभावित है जो कुरानों के विधि-विधानों को मानने के लिए बाध्य नहीं है। इब्नुल अरबी का नाम इस सम्प्रदाय में विशेष प्रसिद्ध है जिनका एकेश्वरवाद भारतीय वेदान्त के अधिक निकट है। इन्हीं का प्रभाव भारतीय कवि 'मंझन' पर पड़ा है। इसके विपरीत इस्लाम के साथ सम्बन्ध बनाकर चलने वाले सूफियों को 'बाशरा' कहते हैं।

भारतवर्ष में ख्वाज़ा मुइनुद्दीन चिस्ती के आगमन के साथ ग्यारह सौ नब्बे ईसवी में सूफीमत प्रविष्ट हुआ जो चिस्तिया सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। बाद में चलकर सूफियों के द्वारा अनेक सम्प्रदायों में इसका विकास हुआ। मुख्य रूप से छः सम्प्रदाय भारतवर्ष में दिखलाई पड़ते हैं।

१—चिस्तिया सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक ख्वाज़ा मुइनुद्दीन चिस्ती थे जो 'बगदाद' से भारत आए थे। दिल्ली के सुलतान इलतुतमिश ने उनका बड़ा सम्मान किया। इस सम्प्रदाय के

अन्तर्गत ख्वाजा कुतबुद्दीन, बाबा फ़रीद और शेख निजामुद्दीन औलिया आदि प्रसिद्ध साधक हुए। इन्होंने सगीत को प्रधानता दी। इसी सम्प्रदाय की दो शाखाएँ औलिया और शाविरी विकसित हुई। मलिक मुहम्मद जायसी, अमीर खुसरो और शेख सलीम चिश्ती आदि औलिया सम्प्रदाय में दीक्षित हुए और बाबा फरीद के दूसरे शिष्य शेख अलाउलअली अहमद ने शाविरी नामक नई शाखा की स्थापना की।

२—सुहरावर्दिया सम्प्रदाय

'आवारिफ़ुल मारिफ़' के लेखक सुहरवर्दी ने भारत में प्रचार हेतु अपने दो शिष्यों शेख हमीउद्दीन नागौरी तथा शेख बहाउद्दीन जकारिया को भेजा था। भारत में यही सम्प्रदाय आगे चलकर जलाली, मखदूमी, मीरनशाही, दौलाशाही और फिरदौशिया आदि उपसम्प्रदायों में विभक्त हुआ। इसी सम्प्रदाय में 'मृगावती' का रचयिता 'कुतबन' हुआ था।

३—कादरिया सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक फारस निवासी अब्दुल कादिर अल् जिलानी थे। ग्यारह सौ छाछठ ईसवी में इनकी मृत्यु हो गई। पन्द्रहवीं शताब्दी में इस सम्प्रदाय का प्रचार भारतवर्ष में मिलता है। इस सम्प्रदाय के सूफ़ी हरे रंग की पगड़ी बाँधते हैं। इसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत दारा शिकोह के गुरु मियाँमीर दीक्षित थे।

४—नक्शबंदिया सम्प्रदाय

अकबर के शासनकाल में हजरत ख्वाजा वाकी बितला बेरंग ने इस सम्प्रदाय को स्थापित किया। इस सम्प्रदाय का नक्शबंदिया सम्प्रदाय नाम इसलिए पड़ा कि इसके प्रवर्तक कपड़ों पर चित्रकारी करते थे।

५—मेंहदवी सम्प्रदाय

जौनपुर के सूफ़ियों ने मीर सैय्यद मुहम्मद जौनपुरी के नेतृत्व में इस शाखा की स्थापना की थी। शेख बुरहान मेहदवी शाखा के ही प्रसिद्ध प्रचारक थे।

६—सत्तारी सम्प्रदाय

पन्द्रहवीं शताब्दी में ही शेख अब्दुल्ला सत्तारी ने इस सम्प्रदाय की स्थापना की। शेख मुहम्मद गौस जो 'मधुमालती' के रचयिता मंझन के गुरु थे, इसी सम्प्रदाय के थे।

सूफीमत का आध्यात्मिक स्वरूप—

सूफ़ियों में बासरा मतावलम्बी जहाँ एकेश्वरवादी हैं वहाँ बेसरा मतावलम्बी

अद्वैतवादी हैं। एकेश्वरवादियों की दृष्टि में ईश्वर ही एकमात्र सर्वोपरि सत्ता है। वही निर्माता, कर्त्ता-भर्त्ता और संहारक है। प्रलय के पश्चात् कर्मों के अनुसार भले-बुरे का फल देनेवाला वही है। जब कि अद्वैतवादी विचारधारा के मानने वाले ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सभी कुछ मिथ्या मानते हैं। एकेश्वरवाद दृश्य और अदृश्य जगत की सत्ता को मानता है और उसे ईश्वर की इच्छा से उत्पन्न बतला है इसके विपरीत अद्वैतवादी संसार को मायाजन्य मानकर एकमात्र ईश्वर में ही विश्वास करता है। सूफियों के दोनो सम्प्रदायों मे साधना के क्षेत्र मे आत्मा और परमात्मा की एकता को स्वीकार किया गया है।[1] सूफी कवियों ने एकेश्वरवादी मुस्लिम विचारधारा की सम्प्रदायिक कट्टरता के साथ हिन्दुओं की बहुदेववादी विचारधारा का समन्वय किया यद्यपि उन्होने अल्लाह को राम और कृष्ण के रूप में कहीं चित्रित नहीं किया। सूफियों ने उपासना के लिए निराकार ब्रह्म को ही मान्यता प्रदान की है। परन्तु प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए परमात्मा के साकार रूप की भी कल्पना की गई है यद्यपि स्वरूप निरूपण में वह अलख और निरंजन, महासिद्ध और अरूप ही है। वह गुप्त होते हुए भी सर्वत्र प्रकट है और सब कुछ होते हुए भी उनका परमात्मा अवतारी पुरुष नहीं है।

सूफियों ने योग तत्व से प्रभावित होकर साधना मे योग के महत्व को भी स्वीकार किया है। विरहाग्नि उत्पन्न होने पर उनके सभी प्रेमी पात्र प्रेम साधना के लिए योगी-वेश में अग्रसर होते हैं। योग से प्रभावित होकर ही परमतत्व की कल्पना उन्होने शून्य रूप में भी की है। शून्य के अतिरिक्त ज्योति स्वरूप में भी परमतत्व के परम सौन्दर्य का निरूपण यौगिक प्रभाव का ही परिणाम है। परम सौन्दर्य के निरूपण में नख-शिख का जो श्रृंगारिक वर्णन मिलता है उसपर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है।

सूफीमत में कुरान के विपरीत पुनर्जन्म और कर्मवाद की विचारधारा दिखलाई पड़ती है।[2] अन्तर केवल इतना है कि सूफियों ने जीवो की इस्लामी आस्था के अनुसार अट्ठारह हजार कोटियाँ मानी है जब कि हिन्दू आस्था के अनुसार जीवों की कोटियाँ चौरासी लाख हैं।

सूफी प्रेम साधना—सूफी साधना का प्रधान अंग प्रेम है। योग, ज्ञान, कर्म और भक्ति उसके सहायक हैं। भारतीय भक्ति में प्रेम तत्व की प्रधानता तो भागवत काल से ही स्वीकृत हो चुकी थी। किन्तु भक्ति में रति भावना का प्राधान्य सूफियों की देन है। वैष्णव सम्प्रदाय की सगुणोपासना जहाँ श्रद्धा और भक्ति समन्वित है वहाँ सूफी साधकों की निराकारोपासना में प्रेम एकमात्र आधार है। सूफियों का प्रेम आध्यात्मपरक प्रेम है जो

१—(क) इहै रूप परगट बहुरूपा। इहै रूप बहु भाव अनूपा॥
मंझनकृत, मधुमालती—पद-१२०

(ख) सुमिरौ आदि एक करतारू। ज्यहि जीव दीन्ह कीन्ह संसारू॥
जायसीकृत—पद्मावत—छन्द-१

२—(क) पुब्ब दिनन सेउं जानहुं, तुम्हरी प्रीति के नीर।
मोंहि माटी विधि सानि के, तौ यह सिरेउ सरीर॥ —मंझनकृत मधुमालती पृ० ६४

(ख) जो किछु करम लिखा सो भवा। उनकी ओर छाड़सि मो मया॥
कुतुबन कृत मृगावती पद ११३

ईश्वर के प्रति होता है। सूफियों के विचार से ईश्वर स्वयं प्रेममय है और उससे उत्पन्न सारी सृष्टि उसी के प्रेम की प्रतिमूर्ति है। इस प्रकार लौकिक प्रेम से ईश्वरी प्रेम की ही व्यंजना होती है। उनका इश्क मज़ाज़ी (लौकिक प्रेम) उनके इश्क हकीकी (ईश्वरीय प्रेम) का आधार है। प्रेम का सौन्दर्य से जो घनिष्ठ सम्बन्ध है वही सौन्दर्य आध्यात्मिक सौन्दर्य के रूप में वर्णित है। प्रेम मार्ग सरल और मधुर होते हुए भी अत्यन्त कठिन है जिसके लिए साधकों को अनेक दुःख झेलने पड़ते हैं। इसके लिए उन्हें नासूत, मल्कूत, जबरूत और लाहूत चार मंजिलें पार करनी पड़ती हैं और इसकी शरीयत तरीकत, हकीकत और मारिफत चार अवस्थाएँ होती हैं। नासूत की स्थिति मे, जो साधक की सामान्य स्थिति होती है, पूर्व जन्म के पुण्य के फलस्वरूप ईश्वरीय सत्ता के प्रति रुचि पैदा होती है और वह कर्म-मार्ग का अनुसरण करता हुआ ईश्वर को खोज के लिए प्रयत्नशील होता है। नासूत में वह सभी भोग्य पदार्थों का त्याग कर देता है और जोगी वेश बनाकर मलकून नामक दूसरी मंजिल पर पहुँचता है। इस मंजिल तक पहुँचने के लिए साधक को कर्म और योग दोनों का सहारा लेना पड़ता है। तीसरी मंजिल मारिफत (ज्ञान) की है जिसमें साधक को ईश्वरीय सत्ता का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। चौथी और अन्तिम मजिल लाहूत में पहुँच कर साधक ईश्वरीय प्रेम में अपने को विलीन कर देता है। यह उसकी महामिलन की अवस्था है। इस प्रकार सूफियों की इस प्रेम साधना में कर्म, योग, ज्ञान और भक्ति चारों मार्ग आ जाते हैं। सूफी प्रेम साधना में प्रियतम के प्रति जो श्रद्धा व्यक्त की गई है उसके मूल में दाम्पत्य प्रेम ही प्रधान है। भक्ति के अन्य भाव जैसे सेवक-सेव्य भाव, सख्य-भाव और वात्सल्य आदि का अभाव है। साधक जो कुछ भी त्याग करता है वह श्रद्धा के कारण नहीं अपितु प्रेम के कारण करता है। उसके प्रेम में भय के लिए कोई स्थान नहीं है। सूफी कवियों ने भक्तिमार्ग के स्थान पर प्रेममार्ग को अपनाया है। यही प्रेमसाधना सन्त कवियो के शुष्कज्ञान मिश्रित भक्ति को दाम्पत्य प्रेम की सरसता से सराबोर कर देती है और सन्तों में जो विरहानुभूति दिखलाई पड़ती है वह इन्हीं सूफियों की देन है।

अपने प्रेमपरकभावगत आध्यात्मिक अनुभूतियो को अभिव्यक्त करना भाषा के लिए संभाव्य नही है। भाषा को इस सकीर्णता से मुक्त करने के लिए सूफी कवियों ने सांकेतिक भाषा में प्रतीकों की योजना की है जो लौकिक है। इन्हीं प्रतीकों का प्रभाव सन्तों की उलटबाँसियों और आध्यात्मिक प्रतीकों पर दिखलाई पड़ता है। सूफीमत यद्यपि इस्लामी राज्य के साथ भारत में प्रविष्ट हुआ था परन्तु अपने उदारवादी दृष्टिकोण से उसने भारतीय समाज को अपनी ओर आकृष्ट किया और जाति-पाँति के भेदभाव को मिटाकर मानव समाज को एक ही प्रेम सूत्र में बाँधने का जो प्रयास सूफी साधकों और कवियों ने किया है उसी का परिणाम था कि अधिकाश सन्त कवियों ने सूफियों के इस प्रेम की पीर को अपनी साधना में स्वीकार किया।

दादूपंथी भक्तिसाहित्य पर भारतीय भक्ति-पद्धति के विकास के उपर्युक्त सभी पद्धतियों का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इस पथ की रागात्मक प्रवृत्ति में जो संवेदनशीलता और प्रेषणीयता दिखलाई पड़ती है उसका कारण यह है कि इन्होंने भारतीय परम्परा

में व्याप्त चेतना की भूमिका का उपयुक्त निर्वाह अपने साहित्य में किया है। भक्ति की अविच्छिन्न धारा का विशिष्ट स्वरूप ही दादूपंथी सम्प्रदाय में दिखलाई पड़ता है। भारतीय आध्यात्मिक जीवन की गतिशील-प्रक्रिया का प्रभाव इस पंथ की चिन्तनधारा पर स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। लोक-धर्म और लोक-भावना के प्रबल प्रभाव और सामाजिक चैतन्यधारा के परिपार्श्व में दादू-पंथी भक्ति साहित्य का मूल्यांकन करना उचित है। 'दार्शनिक विचार' और 'साधनात्मक पृष्ठ भूमि' नामक अध्यायों में दादूपंथी दर्शन और साधना पर पड़ने वाले प्रभावो की विस्तृत चर्चा की गयी है। इस अध्याय में केवल इस पंथ की भक्तिपरक मान्यताओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

दादू पंथ में भक्ति का स्वरूप

नाम स्मरण

जहाँ सगुण भक्ति में रूप की प्रधानता होती है वहाँ निर्गुण भक्ति में नाम की प्रधानता है। संतों ने इसी नाम स्मरण को अजपा जाप की संज्ञा दी है। दादू के आराध्य निरंजन, परब्रह्म, निराकार परमेश्वर हैं जिनका सुमिरण वे राम रूप में करते हैं। सुमिरण के अंग में राम नाम की महिमा का विस्तृत विवेचन मिलता है। यह राम नाम दादू को अत्यन्त प्रिय है, जो एकमात्र सत्य है और जा उन्हें गुरु द्वारा प्राप्त हुआ है। यह राम नाम ही आत्मा का आधार है। राम नाम का सुमिरण सहज है और उसी से सब कर्मों एवं गुणों का नाश हो सकता है। राम भजन ही सभी शोकों का निवारण करता है यह राम अविगत है, अगाध है और अनन्त है। न तो यह निर्गुण है न सगुण। इसी राम नाम ने करोड़ों पतितों को पावन किया है। इस दुःखी संसार में एकमात्र सुख का सागर राम ही है। राम नाम रूपी नाव पर सवार होकर संसार रूपी दरिया को पार किया जा सकता है। अल्लाह और राम एक ही हैं आत्मा की साधना के लिये राम नाम सुमिरण से बढ़ कर कोई साधन नहीं है। राम नाम रूपी जल में स्नान करने से मन का मैल और विकार नष्ट हो जाता है। ब्रह्म की भक्ति जब उत्पन्न होती है तब माया विनष्ट हो जाती है और जैसे सूर्य के उदय होने पर अन्धकार नष्ट होता है उसी प्रकार भक्ति प्राप्त होने से विकार नष्ट हो जाते हैं। राम नाम का स्मरण और प्रेम तथा भक्ति द्वारा उनका गुणानुवाद दादू को ग्राह्य है।[1]

सुमिरण कौ अंग—

१—एकै आषिर पीव का, सोई सति करि जाँणि।
राम नाम सतगुर कह्या, सो दादू परवांणि॥ दो० (१)
दादू सासैं सास सँभारता, इक दिन मिलिहै आइ।
सुमिरण पैंड़ा सहज का, सो गुरि दीया दिषाइ॥ दो० (६)
एक महूरत मन रहै, नांव निरंजन पास।
दादू तब ही देषतां, सकल करम का नास॥ दो० (१०)
सहजै ही सब होइगा, गुण मंडी का नास।
दादू राम संभालतां, कटै करम के फास॥ दो० (११)

दादू ने बड़े आदर से नारद; भक्त प्रह्लाद, कबीर, सुखदेव, रैदास, गोरख, गोपीचन्द आदि भक्तों का स्मरण करते हुए राम भक्तों में इनका नाम गिनाया है।[1]

इस नाम स्मरण में उन्होंने भाव-भक्ति और विश्वास तथा प्रेम की आवश्यकता पर बल दिया है।

साहिब जी के नांव मैं भाव भगति वेसास
लै समाधि लागा रहै, दादू साईं पास ॥ सु० अं० दो० १२०
साहिब जी के नांव मै, मति बुधि ग्यांन विचार।
प्रेम प्रीति सनेह सुष, दादू जोति अपार ॥ सु० अं० दो० १२१

दादू पंथी दूसरे महान संत सुन्दर दास ने भी 'सुमिरन कौ अंग' तथा 'रामाष्टक' में राम नाम की महिमा का बड़ा विस्तृत विवेचन किया है। उनके मत से राम से मिलने के लिए संतों ने राम का नाम धारण किया है और एक बार एक पल के लिये भी यदि राम का स्मरण हो जाय तो संसार सागर पार किया जा सकता है।

राम नाम संतनि छुड्यो ताकौ मोल न तोल।
घर-घर डोलै बेचतौ सुन्दर या ही मोल ॥ सु० अं० दो० ६

सुन्दर दास नाम के सिवा जप, तप, दान को निरर्थक मानते हैं। इसके बराबर न तो कोई धर्म है और न कर्म। राम नाम ही अमृत है, हीरा है, सब का नाश करने वाला रसौषध है। राम नाम जिसके हृदय में है उसके बस में आठो सिद्धियाँ और नौ निधियाँ हैं।[2]

दादू राम अगाध है, परमिति नाही पार।
अवरन बरन न जानिये, दादू नांइ अधार ॥ दो० १४
दादू राम अगाध है, अविगति लषै न कोइ।
नृगुण अगुण का कहै, नांइ विलंब न होइ ॥ दो० १५
दादू राम अगाध है. वेहद लष्या न जाइ।
आदि अंति नहीं जाणिये, नांउ निरंतर गाइ ॥ दो० १६
दादू राम अगाध है, अकल अगोचर एक।
दादू नांइ विलंबये, साधू कहै अनेक ॥ दो० १७
दादू एकै अलह राम है, समरथ सांई सोइ।
मैदे के पकवांन सब, षातां होइ स होइ ॥ दो० १८
इसके अतिरिक्त देखिए दोहा २२, २७, ६६ से १२३ तक

१—देखिये दोहा १०२, १०३, १०४ और १०५।
दादू दयाल ग्रन्थावली-सुमिरण कौ अंग
सम्पादक परशुराम चतुर्वेदी

२—राम नाम विन लैन कौं और वस्तु कहि कौंन।
सुन्दर जप तप दान व्रत लागे पारे लौंन ॥ सु० अं० दो० १०
राम नाम मिश्री पियें दूरि जाहिं सब रोग।
सुन्दर औषध कटुक सब जप तप साधन जोग ॥ सु० अं० दो ११
नाम बराबर तोलिया तुलै न कोऊ धर्म।
सुन्दर ऐसै नाम का लहै न मूरख मर्म ॥ सु० अं० दो० १३

सुन्दर दास के राम जगत के आदि कारण हैं जिनका न कोई रूप है और न आकार, न रंग है न वर्ण, जो सदा एक रस रहते हैं। आपकी माया त्रिगुणात्मक है उसी के द्वारा पाँच तत्व उत्पन्न हुए हैं जिनके कारण नाम रूपात्मक जगत का निर्माण हुआ था। ब्रह्मा रजोगुण से सृष्टि को उत्पन्न करते हैं, विष्णु सत्गुण से पालन करते हैं और रुद्र तमगुण से संहार करते हैं परन्तु सुन्दरदास के राम सदा एक रस रहते हैं। सुन्दरदास जी का यह विवेचन अद्वैतवादी है और तुलसीदास के 'यन्माया वशवर्ति विश्वमखिलं, ब्रह्मादि देवाः सुरा' वाले श्लोक की ही भाँति है। रामाष्टक में उनके उपरोक्त विचारों का इस प्रकार वर्णन मिलता है :—

आदि तुम ही हुते अवर नहिं कोइ जी।
अकह अति अगह अति बर्न नहिं होइ जी॥
रूप नहिं रेष नहिं श्वेत नहिं श्याम जी।
तुम सदा एक रस राम जी राम जी॥ १॥

प्रथम ही आप तें मूल माया करी।
बहुरि वह क्षुब्धि करि त्रिगुन ह्वै विस्तरी॥
पच हू तत्व तैं रूप अरु नाम जी।
तुम सदा एक रस रामजी रामजी॥ २॥

विधि रजो गुण लिये जगत उतपति करै।
विष्णु सत गुण लिये पालना उर धरै॥
रुद्र तम गुण लिये संहरै धाम जी।
तुम सदा एक रस रामजी रामजी॥ ३॥

सुन्दरदास के अतिरिक्त रज्जब जी, गरीब दास जी, बषना जी, मोहनदास जी दफ्तरी, मसकीनदास जी, दूजनदास जी, जनगोपाल जी, प्रागदास जी, टीला जी आदि दादूपथी संतों ने राम नाम की महिमा का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है।[1] रज्जब जी ने परमात्मा का भजन, स्मरण और उसके प्रति प्रणति को भक्ति का आधार कहा है। जोगी अथवा ज्ञानी केवल ध्यान करता है परन्तु भक्त ध्यान के साथ-साथ सुमिरन भी करता रहता है। दादूपंथी भक्तों ने इसीलिए नाम जप का महत्व स्वीकार किया है। शरीर, मन और आत्मा तीनों को भगवान का नाम पवित्र कर

राम नाम पीयूष तजि विष पीवै मति हीन।
सुन्दर डोलै भटकतें जन-जन आगे दीन॥ सु० अं० दो० १७
राम नाम जाकै हृदै ताकै कौन अनाथ।
अष्ट सिद्धि नव निधि सदा सुन्दर वाकै साथ॥ सु० अं० दो० ११

१—(क) रज्जब टीका नाम को, वेद कुरान सुदेहिं।
यूं ततवेता त्यागि सब, हरि सुमिरन करि लेहिं

रज्जब वाणी-सुमिरण का अंग-साखी १८

देता है। रज्जब जी कहते हैं नाम तो पारस के समान है जो साधक के शरीर, मन और आत्मा को जो लोहे के समान है अपने स्पर्श से कचन बना देता है।

तन मन आतम लोह कू, मिल्या सु पारस नांव।
तिनि तीन्यू कंचन किये, सति सुमिरन बलि जांव॥
(भजन प्रताप अग-साखी–२)

दादूपन्थ और अद्वैतवाद

वेदान्त के अनुसार ब्रह्म के दो लक्षण माने गये हैं तटस्थ और स्वरूप लक्षण। किसी वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट न बतलाकर केवल कार्यादि द्वारा जो परिचय दिया जाता है वह तटस्थ लक्षण है और वस्तु की पहचान के लिए जिन लक्षणों को प्रस्तुत किया जाता है वह स्वरूप लक्षण है। दादू के ब्रह्म विषयक विचार वेदान्त सिद्धान्त के

(ख) सुकृत करि धरि अतरि, राम नाम कौ प तिल पल घरी॥
निमष जिन विसरौ, रसना रटि नित हरि हरि॥ टेर॥ १
गरीब दास जी की वाणी–पद–६।

(ग) "बषना" वांणी सो भली, जा वांणीं में राम॥
बकणा सुणना बोलणा, राम बिना बेकाम॥ १०॥
बसना जी की वाणी, सुमिरण को अंग-साखी।

(घ) हरि सुमिरत अति सुख भारी रे।
संपति विपति नमन मैं आनै, राम भजन इकतारी रे॥टेक॥
सहज रूप लैलीन सदा हरि, प्रेम मगन मन माही॥
जे दिन रामभक्ति बिन षोये, ते दिन लेखै नाही॥१॥
गुरु परसाद परम तत पावै, जन्म सुफल है तेरा॥
जन मोहन को नाव निरजन दीजै साहिब मेरा॥२॥
मोहनदास-ब्रह्मलीला-ग्रंथ पद-५।

ङ—रे मन जोगी काहे फिरे, राम नाम चित काहे न धरे
मसकीन दास पद—५।

च—केवल राम का रे निर्मल हरि गुण गाई,
जो उपज्या सो छाडिये भाई। इक अविनाशी ध्याई॥ टेक॥
जन दूजन गुरु-ग्यान सो भाई सो, अन्तर्गति देव॥३॥
सन्त साहित्य सुमन माल्य-दूजन दास जी की रचना पद ६

छ—जानि मानि सुजान मन तू, हरि बिना मिथ्या सबै।
गोपाल जन जगदीश सुमिरो, जाहि ससै वहि सबै॥८॥
संत साहित्य सुमन माला जन गोपाल जी की रचना—काया-प्राण-सवाद

ज—राम नाम मन लाइ करि, छाडि धर्‌या की आस॥
प्रागदास रस पीजिये, अधर धरो वेसास॥ १७॥
संत साहित्य सुमन माला-प्रागदास जी की रचना—

अनुकूल है, और उन्होने दोनों लक्षणो के अनुसार ब्रह्म-निरूपण किया है। स्वरूप लक्षण के उदाहरण के लिए निम्नलिखित साखियाँ उद्धृत की जाती हैं।

परम तेज परात्परं परम ज्योति परमेश्वरम्।
स्वयं ब्रह्म सदई सदा दादू अविचलं स्थिरम्॥
परं ब्रह्म परात्परं सो मम देव निरंजनम्।
निराकारं निर्मलं तस्य दादू वन्दनम्॥

तटस्थ लक्षण के अन्तर्गत

कृतम नही सो ब्रह्म है घटै बढ़ै नहि जाय।
पूरण निहचल एक रस जगत न नाचै आय॥
ना वहु जानै ना मरै ना आवे गर्भवास।
दादू औंधे मुख नहीं नरक कुण्ड दस मास॥

सुन्दरदास ने भी 'ब्रह्मस्तोत्र अष्टक' में अद्वैतवादी दृष्टि से ब्रह्म-निरूपण किया है।

अखण्डं चिदानन्द देवाधिदेवं। फणिन्द्रादि रुद्रादि इन्द्रादि सेवं।
मुनीन्द्रा कवीन्द्रादि चन्द्रादि मित्रं। नमस्ते नमस्ते नमस्ते पवित्रं॥१॥
न ग्रामं न धामं न शीतं न चोष्णं। न रक्तं न पीतं न श्वेतं न कृष्णं।
न शेषं अशेषं न रेषं न रूपं। नमस्ते नमस्ते नमस्ते अनूपं॥४॥
न छाया न माया न देशो न कालो। न जाग्रत स्वप्नं न वृद्धो न बालो।
न ह्रस्वं न दीर्घं न रम्यं अरम्यं। नमस्ते नमस्ते नमस्ते अगम्यं॥५॥

रज्जब आदि कवियो ने भी दादू की ही भाँति ब्रह्म-निरूपण में अद्वैत तत्व को स्वीकार किया है। ब्रह्म के अद्वैत तत्व को समझाने के लिए दादू ने सरोवर का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण दिया है। सरोवर के जल में डुबकी लगाकर यदि आँख खोल दे तो चारो ओर जल ही जल दिखाई पड़ेगा। उसी प्रकार ब्रह्म का सरोवर है जो सभी स्थानों में व्याप्त है।

दादू पांणी मांहै पैसि करि देषै दिष्टि उघाड़ि।
जला बिंब सब भरि रह्या, ऐसा ब्रह्म विचारि॥

इसी सरोवर को उन्होंने सहज सरोवर कहा है जिसमें प्रेममयी तरंगें निकलती रहती है।[1] इसी सहज सरोवर के किनारे आत्मा रूपी हंस कल्लोल करता है इसी

१—दादू विस सरवर के तीर, चरन कंवल चित लाईया।
तहां आदि निरंजन पीव, भागि हमारे आईया॥ प० अं ५४
दादू सहज सरोवर आतमा, हंसा करै किलोल।
सुष सागर सूभर भऱ्या, मुकताहल मन मोल॥ प० अं ५५
सुंनि सरोवर हंस मन, मोती आप अनंत।
दादू चुगि चुगि चंच भरि, यौं जन जीवें संत॥ प० अ० ५८

सरोवर का नाम शून्य सरोवर अथवा अखण्ड सरोवर है। प्रेम ही इस सहज सरोवर का रूप है, प्रेम ही परमात्मा की जाति है, प्रेम ही उसका रंग है, प्रेम ही ही उसका रूप है।

दादूपन्थ में भक्ति का स्वरूप

दादूपन्थ में भक्ति का स्वरूप उपनिषदों की पराभक्ति के समान भावरूपा और रागानुगा है। शास्त्रों के विधिविधान का निषेध होने के कारण इस पन्थ की भक्ति वैधी नहीं है वरन् शुद्ध प्रेमाभक्ति है।

> दादू सदिकै करौ सरीर कौं, बेर-बेर बहु भंत।
> भाव भगति हित प्रेम ल्यौ, बरा पियारा कंत ॥ विरहौ को अग दो०—३६
> दादू प्रेम भगति माता रहै, तालावेली अंग।
> सदा सपीड़ा मन रहै, राम रमै उन संग ॥ ४५ ॥
> दादू प्रेम मगन रस पाइए, भगत हेत रुचि भाव।
> बिरह विसास निज नाव सौ, देव दया कर आव ॥ ४६ ॥

सुन्दरदास ने भक्ति को तीन कोटियों में विभाजित किया है उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। पराभक्ति ही उत्तम भक्ति है। नवधा भक्ति कनिष्ठ और प्रेमलक्षणा भक्ति मध्यम कोटि की है।

> त्रिविध भक्ति लक्षण कहे, उत्तम मध्य कनिष्ठ।
> सुनहि शिष्य सिद्धान्त यह, उत्तम भक्ति गरिष्ठ ॥
>
> ज्ञान समुद्र—द्वितीय उल्लास—दो० ५६
>
> हे प्रभु नवधा कही कनिष्ठा। प्रेम लक्षणा मध्य सपष्ठा ॥
> पराभक्ति उत्तमा बषांनी। ये तीनौ मैं नीकै जानी ॥
>
> वही—तृतीयोल्लास चौ० १

सुन्दरदास ने 'सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका' के भक्ति योग नामक द्वितीय उपदेश में अहेतुकी भक्ति और भक्त का विस्तृत विवेचन किया है। भक्ति करने वाले को दृढ़ वैराग्य धारण करके विश्वास पूर्वक भक्ति का मार्ग ग्रहण करना चाहिए। माया मोह से दूर कर, कनक और कामिनी का संग छोड़कर, आशा, तृष्णा को त्याग कर, हृदय में शील, सन्तोष और क्षमा को धारण कर तथा ससार को तमाशा समझ कर समदर्शी रूप में व्यवहार करें। स्वामी निरजन की एकमात्र सेवा करे। सहज सुखासन पर स्वामी को बैठा कर उसकी गुलामी करे, संयम रूपी जल से स्नान करावे, प्रेम का पुष्प अर्पित करे, चित्त का चन्दन लगावे, ध्यान का धूप दे, भाव का भोजन समर्पित करे और मन तथा वचन से कुछ भी न माँगे। ज्ञान का दीपक जलाकर आरती उतारे, अनहद ध्वनि का घंटा बजावे, मग्न होकर नाचै तथा गावै, सेवक और पतिव्रता स्त्री की तरह स्वामी की

सेवा में जो लगा रहे वही सच्चा भक्त है।[1] रज्जब ने भी इसी प्रकार की अन्तर्पूजा का वर्णन करते हुए राम की उपासना में शरीर और मन को अर्पित किया है। थोड़े से प्रतीकों के हेर-फेर से यही बात निम्नलिखित पद में मिलती है। सगुण उपासना में धूप, दीप, नैवेद्य आदि का जैसा विधान किया गया है निर्गुण उपासना के लिए भी उसी प्रकार का विधान दादूपन्थी कवियों ने किया है।

आरती आतम राम तुम्हारी, तन मन सेवा सौंज उतारी ॥
दीपक दृष्टि गुरु की दीन्हीं, घण्टा घट धीरज ध्वनि कीन्हीं ॥
ध्यान धूप हित का करि हारा, पाती पुहुप अठारह भारा ॥
नख सिख चन्दन नान्हा बाटै, केशर करनी सोहरि छाँटै ॥
ऐसी विधि उर अन्तरि सेवा, जन रज्जब क्या जानै मेवा ॥

(रज्जबबानी, पदभाग, रागधनाश्री, पद २)

भावभक्ति के प्रसंग में मोहनदास जी कहते हैं कि सभी भ्रमों और संशयों को त्याग कर प्रेमपूर्वक राम में लौ लगाना ही भाव भक्ति है जिसमें बिना कामना किए ही

१—प्रमथहिं पकरै दृढ वैरागा। गहि विश्वास करै सब त्यागा।
जितेन्द्रिय अरु रहै उदासी। अथवा गृह अथवा बनवासी ॥२॥
माया मोह करै नहिं काहू। रहै सबनि सौं बेपरवाहू।
कनक कामिनी छाडै संगा। आशा तृष्णा करै न अंगा ॥३॥
शील सतोष छमा उर धारै। धीरज सहित दया प्रति पारै।
दीन गरीबी राषै पासा। देषै निर्पष भया तमासा ॥४॥
मान महातम कछू न चाहै। एकै दशा सदा निर्बाहै।
राव रंक की शक न आनै। कीरी कुंजर सम करि जानै ॥५॥
सार ग्रहै कूकस सब नाषै। रमिता राम इष्ट सिर राषै।
आंन देव की करै न सेवा। पूजै एक निरंजन देवा ॥७॥
सहज सुखासन बैठे स्वामी। आगै सेवक करै गुलामी।
संजम उदक सनान करावै। प्रेम प्रीति के पुष्प चढावै ॥६॥
चित चन्दन लै चरचै अंगा। ध्यान धूप देवै ता संगा।
भोजन भाव धरै लै आगै। मनसा वाचा कछू न मांगै ॥१०॥
ज्ञान दीप आरती उतारै। घण्टा अनहद शब्द विचारै।
तन मन सकल समर्पन करई। दीन होइ पुनि पायनि परई ॥११॥
मग्न होइ नांचै अरु गावै। गदगद रोमांचित ह्वै आवै।
सेवक भाव कदे नहिं चोरै। दिन दिन प्रीति अधिक ही जोरै ॥१२॥
ज्यौं पतिव्रता रहै पति पासा। ऐसैं स्वामी की ढिग दासा।
काहू दिशा भूलि जौ जाई। तौ पतिव्रत जु रहै नहिं भाई ॥१३॥
यह सो भक्ति अलिंगनी, विरला जानै भेव।
भाग्य होइ तौ पाइये, समझावै गुरुदेव ॥१५॥

सकल सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। गुणों और विकारों को तजकर निर्मल चित्त से भजन करने वाले को तत्काल मुक्ति प्राप्त होती है।

गुन विकार तजि भजै सो पावै, जो निर्मल हो चित्त लगावै।
पर आतम सो राम दयाला, समझ्यां मुक्ति करै तत्काला ॥ ३९ ॥
भर्म कर्म संशय सब जावै, प्रेम सहित रामहिं ल्यौ लावे।
भाव भक्ति दरसन फल पावे, बाँछै नहीं सकल सिधि आवे ॥ ४० ॥

(सन्त साहित्य सुमन माला ब्रह्मलीला ग्रन्थ—पृ० ४)

उसी प्रकार मोहनदास जी हरि से प्रार्थना करते हैं कि वह उन्हें अपनी भाव-भक्ति प्रदान करें।

देहु भक्ति निज दान ॥ टेक ॥
दया दीनता करुनामय हरि, दीजै पूरण ग्यान ॥
प्रेम प्रीति आरति निसवासर, धरत तुम्हारो ध्यान ॥ १ ॥
सुमिरन भजन रूं भाव भक्ति हित, आरतिवत अपार ॥
तालावेली प्राण करै अति, बिन देखे दीदार ॥ २ ॥
वाणी विमल निर्मल गुण गावत, श्रवण कथा अमृत रसपान ॥
मोहनदास आस हरि गुरु की, सुजस सुन्यो श्रुति कान ॥ ३ ॥

(वही—पृ० ८)

दादूपंथ में नवधा भक्ति का स्वरूप

दादूपंथ में सन्त सुन्दरदास ने अपने 'ज्ञानसमुद्र ग्रंथ' के भक्ति विवेचन के प्रसंग में नवधा भक्ति का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। इन्होंने नवधाभक्ति के प्रसंग में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्यभाव, सख्यत्व और समर्पण इन नौ प्रकार के अंगों का वर्णन किया है।[1] सुन्दरदास के कथनानुसार श्रुतियों और सन्तों के मत से ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है। निर्गुण का रूप निराला है और सगुण रूप सन्तों द्वारा प्रदत्त है। निर्गुण रूप का ध्यान मन से और सगुण रूप का ध्यान मन

१—सुनि शिष नवधा भक्ति विधान। श्रवण कीर्त्तन समरण जान।
पादसेवनं अर्चन वंदन। दासभाव सख्यत्व समर्प्पन ॥
इनि नव अंगनि जानि, सहित अनुक्रम कीजिये।
सब ही कौं सुख दानि, भक्ति कनिष्ठा यह कही ॥

ज्ञानसमुद्र द्वितीय उल्लास—६-७

और तन दोनों से करना चाहिए। एकाग्र चित्त से हरि के गुणों का श्रवण करना, संतों की वाणी का रसास्वादन करना और रामरस का पान करना यही 'श्रवण' है।

"ऐकाग्रहि चित्त जु राषै। हरि गुन सुनि सुनि रस चाषै ॥
पुनि सुनै संत के बैना। यह श्रवण भक्ति मन चैना ॥"

(ज्ञा० स० हि०-१३)

दादू भी गुरु की वन्दना इसीलिये करते हैं कि वह राम नाम रूपी उपदेश सुना कर मृतक जीव को जीवित कर देता है।

दादू काढ़े कालमुषि, श्रवणहु सबद सुणाइ।
दादू ऐसा गुर मिल्या, मृतक लीया जगाइ ॥

दादू दयाल ग्रन्थावली—पृ० २-१३

राम रस प्राप्त करने के लिए और सुमिरण के लिए श्रवण ही पहला सोपान है।

सतगुर सबद मुष सौ कह्या, क्या नेड़ै क्या दूरि।
दादू सिष श्रवणहु सुण्यां, सुमिरण लागा सूर ॥ गु० अं०—१८ ॥

कीर्तन—हरि के गुणों का वाणी से वर्णन करना कीर्तन है।

हरि गुन रसना मुख गावै। अतिसै करि प्रेम बढ़ावै ॥
यह भक्ति कीरतन कहिये। पुनि गुरु प्रसाद ते लहिये ॥

(ज्ञान समुद्र १४)

स्मरण—स्मरण दो प्रकार का होता है। एक वाणी के द्वारा दूसरा मन के द्वारा। वाणी के द्वारा स्मरण कीर्तन के अन्तर्गत ही है परन्तु सुन्दरदासजी ने इसे स्मरण के अन्तर्गत लिया है।

अब समरन दोइ प्रकारा। इक रसना नाम उचारा।
इक हृदय नाम ठहरावै। यह समरन भक्ति कहावै ॥

(सुन्दर ग्रंथावली १५)

दादू दयाल ने भी श्रवण कीर्त्तन और मन से स्मरण करने की बात सुमिरण के अंग में कही है :—

पहली श्रवन दुती रसन, तृतीय हिरदै गाइ।
चतुरदसी चेतनि भया, तब रोम रोम ल्यौ लाइ ॥

(दादू दयाल ग्रन्थावली सु० अं० १)

इसके अतिरिक्त दादूपन्थी अन्य कवियों ने भी श्रवण कीर्त्तन और स्मरण की महिमा का वर्णन किया है।[1]

गरीबदास जी सुमिरण और भक्ति के प्रसंग में निम्नलिखित विचार प्रगट करते हैं :—

पूजा अरचा सेवा बन्दन, चाँटी चाकरी और दासा तन ॥
बंदगी इबादति पिजमत कीजै, एवं नाव भगति के लीजै ॥
सुमरण भजन रहणि अरु जाप, ररंकार धुनि प्रगटै आप ॥
डोरी सूत्र ल्यौ तादू रहै, धूरि गरज नांव जन कहै ॥
गरीब दास जी की वाणी पृ० १४

पाद सेवन—चरण सेवा भारतवर्ष की प्राचीन सेवा-पद्धति का महत्वपूर्ण अंग है। लक्ष्मी जी भगवान की और हनुमान जी रामचन्द्र जी की सेवा करने वाले भक्त हैं। सुन्दरदास मन रूपी कर से अपने आराध्य की चरण सेवा का उल्लेख करते हुये कहते हैं कि—

नित चरन कमल महिं लोटै। मनसा करि पाव पलोटै ॥
यह भक्ति चरन को सेवा। समुझावत है गुरुदेवा ॥
सुन्दर ग्रन्थावली ज्ञान समुद्र पृ० १६

१—(क) संत संगति में बैठ करि रे, सुनहूँ कथा-रस सार ॥
तन मन आतम ऊपजै, भाइ भज हरि वारम्बार ॥
करहु कीर्तन प्रीति सों रे, निर्मल जस उचार ॥
वाणी विमल बखाणिये, भाई समझ्या रस साध ॥ सन्त साहित्य सुमन माला-मोहन दास पृ० १२

१—(ख) सुमिरन सुरति लगाइ करि, मुख ते कछू न बोल।
बाहर के पट देइ करि, भीतर के पट खोल ॥ रज्जब वाणी-अजपाजाप—१

१—(ग) शब्द सुधारस जो पिवै, सो अजरावर होइ ॥
जन दूजन विनसै नहीं, काल न लागै कोइ ॥ दूजन जी की वाणी, शब्द को अंग—१

१—(घ) जागो रे जन जागो रे!, हरि सुमरण सं लागो रे ॥ टेक ॥
दुर्लभ देही पाई रे, राम नाम ल्यौ लाई रे ॥
आब घटै तन छीजै रे, छिन पल विलंब न कीजै रे ॥ १ ॥
स० सु० माला जन गोपाल जी रचना पृ० ८४

१—अरध नाम पाषाण तिरे नर लोइरे।
तेरा नाम कह्यो कलि माहि न बूडे कोइरे।
कर्म सुकृति इक बार बिलै हो जांयगे।
हरि हां वाजिंद हस्ति के असवार न कूकर खाहिंगे (१)
राम नाम की लूट फबी है जीव कूं।
निसवासर वाजिंद सुमरतां पीव कूं
यही बात प्रसिद्ध कहत सब गाँवरे।
हरि हां अधम अजामेल तिर्यो नारायण नांवरे। २।
पञ्चामृत वाजिंद जी का अरिल सुमिरण कौ अंग

इसी प्रकार की चरण-सेवा का महत्व दादू ने भी बतलाया है ·

मस्तकि मेरे पाव धरि, मंदिर मांहै आव ।
साईं सोवै सेज परि, दादू चपै पाव ॥
दादू दयाल ग्रन्थावली—पृ० ७१

बषना जी ने भी हृदय में चरण कमल को धारण करते हुए प्रभु की भक्ति करने का उपदेश दिया है । अपने को सेवक और राम को ठाकुर मानकर बार-बार चरणों की बन्दना की है ।

प्रीतम के पग परसिये, मुझ देखन का चाव ॥
तहाँ ले शीश निवाइये, जहां धरे थे पांव ॥
बषना जी वाणी-पृ० १०

उधरयो जे चाहै वो रांम भजन करि,
हरि का चरण कँवल हिरदै धरि ॥टेर॥
वही—पृ० ८१

मोहन दास दफ्तरी हरि के शरण में जाकर निवेदन करते हैं कि मैं तो आप के प्रेम का भूखा हूँ अनाथ हू, सेवा करना जानता नहीं फिर भी तुम्हारे शरण में आया हूँ जैसा चाहो वैसा करो—

आगे बहुत अनाथ निवाजै, मैं हरि शरणै आयो ॥
दीन दयाल पतित पावन जस, सत गुरु निकट बतायो ॥
हमतो नाथ सेव नहिं जानी, तुम भावै सो न कीयो ॥
आप जानि मोहन का द्रवो, सुफल होय यहु जीयो ॥
साहित्य सुमन माला-पृ० १६

अर्चना

अर्चना के लिये मूर्ति की पूजा का सगुण उपासको की दृष्टि से अनेक सामग्रियों का विधान किया गया है। सिंहासन, पुष्प, चन्दन, वसन, धूप, दीप, नैवेद्य आदि का विधान अर्चन के अन्तर्गत आता है । सुन्दरदास ने स्थूल मूर्ति-पूजा के स्थान पर मानसी पूजा का भावात्मक विधान प्रस्तुत किया है जो बड़ा ही रमणीक है[1]

१—अब अरचना कौ भेद सुनि शिष देउं तोहि बताइ ।-
आरोपिकैं तहं भाव अपनौं सेइये मन लाइ ॥
रचि भाव कौ मंदिर अनूपम अकल मूरति मांहि ।
पुनि भाव सिंघासन विराजै भाव बिनु कछु नांहि ॥
निज भाव को तहां करै पूजा बैठि सनमुख दास ।
निज भाव की सब सौज आने नित्य स्वांमी पास ॥

दादूपंथ की अर्चना में आरती का बहुत महत्व है और प्रायः सभी प्रमुख कवियों ने आरती के प्रसंग में पदों की रचना की है। संत-साहित्य-सुमन-माला के अन्तर्गत पंचामृत नामक पुस्तक में 'आरती-समुच्चय ग्रन्थ' के अन्तर्गत अनेक आरतियों का संग्रह स्वामी मंगलदासजी ने किया है।[1] निर्गुण उपासना में परापूजा का जो विधान है उसका

पुनि भाव ही कौ कलश भरि धरि भाव नीर न्हवाइ।
करि भाव ही के बसन इहु विधि अंग-अंग बनाइ॥
तहँ भाव चंदन भाव केशरि भाव करि घसि लेहु।
पुनि भाव ही करि चरचि स्वामी तिलक मस्तक देहु॥
लै भाव ही के पुष्प उत्तम गुहै माल अनूप।
पहिराइ प्रभु कौं निरषि नख शिख भाव षेवै धूप॥
तह भाव ही लै धरै भोजन भाव लावै भोग।
पुनि भाव ही करि कै समर्प्पै सकल प्रभु के योग॥
तहं भाव ही कौ जोइ दीपक भाव घृत करि सींचि।
तंह भाव ही की करै थाली धरै ताके बीचि॥
तहं भाव ही कौ घंट झालरि सष ताल मृदंग।
सह भाव ही के शब्द नाना रहै अतिसै रंग॥
यंहं भाव ही की आरती करि करै बहुत प्रनाम।
तब स्तुती बहु विधि उच्चरै धुनि सहित लै लै नाम॥ सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खंड—पृ० २०-२१

[१]

१—इहिं विधि आरती राम की कीजै, आतमा अन्तर वारणा लीजै। टेक।
तन मन चन्दन प्रेम की माला, अनहद घंटा दीन दयाला॥
ज्ञान का दीपक पवन की बाती, देव निरंजन पाचों पाती॥
आनन्द मंगल भाव की सेवा, मनसा मन्दिर आतम देवा॥
मुक्ति निरन्तर मैं बलिहारी, दादू न जानै सेवा तुम्हारी॥

[२]

२—आरती जगजीवन तेरी, तेरे चरण कमल पर वारी फेरी॥ टेक॥
चित चांवर हेत हरि ढोरे, दीपक ज्ञान ज्योति विचारै॥
घंटा शब्द अनाहद बाजै, आनन्द आरती गगन गाजै॥
धूप ध्यान हरि सेती कीजै, पुहप प्रीति हरि भांवरि लीजै॥
सेवा सार आतम पूजा, देव निरञ्जन और न दूजा॥
भाव भक्ति सू आरती कीजै, इहिं विधि दादू जुग जुग जीजै॥ —पञ्चामृत पृ० १००
आरती उर अन्तर कीजै, तन मन प्राण चरन चित दीजै। टेक।
ऊपर की यहु लोक दिषाई, अन्तर ध्यान करो ल्यौ लाई॥
बाहर दीसै जगत पसारो, अभि अन्तर निर्गुण निज धारो। १।
अन्तरगति आरति कर लीजै, मन मनसा हरि अर्पण कीजै॥
यूं आरती करि साध समाना, जन दूजन भवि परम निधाना। २।
सन्त साहित्य सुमन माला —पञ्चम सुमन-१०५०

एक अंग आरती भी है। आरती में दीपक के स्थान पर ज्ञान तथा घण्टा-घण्टी के स्थान पर अनहद नाद आदि का वर्णन मिलता है। पूर्ण अद्वैत की स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते आरती के लिए जो सामग्री प्रस्तुत की जाती है उनमें भी ब्रह्म का बोध होने लगता है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता का बोध होते ही आरती की निरर्थकता सिद्ध होने लगती है। इसी प्रकार की पूर्णता का भाव सुन्दर दास के निम्नलिखित पद से व्यक्त होता है।

आरती कैसे करौ गुसांई।
तुमही व्यापि रहे सब ठांई॥ (टेक)
तुमहीं कुम्भ नीर तुम देवा, तुमही कहियत अलष अभेवा॥
तुमहीं दीपक धूप अनूपं, तुमही घंटा नाद स्वरूपं॥
तुमहीं पाती पहुप प्रकासा, 'तुमही ठाकुर तुमही दासा॥
तुमही जल थल पावक पौना, सुन्दर पकरि रहे मुख मौना॥

वन्दना

सुन्दरदास ने दो प्रकार की वन्दना का वर्णन किया है। पहली वन्दना तन से और दूसरी मन से की जाती है। शरीर से साष्टांग दण्डवत् करना और अपने इष्ट के चरणों में शरीर को समर्पित कर देना शारीरिक वन्दना है। मन में उस ईश्वर का ध्यान करना और उसके चरण कमलों को हृदय में निरन्तर धारण किए रहना तथा यह मानना कि वह प्रभु अन्तर्तम में निरन्तर विद्यमान है, वन्दना है।

बन्दन दोइ प्रकार; कहौ शिष संभलियं।
दण्ड समान करै तन सौ तन दंड दियं॥
त्यौं मन सौ तन मध्य प्रभूकर पाइ परै।
या विधि दोइ प्रकार सुबन्दन भक्ति करै॥
सुन्दर ग्रंथावली, प्रथम खण्ड–पृ० २२

रज्जब ने भी भाव भक्ति से परिपूर्ण इसी प्रकार की बन्दना को श्रेष्ठ बताया है।

आत्म उपजि सौज सब तुम्ह तै, सेवा सकति नाहि कुछ हमतै।
आपणी आप प्रांणपति पूजा, रज्जब नाहि कहण कूं दूजा॥
पञ्चामृत पृ० ११७

आरती आत्माराम तुम्हारी, तन मन मनसा सौंज उतारी। टेक।
दीपक दृष्टि गुरु कौ दीनी, घंटा घट धीरज धुनि कीन्ही॥ १॥
ध्यान धूप हित कौ करि हारा, पाती पहुप अठारह भारा॥ २॥
नष सिष चंदन नान्हां बाटै, केसरि करणी सौं हरि छाटै॥ ३॥
ऐसी विधि उर अन्तरि सेवा, जन रज्जब क्या जांणैं भेवा॥ ४॥ २॥
पन्चामृत पृ० ११७

मोहनदास ने भी हरि का सदा स्मरण करते हुए उसके चरणो में अपना निवास स्थान बनाया है और मसकीनदास ने उन्हीं को अपना आराध्य समझकर उद्धार के लिए बन्दना की है।[1]

दास्यत्व—सुन्दरदास ने दास्यत्व का लक्षण इस प्रकार दिया है।

नित्य भय सौ हरै हस्त जोरें कहै। कहा प्रभु मोहि आज्ञा सु होई।
पलक पतिव्रता पतिवचन खडै नहीं। भक्ति दास्यत्व शिष जानि सोई॥

सुन्दर ग्रन्थावली पृ०—२३

दास्यत्व और विनय के पदो की रचना प्रायः सभी दादूपंथियों ने की है। मोहनदास ने हरि से विनती करते हुए उनके चरणों के सम्मुख निरन्तर रहने की कामना की है। उन्होंने अपनी आत्मा को राम की चेरी कहा है जैसा कि निम्नलिखित पद से व्यक्त होता है।

विनती एक सुनो हरि मेरी।
चित चरणनि सनमुष नित राषो, कृपा करो हूँ बारी फेरी॥ टेक॥

१—अब मोहि मिलो हो दया करि साई
दरसन देहु बिलब न कीजै, मैं अनाथ तुम ताई॥ टेक॥
आगे बहुत अनाथ निवाजै, मैं हरि शरणै आयो।
दीन दयाल पतित पावन जस, सतगुरु निकट बतायो।
अंतरि टारि निवारि सकल, सनमुख ह्वै सुष दीजै।
प्रेम प्रीति आरति सौं अहनिसि, राम रसायन पीजै।
हम तो नाथ सेव नहिं जानी, तुम भावै सो न कीयो।
आप जानि मोहन को द्रवो, सुफल होय यहु जीयो।

साहित्य सुमन माला पंचम सुमन पृ० १५-१६

मेरे तुम ही एक आधार
तुम बिन और नहीं कोई देखूं, दुख सुख की तिहि वार॥ टेक॥
भानै घडै सवारे आप, सब जग पूरणहार।
अपने विडद को लाज वहो हरि, मैं मैं करे गंवार।
सब गुण मेटरु आयो आये, पडै तास सिर मार।
जनम लगै दुख पावे प्राणी, काहे न करत उवार।
तुम दयाल औगण सब मेरे कैसे कटै विकार।
जन मसकीन कहै यहु बिनती, राखो अबकी वार॥

सन्त साहित्य सुमन माला पृ० २३

मेरे एक कर्ता ताहि नित धाऊ जाही में सब विधि पाऊँ।
नांव प्रताप में पतित पावन भये, सोई निस दिन गाऊँ॥ टेर॥
आदि अत सत मत एक है, ऐसें जान सरणैं आऊँ।
'गरीब दास' कहै विरद लागै वही, चरननि सीस नवाऊँ।

सन्त साहित्य सुमन माला, गरीब दास जी वाणी पृ० ६५

जन्म अनेक भ्रमत दुख पायो, मिनषा तन दुर्लभ रिषि हेरी ॥
करगहि शरण राख जगजीवन, आतम राम तुम्हारी चेरी ॥ १ ॥
कर लै लीन दीन कूं लीजै, तजै आन मति मनसा मेरी ॥
प्रेम प्रीति सूं रमै रैन दिन, बुधि वनिता चरननि तै नेरी ॥ २ ॥
सहज सील संतोष ग्यान गम, भजन विचार भक्ति दे तेरी ॥
मोहनदास आस हरि पूरो, विरहा वियोगनि आतम केरी ॥ ३ ॥

स० सा० सु० मा० पृ० ४-५

गरीबदास ने सेवक बनकर प्रभु से कृपा दृष्टि प्राप्त करने की बड़ी मार्मिक याचना की है—

वीनती सुन सेवग केरी,
तुम दाता दुख दूर निवारण, वाजी कै लेहु फेरी ॥ टेर ॥
अनेक जनम भ्रम भ्रम दुख पायो, सोई गुण व्यापौ देही गेरी ॥
समर्थ सांई राषहु ढिढ़ करि, देहु भगति तुमही सों नेरी ॥ १ ॥
आदि अंत मध एक मेक रस, दिन-दिन नोतम वधै घणेरी ॥
सुरति सदा सनमुष तुम तांई, कबहूं न तुम तज जाय अनेरी ॥ २ ॥
ऐसी विधि जे लेहु कृपा करि मनसा वाचा विनती मेरी ॥
'गरीबदास' का यहु दत दीजै, सुद्रष्टि नेकुं अपनों कर हेरी ॥ ३ ॥

गरीबदास जी की वाणी—पृ० ६६

संत दादू ने सेवक के लिए सेवा को ही प्रधान धर्म स्वीकार करते हुए इस प्रकार कहा है।

सेवग विसरै आपकूं, सेवा विसरि न जाइ।
दादू पूछै राम कूं, सो तत कहि समझाइ ॥
जहाँ सेवग तहाँ साहिब बैठा, सेवग सेवा माहिं।
दादू साईं सब करै, कोई जाणै नाहिं ॥

दादू अपने को सेवकों का सेवक मानकर उसी ब्रह्म की वंदगी करते हैं। हरि के अतिरिक्त अन्य किसी की सेवा उन्हें नहीं रुचती। ब्रह्मा, महेश, शेषनाग, नारद तथा शुकदेव की प्रशंसा इसीलिए की जाती है कि वे हरि के दास हैं।

दादू सोई सेवग राम का, जिस ही न दूजी चीत।
दूजा को भावै नहीं, येक पियारा मीत ॥

१—दादू दयाल ग्रन्थावली, परशुराम चतुर्वेदी पृ० ७२ तथा ७३ दोहा सं० २४७ तथा २४६

ब्रह्मा संकर शेष मुनि, नारद ध्रू सुषदेव।
सकल साध दादू सही, जे लागे हरि सेव ॥[1]
नूर सरीषा ह्वै रह्या बंदौ का बंदा।
दादू दूजा को नहीं, मुझ सरीषा गंदा ॥[2]

सख्यत्व

आत्मा और हरि का संबध स्थापित करते हुए महात्मा सुन्दर दास ने आत्मा को हरि के साथ निरंतर सखा रूप मे रहते हुए इस बात पर बल दिया है कि जिस प्रकार मित्र एक पल के लिए भी मित्र का संपर्क नहीं त्यागता उसी प्रकार का प्रेम आत्मा को हरि से करना चाहिए।

सुनि शिष्य सखापन तोहि कहौ हरि आतम कै नित संग रहै।
पलु छाडत नाहिं समीप सदा जितहीं जितकौ यह जीव बहै ॥
अब तूँ फिरिकै हरि सौ हित राषहि होइ सखा दृढ़ भाव गहै।
इम सुन्दर मित्र न मित्र तजै, यह भक्ति सखापन वेद कहै ॥[3]

सन्त दादू ने हृदय को पूर्णतः अर्पित कर साईं से प्रेम करने की आकांक्षा प्रगट की है। जिस-प्रकार दूध में पानी और पानी में नमक मिल जाता है उसी प्रकार हृदय को भी राम से मिला देना चाहिए।[4]

जन गोपाल ने भी मित्रता मे वियोग के दुख का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। मित्र के वियोग से प्राण का वियोग सरल है।

कबहु न होवे मीत विछोहा, और सकल दुप देहु अंदोहा ॥टेक॥
करवत शिरपर सार दुष माँही, नैननि माहि रहो तुम साँईं ॥१॥
नष सिष अनल लाग किन जाई, अंग मोडों तो राम दुहाई ॥२॥
प्राण त्याग अब ही किन होई, जन गोपाल विछुरन दुष सोई ॥३॥[5]

१—दादू दयाल ग्रंथावली, परशुराम चतुर्वेदी साधकौअंग पृ० १८६, दो० सं० ११०
२—वही ... ... पृ० २३४, दो० सं० ३४
३—सुन्दरदास ग्रंथावली, प्रथम खण्ड पृष्ठ २३ सवैया सख्या ३३
४—सारा दिल साईं सौं राषै, दादू सोई सयान।
जे दिल बंटहिं आपणी, सो सब मूढ़ अयान ॥ पृ० १०२, दो० सं० ३६
जब मन लागे राम सौं, तब अनत काहे कौं जाइ ॥
दादू पांणी लूण ज्यूं, ऐसे रहै समाइ ॥ पृ० ११२, दो० स० २२
दादू ज्यौं जल पैसे दूध मैं, त्यौं पाणी मैं लूण।
ऐसे आतम राम सौं, मन हठ साधै कौंण ॥ पृ० ११२, दो० स० २३
दादू दयाल ग्रंथावली सं० परशुराम चतुर्वेदी
५—सन्त-साहित्य सुमन माला पंचम सुमन पृ० ८६-६०

आत्म-निवेदन

आत्म-निवेदन के प्रसंग में पहले मन को फिर शरीर को तत्पश्चात् नेह को समर्पित करना चाहिए। सर्वस्व समर्पण करने के पश्चात् मन और आत्मा का भी समर्पण कर देना आत्मनिवेदन है।[1] दादू ने भी अपने साँई के लिए तन, मन, शरीर और प्राण सभी कुछ अर्पण करने की बात कही है।

प्रेमलक्षणा भक्ति

मध्यम कोटि की भक्ति के अन्तर्गत सुन्दरदास जी ने प्रेम लक्षणा भक्ति की चर्चा करते हुए लिखा है—

> शिष्य सुनाऊँ तोहि, प्रेम लक्षणा भक्ति को।
> सावधान अब होइ, जो तेरै सिर भाग्य हैं॥
> प्रेम लग्यौ परमेश्वर सौ तब भूलि गयौ सब ही घर बारा।
> ज्यौ उनमत्त फिरै जित ही तित नैकु रही न शरीर संभारा॥
> स्वास उस्वास उठैं सब रोम चलै इग नीर अखंडित धारा।
> सुन्दर कौन करै नवधा विधि छाकि पर्‌यौ रस पी मतवारा॥

सुन्दर ग्रंथावली पृ० २४

इस प्रकार की भक्ति नवधा भक्ति से श्रेष्ठ कोटि की भक्ति है। भक्त प्रेम में मतवाला हो जाता है। लोक लज्जा की न तो उसे परवाह है और न कुल कानि का डर।

उसे वेद विहित मार्ग पर चलने की कोई आवश्यकता नहीं है। भूत, प्रेत, देव और यक्ष का भय भी नहीं। न कान से वह कुछ सुनना चाहता है और न आँख से कुछ देखना। प्रेम का दीवाना बना मुख से भी कुछ नहीं बोलता। हरि के साथ चित्त की आसक्ति निरन्तर बनी रहती है; वह ठगा-ठगा सा रहता है परन्तु इसका भेद कोई नहीं जान पाता। वह कभी हँसता है, कभी रोता है और कभी गदगद् कंठ से शब्दों का उच्चारण करता है। कभी ऊँचे स्वर में गाता है और कभी मौन हो जाता है।[2]

१—प्रथम समर्पन मन करै, दुत्तिय समर्पन देह।
तृतीय समर्पन धन करै, चतु. समर्पन गेह॥
गेह दारा धनं। दास दासी जनं।
बाज हाथी गनं। सर्व दै यों भनं॥
और जे में मनं। है प्रभू ते तनं।
शिष्य ताँनी सुनं। आतमा अर्थनं॥ ३४॥

सुन्दर ग्रन्थावली प्रथम खण्ड पृ० २३

२—प्रेमाधीना छाक्या डोलै। क्यौं का क्यौं ही वानी बोलै।
जैसे गोपी भूली देहा। ताकौं चाहै जासौं नेहा॥ ४१॥

संत दादू प्रेमाभक्ति की प्रशंसा करते हुए कहते है कि जिसने अपने प्रियतम को पा लिया उसके लिए तीनों लोक भरा-पूरा है। उस आनन्द को निगम भी प्राप्त नहीं कर सकता। बारहों मास आनन्द ही आनन्द है। रंगों की पिचकारी से उनका प्रियतम रंग खेलता है और मधुर वीणा की ध्वनि निरन्तर सुनाई पड़ती है। भक्त भ्रमर की भाँति रस में डूबा रहता है। इस प्रेम में अन्य के लिए कोई स्थान नहीं है। इसमें अहं का पूर्णरूपेण विगलन हो जाता है। भक्त स्वयं राममय हो जाता है। उसको तन-मन की सुधि नहीं रहती और सभी जगह उसका प्रियतम व्याप्त दिखलाई पड़ता है।

दादू निरन्तरि पीव पाइया, जहाँ निगम न पहुँचै वेद।
तेज सरूपी पीव बसै, कोई बिरला जाणै भेद ॥१॥
दादू निरन्तरि पीव पाइया, जहाँ आनन्द बारह मास।
हंस सौं प्रमहंस षेलै, सेवग स्वामी पास ॥२॥
दादू रंग भरि षेलौ पीव सौ, तहाँ बाजै बेन रसाल।
अकल पाट परि बैठा स्वामी, प्रेम पिलावै लाल ॥३॥
दादू भँवर कँवल रस वेधिया, गहे चरन कर हेत।
पीव जी परसत हीं भया, रोम रोम सब सेत ॥४॥
दादू षेल्या चाहै प्रेम रस, आलम अंगि लगाइ।
दूजे कू ठाहर नहीं, पुहप न गंध समाइ ॥५॥
जहाँ राम तहाँ मैं नहीं, मैं तहाँ नाहीं राम।
दादू महल बारीक है, द्वै कूं नांही ठांम ॥६॥
तब मन नाहीं मैं नहीं, नही काया नहिं जीव।
दादू एकै देखिए, दहदिसि मेरा पीव ॥४३॥[1]

कबहूं कै हँसि उठय नृत्य करि रोवन लागय।
कबहू गदगद कंठ शब्द निकसै नहिं आगय॥
कबहू हृदय उमंगि बहुत उच्चय स्वर गावै।
कबहुं कै मुख मौनि मग्न ऐसैं रहि जावै॥
तौ चित्त वृत्य हरि सौं लगी सावधान कैसैं रहै।
यह प्रेम लक्षणा भक्ति है, शिष्य सुनहिं सद्गुरु कहै ॥ ४२ ॥
नीर बिनु दुखी क्षीर बिनु शिशु जैसैं,
पीर जाकै औषध बिनु कैसैं रह्यो जात है।
चातक ज्यौं स्वाति बूंद चंद कौं चकोर जैसें,
चंदन की चाह करि सर्प अकुलात है॥
निर्धन ज्यों धन चाहै कॉमिनी कौं कन्त चाहै,
ऐसी जाकै चाह ताकौं कछु न सुहात है।
प्रेम कौ प्रभाव ऐसौ प्रेम तहां नाम कैसौ,
सुन्दर कहत यह प्रेम हीं की बात है ॥ ४३ ॥ सुन्दर ग्रन्थावली प्रथम खण्ड, ज्ञान-समुद्र

१—दादूदयाल (ग्रन्थावली), परचा का अंग पृ० ४३ से ४७

पराभक्ति

सबसे उत्तम कोटि की भक्ति पराभक्ति है। यही पराभक्ति अनन्य भक्ति कही जाती है जो बड़े भाग से उपलब्ध होता है। सुन्दर दास के अनुसार पराभक्ति उपलब्ध होने के उपरांत भक्त और भगवान तथा सेव्य और सेवक उसी प्रकार भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं जैसे जल और जलपिंड, आँख और पुतरी। नीचे के उद्धरणों से यही भाव स्पष्ट होता है।

विक्षेप कबहुं न होइ हरि सौ निकटवर्ती नित्य हीं।
तहाँ सदा सम्मुख रहै आगै हाथ जौड़े भित्य हीं॥
पलु येक कबहुं न होइ अन्तर टगटगी लागी रहै।
यह पराभक्ति प्रकाश परिचय शिष्य सुनि सद्‌गुरु कहै॥४॥

सेवक सेव्य मिल्यौ रस पीवत भिन्न नही अरु भिन्न सदा हीं।
ज्यौ जल बीच धर्‌यौ जल पिण्ड सु पिण्ड रु नीर जुदे कछु नाँहीं॥
ज्यौं द्दग मैं पुतरी द्दग येक नहीं कछु भिन्न सु भिन्न दिषांही।
सुन्दर सेवक भाव सदा यह भक्ति परा परमातम मांहीं॥ ४६॥

श्रवन बिना धुनि सुनय नैन बिन रूप निहारय।
रसना बिना उच्चरय प्रशंसा बहु बिस्तारय॥
नृत्य चरन बिनु करय हस्त बिनु ताल बजावै।
अंग बिना मिलि संग बहुत आनन्द बढ़ावै॥
बिन सीस नवै तहँ सेव्य कौं सेवक भाव लियें रहै।
मिलि परमातम सौ आतमा पराभक्ति सुन्दर कहै॥ ५०॥

सेव्य कौ जाइ कै दास ऐसै मिलै। येक सो होइ पै येक हूँ ना मिलै।
आपनौ भाव दासत्व छाड़ै नहीं, सा पराभक्ति है भाग्य पावै कही॥५१॥[1]

दादू के अनुसार पराभक्ति वाले भक्त को भगवान से ही लेना-देना तथा रीझना-रिझाना रहता है। ऐसा भक्त भगवान को अपना सर्वस्व मानता है। भगवान ही उसके माता-पिता तथा बंधु-बांधव हैं और सब प्रकार के सबंधों के आश्रय हैं। भक्त का मन भगवान के चरणों में ही निरतर लीन रहता है। उसका अंग-प्रत्यंग आनन्द रस से परिपूर्ण रहता है।[2]

जन गोपाल जी पराभक्ति की प्रशंसा में कहते हैं कि पराभक्ति वाला भक्त राम से प्रेम करते हुए सभी सुखों को प्राप्त करता है। जैसे चोर धन पर ध्यान लगाता है; काल को काया और दरिद्र को माया जैसे प्रिय होतो है तथा याचक को जिस प्रकार दाता की आस बनी रहती है उसी प्रकार भक्त का मन भी भगवान मे लगा रहता है।

१—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, ज्ञान समुद्र पृ० २७-२६

२—तू ही तूं हमारे सेवग सुत हम राम तुम्हारे।
माई बाप तूं साहिब मेरा भगति हीन मैं सेवग तेरा।
तुम ही तातं तुम ही मातं, तुमही जातं तुमही नातं।
कुल कुटम्ब सब ही परिवारा दादू का तूं तारण हारा। दादू ग्रन्थावली पृ० १५०-१० तथा १३.

ऐसे जू चित हरिसों होई, त्यांही सब सुप पावै सोई ।
ज्यूं बदीवान बद थै डरै, छूट न काज वहा नहिं करे ।
जैसे तस्कर पर धन ध्यान, इहि विधि उपजै हरि सों ज्ञान ॥१॥
काल हेत ज्यूं प्यारी काया, भर दालिद्र में मीठी माया ।
परे विछोह मोह कुल भाई, इहि विधि राम रहो ल्यौ लाई ॥२॥
जैसे जाचग दाता आस, कबहूं तजै न ताको पास ।
जन गोपाल कृपा तब होई, मनसा वाचा और न कोई ॥३॥
संत साहित्य–सुमन-माला—सं० मंगलदास, पंचम सुमन पृ० ८३-६३

सभी दादू पंथियों ने भक्ति को सहज आनन्द प्रदान करने वाली स्वीकार करते हुए इस बात पर बल दिया है कि ब्रह्मानन्द की प्राप्ति क्रिया के आडम्बर से नहीं होती। कृत्रिम कर्मों से तथा नाना पथो के निर्माण से आत्मज्ञान उपलब्ध नहीं हो सकता। मनुष्य में सहज ज्ञान की प्रवृत्ति को, जो उसके अन्तःकरण का स्वभाव है, बढ़ाने से बिना बाह्याम्डबर के ही ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाती है। सत्य ज्ञान का आनन्द उपलब्ध होते ही पूर्व-संचित कर्मों का लय हो जाता है।[२] इसलिए दादूपंथी सन्तो ने सहजानन्द-प्रवृत्ति पर बल देते हुए सहज और निरंजन को प्राप्त करने का उपदेश दिया है। उन्होंने शकर, सनकादिक, शुकदेव, शेष, हनुमान, ध्रुव, प्रह्लाद, भर्तृहरि, गोपीचन्द, नामदेव, कबीर आदि भक्तों की प्रशसा की है। इस प्रकार इनकी भक्ति, ज्ञान, कर्म और योग सभी से श्रेष्ठ है :—

सहज निरंजन सब में सोई । सहजैं सन्त मिलै सब कोई ।
सहजै शकर लागे सेवा । सहजैं सनकादिक शुकदेवा ॥१६॥
सहजै शेषभयौ लै लीना । सहजै हनुमान तत्त चीन्हा ।
सहजैं ध्रुव कीनौ प्रहलादा । सहज सुभाव ग्रह्यो प्रहलादा ॥२०॥
पहलै गोरप कर्म दिढ़ावा । दत्त मिले तिन सहज बतावा ।
सहज सुभाव भरथरी लौधा । गोपीचन्द सहज ही सौधा ॥२१॥
नामदेव जब सहज पिछाना । आतमराम सकल मैं जांनां ।
दास कबीर सहज सुख पाया । सब मैं पूरण ब्रह्म बताया ॥२२॥

२—मन वानरे हो अनत जिनि जाइ ।
तौ तूं जीवै अमीरस पीवै, अमर फल काहे न पाइ ।
रहु चरन सुप पावै, देष हुनैन अघाइ ।
मागि तेरे पीव नेरे, थीर थान दिपाइ ॥ १ ॥
संगिते रे रहैं घेरे, सहजै अंगि समाइ ।
सरीर माहै सोधि सोई अनहद ध्यान लगाइ ॥ २ ॥
पीव पान आवै सुप पावै तन की तपनि बुझाइ ।
दादू रे जहा न द उपजै पीव पासि दिखाइ ॥ ३ ॥ दादूदयाल ग्रन्थावली, पृ० ३५०-१०-१,२,३
पृ० २६१-१८

सोझा पीया सहज समाना। सेन धना सहजै रस पाना।
जन रैदास सहज को बन्दा। गुरु दादू सहजै आनन्दा ॥२३॥
एकै सहज सुभाव गहि, सन्तनि कियौ बिलास।
मनसा बाचा कर्मना, तिहिं पथ सुन्दर दास ॥२४॥[1]

शैव, बौद्ध एवं जैन उपासना पद्धति का प्रभाव और निष्कर्ष

निर्गुणमतवाद के अन्तर्गत दादूपंथ पर शैव, बौद्ध और जैन उपासना पद्धति के प्रभाव का स्वरूप परम्परानुमोदित होने के कारण अप्रत्यक्ष है। समकालीन अनेक उपासना पद्धतियों की परस्पर अनुमोदित तथा स्वीकृत बातें, किसी न किसी रूप में भक्ति की सार्वभौम चेतना का अंग होकर सर्वग्राह्य बन चुकी थीं। शैवों का आनदवाद, बौद्धों का शून्यवाद और जैनी नैतिकता के साथ अहिंसा, शील, आत्मशुद्ध, मुक्तचित्तता आदि का संयोजन परम्परा से रच-पच कर हुआ था। मन्त्रयोग, लययोग, चर्यायोग, अष्टांगयोग, राजयोग, साख्ययोग, ज्ञानयोग, ब्रह्मयोग, अद्वैतयोग, भक्तियोग आदि के उपदेश, ज्ञान और गुरु की महिमा, समत्वभाव की प्रतिष्ठा, अहिंसा का प्रतिपादन, स्त्री निंदा और मूर्ति-पूजा, जातिवाद, अवतारवाद, बाह्याडंबर, कर्मकांड आदि का खंडन—इन सभी प्रवृत्तियों तथा उपासना तत्वों का आकलन कई सूत्रों से नये संदर्भों और व्याख्याओं के अन्तर्गत क्रमशः हुआ। अस्तु, दादूपंथ पर पुराकालीन और समकालीन उपासना पद्धतियों के प्रभाव का स्वरूप प्रत्यक्ष न होकर परम्परा सापेक्ष्य है।

भारतीय चिंतन परम्परा और धर्मसाधना की अतीतकालीन क्रिया-प्रतिक्रिया के संदर्भ में यह विचारणीय है कि भक्ति आंदोलन के उद्भव के पूर्व से ही भिन्न-भिन्न दार्शनिक निष्पत्तियों की व्याख्या और उपासना पद्धतियों की व्यवस्था का जो क्रम चला, उसमें परस्पर विरोध तथा अलगाव उत्पन्न करने के स्थान पर समन्वय की प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से परिलक्षित होती हैं। विविध दार्शनिक निकायों के कारण दृष्टिकोण में परिवर्तन, वैदिकधर्म और वेदान्त के पुनर्नवीकरण के अन्तर्गत कालान्तर में, प्राचीनकाल से चली आती हुई निर्गुण परम्परा के साथ मध्यकालीन धर्मसाधना में परिपुष्ट होनेवाली निर्गुण भावना अनेक पंथों और वादों के तत्व ग्रहण करती हुई विकसित हुई है। यही कारण है कि छठीं शताब्दी के पश्चात् उत्पन्न मत-मतान्तरों में संकीर्णता, असहिष्णुता, कट्टर साम्प्रदायिकता की प्रवृत्तियाँ कुंठित होने लगीं और लोकप्रिय समन्वयवादी लोकधर्म की प्रतिष्ठा का मार्ग खुल गया। लोकधर्मी भक्ति आंदोलन के स्वान्तःसुखाय बहुजन हिताय स्वरूप की सिद्धि के लिये समन्वय की यह भूमिका स्वतः प्रस्तुत होने लगी थी। इस भूमिका ने सम्प्रदायों की भीड़ को भीड़ के सम्प्रदाय में परिवर्तित होने के लिये उत्तेजित किया। यद्यपि बहुविध साधनाओं तथा सम्प्रदायों में विखंडित मध्यकालीन भारतीय धर्मचेतना पक्ष-विपक्ष की अनेक खंडन-मंडनकारी विशेषताओं से युक्त होने पर भी मौलिक रूप से तत्वबोध के समान उद्देश्य से परिचालित थीं तथापि जड़ीभूत करनेवाली विघटनकारी शक्तियों ने उनकी

१—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृष्ठ—३०५, ३०६

अंतर्धाराओं को अलग-अलग कर दिया था। भक्ति ने उन्हें जोड़ दिया। परस्पर तालमेल उत्पन्न करनेवाली शक्ति के रूप में भक्तिचेतना ने विरोधी धर्मशिविरों को समन्वय का समान आधार प्रस्तुत कर दिया। फलतः ये शिविर चाहे वैदिक हों या अवैदिक, भारतीय हों या अभारतीय, सभी भक्ति-सापेक्ष्य बन गए। भक्ति की इस सार्वभौम समन्वित सत्ता के विकास में निर्गुणमतवादी दादूपंथी शिविर का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

●

सहायक ग्रन्थ

अथर्ववेद .... सं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अग्नि-पुराण ... चौखम्बा विद्याभवन–चौक–वाराणसी

अमृतनादोपनिषद् ... 'कल्याण' उपनिषद् विशेषांक

अहिर्बुध्न्य संहिता ...

अध्यात्म रामायण ... चौखम्बा विद्याभवन—वाराणसी

आधुनिक हिंदी साहित्य-रहस्यवाद ... डा० विश्वनाथ गौड़

ऐतरेयोपनिषद् .... 'कल्याण' उपनिषद् विशेषांक

उत्तरी भारत की संत-परम्परा ... पं० परशुराम चतुर्वेदी—भारती भंडार, प्रयाग

ऋग्वेद .... राम गोविन्द कृत हिन्दी अनुवाद—चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी

कठोपनिषद् ... चौखम्बा विद्याभवन—वाराणसी

कबीर ... डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

कबीर और कबीरपंथ ... डा० केदारनाथ द्विवेदी

कबीर-ग्रन्थावली .... सं० डा० श्याम सुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा—काशी

कबीर-ग्रन्थावली ... पारसनाथ तिवारी

'कल्याण' उपनिषद् विशेषांक ... गीता प्रेस, गोरख पुर

कल्याण साधनांक ... गीता प्रेस, गोरखपुर

गरीबदास की वाणी ... सं०—स्वामी मंगलदास

गीता-रहस्य ... लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

गोरक्ष पद्धति ... पं० महीधर शर्मा कृत भाषानुवाद—वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस बंबई

गोरखबानी ... संपादक डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

घेरंड संहिता ... भाषा टीका, गंगा विष्णु श्रीकृष्ण-दास वें० प्रेस बंबई

चक्रनिरूपण .... पंचानन भट्टाचार्य

जयाख्य संहिता ... ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट—बड़ौदा

जायसी ग्रन्थावली ... सं०—रामचन्द्र शुक्ल

जैन साहित्य का वृहद् इतिहास ... ले०—बेचर दास दोशी
जैन धर्म का उद्भव और विकास ... ले०—हीरालाल जैन
तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि ... महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज
तैत्तिरीय उपनिषद् ... "कल्याण" उपनिषद् विशेषांक
तंत्र वार्तिक ...
दर्शन शास्त्र का इतिहास ... काशी
दरिया साहब की शब्दावली ... बे० प्रेस
दादू ... ... क्षितिमोहन सेन
दादू का सबद ... बे० प्रेस—इलाहाबाद
दादू ग्रन्थावली ... महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी
दादू चतुर्शताब्दी निबंधमाला द्वितीय पुष्प .. सुरजनदास स्वामी
दादू जन्मलीला परची ... जनगोपाल
दादू दयाल ... ... परशुराम चतुर्वेदी
दादू की वाणी ... कविरत्न स्वामी नारायणदास पुष्कर
दादू-बानी ... ... बेलवेडियर प्रिन्टिंग वर्क्स, इलाहाबाद
दादू जन्मलीला परची ... सं०—सुखदयाल दादू एडवोकेट
दादू महाविद्यालय रजत जयंती-ग्रन्थ ...
देवी भागवतम् ... चौखम्बा विद्याभवन—वाराणसी
दोहा कोश ... ... सिद्ध सरहपाद कृत
दोहा पाहुण ... ...
धर्मदास की शब्दावली ...
ध्यान विन्दु उपनिषद् ... उपनिषद विशेषांक 'कल्याण'
नाथ और संत साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन ... डा० नगेन्द्रनाथ उपाध्याय
नारद भक्ति सूत्र ... गीता प्रेस—गोरखपुर
निरुक्तम् ... दुर्गाचार्य भाष्ये सहित—चौ० विद्या भ०
निर्वाण-मंजरी ...
पद्म पुराण ... ... चौखम्बा विद्याभवन—वाराणसी
पंचामृत ... ... स्वामी मंगलदास
पूर्व मीमांसा सांख्य कारिका ...
प्रबन्ध प्रकाश—भाग २ ...
प्रश्नोपनिषद् ... चौखम्बा विद्याभवन—वाराणसी
पांचरात्र साहित्य (संहिता) ...
पातंजलि योगदर्शन ... गीताप्रेस, गोरखपुर
बषना जी की बाणी ... सं०—स्वामी मंगलदास
बाल्मीकि-रामायण ... चौखम्बा विद्याभवन—वाराणसी

भक्तमाल	...	राघवदास (चतुरदास टीकाकार)
भक्तिकाल के मूल स्रोत	...	दुर्गाशंकर मिश्र
भक्ति का विकास	...	डा० मुंशीराम शर्मा
भगतमाल	...	चारण ब्रह्मदास जी
भक्तियोग	...	स्वामी विवेकानन्द
भारतीय दर्शन	...	पं० बलदेव उपाध्याय
भारतीय दर्शन की रूपरेखा	...	एम० हिरियन्ना
भारतीय संस्कृति और कला	...	राधाकमल मुखर्जी
भारतीय संस्कृति का विकास	...	डा० मंगलदेव शास्त्री
भागवत संप्रदाय	.	पं० बलदेव उपाध्याय
भारतीय साधना और संत तुलसी	...	डा० हरस्वरूप माथुर
भक्ति वर्धिनी	...	
मध्यकालीन धर्म-साधना	...	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
मध्यकालीन संतसाहित्य	...	डा० रामखेलावन पांडेय
महाकवि जायसी	....	जयदेव
महाभारत–उद्योगपर्व	...	उद्योगपर्व
मधुमालती	—	मंझन
मनुस्मृति	...	'मणिप्रभा' टीका
मानसदर्शन	...	डा० उदयभान सिंह
मानव धर्म शास्त्र	...	इन्दिरारमण शास्त्री
मुंडकोपनिषद्	...	'कल्याण' उपनिषद् विशेषांक
मृगावती	...	कुतबन
योग मार्तंड	...	
योगवासिष्ठ	...	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
रज्जब बाणी	...	डा० ब्रजलाल वर्मा
रहस्यवाद	...	परशुराम चतुर्वेदी
रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय	...	डा० भगवती प्रसाद सिंह
राम कथा-उत्पत्ति और विकास	...	रेवरेंड फादर कामिल बुल्के
विचार सागर	...	साधु निश्चलदास
विष्णु पुराण	...	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
बौद्ध दर्शन तथा साहित्य	...	भिक्षु धर्मरक्षित
वृत्ति प्रभाकर	...	साधु निश्चलदास
वेदांत दर्शन	...	श्रीराम शर्मा आचार्य
बृहदारण्यकोपनिषद्	...	नारायण स्वामी कृत हिन्दी टीका
शाण्डिल्यभक्ति सूत्र	...	गीता प्रेस, गोरखपुर
शिव-संहिता	...	चौखंभा विद्याभवन, वाराणसी

श्री दादू दयाल की वाणी ... सं०—मंगलदास स्वामी

श्रीमद्भगवतगीता ... गीता प्रेस, गोरखपुर

श्वेताश्वतरोपनिषद् .... 'कल्याण,' उपनिषद् विशेषांक

षट्-चक्र-निरूपण ... सं०—तारकनाथ विद्यारत्न

शैव मत ... डा० यदुवंशी

संत कवि रज्जब-संप्रदाय और साहित्य ... डा० ब्रजलाल वर्मा

संत-काव्य ... परशुराम चतुर्वेदी

सन्त-साहित्य ... डा० प्रेमनारायण शुक्ल

संत-साहित्य-सुमनमाला ... सं०—मगलदास स्वामी

सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति ... सं०—श्रीमती कल्यानी मल्लिक

सिद्ध-साहित्य ... डा० धर्मवीर भारती

सुन्दर ग्रन्थावली ... हरिनारायण पुरोहित

सुन्दर विलास ... वेलवेडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद

स्वामी दादूदयाल की वाणी ... सं०—मंगलदास स्वामी।

हठयोग प्रदीपिका ... श्रीयुत ब्रह्मानंद

हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय ... डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

... अनु० श्री परशुराम चतुर्वेदी

हिन्दी निर्गुण काव्यधारा और उसकी पृष्ठभूमि ... डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिंदी साहित्य की भूमिका ... डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिंदी साहित्य कोश (प्रथम भाग) ... ज्ञानमंडल प्रकाशन, वाराणसी

हिन्दुत्व .... रामदास गौड़

हिन्दी संत-साहित्य ... डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित

हिन्दी और मराठी का निर्गुण संतकाव्य ... डा० प्रभाकर माचवे

English Books;

1. A Critical Survey of Indian Philosophy—Dr. Chandradhar Sharma
2. A History of Moderd Philosophy—Mayer.
3. An Introduction to Metaphysics—Bergson.
4. Encyclopaedia of Religion and Ethics—James Hastings
5. Gorakhanath and Kanphata Yogis Volume IV—G. W. Briggs.
6. Hindu Mysticism—Dr. S. N. Dasgupta.
7. History of Indian Philosophy—Dasgupta.
8. Indian Philosophy—Dr. Radhakrishnan.
9. Indian Sadhus—G. S. Ghurye.
10. Introduction to Tantra Shastra—John Wood Raffe.
11. Mysticisim—Underhill.
12 Mysticism—Patmor.
13. Mysticism Old and New-Aurthor W. Hopkins.
14. Mystics of Islam—R. A. Nicholson.
15 Mystics Asceties and Saints of India—J C. Oman.
16 Philosphy of Gorakhnath—Akshaya Kumar Banejee.
17. Reflection of Physisist—E. W. Brigman.
18. Religious Quest of India—J. N. Farquhar.
19. Religion of India—E. W. Hopkins
20. Siddha Sidhanta Paddhati—Smt. Kalyani Mallik.
21. The Philosophy of Ravindra Nath—Dr. S K. V. Maitra.
22. Tribes and Castes of N. W. Provinces and Oudh - W Crooke.
23. Vaishnavism, Shaivism and Minor Religious Systems-R. G. Bhandarkar.
24. Rajputana Census Reports—A. D. Bannerman. Lucknow, 1902.